Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust

: 302, 'Krishna-Kunj', Plot No.30, Navyug CHS Ltd., V. L Mehta Marg, Vile Parle(w), Mumbai–400056
Phone No. : (022) 2613 0820. **Website:** www.vitragvani.com **Email:** vitragva@vsnl.com

"Nataksamaysaar pravachan Part-1" has been published by us & the PDF version of the same has been put on our website www.vitragvani.com

We have taken due care, while preparing the same. However, if you find any error, you may kindly inform us on info@Vitragvani.com

By "Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust"
(Shri Shantilal Ratilal Shah-Parivar, Mumbai)

www.vitragvani.com

श्री परमात्मने नमः



श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय-पुण्य नं.8

समयसार नाटक प्रवचन

भाग-1

अध्यात्म रसिक पण्डित बनारसीदास रचित समयसार नाटक शास्त्र पर
पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के अध्यात्मरसपूरित प्रवचन



• हिन्दी अनुवाद व सम्पादन •
देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)



• प्रस्तुतकर्ता •
श्री शान्तिलाल रतिलाल शाह-परिवार, सायन (मुम्बई)
श्री सूरजबेन अमुलखभाई सेठ स्मृति ट्रस्ट, सायन (मुम्बई)

www.vitragvani.com

प्रथमावृत्ति : 2100

* वीर नि. सं. 2530 * वि. सं. 2060 * ई.स. 2003

(२१ अप्रैल २००४, पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी की ११५वीं जन्म-जयन्ती)

न्यौछावर राशि : **25 रुपये**

प्राप्ति स्थान :

श्री सूरजबेन अमुलखभाई सेठ स्मृति ट्रस्ट,

218, बीणा विहार, सायन (मुम्बई)-22

लेजर टाइप सैटिंग

देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

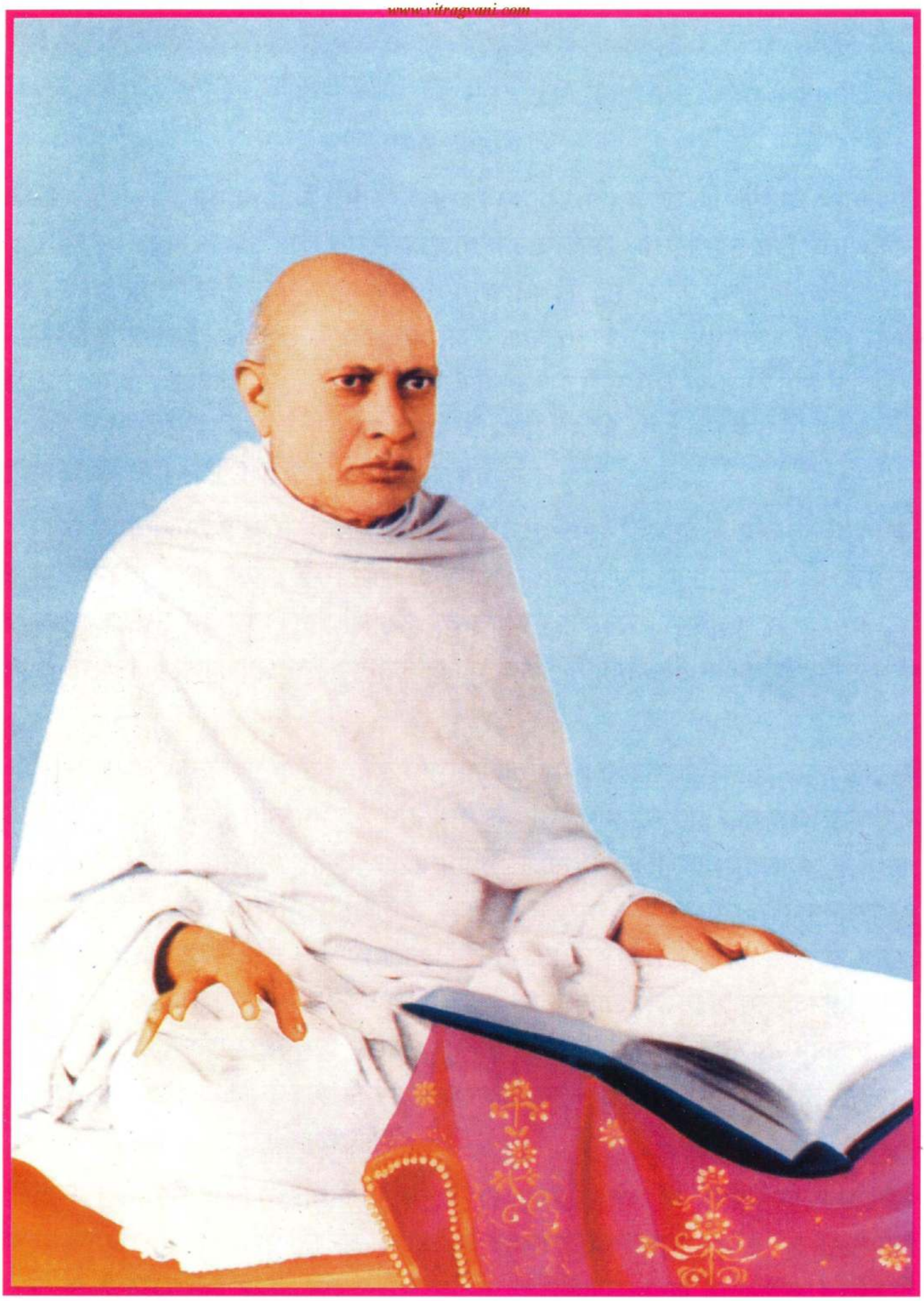
मोबा. 9829083628

मुद्रक : : **इन्डिया बाईन्डिग हाउस**

बी 10/5 मानसरोवर पार्क,

शाहदरा, दिल्ली – 110032

www.vitragvani.com



परमोपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

प्रकाशकीय

श्री समयसार आदि परमागमों के गंभीर रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री तीर्थंकर भगवान के शुद्धात्मानुभव प्रधान आध्यात्मिक शासन को जीवन्त रखने वाले आध्यात्मिक सन्त परम कृपालु पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी ने सरल तथा सुगम प्रवचनों द्वारा उनके अनमोल रहस्य मुमुक्षु समाज को समझाये हैं; और इस प्रकार इस काल में अध्यात्म रुचि का नवयुग प्रवर्ता कर आपने असाधारण महान उपकार किया है। इस विषम भौतिक युग में सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में भी ज्ञान, वैराग्य और भक्तिपूर्ण अध्यात्म विद्या के प्रचार का जो आन्दोलन प्रवर्तित है वह पूज्य गुरुदेवश्री के चमत्कारी प्रभावना योग का अद्‌भुत फल है।

ऐसे परमोपकारी पूज्य गुरुदेव श्री के अध्यात्मरस भरपूर प्रवचनों के प्रकाशन करने का अवसर प्राप्त होना भी अपना परम सौभाग्य है। तदनुसार पण्डित बनारसीदास जी विरचित 'समयसार नाटक' पर पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का संकलन 'समयसार नाटक प्रवचन' भाग-1 के रूप में प्रकाशित करते हुए कल्याणी गुरुवाणी के प्रति अति भक्तिपूर्ण प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

इस 'समयसार नाटक' के प्रवचनकार परमोपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी शुद्धात्म दुष्टिवंत, स्वरूपानुभवी, वीतरागी देव-गुरु-धर्म के परम भक्त, कुमार ब्रह्मचारी, समयसार आदि अनेक गहन अध्यात्म शास्त्रों के परागामी, स्वानुभवरचंदी भावश्रुतलब्धि के धनी, सततज्ञानोपयोगी, वैराग्यमूर्ति, नयाधिराज शुद्धनय की मुख्यतासहसम्यक् अनेकान्तरूप अध्यात्म तत्त्व के असाधारण उत्तम प्रवचनकार और आश्चर्यकारी प्रभावना उदय के धारक अध्यात्म युग सृष्टा महापुरुष थे। उनके इन प्रवचनों का अवगाहन करते ही अध्येता को उनके गाढ़ अध्यात्म प्रेम, शुद्धात्म अनुभव, स्वरूप सन्मुख ढल रही परिणति, वीतराग-भक्ति के रंग से रंगा हुआ चित्त, ज्ञायकदेव के तल को स्पर्शता अगाध श्रुतज्ञान और सातिशय परम कल्याणकारी अद्‌भुत वचनयोग का ख्याल आ जाता है।

पूज्य गुरुदेव ने अध्यात्म नवनीत पूर्ण इस 'समयसार नाटक' के प्रत्येक काव्य को सर्व ओर से छानकर, विराट अर्थों को इन प्रवचनों में खोला है। अतिशय सचोट, पर सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और प्रकृत विषयसंगत अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा पूज्य गुरुदेव ने

'समयसार नाटक' के अर्थ गंभीर सूक्ष्म भावों को अतिशय स्पष्ट और सरल बनाये हैं। जीव को कैसे भाव सहज रहें तब जीव पुद्गल का स्वतन्त्र परिणमन समझा कहा जाए, कैसे भाव रहें तब आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझा गिना जाए, भूतार्थ ज्ञायक निज ध्रुव तत्त्व का (अनेकान्त सुसंगत) कैसा आश्रय हो तो द्रव्यदृष्टि यथार्थ परिणमी मानी जाए, कैसे-कैसे भाव रहें तब स्वावलम्बी पुरुषार्थ का आदर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तप वीर्यादि की प्राप्ति हुई कहलाये - इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजभूत विषयों को मनुष्य जीवन में बनते अनेक प्रसंगों के सचोट दृष्टान्तों से ऐसे स्पष्ट किये गये हैं कि आत्मार्थी को उस-उस विषय का स्पष्ट भाव भासन होकर अपूर्व गंभीर अर्थ दृष्टिगोचर होते हैं और वह शुभभावरूप बंधमार्ग में मोक्षमार्ग की मिथ्या कल्पना छोड़कर शुद्धभावरूप यथार्थ मोक्षमार्ग को समझकर सम्यक् पुरुषार्थ में जुड़ता है। इस प्रकार 'समयसार नाटक' के स्वानुभूति दायक गंभीर भाव हृदय में सीधे उतर जायें ऐसी असरकारक भाषा में अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाकर गुरुदेव ने आत्मार्थी जगत पर अनहद उपकार किया है। 'समयसार नाटक' में छिपे हुए अनमोल तत्त्वरत्नो का मूल्य स्वानुभव विभूषित कहान गुरुदेव ने जगत विदित किया है।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूति के पंथ को अत्यन्त स्पष्टरूप से प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं, परन्तु साथ-साथ मुमुक्षजीवों के हृदय में स्वानुभव की रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ अंशों में सत्पुरुष के प्रत्यक्ष उपदेश जैसा चमत्कारिक कार्य करते हैं। -ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ़ प्रवचन वाणी में कदाचित् ही दृष्टिगोचर होती है।

इस प्रकार 'समयसार नाटक' शास्त्र में निहित अध्यात्म तत्त्वविज्ञान के गहन रहस्य अमृत झरती वाणी में समझाकर, साथ ही शुद्धात्म रुचि जागृत करके पुरुषार्थ प्रेरक, प्रत्यक्ष सत्समागम की झाँकी खड़ी कराने वाले ये प्रवचन जैन साहित्य में अजोड़ हैं। प्रत्यक्ष सत्समागम के वियोग में ये प्रवचन मुमुक्षओं को अनन्य आधारभूत है। निरावलम्बन पुरुषार्थ समझाना और प्रेरित करना ही उद्देश्य होने के साथ 'समयसार नाटक' के सर्वांग स्पष्टीकरणरूप इन प्रवचनों में समस्त प्रयोजभूत तत्त्वों का तलस्पर्शी दर्शन आ गया है। मानों श्रुतामृत का सुख सिंधु ही इन प्रवचनों में हिलोरे ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ शुद्धात्म तत्त्व की रुचि उत्पन्न करके पर के प्रति रुचि नष्ट करने वाली परमऔषध है, स्वानुभूति का सुगम पथ है और भिन्न-भिन्न कोटी के सभी आत्मार्थियों का अत्यन्त उपकारक है। पूज्य गुरुदेव ने यह अमृतसागर समान प्रवचनों की भेंट देकर देश-विदेश में स्थित मुमुक्षुओं को निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधा प्राप्ति के अभिलाषी जीवों को इन परम पवित्र प्रवचनों का बारम्बार मनन करना योग्य है। यह संसाररूपी विषवृक्ष को छेदन के लिये अमोघ शस्त्र है; जो डाली और पत्रों को छुए बिना ही मूल पर ही सीधा प्रहार करता है। इस अल्पायु मनुष्यभव में जीव का प्रथम में प्रथम कर्तव्य एक निज शुद्धात्मा का बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादि कराने में ये प्रवचन परम निमित्तभूत है।

इस प्रवचन ग्रन्थ में कर्त्ता-कर्म-क्रियाद्वार तक के प्रवचन संकलित हैं। आगे के भागों का अनुवाद व सम्पादन कार्य प्रारम्भ है, जो अतिशीघ्र प्रकाशित होंगे।

इस प्रसंग पर मुमुक्षु समाज पर जिनका विशिष्ट उपकार है उन धर्मरत्न प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन के चरण कमल में अत्यन्त भक्तिभाव से अभिवंदन करके भावना भाते हैं कि - मुमुक्ष अतिशय उल्लासपूर्वक इन प्रवचनों का गहन अभ्यास करके, प्रतीति तथा अनुभव करके शाश्वत परमानन्द को पायें।

इस प्रवचन ग्रंथ के प्रकाशन प्रसंग पर इनके गुजराती संकलनकार श्री गुजराती आत्म धर्म सम्पादक परिवार का हार्दिक आभार व्यक्त करते है। जिन्होंने टेप अवतीर्ण करूणासागर गुरुदेवश्री के प्रवचनों को लिपिबद्ध कर संकलित कर जीवंत रखा। इन प्रवचनों का हिन्दी अनुवाद व सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमारजी जैन, बिजौलियाँ, राजस्थान ने किया है। लेजर टाइप सेटिंग का कार्य अजय गुप्ता, वेव कम्प्यूटर एवं प्रिन्टर, कोटा द्वारा सम्पन्न हुआ है। अत: उक्त सभी के आभारी हैं।

इस ग्रंथ के स्वाध्याय द्वारा मुमुक्ष निज कल्याण साधें - ऐसी भावना हैं।

प्रस्तुतकर्त्ता

www.vitragvani.com

दो शब्द

अध्यात्म रसिक पण्डित प्रवर बनारसीदासजी द्वारा रचित नाटक समयसार पर हुए आध्यात्मिक संत अनंत उपकारी पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामी के प्रवचन 'समयसार नाटक प्रवचन' भाग-1 समस्त तत्त्व प्रेमी साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

यह तो सर्वाविदित है कि परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री के जीवन परिवर्तन में समयसार परमागम का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। विक्रम संवत् 1978 में जब पूज्यश्री के हाथ में यह परमागम आया तो उन्होंने उसमें गहन अवगाहन करके पाया कि **अहो! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।** तत्पश्चात् तो उन्होंने प्रभुता तुल्य प्रतिष्ठा का तृणवत् परित्याग करके आजीवन इस परमागम में गोते लगाते हुए सम्पूर्ण जगत को समयसारमय बना दिया। इसी ग्रंथ पर सभा में उन्नीस बार किये गये प्रवचन इसका ज्वलंत प्रमाण है।

इस परमागम के रचयिता आचार्य भगवत् कुन्दकुन्द और टीकाकार अमृतचंद्र के प्रति आपका हृदय भक्ति से उछल पड़ता था।

इस परमागम की आत्मख्याति टीका में समागत कलशों पर पण्डित राजमलजी पाण्डे की टीका के आधार से पण्डित बनारसीदासजी ने इस नाटक समयसार की रचना की है। उसके कर्त्ता-कर्म-अधिकार तक के प्रवचनों का संकलन प्रस्तुत ग्रंथ में प्रकाशित किया जा रहा है।

परम पूज्य गुरुदेवश्री ने इन प्रवचनों में निज भगवान आत्मा के वैभव का निज अनुभवरस झरती वाणी में प्रतिपादन कर मुमुक्ष समाज पर अविस्मरणीय अनंत उपकार किया है। इस उपकार के लिए पूज्यश्री के चरणयुगल में अपनी अनंत विनयांजली समर्पित करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रंथ में अनुवाद को अधिकार रूप रखा है जबकि गुजराती में प्रवचन क्रमांक के अनुसार रखा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है।

इन प्रवचनों का अनुवाद व सम्पादन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रतिपादित किये हुए तत्त्वज्ञान के गंभीर रहस्यों को समझने का जो अवसर प्राप्त हुआ वह मेरी अमूल्य निधि है - ऐसा मैं मानता हूँ।

इन प्रवचनों के अनुवाद व सम्पादन का अवसर प्रदान करने हेतु प्रकाशक परिवार का भी आभारी हूँ और बारम्बार ऐसे सुअवसर प्रदान होंगे -ऐसी भावना भाता हूँ।

प्रवचन ग्रंथ के आगामी भाग का अनुवाद व सम्पादन कार्य भी चल रहा है जो अतिशीघ्र प्रकाशित होगा।

सभी साधर्मीजन इस प्रवचन गंगा में स्नान कर भवताप का शमन करें -यही भावना है।

देवेन्द्रकुमार जैन

बिजौलियाँ जिला-भीलवाड़ा (राज.)

कविवर पण्डित बनारसीदास जी

(संक्षिप्त जीवन परिचय)

यद्यपि जैनधर्म के धारक अनेक विद्वान् भारत-वसुंधरा को पवित्र कर गये हैं, तथापि किसी ने अपना जीवन चरित्र लिखकर हम लोगों की अभिलाषा को तृप्त नहीं किया है। परंतु इस ग्रंथ के निर्माता स्वर्गीय पण्डित बनारसीदासजी इस लाञ्छन से रक्षित हैं। आपने स्वयं अपनी लेखनी से पचपन वर्ष का अंतर्बाह्य सत्य-चरित्र लिखकर जैन साहित्य को पवित्र किया है और एक बड़ी भारी त्रुटि की पूर्ति की है।

श्रीमान् का पवित्र चरित्र 'बनारसीविलास' में जैन इतिहास के आधुनिक खोजक श्रीमान् पं0 नाथूरामजी प्रेमी ने मुद्रित कराया था, उसीके आधार से संक्षिप्त रूप में यहाँ उद्धृत करते हैं।

मध्यभारत में रोहतकपुर के पास बिहोली नामका एक ग्राम है। वहाँ राजपूतों की बस्ती है। एक समय बिहोली में जैनमुनि का शुभागमन हुआ। मुनिराज के विद्वत्तापूर्ण उपदेश और पवित्र चारित्र से मुग्ध होकर वहाँ के सम्पूर्ण राजपूत जैनी हो गये। और -

पहिरी माला मंत्रकी, पायो कुल श्रीमाल।
थाप्यो गोत बिहोलिया, बीहोली-रखपाल।।

नवकारमंत्र की माला पहिनके श्रीमाल कुल की स्थापना की और बिहोलिया गोत्र रक्खा। बिहोलिया कुल ने खूब वृद्धि पाई और दूर दूर तक फैल गया। इस कुल में परंपरागत संवत् 1648 के माघ में श्री बनारसीदासजी का जन्म हुआ।

बाल्यकाल

हरषित कहै कुटुम्ब सब, स्वामी पास सुपास।
दुहुंको जनम बनारसी, यह बनारसीदास।।

बालक बड़े लाड़चाव के साथ बढ़ने लगा। माता-पिता का पुत्र पर निस्सीम प्रेम था। एक पुत्र पर किसका प्रेम नहीं होता ? संवत् 1648 में पुत्र संग्रहणी रोग से ग्रसित हुआ । माता-पिता के शोक का ठिकाना न रहा।ज्यों-त्यों मंत्र-तंत्रों के प्रयोगो से संग्रहणी उपशान्त हुई कि, शीतलाने आ घेरा। इसप्रकार एक वर्ष के लगभग बालक अतीव कष्ट में रहा। संवत् 1650 में बालक ने चटशाला में जाकर पांडे रूपचन्दजी के पास विद्या पढ़ना प्रारंभ किया। बालक की बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, वह दो-तीन वर्ष में ही अच्छा व्युत्पन्न हो गया।

जिस समय का यह इतिहास है, उस समय देश में मुसलमानों का दौर दौरा था। उनके अत्याचारों के भय से बालविवाह का विशेष प्रचार था। इसलिये 9 वर्ष की वय में ही खैराबाद के सेठ कल्याणमलजी की कन्या के साथ बालक बनारसीदासजी की सगाई कर दी गई, और दो वर्ष के उपरान्त सं0 1654 में माघ सुदी 12 को विवाह हो गया। जिस दिन वधू आई थी, उसी दिन खरगसेनजी के एक पुत्री का जन्म हुआ, उसी दिन उनकी वृद्धा नानी ने कूच कर दिया। इस पर कवि कहते हैं:-

नानी मरन सुता जनम, पुत्रवधु आगौन।
तीनों कारज एक दिन, भये एक ही भौन।।
यह संसार विडम्बना, देख प्रगट दुख खेद।
चतुर-चित्त त्यागी भये, मूढ़ न जानहिं भेद।।

बनारसीदासजी की वय इस समय 14 वर्ष की हो चुकी थी, बाल्यकाल निकल गया था और युवावस्था का प्रारम्भ था। इस समय पं0 देवदत्तजी के पास पढ़ना ही उनका एक मात्र कार्य था। धनंजय नाममालादि कई ग्रन्थ वे पढ़ चुके थे। तथा -

पढ़ी नाममाला शत दोय, और अनेकारथ अवलोय।
ज्योतिष अलंकार लघुलोक, खंडस्फुट शत चार श्लोक।।

यौवनकाल

युवावस्था का प्रारंभ बुरा होता है, अनेक लोग इस अवस्था में शरीर के मद से उन्मत्त होकर कुल की प्रतिष्ठा, संपत्ति, संतति आदि सब का चौका लगा देते हैं। इस अवस्था में गुरुजनों का प्रयत्नमात्र रक्षा कर सकता है, अन्यथा कुशल नहीं होती। बनारसीदास अपने माता-पिता के इकलौते लड़के थे, इसलिये माता-पिता और दादी का उनपर अतिशय प्रेम होना स्वाभाविक है। सो असाधारण प्रेम के कारण गुरुजनों का लड़के पर जितना भय होना चाहिए, उतना बनारसीदासजी को नहीं था। इससे -

तजि कुलकान लोककी लाज, भयौ बनारसि आसिखबाज।

हमारे चरित्रनायक युवावस्था में अनङ्गरंग में मग्न हो रहे थे, उस समय जौनपुर में खडतरगच्छीय यति भानुचन्द्रजी (महाकवि बाणभट्टकृत कादम्बरी के टीकाकार) का आगमन हुआ। यति महाशय सदाचारी और विद्वान थे। उनके पास सैकड़ों श्रावक आते-जाते थे। एक

दिन बनारसीदासजी अपने पिता के साथ यतिजी के पास गये। यतिजी ने इन्हें सुबोध देखकर स्नेह प्रगट किया। बनारसीदास प्रतिदिन आने-जाने लगे। पीछे इतना स्नेह बढ़ गया कि, दिनभर यति के पास ही पाठशाला में रहते, केवल रात्रि को घर आते थे। यतिजी के पास पंचसंधिकी रचना, अष्ठौन, सामायिक, पडिकोण (प्रतिक्रमण), छन्दशास्त्र, श्रुतबोध, कोष और अनेक स्फुट श्लोक आदि विषय कंठस्थ पढ़े। आठ मूलगुण भी धारण किये। परन्तु अभी श्रृंगार-रस नहीं छूटा था।

कुछ समय के बाद बनारसीदासजी के विचार में परिवर्तन हुआ, सम्यग्ज्ञान की ज्योति जागृत हुई और श्रृंगार-रस से अरुचि होने लगी। एक दिन वे अपनी मित्र मंडली के साथ गोमती के पुलपर संध्या के समय समीर-सेवन कर रहे थे, और सरिताकी तरल-तंरगों को चित्तवृत्ति की उपमा देते हुए कुछ सोच रहे थे। बगल में एक पोथी दबी थी। कविवर आप ही आप बड़बड़ाने लगे "लोगों से सुना है कि, जो कोई एक बार भी झूठ बोलता है, वह नरक-निगोद के अनेक दु:खों में पड़ता हैं, परन्तु मेरी न जाने क्या दशा होगी, जिसने झूठ का एक पुंज बना के रक्खा है। मैंने इस पुस्तक में स्त्रियों के कपोलकल्पित नख-शिख की रचना की है। हाय! मैंने यह अच्छा नहीं किया। मैं तो पापका भागी हो ही चुका, अब और लोग भी इसे पढ़कर पाप के भागी होंगे, तथा चिरकाल के लिये पाप-परम्परा बढ़ेगी।" बस, इस उच्च विचार से उनका हृदय डगमगाने लगा। वे और कुछ नहीं सोच सके और न किसी की सम्मति ली, चुपचाप वह पोथी गोमती के अथाह और वेगप्रवाह-युक्त जल में फेंक दी। उस दिन से बनारसीदासजी ने एक नवीन अवस्था धारण की-

तिस दिनसों बानारसी, करी धर्म की चाह।
तजी आसिखी फासिखी, पकरी कुलकी राह।।

खरगसेन जी पुत्र की परिणति में यह परिवर्तन देखकर बहुत प्रसन्न हुए। और कहने लगे-

कहैं दोष कोउ ना तजै, तजै अवस्था पाय।
जैसे बालक की दशा, तरुण भये मिट जाय।।

और

उदय होत शुभ कर्म के, भई अशुभ की हानि।
तातें तुरत बनारसी, गही धर्म की बानि।।

जो बनारसी सन्तापजन्य रसके रसिया थे, वे अब जिनेन्द्र के शान्तरस में मस्त रहने लगे। लोग जिन्हें गली-कूचों में भटकते देखते थे, उन्हें अब जिनमन्दिर में अष्टद्रव्ययुक्त जाते देखने लगे। बनारसी को जिनदर्शन के बिना भोजन-त्याग की प्रतिज्ञा, चतुर्दश नियम, व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमणादि अनेक आचार-विचार में तन्मय देखने लगे।

तब अपजसी बनारसी, अब जस भयो विख्यात।

आगरे में अर्थमल्लजी नाम के अध्यात्म-रस के रसिक एक सज्जन थे। कविवर का उनके साथ विशेष समागम रहता था। वे कविवर की विलक्षण काव्यशक्ति देखकर आनन्दित होते थे, परन्तु उनकी कविता में आध्यात्मिक-विद्या का अभाव देखकर कभी कभी दु:खी भी होते थे। एक दिन अवसर पाकर उन्होंने कविवर को पं0 राजमल्लजीकृत समयसार-टीका देकर कहा कि आप इसको एक बार पढ़िये और सत्य की खोज कीजिये। उन्होंने उस ग्रन्थ को कई बार पढ़ा, परन्तु बिना गुरु के उन्हें अध्यात्म का यथार्थ मार्ग नहीं सूझ सका, और वे निश्चयनय में इतने लवलीन हो गये कि बाह्य क्रियाओं से विरक्त होने लगे-

करनीकौ रस मिट गयो, भयो न आतमस्वाद।
भई बनारसिकी दशा, जथा ऊँटकौ पाद।।

उन्होंने जप, तप, सामायिक, प्रतिक्रमण आदि क्रियाओं को बिलकुल छोड़ दिया, यहाँ तक कि भगवान का चढ़ा हुआ नैवेद्य (निर्माल्य) भी खाने लग गये। यह दशा केवल इनकी ही नहीं हुई थी, वरन इनके मित्र चन्द्रभान, उदयकरन और थानमल्लजी आदि भी इसी अंधेरे में पड़ गये थे। और निश्चयनय को इतने एकान्तरूप से ग्रहण कर लिया था कि-

नगन होंहिं चारों जनें, फिरहिं कोठरी माहिं।
कहहिं भये मुनिराज हम, कछू परिग्रह नाहिं।।

सौभाग्यवश पण्डित रूपचन्दजी का आगरा में आगमन हुआ। पंडितजी ने इन्हें अध्यात्म के एकान्त रोग से ग्रसित देखकर गोम्मटसार रूप औषधि का उपचार किया। गुणस्थानों के अनुसार ज्ञान और क्रियाओं का विधान भलीभाँति समझते ही उनकी आँखे खुल गई-

तब बनारसी औरहि भयो, स्याद्वाद परणति परणयो।
सुनि सुनि रूपचन्द के बैन, बानारसी भयो दिढ़ जैन।।

हिरदे में कछु कालिमा, हुती सरदहन बीच।
सोउ मिटी समता भई, रही न ऊँच न नीच।।

कुछ वर्षों में उन्होंने सूक्तिमुक्तावली, अध्यात्मबत्ती, मोक्षपैड़ी, फाग, धमाल, सिन्धुचतुर्दशी, फुटकर कवित्त, शिवपच्चीसी, भावना, सहस्त्रनाम, कर्मछत्तीसी, अष्टकगीत, वचनिका आदि कविताओंकी रचना की। ये सब कवितायें जिनागम के अनुकूल ही हुई हैं-

सोलह सौ बानवे लौं, कियो नियत रस पान।
पै कवीसुरी सब भई, स्यादवाद परमान।।

गोम्मटसार के पढ़ चुकने पर जब इनके हृदय के पट खुल गये, तब भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत समयसार का भाषा पद्यानुवाद करना प्रारंभ किया। भाषा-साहित्य में यह ग्रन्थ अद्वितीय और अनुपम है। इसमें बड़ी सरलता से अध्यात्म जैसे कठिन विषय का वर्णन किया है। संवत् 1696 में इनका प्रिय इकलौता पुत्र भी इस असार संसार से विदा माँग गया। इस पुत्रशोक की उनके हृदयपर बड़ी गहरी चोट लगी, उन्हें यह संसार भयानक दिखाई देने लगा। क्योंकि-

नौ बालक हूए मुवे, रहे नारिनर दोय।
ज्यों तरुवर पतझार है, रहें ठूंठ से होय।।

वे विचारने लगे कि-

तत्त्वदृष्टि जो देखिये, सत्यारथ की भांति।
ज्यों जाकौ परिग्रह घटै, त्यों ताको उपशांति।।

परन्तु -

संसारी जानें नहीं, सत्यारथ की बात।
परिग्रहसों माने विभव, परिग्रह बिन उतपात।।

विदित हो कि अभाग्यवश कविवर का पूर्ण जीवनचरित्र प्राप्त नहीं है। शुभोदय से जो कुछ प्राप्त है, वह उनकी 55 वर्ष की अवस्था तक का वृत्तान्त है; और वह पुस्तक अर्द्धकथानक क नाम से प्रसिद्ध है। उसे कविवर ने स्वयं अपनी पवित्र लेखनी से लिखा है। लेखक ने ग्रंथ में अपने गुण और दोष दोनों निष्पक्ष रीति से वर्णन किये हैं।

कविवर के जीवन की अनेक जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं, उनमें से कुछ यहाँ अंकित की गई हैं।

कविवर शतरंज के बड़े खिलाड़ी थे। शाहजहाँ इनही के साथ शतरंज खेला करते थे। बादशाह जिस समय दौरे पर निकलते थे, उस समय भी वे कविवर को साथ में रखते थे। यह कथा संवत् 1698 के पश्चात् की है, जब कि कविवर के चरित्र विशद हो रहे थे, और जब वे अष्टांग सम्यक्त्व की धारणा पूर्णतया कर रहे थे। कहते हैं कि उस समय कविवर ने एक दुर्धर प्रतिज्ञा धारण की थी कि मैं जिनेन्द्रदेव के अतिरिक्त किसी के भी आगे मस्तक नम्र नहीं करूँगा। जब यह बात फैलते फैलते बादशाह के कानों तक पहुँची, तब वे आश्चर्ययुक्त हुए परन्तु क्रोधयुक्त नहीं हुए। वे बनारसीदासजी के स्वभाव और धर्मश्रद्धा से भली-भाँति परिचित थे, परन्तु उस श्रद्धा की सीमा यहाँ तक पहुँच गई है, यह वे नहीं जानते थे, इसीसे विस्मित हुए। इस प्रतिज्ञा की परीक्षा करने के लिए बादशाह को एक मसखरी सूझी। आप एक ऐसे स्थान में बैठे जिसका द्वार बहुत छोटा था, और जिसमें बिना सिर नीचा किये कोई प्रवेश नहीं कर सकता था। पश्चात् कविवर को एक सेवक के द्वारा बुला भेजा। कविवर द्वारपर आते ही ठहर गये और बादशाह की चालाकी समझके चटले बैठ गये। पश्चात् शीघ्र ही द्वार में पहिले पैर डाल के प्रवेश कर गये। इस क्रिया से उन्हें मस्तक नम्र न करना पड़ा। बादशाह उनकी इस बुद्धिमानी से बहुत प्रसन्न हुए, और बोले, कविराज, क्या चाहते हो ? इस समय जो माँगो मिल सकता है। कविवर ने तीन बार वचनबद्ध करके कहा, जहाँपना ! यह चाहता हूँ कि आज के पश्चात् फिर कभी दरबार में स्मरण न किया जाऊँ! बादशाह वचनबद्ध होने से बहुत दु:खी हुए, और उदास होकर बोले, कविवर, आपने अच्छा नहीं किया। इतना कहके अन्त:पुर में चले गये, और कई दिन तक दरबार में नहीं आये। कविवर अपने आत्मध्यान में लवलीन रहने लगे।

एक बार गोस्वामी तुलसीदासजी बनारसीदासजी की काव्य-प्रशंसा सुनकर अपने कुछ चेलों के साथ आगरे आये तथा कविवर से मिले। कई दिनों के समागम के पश्चात् वे अपनी बनाई हुई रामायण की एक प्रति भेंट देकर विदा हो गये, और पार्श्वनाथ स्वामी की स्तुति दो-तीन कविताओं सहित जो बनारसीदासजी ने भेंट में दी थीं,साथ में लेते गये। इसके दो-तीन वर्ष के उपरान्त जब दोनों कविश्रेष्टों का पुन: मिलाप हुआ, तब तुलसीदासजी ने रामायण के सौन्दर्य के विषय में प्रश्न किया। जिसके उत्तर में कविवर ने एक कविता उसी समय रचके सुनाई-

बिराजै रामायण घटमाहिं।
मरमी होय मरम सो जानै, मूरख मानै नाहिं। बिराजै रामायण०।।1।।
आतम राम ज्ञान गुन लक्षमन, सीता सुमति समेत।
शुभपयोग बानरदल मंडित, वर विवेक रनखेत, विराजै०।।2।।
ध्यान धनुष टंकार शोर सुनि, गई विषयदिति भाग ।
भई भस्म मिथ्यामत लंका, उठी धारणा आग. बिराजै०।।3।।
जरे अज्ञान भाव राक्षसकुल, लरे निकांछित सूर।
जूझे रागद्वेष सेनापति, संसै गढ़ चकचूर, बिराजै०।।4।।
विलखत कुंभकरण भव विभ्रम, पुलकित मन दरयाव।
थकित उदार वीर महिरावण, सेतुबंध समभाव. विराजै०।।5।।
मूर्छित मंदोदरी दुराशा, सजग चरन हनुमान।
घटी चतुर्गति परणति सेना, छुटे छपकगुण बान. बिराजै०।।6।।
निरखि सकति गुन चक्रसुदर्शन, उदय बिभीषण दीन।
फिरै कबंध मही रावण की, प्राणभाव शिरहीन, बिराजे०।।7।।
इह विधि सकल साधु घट अंतर, होय सहज संग्राम।
यह विवहारदृष्टि रामायण, केवल निश्चय राम. बिराजै०।।8।।

तुलसीदासजी इस अध्यात्मचातुर्य को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और बोले "आपकी कविता मुझे बहुत प्रिय लगी है," मैं उसके बदले में आपको क्या सुनाऊं? उस दिन आपकी पार्श्वनाथस्तुति पढ़के मैंने भी एक पार्श्वनाथ स्तोत्र बनाया था, उसे आपको ही भेट करता हूँ। ऐसा कहकर "भक्तिविरदावली" नामक एक सुन्दर कविता कविवर को अर्पण की। कविवर को उस कविता से बहुत संतोष हुआ, और पीछे बहुत दिनों तक दोनों सज्जनों की भेंट समय समय पर होती रही।

कविवर का देहोत्सर्गकाल अविदित है, परन्तु मृत्युकाल की एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि,अन्तकाल में कविवर को कंठ रुंध गया था, इस कारण वे बोल नहीं सकते थे। और अपने अन्त समय का निश्चय कर ध्यानावस्थित हो रहे थे। लोगों को विश्वास हो गया था कि ये अब घंटे दो घंटे से अधिक जीवित नहीं रहेंगे। परन्तु जब घंटे दो घंटे में कविवर की ध्यानावस्था पूर्ण नहीं हुई, तब लोग तरह तरह के ख्याल करने लगे। मूर्ख लोग कहने लगे कि, इनके प्राण माया

और कुटुम्बियों में अटक रहे हैं, जब तक कुटुम्बी जन इनके सम्मुख न होंगे और दौलत की गठरी इनके समक्ष न होगी, तब तक प्राण विसर्जन न होंगे। इस प्रस्ताव में सबने अनुमति प्रगट की, किसी ने भी विरोध नहीं किया। परन्तु लोगों के इस मूर्खतापूर्ण विचारों को कविवर सहन नहीं कर सके। उन्होंने इस लोकमूढ़ता का निवारण करना चाहा, इसलिये एक पट्टिका और लेखनी लाने के लिये निकटस्थ लोगों को इशारा किया। बड़ी कठिनता से लोगों ने उनके इस संकेत को समझा। जब लेखनी आ गई, तब उन्होंने दो छन्द गढ़कर लिखे दिये। उन्हे पढ़कर लोग अपनी भूल को समझ गये, और कविवर को कोई परम विद्वान एवं धर्मात्मा समझकर उनकी वैयावृत्य में लग गए।

ज्ञान कुतक्का हाथ, मारि अरि मोहना।
प्रगट्यौ रूप स्वरूप, अनंत सु सोहना।।
जा परजैको अंत, सत्य कर मानना।
चले बनारसीदास, फेर नहिं आवना।।

श्री हीरालालजी नेमी द्वारा लिखित परिचय का सार संक्षेप।

www.vitragvani.com



नमः सिद्धेभ्यः

समयसार नाटक प्रवचन

भाग - 1

मंगलाचरण एवम् उत्थानिका

यह श्री नाटक समयसार शास्त्र अब प्रारम्भ होता है। इस शास्त्र के रचनाकार पण्डित श्री बनारसीदासजी चार सौ वर्ष पूर्व हो गये हैं। वे अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे। अपनी युवाअवस्था में उन्होंने श्रृंगाररस पोषक अनेक रचनाओं का निर्माण किया था, किन्तु जब सच्चा संग प्राप्त हुआ और आत्मानुभव हुआ तो उन कृतियों को नदी में बहा दिया।

पण्डित बनारसीदासजी महाकवि थे। अन्तिम समय में तुलसीदासजी से उनकी भेंट हुई थी। बनारसीदासजी को सुनकर तुलसीदासजी को बहुत संतोष हुआ था। उन्होंने बनारसीदासजी को रामायण भेंट की थी। ये सब बातें इस शास्त्र के प्रारंभ में पण्डितजी के जीवनवृत्त में लिखी हैं। वे युवा-अवस्था में कुपथगामी हो गये और पश्चात् युवा-अवस्था में ही जीवन की दिशा परिवर्तित हो गई। उन्हें एक रूपचदजी साधर्मी मिले, जिन्होंने उन्हें श्री गोम्मटसार दिया। उसे पढ़ते ही पण्डितजी स्वच्छन्दता से एकदम पीछे हट गये। सम्यग्दृष्टि की दशा, श्रावक की दशा तथा उनका व्यवहार आदि कैसा होता है- इसका परिज्ञान होते ही दृष्टि खुल गई। फिर राजमल्लजी कृत श्री समयसार कलश टीका मिली, जिसे पढ़कर उसके आधार से बनारसीदासजी ने इस नाटक समयसार की रचना की है। इसका वाचन आज अपने यहा प्रारम्भ होता है।

www.vitragvani.com

सर्वप्रथम ॐ से शास्त्र का प्रारम्भ होता है। ॐ अर्थात् भगवान की वाणी। भगवान को जहाँ अखण्ड दशा प्रकट हुई कि वाणी भी अखण्ड ही जाती है। "ॐ कार धुनिसुनि अर्थ गणधर विचारें"- भगवान की निरक्षरी वाणी सुनकर उस पर से गणधरदेव द्वादशांग की रचना करते हैं। ॐ पंच परमेष्ठीपद का वाचक है।

श्री परमात्मने नमः- जिन्हें पूर्णानंद और ज्ञान प्रकट हुआ है ऐसे लक्ष्मीवंत परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ।

हिन्दी टीकाकार का मंगलाचरण

निज स्वरूप को परम रस, जामैं भरौ अपार।
वन्दों परमानंदमय, समयसार अविकार ।।1।।
कुन्दकुन्द मुनि चन्दवर, अमृतचन्द मुनि इन्द।
आत्म रसी बनारसी, वन्दौं पद अरविंद ।।2।।

टीकाकार कृत-मंगलाचरण पर प्रवचन

अब, हिन्दी टीकाकार मंगलाचरण में कहते हैं कि इस समयसार नाटक में निज स्वरूप का परम रस भरा है। कैसा है निज स्वरूप? परम आनंदमय है। उस अपार, अपरिमित, अविचल, अनंत आनन्दमय, भगवान आत्मा को मैं वंदन करता हूँ।

आज से लगभग 2000 वर्ष पूर्व संवत् 49 में कुन्दकुन्दाचार्य हो गये हैं। कैसे थे वे? मुनिचन्द्रवर अर्थात् मुनियों में भी जो श्रेष्ठ थे। उन्होंने इस समयसार शास्त्र की रचना की। उस पर श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य ने टीका लिखी और जैसे मन्दिर के ऊपर कलश होते हैं, वैसे ही टीका पर कलशों की रचना भी उन्होंने की हैं। उन कलशों का अर्थ इस नाटक समयसार में किया गया है।

पण्डित बनारसीदासजी गृहस्थ थे, किन्तु आत्मरसी थे। गृहस्थदशा में कोई आत्मा का रस न ले सके ऐसा नहीं है। गृहस्थ दशा में होने पर भी धर्मी को आत्मा के आनन्द का ही रस है। राग आता है, किन्तु उसका रस नहीं है। देखो न! भरतचक्रवर्ती आदि हो गये हैं। उनके गृह में तो 96 हजार रानियाँ और 96 करोड़ तो सेना थी, किन्तु उनकी श्रद्धा क्या कार्य करती थी? कि 'जहाँ मैं हूँ, वहाँ तो आनंद है।' ऐसे ही आत्मरसिक बनारसीदासजी हो गये हैं।

www.vitragvani.com

अब बनारसीदासजी स्वयं मंगलाचरण करते हैं- जैसे श्रृंगारकवि थे, पलटकर वैसे ही जबरदस्त अध्यात्मकवि हो गये थे। उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों में से तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की स्तुति की है; क्योंकि भगवान पार्श्वनाथ काशी-बनारस में हुए थे और कविवर पण्डित बनारसीदासजी भी वहीं के थे, तभी तो माता-पिता ने उनका नाम 'बनारसी' रखा था।

ग्रन्थकार की ओर से मंगलाचरण

(श्री पार्श्वनाथजी की स्तुति)

करम-भरम जग-तिमिर-हरन खग,
उरग-लखन-पग सिवमगदरसी ।
निरखत नयन भविक जल बरखत,
हरखत अमित भविकजन-सरसी ।।
मदन-कदन-जित परम-धरमहित,
सुमिरत भगति भगति सब डरसी ।
सजल-जलद-तन मुकुट सपत-फन,
कमठ-दलन जिन नमत बनरसी ।।1।।

अर्थः- जो संसार में कर्म के भ्रमरूप अंधकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान हैं, जिनके चरण में सांप का चिह्न है, जो मोक्ष का मार्ग दिखाने वाले हैं, जिनके दर्शन करने से भव्य जीवों के नेत्रों से आनंद के आंसू बह निकलते हैं और अनेक भव्यरूपी सरोवर प्रसन्न हो जाते हैं, जिन्होंने कामदेव को युद्ध में हरा दिया है, जो उत्कृष्ट जैनधर्म के हितकारी हैं, जिनका स्मरण करने से भक्तजनों के सब डर दूर भागते हैं, जिनका शरीर पानी से भरे हुए मेघ के समान नीला है, जिनका मुकुट सात फण का है, जो कमठ के जीव को असुर पर्याय में परास्त करने वाले हैं; ऐसे पार्श्वनाथ जिनराज को (पंडित) बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं ।।1।।

ग्रन्थकार कृत-मंगलाचरण पर प्रवचन

भगवान पार्श्वनाथ कैसे थे? जैसे सूर्य अंधकार को हर लेता है, उसी तरह अज्ञानरूपी अंधकार को हरने के लिए भगवान सूर्य के समान हैं। भगवान मोक्षमार्ग को दर्शानेवाले हैं। पूर्णानंद को प्राप्त सर्वज्ञ भगवान की इच्छा बिना ही वाणी छूटती है और मुक्ति का मार्ग दिखलाती है। यह कोई संसारमार्ग नहीं दिखलाती है कि किस तरह तुम्हारा संसार ठीक चले, कैसे तुम विद्या

www.vitragvani.com

पढ़कर आगे बढ़ो ऐसा भगवान नहीं कहते। भगवान तो शिव मारगदर्शी हैं; संसार मारगदर्शी नहीं।

भगवान के दर्शन करते हुए भव्यजीवों के नेत्रों से आनन्द अश्रु बहते हैं। पूर्ण आनन्द रस में लवलीन प्रभु को देखते ही भव्यजीवों को ऐसा लगता है कि अहा! ऐसे प्रभु! परम शान्त पूर्ण आनन्दरस के पुंज हो गये हैं। ऐसे प्रभु के शरीर में से भी मानो शान्तरस झरता है! उन्हें देखते ही भव्य की आँखों में से हर्ष के आँसू झरते हैं। आनंदघनजी कहते हैं-

"देखन दे सखी मुझे देखन दे, चंद्रप्रभु सुखचंद सखी देखन दे।"

अरे! मैं एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, कौऐ-कुत्ते के भव में भ्रमता था। कहीं भी मुझे प्रभु के दर्शन नहीं हुए।

अरे! मैं कहाँ था? निगोद में, पानी की एक बूँद में कितने जीव? पानी के ऊपर हरी काई होती है, उसके एक कण में असंख्य तो शरीर और एक-एक शरीर में अनन्त जीव। अब वे जीव कब मनुष्य हों और कब प्रभु के दर्शन करें? **'देखन दे सखी देखन दे'**----मेरे नयन के आलस्य से ही मैंने प्रभु को नहीं देखा। इस प्रकार जिसे अपने हरि को देखने की लगन लगी है, उसको भगवान के दर्शन मात्र से आनन्द के आँसू उमड़ पड़ते हैं। उसका हर्ष कहीं समाता नहीं है।

देखो! यह परमात्मा की स्तुति है किन्तु वस्तुतः तो भव्यजीव परमात्मा का बहाना लेकर आत्मा की स्तुति करता है। प्रभु को देखते ही भव्यरूपी सरोवर प्रसन्न हो जाता है। उसे अमर्यादित-अपार आनंद होता है।

'मदन कदन जीत' -भगवान ने कामदेव को युद्ध में पराजित कर दिया है। भगवान आत्मा के परम शांत रस का अनुभव करते ही काम का रस नहीं रहता। भगवान आत्मा तो काम की वासना का नाशक ही है। काम की वासना रखनेवाला भगवान आत्मा नहीं है।

भगवान उत्कृष्ट जैनधर्म के हितकारी हैं। प्रभु परम धर्म के हितकर हैं। जिसका स्मरण करते ही भक्तजनों के सब भय दूर हो जाते हैं।

पार्श्वनाथ भगवान का शरीर कैसा था? कि **सजल-जलध,** जल से भरे हुए बादलों जैसा नीले रंग का था। सात फण का तो जिनके मुकुट था। जब पार्श्वनाथ मुनिदशा में ध्यानस्थदशा में खड़े थे, तब ऊपर से असुरदेव पर्याय को प्राप्त कमठ का विमान निकला था। प्राकृतिक नियमानुसार यह नियम है कि आनंद के साधक संत जहाँ विराजमान हों, वहाँ उन्हें नमस्कार किये

www.vitragvani.com

बिना विमान आगे नहीं जा सकता; वहीं स्थिर हो जाता है। तदनुसार कमठ के जीव का विमान भी स्थिर हो गया। जब नीचे आकर देखा तो पार्श्वनाथ ध्यान में लीन थे। कमठ एकदम क्रोधित हो उठा कि अरे! इसने मेरा विमान रोका। कमठ का वैर आठ भव से चला आ रहा था। उसने क्रोध में आकर पार्श्वनाथ के ऊपर वर्षा की, पत्थर फेंके, बिजली की चमकार की, स्वयं भूत-प्रेत का रूप लेकर आया; किन्तु प्रभु तो ध्यान में लीन थे।

भगवान पार्श्वनाथ जब राज्यावस्था में थे, तब एकबार वे जंगल में घूमने गये। तब वहाँ उनके नाना तापस होकर यज्ञ में लकड़ी को होम कर रहे थे। पार्श्वनाथ ने अवधिज्ञान द्वारा उस लकड़ी में बैठे नाग-नागिन को देखा। ये जल जायेंगे ऐसा सोचकर जब लकड़ी फाड़कर देखा तो दोनों जीवन की अन्तिम स्थिति में थे। पार्श्वनाथ ने दोनों को नमस्कार मंत्र सुनाया। वे नाग और नागिन मरकर स्वर्ग में धरणेन्द्र और देवी हुए। अभी भी वे दोनों देव-देवी के रूप में स्वर्ग में हैं। मुनिदशा में जब पार्श्वनाथ पर उपसर्ग हुआ तो उनका आसन कंपित हुआ और उन्होंने आकर उस उपसर्ग का निवारण किया।

धरणेन्द्र ने सप्त फणवाले सर्प का रूप धारण कर प्रभु पर छाया की और अखण्ड वर्षा से रक्षा की। इसी कारण से भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा पर सप्त फणवाला चिह्न प्रचलित हो गया, जिसे कवि ने यहाँ मुकुट की उपमा दी है।

इसप्रकार कमठ के जीव को असुरपर्याय में जिन्होंने पराजित किया ऐसे उन पार्श्वनाथ जिनराज को (पण्डित) बनारसीदासजी वंदन करते हैं।

देखो! एक ही श्लोक में कितना रस भर दिया है। भगवान कैसे होते हैं? छद्मस्थदशा में भगवान पर कैसा उपसर्ग आया था? उसका निवारण धरणेन्द्र पद्मावती ने किसप्रकार किया था? इत्यादि बहुतसी बातें इस प्रथम स्तुति में आ गई हैं।

यह मंगलाचरण की स्तुति थी। मंगल का अर्थ यह है कि मंग-पवित्रता और ललाति। जो पवित्रता को लावे, वह मंगल है। अथवा मम पाप, गल गाले। भगवान आनन्दस्वरूप में आकर अज्ञान और राग-द्वेष के पाप को गाले, वह मंगल है। पैसा मिलना या मान मिलना -यह मंगल नहीं है।।1।।

सकल-करम-खल-दलन,
कमठ-सठ-पवन कनक-नग ।
धवल परम-पद-रमन,

www.vitragvani.com

जगत-जन-अमल-कमल-खग ।।
परमत-जलधर-पवन,
सजल-घन-सम-तन समकर ।
पर-अघ-रजहर जलद,
सकल जन-नत भव-भय-हर ।।
जमदलन नरकपद-छयकरन,
अगम अतट भवजलतरन ।
वर-सबल-मदन-वन-हरदहन,
जय जय परम अभयकरन ।।2।।

अर्थः- जो संपूर्ण दुष्टकर्मों को नष्ट करने वाले हैं, कमठ की वायु के समक्ष मेरु के समान हैं, अर्थात् कमठ के जीव की चलाई हुई तेज आंधी के उपसर्ग से जो नहीं हिलनेवाले हैं, निर्विकार सिद्धपद में रमण करते हैं, संसारी जीवोंरूप कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये सूर्य के समान हैं, मिथ्यामतरूपी मेघों को उड़ा देने के लिये प्रचण्ड वायुरूप हैं, जिनका शरीर पानी से भरे हुए मेघ के समान नीलवर्ण है, जो जीवों को समता देने वाले हैं, अशुभ कर्मों की धूल धोने के लिये मेघ के समान हैं, सम्पूर्ण जीवों के द्वारा वन्दनीय हैं, जन्म-मरण का भय हरने वाले हैं, जिन्होंने मृत्यु को जीता है, जो नरक गति से बचाने वाले हैं, जो बड़े और गम्भीर संसार सागर से तारने वाले हैं, अत्यन्त बलवान कामदेव के वन को जलाने के लिये रुद्रकी अग्नि के समान हैं, जो जीवों को बिलकुल निडर बनाने वाले हैं; उन (पार्श्वनाथ भगवान) की जय हो!! ।।2 ।।

काव्य - 2 पर प्रवचन

अब यहाँ दूसरी स्तुति प्रारम्भ करते हैं-

पहले भगवान को भी कर्म तो बँधे हुए थे। स्वभाव के भान और आनन्द में लीनता द्वारा भगवान ने उन दुष्ट कर्मों को नष्ट किया है। कमठरूप पवन के सामने भगवान मेरु के समान हैं अर्थात् कमठ के तीव्र उपसर्ग के सामने भगवान सुवर्ण के मेरु के समान अडिग रहे थे। वे किसी के डिगाये डिगे नहीं, हिलाये हिले नहीं; वे तो अपने आनन्द में ही निमग्न थे। अन्तर में अमृतरस के घूँट पीते थे। यह तो सर्वज्ञ होने से पूर्व की बात है। तब भी भगवान, कमठ के जीव द्वारा चलाई गई उग्र आँधी के उपसर्ग से रंचमात्र चलित नहीं हुए।

www.vitragvani.com

अभी तो भगवान निर्विकार सिद्धदशा में रमण करते हैं। धवल अर्थात् विकार रहित निर्मलदशा में प्रभु रमण करते हैं। ऐसे प्रभु संसारी जीवोंरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य समान हैं। जैसे सूर्योदय के साथ ही कमल खिल जाते हैं, वैसे ही भगवान ऐसे थे कि जिन्हें देखते ही और जिनकी वाणी सुनते ही भव्यजीवों के हृदयकमल खिल जाते थे।

यद्यपि इस स्तुति में सब एकाकार होने से भगवान पार्श्वनाथ का नाम नहीं आया है, तथापि यह पार्श्वनाथ की ही स्तुति है।

कैसे हैं भगवान ? धवल अर्थात् पवित्र। जो परम पवित्र पद में रमण करनेवाले हैं अर्थात् जो निर्विकार सिद्धपद में रमण करते हैं। सिद्धभगवान, संसारी जीवोंरूपी कमल को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान हैं। जिन्हें पूर्ण पवित्र निर्विकारी चैतन्य-चमत्कारी दशा प्रकट हुई है। वे पर को भी निमित्तरूप से ऐसा कर सकते हैं यह तात्पर्य है। वस्तुत: तो भगवान स्वयं अपना करनेवाले हैं, किन्तु अन्य जीवों के निज हित में निमित्त हैं। इसकारण भगवान को संसारी जीवों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के समान कहा है।

मिथ्यामतरूपी मेघों को उड़ा देने के लिए भगवान प्रचण्ड वायु के समान हैं। सर्वज्ञ-वीतराग परमदेव ने जो मार्ग दर्शाया, उससे विपरीत मतवालों ने जो एकान्त मत स्थापित किया है, उसे उड़ाने के लिए भगवान प्रचण्ड वायु के समान हैं। भगवान अनेकांत द्वारा एकांत का खण्डन करने में समर्थ हैं।

जिन्हें अमृतस्वरूप वीतरागी समता प्रकट हुई है - ऐसे भगवान अन्य जीवों को भी समता प्रदान करनेवाले हैं। जो समझता है, उसे समता प्राप्त होती है तो भगवान ने प्रदान की ऐसा कहा जाता है। अशुभ कर्मोंरूपी धूल को धोने के लिए भगवान मेघ के समान हैं। जैसे बहुत धूल उड़ती हो, ऐसे समय में वर्षा हो जाये तो सारी धूल जम जाती है; उड़ती नहीं। वैसे ही जो भगवान की वाणी सुनता है, भगवान को पहिचानता है मानो उसके कर्मों का रस टल जाता है।

जिन्हें समस्त जीव नमन करते हैं। जो जन्म-मरण का भय दूर करनेवाले हैं अर्थात् जो भगवान को पहिचानकर मेरा आत्मा भी ऐसा ही है ऐसा जानता है, उसके चौरासी के अवतार का अभाव होता है। जन्म-मरण का ही नाश होता है।

जिन्होंने अमृत आनंदस्वरूप प्रकट किया ऐसे भगवान की शरण जो लेता है, उसको फिर नरकगति नहीं मिलती। अगम अर्थात् गंभीर और अतट अर्थात् मोटा, संसाररूपी सागर, उसमें

www.vitragvani.com

से जीवों को तारनेवाले हैं। कीड़ी, मकौड़ी, कौआ, कुत्ता जैसी अनेक योनियोंवाला यह मोटा, गंभीर संसार-समुद्र उसमें से इन भगवान के अतिरिक्त अन्य कोई तारणहार नहीं है। तात्पर्य यह है कि जैसा आत्मस्वरूप भगवान ने कहा, वैसा समझे; उसके चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण का अंत आ जाता है; भगवान किसी को तार नहीं देते। अतट अर्थात् जिसका कोई छोर नहीं है ऐसे संसाररूपी समुद्र से पार उतारने में भगवान निमित्त हैं।

भगवान अत्यन्त बलवान कामदेव के वन को जलाने के लिए रुद्र की अग्नि के समान हैं। सबल मदन अर्थात् उग्र काम-वासना, जिसमें जीव अनादि से जल रहे हैं ऐसी काम-वासना के वन को जलाने के लिए भगवान अग्नि समान हैं। **'जय-जय परम अभय करन'** परम अभय-निर्भयता और निडरता के प्रदाता वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की जय हो, जय हो ऐसा कहकर स्तुति और मांगलिक किया है।

जिन्हि के वचन उर धारत जुगल नाग,
भए धरनिंद पदुमावति पलकमैं।
जाकी नाममहिमासौं कुधातु कनक करै,
पारस पखान नामी भयौ है खलकमैं ।।
जिन्ह की जनमपुरी-नामके प्रभाव हम,
अपनौ स्वरूप लख्यौ भानुसौ भलकमैं ।
तेई प्रभु पारस महारस के दाता अब,
दीजै मोहि साता दृगलीला की ललक मैं ।। 3 ।।

अर्थः- जिनकी वाणी हृदय में धारण करके सांप का जोड़ा क्षणभर में धरणेन्द्र-पद्मावती हुआ, जिनके नाम के प्रताप से जगत में पत्थर भी पारस के नाम से प्रसिद्ध है जो लोहे को सोना बना देता है, जिनकी जन्मभूमि के नाम के प्रभाव से हमने अपना आत्मस्वरूप देखा है -मानों सूर्य की ज्योति ही प्रगट हुई है; वे अनुभव-रस का स्वाद देनेवाले पार्श्वनाथ जिनराज अपनी प्यारी चितवन से (दृष्टि से) हमें शान्ति देवें ।।3।।

काव्य - 3 पर प्रवचन

अब तीसरी स्तुति जिसमें पार्श्वनाथ का नाम आयेगा। ये बनारसीदासजी तो कवि हैं न!

जिस समय भगवान पार्श्वनाथ गृहस्थदशा में थे और हाथी पर बैठकर वन-क्रीड़ा हेतु

www.vitragvani.com

निकले तो वन में अपने नाना जो कि तापस थे, वे यज्ञ में लकड़ी होम कर रहे थे जिनमें एक नाग व नागिन जल रहे थे। उन्हें पार्श्वनाथ ने पंचपरमेष्ठी वाचक 'ॐ' ऐसा शब्द सुनाया और वे दोनों मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती नामक भवनवासी देव-देवी हुए। भगवान के वचन-श्रवण से क्षणभर में ही नाग-नागिन मरकर धरणेन्द्र-पद्मावती देव-देवी हुए।

जैसे पारसमणि नामक पत्थर लोहे को सुवर्ण बनाता है यह बात जगत-प्रसिद्ध है; वैसे ही जो भगवान को स्पर्शता-समझता-पहिचानता है; उसे भगवान अपने समान बनाते हैं इस प्रकार भगवान भी जगत में प्रसिद्ध हैं।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जिनकी जन्मभूमि के नाम के प्रताप से हमने अपना आत्मस्वरूप देखा, वह कैसा है? मानो कि हमें सूर्य की ज्योति ही प्रकट हुई है। पार्श्वनाथ भगवान की जन्मभूमि 'बनारस' उस पर से इस शरीर का नाम भी बनारसी रखा और इसी भव में हमें चैतन्य ज्योति का अनुभव हुआ। मानो पुण्य-पाप के मैल की आड़ में छुपी हुई चैतन्य सूर्य की ज्योति ही अनुभव में आयी। देखो! यहाँ बनारस में बनारसीदासजी को आत्मानुभव हुआ यह बतलाया है। यद्यपि अनुभव के समय तो बनारसीदासजी गृहस्थदशा में थे। आत्मा का अनुभव करने में स्त्री-पुत्रादि कहाँ बाधक है? आत्मा में लीन होने पर निर्विकल्प शांत आनंद का वेदन होता है। बहुत से लोग ऐसा मानते हैं कि आत्मा का अनुभव होने का पता कैसे पड़े? यह तो भगवान ही जाने। अरे भाई! अज्ञान मिटकर ज्ञान हो, उसकी खबर कैसे नहीं पड़ेगी। सूर्य की ज्योति के समान पुण्य-पाप के अंधकार से पार चैतन्य-ज्योति का अनुभव होता है। उसकी खबर अवश्य पड़ती है।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि जिन्होंने हमें अनुभव रस का स्वाद दिया वे प्रभु पारस हमें प्रिय दृष्टि से शान्ति दें। हमारा अनुभव अब पूर्ण हो जावे। **"दीजे मोही साता रंगलीला की ललक में"** आँख बंद करके खोलें, इतनी देर में अर्थात् क्षणमात्र में हमारा पूर्णानंद प्राप्त हो।

अन्तर में भगवान आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप का भान हो, वहाँ जगत में कोई अपना भाषित नहीं होता, पुण्य-पाप भी नहीं दिखते। मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप प्रभु हूँ। देखो! ऐसा अनुभव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती गृहस्थ को भी होता है और आत्मानुभव विहीन साधु हो तथापि परिभ्रमण का अंत नहीं आता। जागृत होकर देखता नहीं कि मैं कौन हूँ? कैसा हूँ? और वेषधारी होकर रहे, इससे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं है।

www.vitragvani.com

यहाँ तो बनारसीदासजी भगवान के समक्ष प्रार्थना करते हैं कि हमे आनंद का अनुभव पूर्ण होओ - क्षणभर में शान्ति प्रकट हो जाओ। वस्तुत: प्रार्थना तो आत्मा के समक्ष ही है; परन्तु निमित्त अपेक्षा तो भगवान से की कहलाती है न! किसी को पाँच-पचास लाख रुपये प्राप्त हो जायें तो 'यह तो बड़ी का पुण्य है' -ऐसा विनय से बोला जाता है; उसीप्रकार ये प्रार्थना के वचन विनयपूर्वक भगवान के समीप बोले गये हैं; वस्तुत: न कोई कुछ देता है, न लेता है।

इसप्रकार अरहंत भगवान की स्तुति हुई।

अब सिद्धभगवान की स्तुति करते हैं। "णमो सिद्धाणं" सिद्धपद अर्थात् शरीर रहित दशा। अनंत-अनंत शक्तियों से परिपूर्ण आत्मा का पर्याय में पूर्णरुपेण प्रकट होने को सिद्धदशा कहते हैं। 'शरीर, वाणी, मन आदि रहित अकेला पूर्णप्रकट आत्मा ही वस्तुत: सिद्ध है'।

श्री सिद्धस्तुति

अविनासी अविकार परमरसधाम हैं।
समाधान सरवंग सहज अभिराम हैं।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनंत हैं।
जगत शिरोमनि सिद्ध सदा जयवंत है ।। 4 ।।

अर्थ:- जो नित्य और निर्विकार हैं, उत्कृष्ट सुख के स्थान हैं, साहजिक शान्ति से सर्वांग सुन्दर हैं, निर्दोष हैं, पूर्ण ज्ञानी हैं, विरोधरहित हैं, अनादि अनन्त हैं; वे लोक के शिरोमणि सिद्ध भगवान सदा जयवन्त होवें ।। 4 ।।

काव्य - 4 पर प्रवचन

भगवान आत्मा अनादि-अनंत नित्य है। जो सत् है, उसकी न तो कभी उत्पत्ति होती है और न नाश ही होता है। ऐसा आत्मा अनादि से चारों गतियों में परिभ्रमण करता था, जहाँ अकेला दु:ख था। उसका नाश करके अनंत आनंद प्राप्त करने का नाम ही मुक्ति है, सिद्धदशा है और वही परमोत्कृष्ट दशा है, जो परमरसधाम अर्थात् परमसुख का स्थान है।

'समाधान सरवंग' अर्थात् सिद्धभगवान के असंख्य प्रदेशों में शान्ति...शान्ति...शान्ति भरी हुई है। जैसे बर्फ शीतलता की शिला है, वैसे ही भगवान आत्मा अरूपी शांतरस की शिला है। जिन्हें ऐसा शांतरस पूर्ण प्रकट हो गया, वे सिद्ध हैं।

एक भाई पूछते थे कि अशरीरी सिद्ध भगवान किसी का कुछ करते हैं या नहीं ? तो कहा

www.vitragvani.com

कुछ नहीं करते। इस पर वे बोले तो फिर सिद्ध भगवान किस काम के? यहाँ हम भी दूसरों को यथाशक्य करते हैं और भगवान कुछ नहीं करते? भाई! यहाँ तू भी क्या करता है? मात्र अज्ञान के कारण मानता है कि मैं अन्य का कर्त्ता हूँ। ये मेरे कारखानों में पच्चीस-पचास मनुष्य झुकते हैं, नमते हैं; किन्तु ये तो इसके पुण्य से नमते-झुकते हैं उसमे तूने क्या किया? तू तो अज्ञान से राग और द्वेष करता है। किसी का कुछ भी करने को कोई समर्थ नहीं है। कौन किसका सेठ है? अन्य का सेठ तो कोई है ही नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि सिद्ध भगवान को सहज परम समाधानरूप शान्ति है। पुण्य-पाप के विकल्प हैं राग है; वह तो अशान्ति है आकुलता है। छोटे-छोटे पक्षी बैठे होते हैं न! बैठे-बैठे भी पंख फड़फड़ाया करते हैं। चंचलता बहुत होती है। बंदर वृक्ष पर बैठकर भी इधर-उधर फिरा करते हैं, पूँछ आदि हिलाया करते हैं। यह अन्तर की कषाय बाहर शरीर की चेष्टा में दृष्टिगोचर होती है, किन्तु जिन्हें अन्दर में कषाय मिट गई है ऐसे सिद्धों को असंख्यात प्रदेशों में शान्ति...शान्ति वर्तती है, सहज समाधान वर्तता है। भक्ति में आता है न..। 'उपशम रस बरसे रे प्रभु थारा नयन मा...' प्रभु! जैसे आप शांतरस की शिला हैं वैसा ही मेरा स्वभाव है। उसे प्रकट करके मैं भी आपके समान हो जाऊँ; इसलिए मैं स्तुति करता हूँ।

'समाधान सर्वंग सहज अभिराम है' यह कोई कृत्रिम शान्ति की बात नहीं है। यह तो अतीन्द्रिय अकषाय शान्ति के अंकुर फूटकर अन्तर में शान्ति का प्रवाह हो गया है, उससे प्रभु आप सर्वांग सुंदर हो गये हैं।

"सुद्ध-बुद्ध अविरुद्ध अनादि-अनंत हो," -प्रभु आप तो महाशुद्ध हो, पूर्णज्ञानी हो, विरोधरहित हो, दूसरों को तार दूँ जिन्हें ऐसा विकल्प मात्र भी नहीं है -ऐसी दशा प्रकट हुई है, वे परमात्मा हैं। लोग चाहे जिसे परमात्मा मानकर सिर फोड़ते हैं, उन्हें कहते हैं कि परमात्मा तो ऐसे होते हैं।

जैसे जगत में संसारी जीव अनादि से हैं और अनंतकाल रहनेवाले हैं; वैसे ही जगत में सिद्ध अनादि-अनंत हैं। जैसे 'गाड़ी' कहने से उसमें आगे-पीछे का पूरा भाग आ जाता है; वैसे ही 'जगत' कहने से उसमें शरीरसहित और शरीररहित सभी जीव आ जाते हैं। संसारी और सिद्ध अनादि के हैं, कोई आगे-पीछे नहीं हैं।

वे जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवंत रहो। चौदह ब्रह्माण्ड असंख्यात योजन में स्थित हैं, उसमें सबसे ऊपर के भाग में सिद्ध रहते हैं। लोकाग्र में रहते हैं -इसकारण सिद्धों को जगत-शिरोमणि

www.vitragvani.com

कहा है। राजा-महाराजाओं की शादियों के समय सिर के ऊपर छत्र रखते हैं न! वैसे ही सिद्ध परमात्मा जगत में छत्र के स्थान पर हैं।

सिद्ध प्रभु सिद्धालय में पूर्ण निजानन्द में रहते हैं। वहाँ कोई खाना-पीना या नौकर-चाकर नहीं हैं। सदा सहज सुख में निमग्न हैं -ऐसे सिद्ध जयवंत वर्तो। इसप्रकार सिद्ध भगवान की स्तुति हुई।

श्री साधुस्तुति

ग्यान कौ उजागर सहज-सुखसागर,
सुगुन-रतनागर विराग-रस भन्यौ है।
सरन की रीति हरै मरनकौ न भै करै,
करन सौं पीठि दे चरन अनुसन्यौ है ।।
धरमकौ मंडन भरमको विहंडन है,
परम नरम ह्वै कै करमसौं लन्यौ है।
ऐसौ मुनिराज भुवलोक मैं विराजमान,
निरखि बनारसी नमसकार कन्यौ है ।।5।।

अर्थ:- जो ज्ञान के प्रकाशक हैं, साहजिक आत्मसुख के समुद्र हैं, सम्यक्त्वादि गुणरत्नों की खानि हैं, वैराग्य-रस से परिपूर्ण हैं, किसी का आश्रय नहीं चाहते, मृत्यु से नहीं डरते, इन्द्रिय-विषयों से विरक्त होकर चारित्र पालन करते हैं, जिनसे धर्म की शोभा हैं, जो मिथ्यात्व का नाश करने वाले हैं, जो कर्मों के साथ अत्यन्त शान्पिूर्वकेलड़ते हैं; ऐसे साधु महात्मा जो पृथ्वीतल पर शोभायमान हैं उनके दर्शन[89]करके पंडित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।

काव्य - 5 पर प्रवचन

अब बनारसीदासजी साधु की स्तुति करते हैं-

देखो! साधु के गुण कैसे होते हैं उन्हें यहाँ बतलाते हैं। जो स्वरूप को साधते हैं वे साधु हैं। राग को साधे, संयोग को साधे; वह तो अज्ञानी है। सच्चिदानन्द प्रभु आनंद के धाम में अनंत-अनंत शुद्धता का और शान्ति का समाज पड़ा हुआ है -ऐसे स्वरूप को जो निर्विकल्प शुद्धता द्वारा साधते हैं, वे साधु कहलाते हैं।

भगवान आत्मा परम पवित्र शुद्धज्ञान का प्रकाशक है। शुद्धोपयोगी मुनि ज्ञान के उजागर हैं। चैतन्य-बिम्ब चैतन्य-चमत्कार का प्रकाश करनेवाले हैं। मुनिराज सहज सुख के सागर हैं।

www.vitragvani.com

सहज अर्थात् जो आत्मजनित सुख है, वह किसी अन्य के द्वारा उत्पन्न नहीं होता; इसकारण जो स्त्री-कुटुंब, भोग, पैसा आदि में सुख की कल्पना करते हैं, वह मिथ्या है; वह सुख नहीं, दु:ख है।

जैसे समुद्र के मध्य बिन्दु में से पानी उछलने से ज्वार आता है; वैसे ही अंतर में स्वरूप के ध्येय को पकड़ने पर साधु की वर्तमान दशा में आनंद का उफान आता है, पर्याय में सुख का सागर उछलता है; मानो सुख का दरिया ही उछल रहा हो। भगवान आत्मा अनंतज्ञान, दर्शनादि गुणों का रत्नाकर है आकर अर्थात् समुद्र है।

प्रश्न:- किन्तु प्रभु! यह दरिया दिखता तो नहीं है न?

समाधान:- अरे बापू! यही दिखता है। जहाँ हो, वहाँ यह दिखता है। यह ऐसा है ऐसा नक्की कौन करता है? अपने अस्तित्व बिना जाने कौन? यह शरीर है, यह राग है - ऐसा जाना किसने? ज्ञानभूमि के अतिरिक्त किस भूमिका में जानने का कार्य होता है? यह ज्ञान है, वही आत्मा है। जहाँ देखो वहाँ आत्मा ही ज्ञात होता है, किन्तु उसके सामने नजर नहीं और पर के सामने ही नजर है - इसकारण ऐसा लगता है कि चैतन्य-चमत्कार तो दिखता नहीं है।

आत्मा ही सम्यक्त्वादि गुणरत्नों की खान है। आत्मा ही श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वीर्य, सुख, कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण आदि अनंतगुणों का समुद्र है। स्वयं ही आनंद का कर्त्ता, आनंद का भोक्ता, आनंद का दाता और आनंद का लेनेवाला भी स्वयं ही है। साधु-मुनिराज स्वयं ही आनंद के कर्त्ता व भोक्ता हैं। यह सफल अवतार है। मुनिराज का जन्म सफल है कि जिन्होंने अनंत जन्म-मरण को असफल किया है।

भाई! तूने साधुपद सुना नहीं। साधु के तो गुणरत्नों का सागर फट पड़ा है। साथ ही मुनियों का वैराग्य भी कैसा है! सम्पूर्ण जगत से उदास..उदास कोई वस्तु मेरी नहीं, किसी से मुझे लाभ नहीं, किसी से मैं प्रसन्न नहीं होता, किसी से मैं खिलता या मुरझाता नहीं, दु:खी नहीं होता। ऐसे वैराग्य रस से मुनिराज पूर्ण हैं। देह में भी वैराग्य दिखता है और मुनिराज की वाणी में तो मानो अमृत ही झरता है। जिन्हें अन्तर में अमृतस्वरूप आत्मा का भान है उनकी वाणी में भी मानो अमृत ही झरता है। देखो! ऐसे साधु का हम स्मरण करते हैं।

इसप्रकार समयसार नाटक का प्रारम्भ करते हुए ऐसे अरिहंत, सिद्ध और साधु का स्मरण करके समयसार नाटक को कहूँगा। लोग विवाह के अवसर पर भी अपने प्रियजनों का स्मरण करते हैं न, कि अरे! ऐसे प्रसंग में अमुक लड़का या लड़की आ नहीं सके। ये सब तो राग के लक्षण

www.vitragvani.com

हैं, किन्तु यहाँ तो वीतरागी प्रभु को याद करते हैं कि प्रभु! आपका स्मरण करके हम शास्त्र का प्रारम्भ करते हैं। हम अपने स्वरूप की लगन लगाकर शास्त्र लिखते हैं। उसमे प्रभु! प्रथम आप पधारो, आपसे ही हमारी शोभा है।

'**सरन की रीति हरे**' मुनिराज किसी की शरण नहीं लेते। इस मुनिदशा में हमें किसी की शरण हो तो ठीक ऐसा भाव उन्हें नहीं होता। अरे! जहाँ व्यवहार विकल्प भी शरण नहीं, वहाँ अन्य तो कौन शरण है?

बनारसीदासजी ने भी क्या रचना की है! पहले श्रृंगार के काव्य लिखते थे, वहाँ से परिवर्तित होकर अध्यात्म के कितने सुंदर काव्य लिखे हैं!

मुनिराज '**मृत्यु को न भय करे**' -आत्मा तो अनादि-अनंत है तो मृत्यु किसकी? सामने काला नाग आये या केसरिया सिंह आवे, किन्तु वह किसे खायेगा? शरीर का संयोग है, वह छूट जायेगा, किन्तु मेरे सच्चिदानंद आत्मा का सर्प व सिंह क्या कर सकते हैं?

इसप्रकार मुनिराज निर्भय और नि:शंक होते हैं।

'**करन सो पीठ दे चरन अनुसर्यो है**' करन अर्थात् इन्द्रियाँ और उनके विषयों को मुनिराज ने पीठ दी है और चारित्र का अनुसरण किया है। मुनिराज धर्म की स्थापना करते हैं और भ्रम का नाश करते हैं। अतीन्द्रिय आनंद में झूलते -ऐसे संतों से ही धर्म की शोभा है। उनके मिथ्यात्वरूप भ्रम नहीं होता। मुनिराज सर्वइन्द्रिय -विषयों की इच्छा से रहित अतीन्द्रिय स्वरूप को साधते हैं। बनारसीदासजी कहते हैं कि ऐसे मुनियों के स्मरणपूर्वक मैं शास्त्र का प्रारम्भ करता हूँ। यही मांगलिक है।

पण्डित बनारसीदास साधु महात्मा का स्वरूप बतलाकर साधु का स्मरण करके नमस्कार करते हैं। साधु ज्ञान के उजागर हैं अर्थात् ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा का प्रकाश करनेवाले है। साधु की भूमिका में राग की क्रिया होती है, शास्त्र की प्ररूपणा होती है, वह बात नहीं ली है; क्योंकि ये कोई स्तुतियोग्य भाव नहीं, ये तो उपाधिरूप हैं। साधु तो उसे कहते हैं कि जो ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा-चैतन्य के पूर के स्वरूप का प्रकाशन करे, विकास करे, उद्योत करे अर्थात् अन्तर में एकाग्र होकर साधु ज्ञान को विशेष निर्मल करते हैं, प्रकाशित करते हैं।

साधु सहज सुख सागर हैं। संसारी उसे कहते हैं जो राग, द्वेष और अज्ञान का वेदन करता है। इसकारण वह अज्ञानी दु:खसागर में डूबा हुआ है, उसे अन्तर के सुखसागर की खबर ही नहीं

www.vitragvani.com

है, जबकि साधु को तो वर्तमान पर्याय में अगाध सुखसमुद्र उछल रहा है। साधु तो स्वयं गुणरत्नाकर हैं। सम्यग्दर्शनादि अनंत गुणों के रत्न स्वरूप साधु हैं। जिसे यह भी खबर न हो कि आत्मा क्या है, कैसा है, उसमें क्या भरा है? और साधु हो जाये, तो इसप्रकार कोई स्वरूप के भान बिना साधु नहीं हुआ जाता।

अस्ति से कहा कि साधु सम्यग्दर्शन, ज्ञान, स्वच्छता, प्रभुता आदि गुणों के रत्नाकर हैं। साधु की वर्तमान दशा में अनंत गुण उछल रहे हैं और नास्ति से कहें तो मुनिराज राग से रहित हैं तथा जगत से उदास हैं। इन्द्र की इन्द्राणियाँ ऊपर से आयें तो भी उन पर मुनिराज का लक्ष्य नहीं जाता। सर्व से उदास ऐसे साधु वैराग्यरस से परिपूर्ण हैं। इसका नाम है 'साधु'।

'सरन की रीति हरे' जिन्होंने मर्यादा रहित अमर्यादित गुणों के सागर की शरण ली है, उन्हें बाहर की किसी शरण की आवश्यकता नहीं है। लोग तो पैसेवालों की शरण लेते हैं, किन्तु मुनिराज को तो जैसे कली खिले -ऐसे आत्मा के अनंत गुणों की कली खिल गई है। उसकी शरण के समक्ष बाहर की किसी शरण की चाह ही नहीं है। बाहर में तो सब अशरण ही है।

अरिहंता शरणं, सिद्धा शरणं कहते हैं न! किन्तु जिन्हें अंतरस्वरूप की शरण प्रकट हुई है, अनंत गुणों का बगीचा खिल उठा है, उन्हें किसीप्रकार की शरण या उसकी चाहना नहीं होती।

मुनिराज को मरण का भी भय नहीं होता। जगत के जड़ तत्त्व संयोग में स्थित हैं उनकी स्थिति पूर्ण हो तो भले हो, मुझे उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीमद् जी लिखते हैं -

एकाकी विचरुँगा जब शमशान में,
गिरि पर होगा बाघ-सिंह संयोग जब;
अडोल आसन और न मन में क्षोम हो,
जानूँ पाया परम मित्र संयोग जब।

गृहस्थदशा में रहते हुए भी धर्मी मुनिपने की ऐसी भावना भाते है। मुझे शरीर चाहिए नहीं, अत: सिंह आकर उसे खा जाए तो वह मेरा मित्र हुआ, उससे मुझे डर नहीं। अहो! संत ऐसे निर्भय और समतारस के पिण्ड होते हैं। ऐसी संत दशा हमें कब प्रकट होगी! इसप्रकार की भावना धर्मी गृहस्थदशा में रहने पर भी भाते हैं। यहाँ तो ऐसी दशा जिन्हें प्रकट हुई -ऐसे संत-मुनिराज की यह स्तुति है।

'करन सों पीठ दे' -अर्थात् पंचेन्द्रियों को मुनिराज ने पीठ दे दी है, वहाँ से पीछे हटकर

www.vitragvani.com

चारित्र का अनुसरण किया है, अतीन्द्रिय शांतस्वरूप चारित्र को आदरा है। आनंद के नाथ की रमणता को अनुसरा है। देखो, यह साधु! यहाँ कहीं पर भी यह बात नहीं आई कि अट्ठाईस मूलगुण और पंच महाव्रत पाले, वह साधु है। यद्यपि साधु को ऐसे विकल्प होते हैं तथापि वे कोई गुणरूप नहीं हैं। जो आनंद के धाम का अनुसरण करके स्वरूप में स्थिर हुए हैं, वे साधु हैं। ऐसे साधु-मुनिराज का स्मरण करके वंदना करते हैं।

अहा हा! धर्म का जिनको श्रृंगार है, वे साधु हैं। दर्पण में देखकर शरीर को सुंदर बनाने से आत्मा की शोभा नहीं बढ़ती। आत्मा की शोभा तो धर्म से है। ऐसे धर्म से साधु शोभित होते हैं और साधु से धर्म की शोभा है।

'भरम को विखंडन है' -साधु-मुनिराज ने भ्रम का तो विशेष प्रकार से नाश कर दिया है। बाहर में कही सुख है अथवा आश्रय स्थान है - ऐसी भ्रम बुद्धि का साधु ने नाश कर दिया है।

बनारसीदासजी तो कवि थे न! अतः देखो भाषा भी कैसी प्रयोग में ली है! पहले श्रृंगार रस के रसिया थे तो वैसे काव्य रचते थे, पश्चात् धर्म की रुचि होने से वैसे काव्य रचने लगे। आपने अर्धकथानक में अपना इतिहास लिखा है।

यहाँ कहते हैं कि मुनिराज ने परम नरम होकर अर्थात् अत्यन्त अकषाय स्वभाव के आश्रय से कर्मों के साथ युद्ध शुरु किया है। वे विकल्प को उत्पन्न नहीं होने देते। अहा हा! अंतर में भगवान से भेंट हुई है न! उसकी साक्षी में और शरण में जाकर कर्मों के साथ तो युद्ध प्रारम्भ किया है। कर्मों को पराजित कर स्वयं विजयश्री प्राप्त कर लेते हैं।

देखो! ऐसे साधु होते हैं। जो सिर मुँड़ाकर अमुक क्रिया करके साधुपना मनवाते हैं, वे तो साधु को कलंक लगाते हैं। साधुपद तो परमेश्वर पद है।

मानव होना मुश्किल है तो साधु कहाँ से होय?
साधु हुआ तो सिध हुआ, कहना रहा न कोय।।

जिनकी अंतर की दशा में अतीन्द्रिय आनंद और शान्ति उछल रही है- ऐसे मुनिराज इस पृथ्वीलोक में विराज रहे हैं। ऐसे संत को अन्दर में देखकर मैं (बनारसीदास) वंदन करता हूँ। देखो! यह पृथ्वी पैसेवालों से अथवा सुंदर मनुष्यों से नहीं शोभती, किन्तु संतों से पृथ्वी शोभती है।

मुमुक्षुः- इनकी दृष्टि ही ऐसी है न!

पूज्य गुरुदेवः- अरे, वस्तुस्थिति ही ऐसी है। दृष्टि अलग है अर्थात्? वस्तुस्थिति ही ऐसी

www.vitragvani.com

है। जिनका आत्मा चैतन्य की चमक से शोभित हो रहा है, उनको मैं नमस्कार करता हूँ। साधु कहने पर उसमें आचार्य, उपाध्याय और साधु तीनों आ जाते हैं।

सम्यग्दृष्टि की स्तुति

भेदविज्ञान जग्यौ जिन्हके घट,
सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करैं सिव मारगमैं,
जग माहिं जिनेसुरके लघु नंदन।
सत्यसरूप सदा जिन्हकै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
सांतदसा तिन्हकी पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन ।।6।।

अर्थः- जिनके हृदय में निज-परका विवेक प्रगट हुआ है, जिनका चित्त चन्दन के समान शीतल हैं अर्थात् कषायों का आताप नहीं है, जो निज-पर विवेक होने से मोक्षमार्ग में मौज करते हैं, जो संसार में अरहंतदेव के लघु पुत्र हैं अर्थात् थोड़े ही काल में अरहंत पद प्राप्त करनेवाले हैं, जिन्हें मिथ्यादर्शन को नष्ट करनेवाला निर्मल सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ हैं; उन सम्यग्दृष्टि जीवों की आनंदमय अवस्था का निश्चय करके पण्डित बनारसीदासजी हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं ।। 6 ।।

काव्य - 6 पर प्रवचन

अब सम्यग्दृष्टि का वर्णन करके उसकी वंदना और स्तुति करते हैं। धर्म की प्रथम सीढ़ीवाले, गृहस्थदशा में स्थित सम्यग्दृष्टि कैसे होते हैं, उसका वर्णन करते हैं-

गृहस्थाश्रम में रहनेवाले धर्मी भी कैसे होते हैं, उसका वर्णन करके मंगलाचरण में स्तुति और वंदन करते हैं। जिन्हें निज-पर का विवेक प्रकट हो गया हैं -ऐसे धर्मी गृहस्थाश्रम में रहते हैं, अरे! चक्रवर्ती हों, उन्हें छियानवें हजार रानियाँ और छियानवें करोड़ सेनिक हों, तथापि ये मैं नहीं -ऐसा विवेक उन्हें वर्तता है। मैं तो एक सच्चिदानन्द आत्मा हूँ, अन्य विकल्पादि से लेकर राजपाट, स्त्री-पुत्रादि कुछ भी मैं नहीं हूँ; ये मुझमें नहीं और मैं इनमें नही हूँ- ऐसी दशा गृहस्थदशा में भी सम्यग्दृष्टि की होती है।

पहला शब्द ही 'भेद-विज्ञान' प्रयोग में लिया है। जिन्हें स्व-पर का विवेक प्रकट हुआ है,

www.vitragvani.com

निज स्वरूप भगवान चैतन्य, आनन्द ज्योति और पुण्य-पाप के विकल्परूप विकार-जहर तथा स्त्री-पुत्रादिक पर-जड़-इनसे भिन्नता जिसने जानी है, उसे ही समकिती-धर्म के प्रारम्भवाला ज्ञानी कहा जाता है।

अनादि से तो राग और शरीर को अपना माना था। अपने नहीं होने पर भी अपने माने थे; किन्तु धर्मी ने अब भेदविज्ञान द्वारा उनको भिन्न जाना है कि यह शरीर, कर्म इत्यादि परवस्तु मेरे अस्तित्व में नहीं और मैं उनके अस्तित्व में नहीं हूँ। चक्रवर्ती के छियानवें हजार रानियाँ होती हैं; वे भी कैसी ? एक-एक पद्मिनी जैसी सुंदर, उनमें भी एक पटरानी की सेवा तो एक हजार देव करते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि जानता है कि यह वस्तु हमारी नहीं है। ये हमारी नहीं और हम इनके नहीं। ये वस्तु हमारे में से आयी नहीं, ये तो स्वयं अपने कारण से आयी हुई वस्तुयें हैं। मुझे इनके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

भेद विज्ञान जग्यो जिनके घट- अर्थात् जिनके हृदय में - अन्तरज्ञान में, जैसे करौत मारते ही लकड़ी के दो भाग हो जाते हैं; वैसे भेदज्ञानरूपी करौत द्वारा स्व और पर ऐसे दो भाग भिन्न हो गये हैं। एक ओर स्वयं भगवान आत्मा पूर्णानंद का नाथ और दूसरी ओर पुण्य-पाप के विकल्प से लेकर समस्त परवस्तुयें -इनका भेदज्ञान हो गया है। जो मेरी वस्तु है वह भिन्न नहीं हो सकती है और जो भिन्न हो जाये वह मेरी वस्तु नहीं। इसप्रकार जिसे स्व-पर की भिन्नता का भान हो गया है वह धर्मी है।

जिसका मन चंदन के समान शीतल हो गया है; क्योंकि मन में कषायों का आताप नहीं रहा है। पुण्य-पाप की वृत्तियाँ उठती हैं, वे कषाय का आताप हैं। उनसे धर्मी को भेदज्ञान हो गया है।

अरे ! जीवो को सत्य तत्त्व की खबर नहीं और धर्म के नाम पर कहीं न कहीं रुके रहते हैं। देह की स्थिति तो घटती जाती है। प्रतिसमय देह की स्थिति कम होती जा रही है और यह मानता है कि मैं आगे बढ़ रहा हूँ..धूल में ही आगे नहीं बढ़ा। भाई ! पाप में आगे बढ़ रहा है, किन्तु तुझे इसकी खबर नहीं है। जो अपना नहीं, उसे अपना मानता है और जो अपना है उसे पहिचानता नहीं है।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये कषाय के चार भेद हैं। इसमें भी तीव्र और मंद आदि के चार भेद हैं। उनमें सबसे कठोर अनंतानुबंधी कषाय है, जिसके कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता है। सम्यग्दृष्टि ने उसका अभाव किया है; अत: शांत-चैतन्य में से शीतलता प्रकट हुई है - इसकारण चंदन के समान शीतल हो गया है। यहाँ चंदन की तो उपमा दी है; वस्तुत: तो चंदन की शीतलता

www.vitragvani.com

और आत्मा की शीतलता का कोई मेल नहीं है; क्योंकि जाति ही दोनों की भिन्न है, किन्तु लोक में जिसकी शीतलता उत्कृष्ट मानी जाती है उसकी उपमा दी जाती है।

'कैलि करे शिव मारग में' चतुर्थ गुणस्थानवर्ती धर्मी शिव मारग में कैलि करते हैं -ऐसा कहा है; किन्तु लोगों को सम्यक्त्व की कीमत की खबर नहीं है। सारा हिन्दुस्तान बाह्य क्रिया में भरमाता है, धर्म के नाम पर ठगाया गया है। बाह्य त्याग में ही धर्म मान लिया है और सच्चे धर्म की खबर नहीं है।

यहाँ कहते हैं कि निज-पर का विवेक होने से धर्मी तो मोक्षमार्ग में मौज करता है। धर्मी को रागादि आते हैं किन्तु उनका प्रेम नहीं है। धर्मी को रागादि आते है यह कहना भी व्यवहार है। वस्तुत: धर्मी को तो ज्ञान आता है। धर्मी खाना-पीना-सोना इत्यादि क्रियायें करते हुए दिखने पर भी मुक्तिमार्ग में मौज करते हैं, कैली करते हैं। लोगों को ऐसा लगता है कि ये तो हमारे से भी अच्छा खाते हैं, पीते हैं, अच्छी तरह रहते हैं। भरत चक्रवर्ती बत्तीस ग्रास मात्र आहार लेते थे। उस आहार को छियानवे करोड़ सेनिक भी नहीं पचा सकते; साधारण मनुष्य खावे तो मर ही जाये- ऐसी उत्कृष्ट भस्मों का आहार होता है; किन्तु धर्मी उस आहार में सुख नहीं मानते। वे तो भेदज्ञान में ही सुख मानते हैं। चाण्डाल सम्यग्दृष्टि को भी (रत्नकरण्ड श्रावकाचार में) देव कहा है। जैसे राख से आच्छादित अग्नि दिखायी नहीं देती तथापि वह अन्दर में विद्यमान ही है; वैसे ही चाण्डाल के शरीर के अन्दर शरीर से भिन्न चैतन्य ज्योति पड़ी ही है।

सम्यग्दृष्टि जगत में दिखता है, किन्तु वह जिनेश्वर का लघुनंदन है, भगवान का छोटा पुत्र है। उसे भगवान की सम्पत्ति मिलने में देर नहीं है। साधु, जो कि अतीन्द्रिय ज्ञान और आनंदसहित जंगलवासी हैं, वे उत्कृष्ट अर्थात् बड़े पुत्र हैं; किन्तु सम्यग्दृष्टि भी छोटा पुत्र है, सर्वज्ञ का लघुनंदन है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि को श्रावक के समान शान्ति और संयम नहीं होने पर भी उसे सर्वज्ञ का पुत्र कहा है, क्योंकि उसे भले ही केवलज्ञान प्रकट नहीं हुआ किन्तु केवलज्ञान प्रकट होने का साधन प्रकट हो गया है, अत: अल्पकाल में ही सर्वज्ञ का उत्तराधिकार ले लेगा। अर्थात् कुछ ही काल में अरहंतदशा प्रकट करने वाला है। जिनको ज्ञान और राग की भिन्नता का प्रारम्भ हो गया है, वे अल्पकाल में ही पूर्णरूप से भिन्न हो जायेंगे।

'सत्यस्वरूप' अर्थात् सम्यग्दर्शन। जिसे पुण्य-पाप के राग-विकल्प से रहित शुद्ध आनंदकंद का सम्यक्-सत्यदर्शन हुआ है, जिसके ज्ञान में सदा सत्यस्वरूप का अनुभव और प्रतीति वर्तती है और जिसने मिथ्यात्व का नाश किया है; वस्तु स्वरूप ऐसा होगा या वैसा होगा ऐसा संदेह जिसे

www.vitragvani.com

नहीं रहा ऐसी धर्मी जीव की शांत अर्थात् अकषाय शुद्ध दशा जानकर, उसका निश्चय करके, पण्डित बनारसीदासजी हाथ जोड़कर वंदन करते हैं।

बनारसीदासजी स्वयं ज्ञानी होने के साथ ही कवि भी थे। उन्होंने प्रचलित सादी हिन्दी भाषा में कैसे काव्य बनाये हैं! जिन्हे समझने के लिए बहुत संस्कृत अथवा व्याकरण की आवश्यकता नहीं है। अत्यन्त सरल शब्दों में सुन्दर भाव भर दिये हैं।।6।।

स्वारथके साचे परमारथके साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहैं साचे जैनमती हैं।
काहूके विरुद्धि नाहि परजाय-बुद्धि नाहि,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न जती हैं ।।
सिद्धि रिद्धि वृद्धि दीसै घट मैं प्रगट सदा,
अंतर की लच्छिसौं अजाची लच्छपती हैं।
दास भगवन्त के उदास रहैं जगतसौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं ।।7।।

अर्थः- जिन्हें निज आत्मा का सच्चा ज्ञान है और मोक्ष पदार्थ से सच्चा प्रेम है, जो हृदय के सच्चे हैं और सत्य वचन बोलते हैं तथा सच्चे जैनी हैं, किसी से भी जिनका विरोध नहीं है, शरीर में जिनको अहंबुद्धि नहीं है, आत्मस्वरूप के खोजक हैं, न अणुव्रती हैं न महाव्रती हैं, जिन्हें सदैव अपने ही हृदय में आत्महित की सिद्धि, आत्मशक्ति की रिद्धि और आत्मगुणों की बुद्धि प्रगट दिखती है, जो जिनराज के सेवक हैं, संसार से उदासीन रहते हैं, जो आत्मीय सुखसे सदा आनन्दरूप रहते हैं; ऐसे गुणों के धारक सम्यग्दृष्टि जीव होते हैं ।।7।।

काव्य - 7 पर प्रवचन

अब सम्यग्दृष्टि की दशा का विशेष वर्णन करते हैं-

'स्वारथ के साचें'- स्व पदार्थ आत्मा की यथार्थ पहिचान करके सम्यग्दृष्टि हुए हैं। अपने स्वरूप का ज्ञान करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव नारकी, मनुष्य, तिर्यंच और देव इन चारों गतियों में होते हैं। अभी तो लोगों को सम्यक्त्व के सच्चे स्वरूप की भी खबर नहीं है। वे मानते है कि देव-शास्त्र-गुरु को मानो बस! हो गया सम्यक्त्व; किन्तु भाई! यह तो शुभराग है। समकित अर्थात् धर्म की प्रथम सीढ़ी। अपने ज्ञान में आत्मा का यथार्थ प्रतिभास हो और यथार्थ श्रद्धासहित

www.vitragvani.com

आत्मानुभव हो उसे सम्यक्त्व कहते हैं जो कि सच्चा धर्म है। भगवान की सेवा, पूजा करने से या परजीवों की दया करने से धर्म नहीं होता; क्योंकि धर्म कभी भी पर के आश्रय से नहीं होता, स्वाश्रय से ही सदैव धर्म होता है।

धर्मी '**परमारथ के साचें**' अर्थात् मोक्षरूप परम पदार्थ के प्रेमी हैं। परम+अर्थ अर्थात् मोक्ष। जैन धर्म में चार पदार्थ कहे हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म माने पुण्य, अर्थ माने पैसा, काम माने विषय-भोग और मोक्ष अर्थात् आत्मा की पूर्ण दशा - ये परम पदार्थ हैं। विकारीदशा का नाश होकर पूर्ण निर्विकारीदशा प्रकट होना मोक्ष है। धर्मी को ऐसे परम पदार्थ मोक्ष का प्रेम है, अत: वह उसको साधता है।

धर्म की प्रथम शरुआत वाले धर्मी हृदय के सच्चे होते हैं। इसकारण वे वचन भी सत्य ही बोलते हैं। ऐसे धर्मी -वीतरागता को साधनेवाले धर्मी ही वास्तविक जैनमती हैं। वीतराग भगवान द्वारा प्रतिपादित वीतराग जैनधर्म को साधते हैं, अत: जैनमती हैं।

किसी भी सम्यक् विवक्षावाली बात का विरोध धर्मी के ज्ञान में नहीं होता। धर्मी समस्त नयों के ज्ञाता होते हैं, अत: सत्य के किसी भी अंश में उन्हें विरोध नहीं होता। धर्मी को पर्यायबुद्धि अर्थात् शरीर या एक समय की पर्याय में अहंबुद्धि नहीं होती। धर्मी को द्रव्यबुद्धि होती है। अनादि से मैं शरीर हूँ, मैं राग हूँ, राग का जाननेवाला हूँ- ऐसी पर्यायबुद्धि थी जो कि भ्रमबुद्धि थी। धर्मी ने उसका नाश करके निज द्रव्य में अहं स्थापित किया है।

धर्मी '**आतम गवेषी**' - अर्थात् आत्मा के खोजक हैं। राग के खोजक नहीं। ऐसे धर्मी '**न गृहस्थ है और न यति हैं**'। गृहस्थदशा में दिखते हैं, पर सचमुच गृह को निज मानते नहीं हैं; अत: गृहस्थ भी नहीं और अणुव्रत-महाव्रत नहीं; अत: यति भी नहीं हैं। यति तो उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा के आनंद का जतन है। चतुर्थ गुणस्थानवाले धर्मी गृहस्थ भी नहीं और यति भी नहीं हैं। तथापि देव और इन्द्रों द्वारा पूज्य (आदरणीय) है। पूज्य हैं अर्थात् इन्द्र भी उनकी प्रशंसा करता है, प्रशंसा योग्य हैं।

'**रिद्धि, सिद्धि, बुद्धि दीसे घट में प्रकट सदा**' - जिसे सदैव अपने हृदय में आत्मा की सिद्धि है, उसे बाहर की किसी रिद्धि-सिद्धि की आकांक्षा नहीं होती; किन्तु मैं पूर्ण कैसे होऊँ! पूर्ण शुद्ध कैसे होऊँ! ऐसी सिद्धि की भावना है। उस तरफ धर्मी की बुद्धि है। धर्मी पैसे से अपनी सिद्धि नहीं मानते। जड़ पदार्थ तो अपनी क्रियावती शक्ति से आते-जाते हैं, उनसे आत्मा की सिद्धि नहीं होती। पैसे को रखना या छोड़ना अपने अधिकार क्षेत्र में नहीं है।

www.vitragvani.com

आत्मा की शान्ति और ज्ञान- आनंद ही आत्मा की रिद्धि है। स्त्री, पुत्र, धनादि एवं विशाल प्रासाद ये - धर्मी की रिद्धि नहीं हैं, क्योंकि ये अपनी वस्तुयें ही नहीं हैं। अपनी वस्तु जो प्रकट हुई हैं, वही अपनी रिद्धि है और उसमें वृद्धि होना ही अपनी वृद्धि है। लोगों को कुछ धनादि की वृद्धि में अपनी वृद्धि लगती है, किन्तु भाई! यह तेरी वृद्धि नहीं हैं। धर्मी को तो अपने अंतर में ही रिद्धि, सिद्धि और वृद्धि दिखती है।

धर्मी तो अन्तर की लक्ष्मी के लक्षपती हैं। **अजाँची** अर्थात् बिना माँगी, अपनी अंतर लक्ष्मी के पति है, स्वामी हैं। **'दास भगवंत के, उदास रहे जगत सों, सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं'**- धर्मी भगवान के दास हैं और जगत से उदास हैं, हमेशा सुखी हैं। धर्मी जहाँ भी हों वहाँ सदैव सुखी रहते हैं। ऐसे गुणोंवाले धर्मी को समकिती कहते हैं। इसप्रकार सम्यक्त्वी की स्तुति के दो काव्य हुए।

जाकै घट प्रगट विवेक गणधरकौसौ,
हिरदै हरखि महामोहकौं हरतु है।
साचौ सुख मानै निजमहिमा अडोल जानै,
आपुही मैं आपनौ सुभाउ ले धरतु है ।।
जैसें जल-कर्दम कतकफल भिन्न करै,
तैसें जीव अजीव विलछनु करतु है।
आतम सकति साधैं ग्यानकौ उदौ आराधै,
सोई समकिती भवसागर तरतु हैं ।। 8 ।।

अर्थः- जिसके हृदय में गणधर जैसा निज-पर का विवेक प्रगट हुआ है, जो आत्मानुभव से आनन्दित होकर मिथ्यात्व को नष्ट करता है, जो सच्चे स्वाधीन सुख को सुख मानता है, जो अपने ज्ञानादि गुणों का अविचल श्रद्धान करता है, जो अपने सम्यग्दर्शन स्वभाव को आपही में धारण करता है, जो अनादि के मिले हुए जीव और अजीव का पृथक्करण जल-कर्दम से कतकफल के समान करता है, जो आत्मबल बढ़ाने में उद्योग करता है और ज्ञान का प्रकाश करता है; वही सम्यग्दृष्टि संसार-समुद्र से पार होता है ।। 8 ।।

काव्य - 8 पर प्रवचन

अब सम्यक्त्वी की स्तुति का तीसरा काव्य चलता है:-

www.vitragvani.com

देखो यह सम्यग्दर्शन! उसका स्वरूप व स्तुति चलती है। जिसके हृदय में गणधर के समान स्व-पर का विवेक प्रकट हुआ, वह सम्यग्दृष्टि है। कारण कि दो वस्तुयें न हों तो भूल संभव नहीं है। जैसा अपना स्वरूप है, वैसा ज्ञान में न आवे और अन्य पदार्थ को अपना माने, वही मिथ्यादृष्टि है। जहाँ द्वैत होता है, भूल भी वहीं होती है और उससे भिन्न होकर भूल का अभाव भी होता है।

विवेक अर्थात् भेदज्ञान, स्वपर की भिन्नता। आत्मा आनंदस्वरूप है और विकल्प आकुलता स्वरूप है; अत: विकल्प से लेकर समस्त परवस्तुयें आत्मा से भिन्न हैं। ऐसा गणधर जैसा विवेक सम्यग्दृष्टि जीव को प्रकट हुआ है। फिर भले ही वह मनुष्य हो, पशु हो, नारकी हो अथवा देव हो या स्त्री पर्याय में हो; किन्तु यदि वह सम्यग्दृष्टि है तो उसे गणधर जैसा विवेक प्रकट हुआ है।

अहो! कहाँ तीर्थंकर प्रभु की सभा के वजीर गणधरदेव, जो अन्तर्मुहुर्त में द्वादशांग की रचना करते हैं और कहाँ सम्यग्दृष्टि! तथापि श्रद्धा में विवेक दोनों का एक समान है। कहाँ गणधर, कहाँ सम्यग्दृष्टि मनुष्य, पशु और नारकी! किन्तु इन सबके ज्ञान में एक समान स्व-पर का विवेक प्रकट हुआ है। इनके सम्यक्त्व और स्व-पर के विवेक में कुछ भी अंतर नहीं है।

राग, शरीर और कर्म से चैतन्य का स्वरूप अत्यन्त भिन्न है ऐसा ज्ञान हुआ है; इसकारण उनके हृदय में अर्थात् ज्ञान में आत्मानुभव से हर्ष हुआ है। यह हर्ष अर्थात् दुनिया के हर्ष की बात नहीं है। यह तो आनंदस्वरूप आत्मा के अनुभव से उत्पन्न हर्ष है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि को स्व-पर का और स्वभाव-विभाव का विवेक होने से मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। स्वभाव का अनुभव करके आनंद प्रकट हुआ है, उसके कारण महामोहरूप मिथ्यात्व को नष्ट करता है। गृहस्थदशा में होने पर भी जीव और अजीव, स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान होने से इन्द्रियों तथा उनके विषयों में आनंद नहीं मानता। मिथ्यात्वरूप भ्रम के अभाव का 'भेदज्ञान' ही एकमात्र उपाय है।

भेदज्ञान होने से मिथ्यात्व का नाश और सम्यक्त्व की प्राप्ति दोनों एक ही साथ होते हैं। भेदज्ञान होने पर मिथ्यात्व एवं अज्ञान-दोनों का नाश होता है। श्रद्धा और ज्ञानगुण भले ही भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु कार्य एक साथ होता है। देखो न, लिखा है कि '**महामोह को हरतु है**' चैतन्यस्वरूप में आरूढ़ होने पर मिथ्यात्व उत्पन्न ही नहीं होता, अत: उसका नाश किया -ऐसा कहा जाता है।

आत्मा आनंद की मूर्ति है और राग आकुलता है। भले ही शुभराग हो, किन्तु वह भी

www.vitragvani.com

आकुलता है। अत: जहाँतक राग में एकत्व था, तबतक दु:खी था और राग की आकुलता एवं आत्मा के आनंद का भेदज्ञान होते ही सुख होता है। यही समकित और भेदज्ञान है।

धर्म की शुरूआतवाला जीव कि जिसने जन्म-मरण के कारणरूप भावों का नाश किया है, वह आत्मा के स्वाधीन आनंद में ही सुख मानता है।

वह धर्मी जीव पुण्य-पाप के राग में, स्त्री-पुत्र-परिवार में अथवा राजपाट, इन्द्र के इन्द्रासन में सुख नहीं मानता; क्योंकि इनमें सुख है ही नहीं।

अहो! बहुत संक्षिप्त श्लोकों में बहुत माल भर दिया है।

'निज महिमा अडौल जाने'-उसकी श्रद्धा में अपने अनंत गुणों की महिमा के समक्ष अन्य किसी की महिमा नहीं आती। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, उस उत्कृष्ट शुभभाव की भी महिमा ज्ञानी को नहीं आती और अपने ज्ञान, आनंदादि अनंत गुणस्वरूप आत्मा की महिमा अडौल - हिले नहीं -ऐसी निशंक होती है। आठ वर्ष की कन्या भी यदि सम्यक्त्व प्राप्त करे तो उसकी भी ऐसी निशंक श्रद्धा होती है। समकित कहाँ किसी अन्य की वस्तु है? अपनी ही वस्तु है। स्वयं शुद्ध चैतन्यकंद, आनन्द का दल, अस्तित्ववाली वस्तु है -ऐसा विवेक अंदर में होने पर अडोलपने अपने गुण की ही महिमा भासित होती है। शरीर सुंदर हो, वाणी कोमल हो अथवा चक्रवर्ती का वैभव हो; किन्तु अन्तर में किसी की महिमा नहीं आती।

श्रोता:- अंतर में महिमा नहीं आती अर्थात्?

पूज्य गुरुदेवश्री:- अर्थात् कदाचित बाहर से भले ही बोले कि इनका कंठ बहुत मीठा है, शरीर बहुत सुंदर है, किन्तु ज्ञानी को अंतर में इसकी महिमा नहीं होती।

'आपु ही में आपनौ सुभाव ले धरतु हैं' -आत्मा अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव को अपने में धारण करता है। अपना जानने का भाव, श्रद्धा का भाव, स्थिरता का भाव, आनंद का भाव -उसे धारण करता है, किन्तु धर्मी रागादि भावों को अपने में धारण नहीं करता।धर्मी अपने गुणों की निर्मल पर्याय प्रकट करके उसे धारण करता है, रक्षा करता है; किन्तु पुण्य-पाप के भाव को धारण नहीं करता, रक्षा नहीं करता। श्रीमद् में आता है कि 'स्वद्रव्य के धारक शीघ्र होओ और परद्रव्य का धारकपना शीघ्र छोड़ो।' धर्मी निर्मल पर्याय प्रकट करके धारण करता है; किन्तु पुण्य-पाप के राग को धारण नहीं करता। धर्मी राग का धारक नहीं है, रक्षक नहीं है, पक्षक नहीं, भोगनेवाला नहीं है।

www.vitragvani.com

भारी बात है न! धर्मी इन्द्र या चक्रवर्ती हो, उसके अपार वैभव हो, वर्तमान में तो किसी के पास इतना वैभव भी नहीं है। चक्रवर्ती के लिए देव आकर पाँच भवन बना देते हैं, जो कि बहुत विशाल और अलौकिक होते हैं। उनमें चारों ओर हीरा-माणिक जड़े होते हैं, एक-एक हीरे का मूल्य अरबों रुपये होता है। ऐसे अनेक प्रकार के वैभव होते हैं तथापि धर्मी जानता है कि यह वैभव मेरा नहीं और मैं इसका नहीं। मैं इसे रखता नहीं, धारता नहीं, मैंने इसे प्रकट नहीं किया; न मैं इसका रक्षक ही हूँ और न ये मेरा रक्षक ही है।

जैसे मलिन जल में कतक फल डालने से मेल और जल पृथक्-पृथक् हो जाते हैं; वैसे ही भेदज्ञान करने से राग और निर्विकल्प भगवान आत्मा दोनों भिन्न हो जाते हैं। अत: करने योग्य यह भेदज्ञान ही है और जिसने किया, उसकी ऐसी दशा हो जाती है ऐसा यहाँ कहा जा रहा है। भेदज्ञान के बिना कभी भी किसी को सम्यक्त्व नहीं होता।

निर्मली औषधि जो कतक फल, वह पानी में डालने से कीचड़ नीचे बैठ जाता है और पानी निर्मल हो जाता है; वैसे ही भेदज्ञानरूपी, प्रज्ञाछैनीरूपी निर्मली औषधि द्वारा बहिर्मुखी भाव और अन्तर स्वभाव दोनों को भिन्न जानकर धर्मी जीव शुद्धता का अनुभव करते हैं।

'जीव-अजीव विलछनु करतु है' -अर्थात् जीव-अजीव को भिन्न कर देते हैं। यहाँ अजीव शब्द में रागादि सब आ जाते हैं। चैतन्य स्वभाव ज्ञायक भगवान का दल आनन्दमूर्ति आत्मा और रागादि अजीव इन दोनों को भेदज्ञान द्वारा भिन्न किया जाता है। देखो! कर्म द्वारा अथवा किसी परद्रव्य द्वारा स्व-पर को भिन्न नहीं किया जा सकता, किन्तु भेदज्ञान की क्रिया द्वारा जीव-अजीव और स्वभाव-विभाव को भिन्न किया जा सकता है।

'आतम सकति साधै' -अर्थात् ज्ञान, दर्शन, आनन्द की शक्ति को साधै। भले ही युद्धादि में खड़ा हो, किन्तु ज्ञान-दर्शनादि की शक्ति को साधता है और ज्ञान का अर्थात् आत्मा का प्रकाश करता है। वही सम्यग्दृष्टि संसारसमुद्र से पार होता है।

देखो! यह लिखनेवाले बनारसीदासजी स्वयं एक कवि हैं और ज्ञानी हैं। गृहस्थाश्रम में रहते थे। उनकी तीन शादियाँ हुई थीं, नौ संतानें हुई थीं, किन्तु सब मर गये। जगत की चीजें हैं भाई! अपने कारण आती हैं और अपने कारण चली जाती हैं।

गठरीवाले एक भाई के जीवन में ऐसा प्रसंग बना कि परदेश में कमाने गया। वहाँ कमाई की, शादी की, पुत्र हुए; अकेला था उसमें से बारह व्यक्ति हो गये और फिर सब चले गये, पैसा भी चला गया और स्वयं जैसे अकेला गया था, वैसा ही वापिस आ गया। यह प्रसंग बताता है

www.vitragvani.com

कि परवस्तु के साथ आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। धर्मी भी व्यापार परिग्रह आदि में दिखता है, किन्तु उसका उनके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे समकिती जीव ही चौरासी के अवताररूप भवभ्रमण से तिर जाते हैं। जिसको सम्यक्त्व हुआ है, उसको अल्पकाल में केवलज्ञान होकर मोक्ष होना ही है।

कोई ऐसा कहते हैं कि व्रत, तप, क्रिया आदि करते हैं, इसलिए संसार में तिर जायेंगे। तो कहते हैं कि हराम है, जो एक भव भी घटे। आत्मा की अन्तर्दृष्टि, ज्ञान और अनुभव के बिना मोक्ष तो होता ही नहीं, किन्तु एक भव कम भी नहीं होता। इसप्रकार समकिती की स्तुति के तीन श्लोक हुए।

मिथ्यादृष्टि का लक्षण

धरम न जानत बखानत भरमरूप,
ठौर ठौर ठानत लराई पच्छपातकी।
भूल्यो अभिमानमैं न पाउ धरै धरनी मैं,
हिरदैमैं करनी विचारै उतपातकी ।।
फिरै डांवाडोलसौ करम के कलोलिनिमैं,
ह्वै रही अवस्था सु बघूलेकैसे पातकी।
जाकी छाती ताती कारी कुटिल कुवाती भारी,
ऐसौ ब्रह्मघाती है मिथ्याती महापातकी ।। 9 ।।

अर्थः- जो वस्तुस्वभाव से अनभिज्ञ है, जिनका कथन मिथ्यात्वमय है और एकान्त का पक्ष लेकर जगह-जगह लड़ाई करता है, अपने मिथ्याज्ञान के अंहकार में भूलकर धरती पर पांव नहीं टिकाता और चित्त में उपद्रव ही सोचता है, कर्म के झकोरों से संसार में डांवाडोल हुआ फिरता है अर्थात् विश्राम नहीं पाता सो ऐसी दशा हो रही है जैसे बघरूड़े में पत्ता उड़ता फिरता हैं, जो हृदय में (क्रोध से) तप्त रहता है, (लोभ से) मलिन रहता है, (माया से) कुटिल रहता है, (मान से) बड़े कुबोल बोलता है; ऐसा आत्मघाती और महापापी मिथ्यात्वी होता है ।। 9 ।।

काव्य - 9 पर प्रवचन

अब उसके सामने यह बतलाते हैं कि विपरीत दृष्टिवाले मिथ्यादृष्टि जीव कैसे होते हैं? अज्ञानी जीव धर्म के स्वरूप को नहीं जानता। भगवान आत्मा चैतन्य का दल है। आत्मा

www.vitragvani.com

धर्मी है और ज्ञान-आनन्द आदि उसके धर्म हैं, उनसे अज्ञानी अनजान है। वह कहता है कि हमें वस्तु के स्वरूप को जानकर क्या करना है? अँधेरे में भी गुड़ तो गुड़ ही लगता है, अत: हमें जानने की क्या जरूरत है? अरे भाई! गुड़ खाने जाते अँधेरे में जहर खा जायेगा तो मर जायेगा। वैसे ही वस्तु के स्वरूप को नहीं जाना तो विपरीत स्वरूप को अपना मानकर मर जायेगा। राग के भाव को आत्मा का भाव माननेवाला अज्ञानी जहर खाता है।

मिथ्यादृष्टि जो कोई कथन करता है, जो कोई भाव करता है; वे सब विपरीत श्रद्धावाले मिथ्यात्वमय ही होते हैं और वे मिथ्यात्व की भ्रमणा को ही बखानते है। अज्ञानी जगह-जगह एकान्त का पक्ष लेकर लड़ाई करता है कि नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा ही है अज्ञानी के ऐसे ही सब लक्षण होते हैं।

'भूल्यो अभिमान मैं न पाऊँ धरै धरनी मैं' -मिथ्यादृष्टि जीव अभिमान में डोलता है। ऐसा डोलता है कि पैर भी धरती पर नहीं रखता; मानो मैं ही सब कुछ हूँ। मिथ्यादृष्टि जीव के हृदय में कुछ कर डालने का उन्माद ही भरा होता है अर्थात् वह आकुल-व्याकुल हुआ करता है। ऐसा कर दूँ, वैसा कर दूँ ऐसी करनी का ही विचार करता रहता है। चित्त में उपद्रव का ही विचार करके तूफान मचाता होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव कर्म के उदय में जुड़ने से अस्त-व्यस्त हुआ फिरता है अर्थात् अन्दर में कषाय का इतना जोर होता है कि विश्राम नहीं पाता। उसकी दशा तो ऐसी हो गई है, जैसी तेज हवा में पत्ते-पत्तियों की होती है। मिथ्यात्व और कषाय के जोर में मानो उसे प्रसन्न कर दूँ, उसका नाश कर दूँ, उसका ऐसा कर दूँ -इसप्रकार डाँवाडोल हुआ करता है।

जिसका हृदय क्रोध से तृप्त है। जिसका हृदय लोभ से मलिन रहता है -किसी भी काम में उसको लोभ-आशा होती है कि इसमें से कुछ मिलेगा। जिसका हृद्य माया से कुटिल है और मान के भार से कुवचन बोलता है - ऐसा आत्माघाती और महापापी मिथ्यादृष्टि है। कवि ने ताती, कारी और कुटिल ऐसे शब्दों द्वारा चारों कषाय क्रोध, मान, माया और लोभयुक्त मिथ्यादृष्टि जीव का वर्णन किया है। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव पर का घात तो करे या न करे, परन्तु अपना ही घात कर रहा है; अत: वह आत्मघाती है, ब्रह्मघाती है और महापापी है।

इस मंगलाचरण में मिथ्यादृष्टि का कुछ काम नहीं है, परन्तु यह तो मात्र मिथ्यादृष्टि का स्वरूप वर्णन करके उसका ज्ञान कराया है।

www.vitragvani.com

बंदौं सिव अवगाहना, अरु बंदौं सिव पंथ ।
जसु प्रसाद भाषा करौं, नाटकनाम गरंथ ।। 10 ।।

अर्थः- मैं सिद्ध भगवान को और मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) को नमस्कार करता हूँ, जिनके प्रसाद से देशभाषा में नाटक समयसार ग्रन्थ रचता हूँ ।। 10 ।।

काव्य - 10 पर प्रवचन

अब कविवर बनारसीदासजी सिद्ध परमेष्ठी का स्मरण करके वंदन करते हैं।

किसी को ऐसा प्रश्न होता है कि सिद्धभगवान का आकार होता है या नहीं ? उसका समाधान इस छंद में आ जाये -ऐसी भाषा का प्रयोग यहाँ किया है।

'बदौ सिव अवगाहना' -सिद्धभगवान भी आत्मा हैं न! अतः उनका भी आकार होता है। सिद्धप्रभु अपने असंख्य प्रदेशी पूर्ण निर्मल आनन्दघन की अवगाहना में रहते हैं, उन्हें मैं वंदन करता हूँ और **'सिवपंथ'** अर्थात् रत्नत्रय को भी वंदन करता हूँ। सम्यग्दर्शन को नमस्कार सम्यग्ज्ञान को नमस्कार और सम्यक्चारित्र को नमस्कार। इसप्रकार मोक्ष और मोक्षमार्ग को नमस्कार करता हूँ कि जिसके प्रसाद से इस ग्रन्थ की रचना करता हूँ। इसप्रकार कवि निर्मान होकर कहता है कि मैं यह 'नाटकसमयसार' ग्रन्थ बनाता हूँ।

कविस्वरूप वर्णन

चेतनरूप अनूप अमूरति,
सिद्धसमान सदा पद मैरो ।
मोह महातम आतम अंग,
कियौ परसंग महा तम घेरौ।।
ग्यानकला उपजी अब मोहि,
कहौं गुन नाटक आगमकेरौ ।
जासु प्रसाद सधै सिवमारग,
वेगि मिटै भववास बसेरौ ।। 11 ।।

अर्थः- मेरा स्वरूप सदैव चैतन्यस्वरूप उपमा रहित और निराकार सिद्ध सदृश है। परन्तु मोह के महा अन्धकार का संग करने से अन्धा बन रहा था। अब मुझे ज्ञानकी ज्योति प्रगट हुई है। इसलिये नाटक समयसार ग्रन्थ को कहता हूँ, जिसके प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है और जल्दी संसार का निवास अर्थात् जन्म-मरण छूट जाता है।। 11 ।।

www.vitragvani.com

काव्य - 11 पर प्रवचन

अब ग्यारहवें श्लोक में कवि अपनी दशा का वर्णन करता है।

मेरा स्वरूप सदैव चैतन्य रूप, उपमारहित, निराकार सिद्धसमान है। द्रव्यदृष्टि से मैं ऐसा होने पर भी मैंने पर्याय में अपने असंख्य प्रदेशों में मोह का अंधकार फैला दिया था। किसी कर्म ने मेरी ऐसी दशा नहीं की थी; परन्तु कर्म का संग करके, राग का संग करके अंधा बन रहा था। वस्तु सिद्धसमान शुद्ध है; परन्तु मैं मोह के अंधकार में ऐसा अंध बन गया था कि मुझे अपना स्वरूप दिखता ही नहीं था।

निश्चय से मेरा स्वरूप सिद्धसदृश होने पर भी मैंने ही मेरे आतम अंग में मोह का माहात्म्य लगाया था, इससे स्वरूप दिखता नहीं था। मेरी पर्याय में मोह के अंधकार ने घेरा डाला था, उसके संग में मैं ऐसा अंधा बन गया था कि शरीर, रागादि को ही निज मानता था। मैं अपने स्वरूप को देखता ही नहीं था; परन्तु अब मुझे ज्ञान की ज्योति प्रकट हुई है। इससे शरीर और रागादि को निज माननेरूप भ्रमणा अब टल गई है। अज्ञान टलकर स्वरूप का सम्यग्ज्ञान पर्याय में प्रकट हुआ है।

अब मुझे ज्ञानज्योति प्रकट हुई है। इससे मैं नाटक समयसार ग्रन्थ कहता हूँ, जिसके प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है और शीघ्र संसार का निवास अर्थात् जन्म-मरण छूट जाता है।

देखो! यह अपना आत्मा जवाब देता है कि यह ज्ञानकला प्रकटी है, उसके प्रसाद से शीघ्र संसार का अन्त हो जायेगा। जिसमें भव नहीं, भव का भाव नहीं -ऐसे स्वभाव का भान हुआ, उसे अब भव कैसा? मैं अल्पकाल में संसार से मुक्त हो जाऊँगा, उसमें किसी की सहायता-मदद की आवश्यकता नहीं है।

अनादि से भव में बस रहा है, उसकी दशा कैसी है? वह तो नजरों से दिखती है न! अपना शरीर भी साथ नहीं देता। कितनी दवा लेनी पड़ती है? पुत्र भी सुख नहीं देता, दो दिन आकर मिलकर चला जाता है। अरे! समीप रहे तो भी वह सुख नहीं दे सकता। कोई किसी को सुखी करने में समर्थ नहीं है और स्वयं अज्ञान से अंध है -इसकारण दु:खी हैं।

कविलघुता वर्णन

जैसैं कोऊ मूरख महा समुद्र तिरिवेकौं,
भुजानिसौं उद्यत भयौ है तजि नावरौ।

www.vitragvani.com

जैसैं गिरि ऊपर विरखफल तोरिवेकौं,
बावनु पुरुष कोऊ उमगै उतावरौ।।
जैसैं जलकुंड मैं निरखि ससि-प्रतिबिम्ब,
ताके गहिबे कौं कर नीचौ करै टाबरौ।
तैसैं मैं अलपबुद्धि नाटक आरंभ कीनौ,
गुनी मोहि हसैंगे कहैंगे कोऊ बाबरौ ।। 12।।

अर्थः- जिस प्रकार कोई मूर्ख अपने बाहुबल से बड़ा भारी समुद्र तैरने का प्रयत्न करे, अथवा कोई बौना मनुष्य पहाड़ के वृक्ष में लगे हुए फल को तोड़ने के लिये जल्दी से उछले, जिस प्रकार कोई बालक पानी में पड़े हुए चन्द्रबिम्ब को हाथ से पकड़ता है, उसी प्रकार मुझ मन्दबुद्धि ने नाटक समयसार (महाकार्य) प्रारम्भ किया, विद्वान लोग हँसी करेंगे और कहेंगे कि कोई पागल होगा।।12।।

काव्य - 12 पर प्रवचन

अब बारहवें काव्य में अपनी लघुता को वर्णन करते हैं।

जैसे कोई मूर्ख मनुष्य नौका छोड़कर अपने बाहुबल से समुद्र तिरने का प्रयत्न करे अथवा पहाड़ के ऊपर उगे हुए वृक्ष का फल तोड़ने के लिए कोई बौना पुरुष शीघ्रता से उछले, उत्साह से उतावली करे; वैसा ही मेरा यह कार्य है ऐसी निर्मानता कवि दर्शाते हैं।

'टावरो' अर्थात् बालक जैसे पानी के कुण्ड में आकाश स्थित चन्द्र का प्रतिबिम्ब देखकर उसे लेने के लिये हाथ नीचे करता है, पानी में हाथ डालकर चन्द्रमा को पकड़ने का प्रयत्न करता है; वैसे ही इस नाटक समयसार को बनाने का महा-कार्य मुझ मन्दबुद्धिवाले ने प्रारम्भ किया है। मेरी बुद्धि तो थोड़ी है और मैंने कार्य बड़ा प्रारम्भ किया है।

कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य जो कि धर्म धुरन्धर महासमर्थ आचार्य हैं, उन्होंने समयसार जैसे महान शास्त्र को रचा। उसे मैंने अल्पबुद्धि होने पर भी पद्य में रचने का कार्य प्रारम्भ किया है, इससे गुणीजन-विद्वानजन तो मुझ पर हँसेंगे कि अरे! यह कोई तेरा कार्य है? यह तू क्या ले बैठा? क्या तू पागल हो गया है कि इस महान आचार्य के शास्त्र को पद्य में रचने बैठ गया है? इसप्रकार विद्वान मुझे पागल कहेंगे तो भले ही मुझे पागल कहो; परन्तु मैं तो भक्तिवश यह शास्त्र लिखना चाहता हूँ।

www.vitragvani.com

जैसैं काहू रतनसौं बींध्यौ है रतन कोऊ,
तामैं सूत रेसम की डोरी पोई गई है।
तैसें बुध टीकाकरि नाटक सुगम कीनौ,
तापरि अलपबुधि सूधी परिनई है ।।
जैसें काहू देस के पुरुष जैसी भाषा कहैं,
तैसी तिनिहूं के बालकनि सीख लई है।
तैसैं ज्यौं गरंथकौ अरथ कह्यौं गुरु त्योंहि,
हमारी मति कहिवेकौं सावधान भई है ।। 13 ।।

अर्थः- जिस प्रकार हीरा की कनी से किसी रत्न में छेद कर रक्खा हो तो उसमें रेशम का धागा डाल देते हैं, उसी प्रकार विद्वान् स्वामी अमृतचन्द्र आचार्य ने टीका करके समयसार को सरल कर दिया है, इससे मुझ अल्प-बुद्धि की समझ में आ गया। अथवा जिस प्रकार किसी देश के निवासी जैसी भाषा बोलते हैं वैसी उनके बालक सीख लेते हैं; उसी प्रकार मुझको गुरु-परम्परा से जैसा अर्थज्ञान हुआ है वैसा ही कहने को मेरी बुद्धि तत्पर हुई है ।। 13 ।।

काव्य-13 पर प्रवचन

अब पण्डित बनारसीदासजी कृत नाटक समयसार का तेरहवाँ काव्य चलता है।

जैसे किसी ने हीरा की कनी से रतन में छेद कर रखा हो तो उसमें रेशम का डोरा पिरो दिया जाता है, वैसे ही विद्वान स्वामी अमृतचन्द्राचार्य देव ने टीका करके समयसार को सरल कर दिया है तथा उसमें अमृतचन्द्राचार्य देव ने कलश लिखे और उन पर टीका करके श्री राजमल्लजी ने भी समयसार को सरल कर दिया है। इससे वह मेरे समान अल्पबुद्धियों को भी समझ में आ गया है।

रतन में छिद्र किया हुआ हो तो डोरा पिरोना सहज हो जाता है, वैसे ही अमृतचन्द्राचार्य देव और पाण्डे राजमल्लजी ने समयसार को सरल कर दिया है। इसकारण वह मेरी अल्पबुद्धि में भी समझ में आ गया है, मेरी अल्पबुद्धि सम्यक् बनी है।

जैसे जिस देश में जैसी भाषा बोली जाती हो, वैसी बालक सीख लेता है; वैसे ही मुझे गुरु परम्परा से जैसा अर्थ ज्ञान हुआ है, वैसा ही कहने के लिए मेरी बुद्धि तत्पर बनी है। भरतक्षेत्र का अद्वितीय नेत्र ऐसा यह अजोड़.....अजोड़ समयसार, उसे गुरुओं ने सरल बना दिया है। इससे ज्ञानगोचर हुआ और गुरु ने कहा, वैसी भाषा भी मैंने सीख ली है और तदनुसार कहने के लिए तत्पर हुआ हूँ।

www.vitragvani.com

अब कवि कहते हैं कि भगवान की भक्ति से हमें बुद्धिबल प्राप्त हुआ है:-

कबहू सुमति ह्वै कुमतिकौ विनास करै,
कबहू विमल जोति अंतर जगति है।
कबहू दया ह्वै चित्त करत दयालरूप,
कबहू सुलालसा ह्वै लोचन लगति है ।।
कबहू आरती ह्वै कै प्रभु सनमुख आवै,
कबहू सुभारती ह्वै बाहरि बगति है।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारै भगवंतकी भगति है ।।14।।

अर्थ:- हमारे हृदय में भगवान की ऐसी भक्ति है जो कभी तो सुबुद्धि-रूप होकर कुबुद्धि को हटाती है, कभी निर्मल ज्योति होकर हृदय में प्रकाश डालती है, कभी दयालु होकर चित्त को दयालु बनाती है, कभी अनुभव की पिपासारूप होकर नेत्रों को थिर करती है, कभी आरतीरूप होकर प्रभु के सन्मुख आती है, कभी सुन्दर वचनों में स्तोत्र बोलती है, जब जैसी अवस्था होती है तथा तैसी क्रिया करती है ।। 14 ।।

काव्य - 14 पर प्रवचन

अब कवि कहता है कि भगवान की भक्ति से हमें बुद्धिबल प्राप्त हुआ है। देखो! यहाँ भगवान की भक्ति कहने के साथ ही आत्मा की भक्ति भी आ जाती है, परन्तु निर्मानता से ऐसा बोला जाता है कि भगवान की भक्ति से बुद्धिबल प्राप्त हुआ। तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ की भक्ति से मेरी बुद्धि सम्यक् बनी है ऐसा ही कहा जाता है, परन्तु भक्ति सच्ची कब कहलाये? कि जब निज चैतन्य को पहचानकर उसकी भक्ति जगे, तब ही भगवान भक्ति व्यवहारभक्ति कही जाती है।

हमारे हृदय में भगवान की ऐसी भक्ति है कि किसी समय तो सुबुद्धि होकर कुबुद्धि को दूर करती है। सम्यग्ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश होता है। स्वसन्मुख होने पर अन्दर में चैतन्य का प्रकाश होता है, सर्वज्ञ की भक्ति आने पर 'मैं भी सर्वज्ञ-स्वभावी हूँ और सर्वज्ञ होने योग्य हूँ' ऐसी चैतन्यज्योति अन्दर से जागृत होती है।

किसी समय चित्त दयालु बन जाता है अर्थात् भक्ति में कषाय की मन्दता से सभी प्राणियों के प्रति करुणा जगती है। सभी के प्रति अविरोधभाव आता है।

भगवान की भक्ति करते किसी समय अनुभव की ऐसी पिपासा हो जाती है कि आँखें स्थिर

www.vitragvani.com

हो जाती हैं, नेत्र ठहर जाते हैं। अन्तर में ज्ञानचक्षु द्वारा सर्वज्ञ-भगवान को देखने से ज्ञानचक्षु स्वभाव में स्थिर हो जाते हैं। अहो! भगवान सर्वज्ञ हैं, वैसा ही मैं भी सर्वज्ञस्वभावी हूँ।

ये तो अध्यात्म कवि हैं और अध्यात्म के ग्रन्थ का अर्थ होता है, इसके अन्दर में से अध्यात्म ही निकलता है। आगे आयेगा कि "शुद्धता विचारे, ध्यावे, शुद्धता में केलि करें अमृतधारा वरसे.." शुभपरिणाम दया-दानादि का राग तो कषाय है। शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा उससे रहित है।

प्रवचनसार में आता है न, जो कोई अरिहन्त भगवान के द्रव्य को, उनकी शक्ति-गुण को और दशा-पर्याय को जानता है, वह अपने अन्तर में जाकर मोह का क्षय करता है। सर्वज्ञस्वभाव की दृष्टि होने पर राग से एकता टूट जाती है, फिर बाहर में जितना विकल्प रहता है, उसमें मंदकषाय होती है और अशुभराग टलता है।

कबहूँ आरती व्हैं के प्रभु सन्मुख आवै -इसके भी दो अर्थ होते हैं। अन्तर में प्रभु सन्मुख आरती अर्थात् प्रेम होने पर प्रभु सन्मुख गति जाती है और बाहर में भगवान के सन्मुख आरती उतारने का विकल्प आता है। पहले के जमाने में जब राजा बाहर गाँव से आता था तो वहाँ उसकी आरती उतारते थे। उसके पीछे भाव यह है कि हम तुम पर न्यौछावर होते हैं; परन्तु उस नाशवान पद पर क्या न्यौछावर होना? अविनाशी चैतन्यप्रभु का राज स्वीकार कर उस पर न्यौछावर हो तो अन्तर में शान्ति और वीतरागता की जागृति होवे, उसका नाम प्रभु के सन्मुख आरती करना कहा जाता है।

लोग गीनी (दीपक) आदि ऊँची वस्तु से भगवान की आरती उतारते हैं न! यहाँ ऊँची चीज सम्यग्दर्शन-ज्ञान से भगवान आत्मा की आरती उतारते हैं अर्थात् दृष्टि भी प्रभु के सन्मुख स्थिर होती है और लीनता भी वहाँ ही होती है और बाहर में प्रभु भगवान जिनेन्द्र के प्रति लक्ष्य जाने पर अन्य सब लक्ष्य छूट जाता है।

किसी समय तीर्थंकर त्रिलोकीनाथ की सुन्दर वचनों द्वारा स्तुति करता है। गणधरदेव भी प्रभु की स्तुति करते हैं और इन्द्र भी एक हजार आठ नामों से भगवान की स्तुति करता है, अन्य सामान्य सन्त आदि भी भगवान की स्तुति करते हैं।

बनारसीदासजी ने भी सुन्दर स्तुति रची है। बनारसीदासजी गृहस्थवस्था में थे, परन्तु वे जबरदस्त कवि और ज्ञानी हो गये हैं। संसार से उनकी दृष्टि उड़ गई थी। आसक्तिजन्य भाव हो उसे भी ज्ञानी उपाधि जानकर त्यागना चाहते हैं।

www.vitragvani.com

बाहर में भक्ति का भाव जगे, तब प्रभु की भक्ति करते हैं और अन्दर में भक्ति जगे, तब अन्तर में ठहर जाते हैं। इसप्रकार जब जैसे भाव जगें, तदनुसार क्रिया करते हैं।

हिरदै हमारै भगवंत की भगति है -जिन्होंने एक समय में तीनों कालों को ज्ञान में ले लिया है उन भगवान के ज्ञान की महिमा कितनी? कितना विशाल ज्ञान? ऐसे अनन्तगुण के धनी भगवान की भक्ति हमारे हृदय में बसती है।

श्रीमद् में आता है कि 'सर्वज्ञ देव परम गुरु' की माला फेरनी। एक माला में दोनों को समाहित कर दिया है। जिसको सर्वज्ञ शक्ति की दिव्यता प्रकटी है, वे ही परमगुरु है - ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ है, उसको आत्मा की सन्मुखता होती है और शान्ति मिलती है।

अब नाटक समयसार की महिमा का वर्णन करते हैं:-

मोख चलिवेकौ सौन करमकौ करै बौन,
जाके रस-भौन बुध लौन ज्यौं घुलत है ।
गुन को गरन्थ निरगुनकौ सुगम पंथ,
जाकौ जसु कहत सुरेश अकुलत है ।।
याहीके जु पच्छी ते उड़त ग्यानगगनमैं,
याहीके विपच्छी जगजाल मैं रुलत है ।
हाटकसौ विमल विराटकसौ विसतार,
नाटक सुनत हिये फाटक खुलत है ।।15।।

अर्थ:- यह नाटक मोक्ष को चलने के लिये सीढ़ी स्वरूप है, कर्मरूपी विकार का वमन करता हैं, इसके रसरूप जल में विद्वान लोग नमक के समान लीन हो जाते हैं, यह सम्यग्दर्शनादि गुणों का पिण्ड है, मुक्ति का सरल रास्ता है, इसकी महिमा वर्णन करते हुए इन्द्र भी लज्जित होते हैं, जिन्हें इस ग्रन्थ की पक्षरूप पंख प्राप्त हैं, वे ज्ञानरूपी आकाश में विहार करते हैं और जिसको इस ग्रन्थ की पक्षरूप पंख प्राप्त नहीं है वह जगत के जंजाल में फँसता है, यह ग्रन्थ शुद्ध सुवर्ण के समान निर्मल है, विष्णु के विराटरूप के सदृश विस्तृत है, इस ग्रन्थ के सुनने से हृदय के कपाट खुल जाते हैं ।।15।।

काव्य - 15 पर प्रवचन

अब कवि नाटक समयसार की महिमा का वर्णन करते हैं कि यह शास्त्र तो मोक्ष में जाने के लिए शकुन है।

www.vitragvani.com

यह समयसार शास्त्र भरतक्षेत्र के भक्तों को भगवान का विरह भुलाने वाला शास्त्र है। मोक्षगमन के लिए प्रथम शकुन है कि तुमको समयसार का पक्ष आया तो अब तुम्हारा मोक्ष तैयार है। द्रव्य और भाव समयसार अलौकिक है। मोक्ष में जाने के लिए सीढ़ी है। यह सीधी केवली की ही आई वाणी है। यह समयसार जिसको सुनने मिला, उसको मोक्ष जाने के लिए शकुन हो गया।

यह समयसार विकार का वमन करानेवाला है, कर्म का नाश करानेवाला है। ऐसा अलौकिक शास्त्र है कि उसका वाच्य आत्मा जिसके लक्ष्य में आया, उसको मोक्ष का शकुन हो गया और मोक्ष चढ़ने की सीढ़ी पूर्णानन्द प्राप्ति की श्रेणी मिल गई। जिसको भाव में यह समयसार प्राप्त हुआ है, उसको अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता है और विकार का तो वमन हो जाता है। वमन का अर्थ यह है कि जो वमन कर दिया, उसे फिर से कोई खा नहीं लेता; वैसे ही जो विकार का वमन कर दिया, उसे फिर से ग्रहण नहीं करता -ऐसा अर्थ इसमें से निकलता है। अहा हा हा..!

अहा..! जिसको चैतन्य स्वरूप पूर्णानन्द के रत्नाकर का श्रवण मिला, और श्रवण करके आत्मा के सन्मुख दृष्टि करके, रुचि की उसने कर्म के विकार का तो वमन कर दिया और अतीन्द्रिय आनन्द की श्रेणी में चढ़ने लगा। किसी को ऐसा प्रश्न हो कि यह पंचमकाल है, इसमें मोक्ष के लिए क्या हो सकता है? क्या उपाय? तो कहते हैं कि यह समयसार मिला अर्थात् उसके मोक्ष का शकुन हो गया और उसकी श्रेणी में चलने भी लगा।

समयसार की एक-एक गाथा और टीका में अहा! सत् के रहस्य भरे हैं, अमृत के घूँट भरे हैं। उसके रस में जैसे पानी में नमक घुल जाता है, वैसे समयसार के रस में विद्वान एकाकार हो जाते हैं। यह अध्यात्म के कवि भी संक्षेप में, कम उपमा देकर भी कितना अधिक समझा देते हैं। जैसे पानी में नमक घुल जाता है, एकमेक हो जाता है; वैसे ही ज्ञानी की आनन्ददशा आत्मा में एकमेक हो जाती है। बुध अर्थात् समयसार के वास्तविक तत्त्व को समझनेवाली ज्ञान की वर्तमान दशा अन्तर में लीन हो जाती है, तब ही उसे समयसार मिला कहा जाता है।

समयसार गुन का गरन्थ है- समयसार यानी आत्मा अनन्तगुणों का भण्डार है। सम्यग्दर्शनादि गुणों का पिण्ड है। जिसमें विकारी गुण नहीं -ऐसी निजगुण-मुक्ति का सुगम पंथ है। भगवान शुद्ध आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है -ऐसा जिसे अन्तर में भान हुआ, उसे तो मोक्ष का सरल रास्ता हाथ आ गया। अनन्तकाल से क्रिया करके दु:ख वेदकर मोक्ष लेने के लिए हैरान हो गया; परन्तु मोक्ष नहीं मिला; उसे अब यह समयसार-रूप सुगमपंथ मिल गया। जिसने शुद्धात्मा को देखा उसके हाथ में अब उसमें रमने की रीति आ गई।

www.vitragvani.com

धवल में आता है न! समकिती ने मोक्ष का मार्ग देख लिया है कि यह शुद्धात्मा है और यह इसमें लीन होने का मार्ग है। उसको अब मार्ग पर चलकर मोक्ष पाना सहज है और मिथ्यादृष्टि ने मार्ग देखा नहीं; इससे उसे कठिन लगता है।

समयसार का यश गाते इन्द्र थकता है अर्थात् समयसार की महिमा का वर्णन करते इन्द्र भी लज्जित होता है कि मैं छोटे मुँह बड़ी बात करता हूँ। ऐसी यह ऊँची बात है; उसे पण्डितों ने सुगम करके अपने को बतलाई है। बनारसीदासजी लिखते हैं कि-

पाण्डे राजमल्ल जिन धर्मी, नाटक समयसार के मर्मी।
तिन ग्रन्थ की टीका कीनी, बालबोध सुगम कर दीनी ।।

राजमल्लजी समयसार के मर्मी थे। उन्होंने कलश टीका बनाकर साधारण मनुष्य भी समझ सके -ऐसा समयसार को सरल बना दिया है। इसलिए कहा (पूज्य गुरुदेव ने कहा) कि इस कलश टीका का गुजराती भाषांतर हो तो अच्छा.."**घर-घर नाटक कथा बखानी**" घर-घर में समयसार की बात होने लगी है। होनी ही चाहिए। ऐसा उत्तम मनुष्यदेह पाया है तो बालक से लेकर सभी जीव यह समझें तो उनका हित हो- ऐसी बात है। अभी तो यह समयसार के प्रचार का युग है।

समयसार अर्थात् शास्त्र-जिनवाणी और आत्मा। उसकी महिमा करते इन्द्र भी थकता है कि जिसकी महिमा का वर्णन गणधरदेव भी पूर्ण नहीं कर सकते, उसका वर्णन मैं क्या करुँ? ऐसे इस समयसार का जो पक्ष करते है; वे जीव, जैसे पक्षी गगन में उड़ता है, वैसे ज्ञानगगन में उड़कर उर्ध्व में चले जाते हैं।

श्रोता:- आत्मा का अनुभव किये बिना उर्ध्व-मोक्ष में किस प्रकार जाये?

पूज्य गुरुदेवश्री:- समयसार का पक्ष आया उसका अर्थ ही यह है कि उसे आत्मा का अनुभव हुआ। राग और पर्याय की बुद्धि थी, वह पक्ष छोड़कर जो आत्मा के पक्ष में चढ़ा; वह सम्यग्ज्ञानरूपी गगन में उड़कर मोक्ष में चला जाता है। पक्षी आकाश में सहज-सहज उड़ता है। उसे बीच में पानी, पर्वत, वृक्ष आदि कुछ भी आड़े नहीं आते, वैसे ही जिसको समयसार के पक्षरूपी पंख प्राप्त हुए हैं, उसको मोक्ष के मार्ग में आगे बढ़ने में कोई विघ्न आड़े नहीं आते, वह अपार ज्ञानगगन में आगे बढ़ जाता है और जो समयसार का विपक्षी है, वह जगत के जंजाल में फँसता है, चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करता है।

www.vitragvani.com

जिसको द्रव्य और भाव से ॐकार का पक्ष आया है। द्रव्य अर्थात् शब्दब्रह्म और भाव अर्थात् आत्मा का जिसको पक्ष हुआ है, अन्दर से ॐकार आया है, उसकी गति को कोई रोक नहीं सकता और वह रुकने के लिए निकला भी नहीं है। वह तो अनन्त अपरिमित ज्ञानगगन में आगे...आगे...उड़ता जाता है। और इस समयसार का जिसको पक्ष नहीं हुआ अर्थात् उसका लक्ष्य जिसको नहीं हुआ, उसमें जो दक्ष नहीं है, उसको समयसार प्रत्यक्ष नहीं होता। इसकारण वह जगत की जंजाल में फँसता है।

जिसको अभी अपने भव की शंका हो, मैं भव्य हूँ या अभव्य-यह भी खबर न हो और भगवान की वाणी की परीक्षा करने निकले तो वह परीक्षा नहीं कर सकता। वह भवरहित भगवान की पहचान नहीं कर सकता और जो भगवान के पक्ष में आया है, वह तो स्वयं ज्ञानगगन में उड़कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

यह ग्रन्थ शुद्ध स्वर्ण के समान निर्मल है। श्रीमद्जी कहते हैं न "वचनामृत वीतराग के परम शान्त रस मूल...." दुनिया में कहीं यह चीज नहीं है। वीतराग की वाणी शुद्ध चैतन्य को बतानेवाली है, उसके लिए कोई कहे कि यह वाणी गृहस्थ को नहीं पढ़ना, साधु को ही पढ़ना चाहिए, अतः इसे गुप्त कर दो।

अरे भाई! यह छिपाने की वस्तु नहीं है। जो बाहर आया, वह वापिस नहीं जाता। माता के गर्भ में से पुत्र आया, क्या वह वापिस (गर्भ में) जाता है? यह तत्त्व बाहर आया, वह तो लोगो को निहाल कर दे ऐसा है। यह तत्त्व सुनकर जिसको रुचि और दृष्टि हुई, वह संसार से निकल गया समझो..... वह राग में से निकलकर स्वभाव में आ गया।

समयसार का विस्तार विराट है। विराट अर्थात् कितना? कि लोकालोक जितना जिसका विस्तार है। कृष्ण ने अर्जुन को अपना विराट स्वरूप बताया था -ऐसा गीता में आता है, वैसे ही इस समयसार का विस्तार भी विराट है। गणधरदेव भी जिसके विस्तार को पूरा नहीं कह सके, उतना तत्त्व इसमें भरा है। **नाटक सुनत हियै फाटक खुलत है** -इस समयसाररूपी नाटक को जो सुनता है, उसके हृदयरूपी कपाट खुल जाते हैं, आड़ हटकर वस्तुस्वरूप क्या है यह समझ में आ जाता है। समझनेवाला ही न समझे, ऐसा नहीं हो सकता। यहाँ तो कहते हैं कि सुनते ही इसके हृदय के फाटक खुल जाते हैं।

www.vitragvani.com

अनुभव का वर्णन

कहौं सुद्ध निहचैकथा, कहौं सुद्ध विवहार ।
मुकतिपंथकारन कहौं, अनुभौको अधिकार ।।16।।

अर्थः- शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध व्यवहारनय और मुक्तिमार्ग में कारणभूत आत्मानुभव की चर्चा वर्णन करता हूँ ।।16।।

काव्य - 16 पर प्रवचन

अब कवि अनुभव का वर्णन करता है।

अनुभव के वर्णन में मैं शुद्ध निश्चय स्वरूप भी कहूँगा और साथ ही वीतराग परिणतिरूप व्यवहार कैसा होता है, वह भी कहूँगा। अनुभव ही मोक्ष का पंथ है, उसका वर्णन मैं करूँगा।

अहा.....! सार में सार बात यह है। लाखों बातें सुने और विचारे, परन्तु करना तो एक ही है, वह है आनन्द स्वरूप आत्मा का अनुभव। अनुभव से जीव की मोक्ष की धारा चलती है। इसलिए छहढाला में कहा है कि "लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ.." कवि का वर्णन तो देखो! उनको आनन्द की खुमारी फट निकली है। अहा..हा यह समयसार! यह वाणी! वीतरागता से नितरता तत्त्व है।

अनुभव का लक्षण

वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम ।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम ।।17।।

अर्थः- आत्मपदार्थ का विचार और ध्यान करने से चित्त को जो शान्ति मिलती है तथा आत्मिकरस का आस्वादन करने से जो आनन्द मिलता है, उसी को अनुभव कहते हैं ।।17।।

काव्य - 17 पर प्रवचन

भगवान आत्मा के ज्ञानानन्दस्वरूप को विचारने पर और उसका ध्यान करने पर- उसमें एकाग्र होने पर मन छूट जाता है, विश्राम पाता है। रागरहित, विकल्परहित, निर्मलानन्द शुद्ध चैतन्यवस्तु को ध्याने पर जो आत्मिकरस का आस्वाद आता है, आनन्द प्राप्त होता है, उसे अनुभव कहते हैं।

नवतत्त्वों मे आत्मतत्त्व कैसा है? उसकी बात चलती है। नौ में एक तो अजीव है और सात पर्यायें हैं। अखण्ड, अभेद, एकरूप आत्मा का अनुभव करने पर मन विश्राम पाता है और चित्त

www.vitragvani.com

में शान्ति उत्पन्न होती है। एक तरह से मन ठहर जाता है और इससे चित्त में शान्ति मिलती है। तथा आत्मिकरस का आस्वाद करने से जो आनन्द मिलता है, उसे ही अनुभव कहते हैं। इस अनुभव का समयसार में वर्णन किया है।

भगवान आत्मा चैतन्य रस का धाम है। उसके सन्मुख होकर उसका अनुभव करना अर्थात् आत्मा के आनन्द रस की प्राप्ति करना, उसका नाम धर्म है, उसका ही नाम अनुभव है, उसका ही नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। बाकी विशेष जानपना हो या न हो, दुनिया को समझाते आवे या नहीं आवे, उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं।

अनुभव की महिमा

अनुभव चिंतामनि रतन, अनुभव है रसकूप ।
अनुभव मारग मोखकौ, अनुभव मोख स्वरूप ।।18।।

अर्थः- अनुभव चिंतामणि रत्न हैं, शान्तिरस का कुआं है, मुक्ति का मार्ग है और मुक्तिस्वरूप है ।।18।।

काव्य - 18 पर प्रवचन

अनुभव रतन है रतन! वह शान्तिरस का महा सिन्धु है, मुक्ति का मार्ग भी अनुभव है और अनुभव ही मोक्षस्वरूप है।

अनुभव ही वास्तविक चिन्तामणि रत्न है। पद्मनंदि में आता है कि चिन्तामणि रत्न और कल्पवृक्ष की बातें सुनी हैं, परन्तु कहीं देखे नहीं; परन्तु हमारे पास तो यह अनुभवरूपी चिन्तामणि रत्न है। इसमें से हमें आनन्द मिलता है। शान्तिरस का कुआँ भी यह अनुभव ही है। मोक्ष का मार्ग भी यह अनुभव ही है। शुभराग है, वह मोक्ष का मार्ग नहीं। मोक्षस्वरूप भी अनुभव ही है।

यहाँ नाटक समयसार में अनुभव का अधिकार काव्य 16 से प्रारम्भ हुआ है। अन्य अनेक बातें तो बनारसीदासजी कहेंगे, परन्तु इस आत्मा के आनन्द का अनुभव धर्म है और वह अनुभव कैसे प्राप्त हो इसके लिए यहाँ यह अनुभव का अधिकार कहा जा रहा है। बनारसीदासजी कहते हैं कि शुद्ध निश्चयनय, शुद्ध व्यवहारनय और मोक्षमार्ग में कारणभूत आत्मानुभव की चर्चा का मैं वर्णन करता हूँ।

आत्मपदार्थ का विचार और ध्यान करने से चित्त को जो शान्ति मिलती है तथा आत्मिकरस का आस्वाद करने से जो आनन्द मिलता है, उसे ही अनुभव कहते हैं। यह अनुभव की व्याख्या हुई।

www.vitragvani.com

सम्पूर्ण अनुभव का अधिकार कहना है न! सार में सार बात यह है। शुद्ध चैतन्यमूर्ति आत्मा का विचार और ध्यान करने पर मन को शान्ति मिलती है और उसका रस चखना अर्थात् शुद्ध चैतन्य का अनुसरण करके आनन्द का स्वाद लेना, उसका नाम अनुभव है।

हम छोटे थे, तब पड़ौसी मामा गाते थे; वह हम सुना करते थे- "अनुभवी को इतना रे, आनन्द में रहना रे, भजना परब्रह्म को, अन्य कुछ न कहना रे...।"

यहाँ कहते हैं कि आत्मा शक्ति का सत्त्व तत्त्वस्वरूप से परमात्मस्वरूप ही है, सत् चिदानन्दस्वरूप है। सत् यानी शाश्वत्, ज्ञान और आनन्दस्वरूप वस्तु का अनुसरण करके आनन्द के वेदन में आना, उसका नाम अनुभव है।

पुण्य-पाप से रहित सत्चिदानन्द चैतन्य स्वरूप आत्मा का अनुसरण करके आनन्द का वेदन-अनुभव करना, वह चिन्तामणि रत्न है; अन्य सब तो धूल के रतन हैं। करना हो तो यह एक ही करने योग्य है।

चिन्तामणि अर्थात् एक ऐसा पत्थर होता है कि जो देव अधिष्ठित होता है। पुण्य के कारण जिसके पास वह पत्थर हो, वह जो चिन्तवन करे, वह वस्तु उसे प्राप्त होती है; वह तो जड़ है। यहाँ कहते हैं कि यह आत्मा अपने ज्ञान-आनन्द आदि से भरा हुआ तत्त्व है, उसका अनुभव करना, वह चिन्तामणि रत्न है। पुण्य-पाप से रहित अपनी वस्तु का अनुभव करना, वह चिन्तामणि रत्न है।

करोड़पति अथवा अरबपति सेठिया कहलाते हैं, वे सब पत्थर के भिखारी हैं, सब उन्हें पैसावाले कहकर बुलाते हैं; परन्तु ये कहनेवाले तो पागल हैं। ज्ञान-आनन्द आदि स्वरूप का अनुभव में आना, वह चिन्तामणि रत्न है।

'अनुभव है रसकूप' -भगवान आत्मा शान्ति का सागर है। अविकारी, निर्दोष, शान्तरस का सागर है। उसका अनुभव, वह रस का कुआँ है। जिसके स्वभाव का कोई पार नहीं, अपरिमित है, बेहद है- ऐसी अपार शान्ति का सागर भगवान आत्मा स्वयं है और उसका अनुभव, वह शान्तरस का कुआँ है।

'अनुभव मारग मोख को'-अनुभव वह मोक्ष का मार्ग है। देखो, यह सीधी बात लिखी है कि अनुभव मोक्ष का मार्ग है। लोग व्यर्थ का विवाद लेकर बैठते हैं कि व्यवहार से निश्चय होता है, शुभराग से धर्म होता है। अरे! दया, दान, व्रत, भक्ति आदि तो वृत्ति का उत्थान है, वह धर्म कैसा? अनुभव ही धर्म है। यह एक ही मोक्ष का मार्ग है, मोक्ष के मार्ग दो नहीं हैं - ऐसा कहते हैं।

www.vitragvani.com

अखण्ड आनन्दस्वरूप आत्मा की अभेद, निर्विकल्प, वीतराग सम्यग्दृष्टि, निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान और स्वरूप में स्थिरतारूप आनन्द का भोजन, वह मोक्ष का मार्ग है।

श्रोता:- इसमें व्यवहार साधनरूप तो है न?

पूज्य गुरुदेवश्री:- अनुभवरूप धर्म का साधन भी अन्दर है, बाहर में कोई व्यवहार साधन नहीं। स्वरूप का साधन करे, तब बाहर में जो राग की मन्दता होती है, उसे उपचार से निमित्तरूप बाह्य साधन कहा जाता है। वास्तविक दृष्टि से व्यवहार कोई साधन नहीं है। जो नहीं उसे कहना, उसका ही नाम व्यवहार है।

क्या हो? जगत को सत्य मिलता नहीं, अत: धर्म के नाम पर भी विपरीत रास्ते पर चला जाता है। उसमें कहीं से आत्मा हाथ में नहीं आता।

यहाँ तो सीधी और सरल बात है कि आत्मा स्वयं पूर्णानन्द स्वरूप है, उसकी पर्याय में पूर्णानन्द की प्राप्ति होना, वह मोक्ष है और आनन्द का आंशिक वेदन होना अनुभवरूप मोक्ष का मार्ग है। बात तो सीधी है, पर जीव बाहर में ऐसा रच-पच गया है, इतनी पराश्रित बुद्धि हो गई है कि स्वाश्रित अनुभव की बात की हाँ करने में भी उसका पसीना उतरता है।

'अनुभव मोक्षस्वरूप'- जैसा वस्तु का पूर्ण स्वभाव है; वैसा दशा में, पर्याय में उसका पूर्ण अनुभव होना, उसका ही नाम मोक्ष है। मुक्ति के कारणरूप अनुभव का सम्पूर्ण अधिकार कहना है न! अबंधस्वभावी भगवान आत्मा के आश्रय से पर्याय में जो अबंधदशा प्रकट होती है, वह मोक्ष का मार्ग है, वह अनुभव है और उसकी पर्याय में पूर्णता हो जाने का नाम मोक्ष है।

अरे! ऐसा निजघर का रास्ता हाथ न आवे तो बाहर से सिर पछाड़कर मर जाये, काय-क्लेशादि करे; तथापि वस्तु हाथ आवे- ऐसा नहीं है।

अनुभौके रसकौं रसायन कहत जग,
अनुभौं अभ्यास यहु तीरथकी ठौर है ।
अनुभौकी जो रसा कहावै सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसासौं ऊरधकी दौर है ।।
अनुभौकी केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौकौ स्वाद पंच अमृतकौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परमसौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरमकोऊ और है ।।19।।

www.vitragvani.com

अर्थः- अनुभव के रस को जगत के ज्ञानी लोग रसायन कहते हैं, अनुभव का अभ्यास एक तीर्थभूमि है, अनुभव की भूमि सकल पदार्थों को उपजाने वाली है, अनुभव नर्क से निकालकर स्वर्ग-मोक्ष में ले जाता है, इसका आनन्द कामधेनु और चित्रावेलि के समान है, इसका स्वाद पंचामृत भोजन के समान है। यह कर्मों को क्षय करता है और परम पद से प्रेम जोड़ता है, इसके समान अन्य कोई धर्म नहीं है ।।19।।

नोटः- संसार में पंचामृत, रसायन, कामधेनु, चित्रावेलि आदि सुखदायक पदार्थ प्रसिद्ध हैं, सो इनका दृष्टान्त दिया है परन्तु अनुभव इन सबसे निराला और अनुपम है।

काव्य - 19 पर प्रवचन

अब 19वें काव्य में अनुभव को भिन्न-भिन्न उपमायें देते हैं-

जैसे वनस्पति के जिस रस से लोहा सोना बन जाता है, उसे रसायन कहते हैं; वैसे ही मिथ्यात्व को तोड़कर आनन्द प्राप्त करावे ऐसे अनुभव को जगत के ज्ञानी रसायन कहते हैं।

ज्ञानार्णव के रचयिता शुभचन्द्राचार्य देव के भाई अन्यमत के साधु हो गये। उन्होंने तप करके लोहे से सोना बनाने का ऐसा रसायन प्राप्त किया और उसे मूल्यवान समझकर अपने भाई शुभचन्द्राचार्य के पास भेजा। आचार्यश्री ने तो उसे ढोल दिया और भाई को उलाहना दिया कि अरे भिखारी! क्या इस रसायन के लिए तूने राज्य त्यागा था? रसायन ही चाहिए था तो राज्य में ही रहना था न। अपन ने तो चैतन्य का रसायन प्राप्त करने के लिए राज्य छोड़ा था। ऐसा कहकर पत्थर की शिला पर पेशाब किया तो शिला सोने की हो गई, उसे बताकर कहा कि यहाँ तो पेशाब रसायन का काम करती है, परन्तु उसका क्या करें? आत्मा के अनुभवरूप रसायन के समक्ष इसकी क्या कीमत है?

रसायन तो उसको कहते हैं कि जिससे क्षणमात्र में मिथ्यात्व का नाश होकर आत्मा जागृत हो, आत्मसाक्षात्कार हो उसका नाम अनुभव रसायन है। ज्ञानीजन इस अनुभव को रसायन कहते हैं। जबकि मूढ़जीव लोहे से सोना बनावे उसे रसायन कहते हैं, परन्तु वे तो दोना धूल हैं, लोहा और सोना दोनो जड़ हैं, उनसे आत्मा को क्या लाभ होता है?

आत्मा ही पवित्र तीर्थभूमि है। जिसने इस पवित्रधाम का अनुभव करके इसमें प्रवेश किया वह तीर्थ के धाम में है, पवित्र भूमि में स्थित है, वह स्वयं पवित्र होकर वहाँ ही ठहर गया है। उसने ही वास्तविक तीर्थयात्रा की है। सम्मेदशिखर जाये या शत्रुंजय जाये; परन्तु वह वास्तविक यात्रा

www.vitragvani.com

नहीं है। लोग गंगास्थान से पवित्रता मानते हैं; परन्तु गंगा में तो बहुत मछलियाँ नहाती है तो क्या वे सब पवित्र हो गई।

तिरने के उपाय का साधन ऐसा जो भगवान सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा, उसमें जिसने प्रवेश किया, उसने पवित्र तीर्थभूमि में प्रवेश किया है। देखो! यात्रा के शुभभाव को यात्रा नहीं कही। अशुभ से बचने के लिए यात्रा का शुभभाव आवे उसका निषेध नहीं है; परन्तु वह वस्तु का स्वरूप नहीं है। जिसने आत्मा के तीर्थ में प्रवेश किया वह तो तिर गया। उसने अनुभव की पवित्रता प्रगट की; वह तीर्थ में ठहर जाता है। ऐसी तीर्थयात्रा तो पशु भी कर सकता है, तो मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता हो वह न कर सके यह बात ही कहाँ रही?

'अनुभव को रसा'- रसा अर्थात् भूमि। निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य रसकंद आत्मा की सन्मुखता का जो अनुभव है वह ऐसी भूमि है कि जिसमें सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक् चारित्र -इच्छा निरोध आदि उत्कृष्ट वस्तुयें पकती है।

कितनी ही भूमि ऐसी होती है कि जिसमें चावल पकते हैं, किसी में घास पकती है; वैसे ही यह अनुभव की भूमि ऐसी है कि जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द आदि उत्कृष्ट वस्तुयें ही पकती है। फिर भले ही वह अनुभव करनेवाले का शरीर स्त्री का हो, तिर्यन्च का शरीर हो, नारकी का शरीर हो या देव का शरीर हो; परन्तु उसके अनुभव रस में आनन्द, शान्ति, प्रभुता, स्वच्छता, पवित्रता के पाक पकते हैं।

'अनुभौ अधोरसासौं उरध की दौर है' -निचली भूमिका से उपर ले जाय, नरक में से उपर लाकर मोक्ष में ले जाय ऐसा यह अनुभव है। नरक में भी अनुभव करनेवाले नारकी जीव हैं। सम्यक् अनुभव और अनुभव की शान्ति नरक में भी हो सकती है। अहो! यह आत्मा! अद्भूत..अद्भूत, विस्मय..विस्मय -ऐसे आत्मा का भान होने पर नरक के जीव भी वहाँ से ऊँचा आकर मनुष्य होकर मोक्ष में जाते हैं। ऐसा इस अनुभव का फल है।

श्रेणिकराजा चौरासी हजार वर्ष नरक में रहकर, वहाँ से निकलकर तीर्थंकर होकर मोक्ष जाने वाले हैं; यह सब अनुभव रस के फल का पाक है। पुण्य के परिणाम तीर्थंकर नामकर्म के योग्य हुए थे उसके फल में समवसरण आदि वैभव होगा; परन्तु केवलज्ञान तो इस आत्मानुभव के फल में ही होना है।

अन्तर में आत्मा परमेश्वरस्वरूप से विराजमान है न! शुद्ध आनन्द और शुद्धज्ञान का

www.vitragvani.com

सागर..चैतन्य रत्नाकर..चैतन्य का स्वयंभूरमण समुद्र है; उसमें दर्शन, ज्ञान, शान्ति आदि रत्न पकते हैं। वह अनुभव ही जीव को ऊँचा ले जाता है।

अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि- कामधेनु गाय जब चाहे तब दूध देती है। जब इच्छा हो तभी दूध देती है; वैसे ही यह अनुभव भी आनन्द देनेवाली कामधेनु है। आनन्द का दूधपाक घर में पका है। चित्रावेलि अर्थात् इस जाति की वनस्पति कि जिसमें से जो चाहिए वह मिले; यह अनुभव आनन्द की चित्रावेलि है।

पद्मनंदि पंचविंशति में पद्मनंदि मुनिराज कहते हैं कि कामधेनु, चित्रावेलि आदि कहलाती है, वह तो हमने देखी नहीं; परन्तु यह अनुभवरूप कामधेनु तो हमने देखी है। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव वह हमारी चित्रावेलि और कामधेनु है। एक 'कामकुम्भ' होता है, उसमें से भी जो निकालो, वह निकला करता है, लाखों मनुष्य जीम लें तथापि उसमें से दूधपाक कम न हो; परन्तु यह तो जड़-धूल है। अनुभव तो ऐसा कामकुम्भ है कि आत्मा में से अतीन्द्रिय आनन्द का रस निकला करे..निकला ही करे, कम ही नहीं हो।

परन्तु ऐसे आत्मा के गीत किसी दिन सुने नहीं। अमुक वस्तु बहुत ऊँची, यह बहुत ऊँची ऐसा कहता है, परन्तु यह चीज ऊँची या इसे जाननेवाला ऊँचा? जाननहार को जाना नहीं और अन्य माथापच्ची का पार नहीं।

अनुभौ कौ स्वाद पंच अमृत को कौर है- अनुभव तो पंच प्रकार के अमृत का भोजन है। कवि उसे कहते हैं कि जो आत्मा के गीत गाये। जो शरीर के गीत गाये; वह कवि नहीं है। शरीर तो सुन्दर दिखता हो, परन्तु जहाँ दो दिन भोजन नहीं करे तो वहाँ यह अनाज का पिण्ड कुम्हला जाता है, अतः इसके गीत क्या गाना? शरीर तो सड़ता है, अन्दर कीड़े पड़ते हैं; क्योंकि यह तो मिट्टी है न! हाड़-मांस का पिंजरा है न!

अनुभव, वह पंचामृत भोजन है। लग्न के समय पंचों को जिमाने बैठाते हैं न! वहाँ ऊँची-ऊँची वस्तुयें भोजन में परोसते हैं, सभी आदमियों को ऐसा नहीं मिलता, वैसे ही जो पंचपरमेष्ठी के साथ जीमने बैठा, उसको पंचामृत मिलता है। अहा.... हा हा....। आत्मा के आनन्द के समक्ष पाँच इन्द्रियों के विषय, इन्द्र का इन्द्रासन भी सड़ा हुआ तिनका अथवा कुत्ते के कलेवर जैसे लगते हैं। चिदानन्द के स्वाद के आगे सब धूल...धूल और धूल है।

ऐसे आत्मा की जिसको खबर न हो और कहे कि आत्मा है...है; परन्तु कैसा है आत्मा?

www.vitragvani.com

उसे पहचान तो सही। आत्मा के आनन्द का रस चख तो वह तो पंचामृत का भोजन है। ऐसा वीतराग का तत्त्व सुना नहीं और क्रिया करके मर गया है।

अनुभौ करम तौरे- भगवान आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्य के अनुभव से कर्म की निर्जरा होती है। उपवास करने से कर्म की निर्जरा नहीं होती। उपवास करते हैं, वह तो लंघन है। अनुभव ही कर्मों को तोड़ता है। थोड़े अनुभव से थोड़ी और पूर्ण अनुभव से पूर्ण निर्जरा होती है।

देखो! यह थोड़े शब्दों में कितना लिख दिया है। **'परम सौं प्रीति जौरै'**- परम अर्थात् अपना अविनाशी आनन्दकन्द ध्रुव परमात्म स्वरूप। अनुभव से परमात्म स्वरूप के साथ प्रीति होती है और राग तथा पुण्य-पाप की प्रीति छूट जाती है।

स्व चैतन्यप्रभु अपरिमित आनन्द, ज्ञान और शान्ति का सागर है। उसका आश्रय करना, अनुभव करना, वेदन करना, वह कर्मक्षय का कारण है। व्रत, तप, उपवास आदि क्रिया कर्मक्षय का कारण नहीं।

'अनुभौ समान न धरम कोऊ और है'- अनुभव के समान अन्य कोई धर्म नहीं। अखण्डानन्द स्वरूप का अनुभव करना ही धर्म है। कल आया था न! अनुभव धर्म की जय हो।

प्रभु! तुम कौन हो? क्या तुम रागवाले, पुण्यवाले और विकारवाले हो? वह तेरा स्वरूप है? ये सब तो जड़ - परवस्तुयें हैं। तू तो आनन्दवाला, ज्ञानवाला, शान्तिवाला, सहजात्मस्वरूप का पिण्ड है; उसका अनुभव कर तो स्वरूप की प्रीति होगी और कर्म क्षय हो जायेंगे। अन्य किसी क्रियाकाण्ड से आत्मा में एकाकार नहीं हुआ जाता या कर्मों की निर्जरा नहीं होती।।

छह द्रव्यों का ज्ञान अनुभव के लिये कारण है, अतः उनका विवेचन किया जाता है:-

जीवद्रव्य का स्वरूप

चेतनवंत अनंत गुन, परजै सकति अनंत ।
अलख अखंडित सर्वगत, जीव दरब विरतंत।।20।।

अर्थ:- चैतन्यरूप है, अनन्त गुण, अनन्त पर्याय और अनन्त शक्ति सहित है, अमूर्तीक है, अखण्डित है, सर्वव्यापी[श्च] है। यह जीवद्रव्य का स्वरूप कहा है ।।20।।

काव्य- 20 पर प्रवचन

जीव किसको कहना? देह में विराजमान चैतन्य तत्त्व कैसा है? वह बतलाते हैं। भगवान-आत्मा चैतन्यरूप है, अनन्तगुण, अनन्तपर्याय और अनन्त शक्तियों का भण्डार है।

www.vitragvani.com

आत्मा को जड़रूप नहीं; अतः वह स्पर्श-रस-गंध-वर्ण वाला नहीं। जीव स्वयं एकरूप है; परन्तु उसकी ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, प्रभुता आदि अनन्त शक्तियाँ है, वे त्रिकाली गुण हैं और एक-एक में अनन्त शक्ति सामर्थ्य है। चिद्विलास में यह बात ली है। जीवद्रव्य ऐसे अनन्तगुणमय है ऐसा जाने बिना उसका अनुभव नहीं होता।

एक जीवद्रव्य में अनन्त गुण हैं और एक-एक गुण की अनन्त पर्यायें हैं और अनन्त शक्ति है। पर्याय तो एक अंश है, परन्तु उस गुण की शक्ति का सामर्थ्य अनन्त है। यहाँ तो दस-बीस लाख हो जायें तो मानो मैं कुछ बड़ा हो गया हूँ ऐसा लगता है। परन्तु भाई! यह पैसा तेरा नहीं है; तेरी अनन्त शक्ति ही तेरा वैभव है।

अज्ञानी जीव को शरीर में कैंसर आदि रोग हों, उसकी दरकार है। 'अरे! मुझे कैंसर हो गया' उसका भय है; परन्तु आत्मा को, यह शरीर मैं हूँ, राग मैं हूँ यह कैंसर और क्षयरोग लागू पड़ा है, उसकी दरकार नहीं है; उसका भय नहीं है; क्योंकि अपनी जाति को भूलकर विजात को अपना माना है न! परन्तु उसमें क्षण-क्षण में उसकी मृत्यु होती है, उसका अज्ञानी को भान नहीं है।

जागती जीवती चैतन्यज्योत जो अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति का सागर है; उसे स्वीकार न करके, उसे न देखकर, कृत्रिम रागादिक की तरफ देखने से उनका मान बढ़ जाता है और आत्मा का मान घट जाता है। समझ में आया? व्यवहार से निश्चय होता है ऐसा माननेवाले ने व्यवहार को ही मान दिया है। हे राग! तुझसे मुझे लाभ है इसप्रकार राग को मान देनेवाले ने जागती जीवती चैतन्यज्योत का अपमान किया है। अनन्त गुण के सागर का अपमान किया है।

जीवद्रव्य अनन्त गुण और शक्तिवाला है, ऐसा कहा। अब कहते हैं कि जीवद्रव्य **अलख** है। अलख अर्थात् वह इन्द्रियों से ज्ञात हो वैसा नहीं है, वह तो अतीन्द्रिय स्वरूप भगवान है, **अखण्डित** है, उसमें खण्ड-खण्ड नहीं तथा **सर्वगत** है अर्थात् सबको जाननेवाला है। सबमें व्यापक हुए बिना, अपने में रहकर तीनकाल और तीनलोक को जाननेवाला है। ज्ञान की अपेक्षा उसका विस्तार सर्वव्यापी है अर्थात् स्वयं जगत में व्यापक नहीं होता; परन्तु स्वयं अपने में रहकर सम्पूर्ण जगत को जान लेता है। भगवान ने जीवद्रव्य का ऐसा स्वरूप कहा है, उसका यहाँ वर्णन किया है।

www.vitragvani.com

पुद्गल द्रव्य का लक्षण

फरस-वरन-रस-गन्धमय, नरद-पास-संठान ।
अनुरूपी पुद्गल दरब, नभ-प्रदेश-परवान ।।21।।

अर्थः- पुद्गल द्रव्य परमाणुरूप, आकाश के प्रदेश के बराबर, चौपड़ के पासे के आकार कास्पर्श, रस, गन्ध, वर्णवन्त है ।।21।।

काव्य - 21 पर प्रवचन

अब पुद्गलद्रव्य का वर्णन करते हैं-

पुद्गल द्रव्य परमाणुरूप है। परम+अणु=परमाणु। सबसे छोटे से छोटा अणु है, वह परमाणु है, वही पुद्गल द्रव्य है। यह शरीर आदि दिखता है, वह तो परमाणुओं का स्कन्ध है। परमाणु आकाश के एक प्रदेश जितना होता है। चौपड़ के पासा के समान उसका आकार होता है अर्थात् छह पासादार जैसा चौरस-बरफी के आकार जैसा होता है। पुद्गल का ऐसा स्वरूप भगवान सर्वज्ञदेव ने प्रत्यक्ष देखा है।

आत्मा अरूपी चिदानन्द भगवान है और पुद्गल तो स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाला है। ठण्डा, गर्म, रूखा, चिकना आदि आठ प्रकार का उसका स्पर्श होता है। काला, लाल, पीला आदि उसमें रंग होता है। खट्टा, मीठा, कड़वा आदि रस होता है। परमाणु ऐसे स्पर्श रस, वर्ण, गंधमय होता है। गुणी से गुण भिन्न नहीं होते। जैसे शक्कर से उसकी मिठास और सफेदपना भिन्न नहीं होते; वैसे ही परमाणु में रंग, गंध, स्पर्श आदि गुण अभेद हैं।

इसप्रकार स्पर्श, रस, गंध और वर्णमय परमाणु को पुद्गल द्रव्य कहते हैं।

यहाँ नाटक समयसार में भूमिका चल रही है, उसमें जीव-पुद्गलद्रव्य का वर्णन चल रहा है।

आत्मा का निजस्वरूप चैतन्यरूप है, उसमें जानना-देखना आदि अनन्तगुण हैं, उसमें अनन्त पर्यायें हैं। अर्थात् कि द्रव्य परिणमा करता है, वह कूटस्थ नहीं; वस्तुरूप से कायम रहकर पर्यायरूप से बदला-परिणमा करता है। अधर्म टलकर धर्म हो, दुःख टलकर सुख हो यह सब पर्याय में होता है। ऐसी पर्याय भी एक-एक गुण में अनन्त पर्यायें हैं और शक्ति भी अनन्त है। जिसका जो स्वभाव है, उसकी शक्ति का क्या कहना ?

www.vitragvani.com

अलख:- आत्मा इन्द्रियों द्वारा ज्ञात हो वैसा नहीं है, वह तो अतीन्द्रिय महापदार्थ है; अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही जानने योग्य है। शरीर, इन्द्रिय, मन, विकल्प अथवा राग द्वारा अनुभव में आवे- ऐसा वह पदार्थ नहीं है।

अखण्डित:- आत्मा में अनन्त गुण होने पर भी उसमे भेद नहीं है। आत्मा वस्तुरूप से अखण्ड एक वस्तु है। 'सर्वगत' अर्थात् एक समय मे सम्पूर्ण लोकालोक को जानने के स्वभाववाला यह जीवद्रव्य है। इस जीवद्रव्य का रागरहित होकर अन्तर अनुभव करने का नाम धर्म है। जीवदया पालनी अथवा व्रतादि लेना, वह धर्म का स्वरूप नहीं है।

जैसे यह जीव पदार्थ है, वैसे ही पुद्गल भी पदार्थ है। वह जीव से भिन्न वस्तु है। भिन्न है, अत: उससे भिन्न पड़ना है। शरीर, मन, वाणी, मकान, लक्ष्मी आदि पुद्गल हैं। उनमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और आकारादि गुण होते हैं। एक-एक पुद्गल परमाणु का आकार छह पासावाले चौपड़ के जैसा होता है, वैसा ही एक-एक प्रदेश का आकार है। यह सब सर्वज्ञ से सिद्ध हुई बात है, कल्पना नहीं। जगत के पदार्थों का ऐसा स्वभाव है, वह सर्वज्ञ के एकसमय के ज्ञान में आया है और बिना इच्छा ही निकलनेवाली सर्वज्ञ भगवान की ॐकार ध्वनि में यह स्वरूप जगत के समक्ष प्रसिद्ध हुआ है।

चौदह ब्रह्मण्ड में एक धर्म द्रव्य है, जो गति करते जीव-पुद्गलों को गति में निमित्त होता है। वह भी अरूपी एक वस्तु है। उसका वर्णन अब करते हैं।

धर्म द्रव्य का लक्षण

जैसैं सलिल समूहमैं, करै मीन गति-कर्म ।
तैसैं पुद्गल जीव कौं, चलनसहाई धर्म ।।22।।

अर्थ:- जिसप्रकार मछली की गमनक्रिया में पानी सहायक होता है उसीप्रकार जीव पुद्गल की गति में सहकारी[89]धर्म द्रव्य है ।।22।।

काव्य - 22 पर प्रवचन

जैसे मछली पानी में अपनी गति का कार्य करती है, उसमें उसको पानी निमित्त है; वैसे ही जीव और पुद्गल गति करते हैं, उसमें धर्म द्रव्य निमित्त कारण है। जीव पुद्गल अपने उपादान से गति करते हैं, तब धर्मद्रव्य निमित्त कारण होता है। जैसे पानी मछली को चलाता नहीं है; परन्तु मछली स्वयं गमन करे तो पानी निमित्त कहलाता है; वैसे ही धर्मद्रव्य जीव पुद्गल को चलाता

www.vitragvani.com

नहीं है; परन्तु वे अपने से गति कर्म करें तब धर्मद्रव्य को उदासीन निमित्त कहते हैं, प्रेरक निमित्त नहीं।

जीव-पुद्गल को गति करने में धर्मद्रव्य सहकारी कारण है अर्थात् वह साथ है; परन्तु उसका ऐसा अर्थ नहीं है कि वह गति करा देता है। जैसे मछली गति करे, तब पानी वहाँ होता है; परन्तु पानी मछली को गति करा नहीं देता; वैसे ही धर्मद्रव्य सम्पूर्ण लोक में व्यापक है। वह जीव-पुद्गल की गति के समय उपस्थित है; परन्तु उन्हें गति नहीं करा देता। दो द्रव्यों की स्वतन्त्रता तो प्रसिद्ध है; परन्तु लोगों को खबर नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य नहीं कर सकता, मात्र सहकारी रूप से साथ में होता है।।22।।

अधर्म द्रव्य का लक्षण

ज्यौं पंथी ग्रीषमसमै, बैठै छायामाँहि ।
त्यौं अधर्म की भूमिमैं, जड़ चेतन ठहराँहि।।23।।

अर्थः- जिस प्रकार ग्रीष्मकाल में पथिक छाया का निमित्त पाकर बैठते हैं उसी प्रकार अधर्म द्रव्य जीव-पुद्गल की स्थिति में निमित्त-कारण हैं ।।23।।

काव्य- 23 पर प्रवचन

अब अधर्मद्रव्य का लक्षण कहते हैं-

ज्येष्ठ माह की धूप में यात्री रास्ते में चला जा रहा हो, वह वृक्ष की छाया आने पर वहाँ बैठ जाता है। छाया उससे बैठने को नहीं कहती; परन्तु पथी-यात्री स्वयं बैठता है। वैसे ही अधर्मास्तिकाय जीव-पुद्गल को स्थिर नहीं कर देता; परन्तु जड़-चैतन्य स्वयं कर्त्ता होकर गतिपूर्वक स्थिति करते हैं, तब अधर्मास्तिकाय को निमित्त कारण, सहकारी कारण, उपस्थित द्रव्य अथवा उदासीन कारण कहने में आता है।

शब्द देखा! बैठे छाया माँहि- छाया यात्री को कहती नहीं कि तू बैठ! परन्तु मुसाफिर छाया मे बैठे, तब छाया को निमित्त कहते हैं। वैसे ही जड़ (पुद्गल) चैतन्य ठहरें, (स्थिर हों।) तब अधर्मास्तिकाय को निमित्त कहते हैं।

जैसे जड़ और चैतन्यद्रव्य हैं वैसे ही आकाश भी एक द्रव्य है, जो अरूपी सर्वव्यापक पदार्थ है। खाली..खाली..खाली जगह वह आकाश है। दशों दिशाओं में कहीं उसका अन्त नहीं है। उस आकाशद्रव्य का स्वरूप यहाँ कहते हैं।।23।।

www.vitragvani.com

आकाश द्रव्य का लक्षण

संतत जाके उदरमैं, सकल पदारथवास।
जो भाजन सब जगत कौ, सोई दरब अकास ।।24।।

अर्थ:- जिसके पेट में सदैव सम्पूर्ण पदार्थ निवास करते हैं, जो सम्पूर्ण द्रव्यों को पात्र के समान आधारभूत है; वही आकाश द्रव्य है।।24।।

नोट:- अवगाहना आकाश का परम धर्म है, सो आकाशद्रव्य अन्य द्रव्यों को अवकाश दिये हुए है और अपने को भी अवकाश दिये हुए है। जैसे: -ज्ञान जीव का परम धर्म है, सो जीव अन्य द्रव्यों को जानता है और अपने को भी जानता है।

काव्य - 24 पर प्रवचन

जिसके पेट में अर्थात् जिसकी जगह में सभी द्रव्य सदा रहते हैं, वह आकाशद्रव्य है। आकाश पहले था और फिर दूसरे द्रव्य हुए और आकाश में रहे- ऐसा नहीं है। पाँचों द्रव्य निरन्तर आकाश में बसते हैं।

श्रोता:- आकाश और पाँचों द्रव्यों में आधार-आधेय सम्बंध होगा न?

पूज्य गुरुदेवश्री:- व्यवहार से आधार-आधेय सम्बन्ध है, अन्यथा किसको किसका आधार? स्वयं ही अपना आधार है। आकाश को किसका आधार है? स्वयं ही आधार है। वैसे ही जड़ और चेतन अपने अवगाहन में ही रहते है, उन्हें आकाश का अवगाहन का निमित्त है; अत: कहा कि जैसे पात्र में वस्तु रहती है, वैसे ही आकाश जीव पुद्गलादि के रहने का पात्र है।

काल द्रव्य का लक्षण

जो नवकरि जीरन करै, सकल वस्तुथिति ठांनि।
परावर्त वर्तन धरै, काल दरब सो जांनि ।।25।।

अर्थ:- जो वस्तु का नाश न करके सम्पूर्ण पदार्थों की नवीन हालतों के प्रगट होने और पूर्व पर्यायों के लय होने में निमित्तकारण है, ऐसा वर्तना लक्षण का धारक काल द्रव्य है।।25।।

नोट:- काल द्रव्य का परम धर्म वर्तना है, सो वह अन्य द्रव्यों की पर्यायें का वर्तन करता है और अपनी भी पर्यायें पलटता है।

काव्य- 25 पर प्रवचन

जगत में काल नामक सूक्ष्म अरूपी अणु (कालाणु) है। जड़ और चेतन में रूपान्तर होता है उसमें वे निमित्त बनते हैं। द्रव्य स्वयं परिवर्तन (बदलने) का उपादान है, परन्तु उसमें निमित्त कालद्रव्य है।

www.vitragvani.com

जड़ और चैतन्य स्वयं कर्त्ता होकर नई पर्याय को उत्पन्न करते हैं और पुरानी पर्याय का व्यय करते हैं, उसमें कालद्रव्य उदासीन कारण होता है। जगत के पदार्थों का ऐसा स्वभाव है।

कालद्रव्य का परमधर्म वर्तना है। इससे वह अन्य द्रव्यों की वर्तना में निमित्त है और अपनी पर्याय को भी पलटता है। कालद्रव्य के असंख्य अणु (कालाणु) सम्पूर्ण लोकाकाश में स्थित हैं। वह अरूपी और सूक्ष्म द्रव्य है। अनन्तगुणों का पिण्ड है और प्रतिसमय अपनी पर्याय को पलटता है और अन्य द्रव्यों की पर्याय के परिवर्तन में निमित्त है।

ऐसा छह द्रव्यों का स्वरूप है। उसे जानने का जीव का स्वभाव है। ऐसे स्वभाव को जानकर, स्वरूप में दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। द्रव्य के ऐसे स्वभाव की खबर न हो और आत्मा का अनुभव हो जाये ऐसा नहीं बनता; क्योंकि जानने का जीव का स्वभाव है तथा छह द्रव्य होने पर भी न माने तो उसका ज्ञान भी मिथ्या सिद्ध होता है।

नव पदार्थों का ज्ञान अनुभव के लिये कारण है, अतः उनका विवेचन किया जाता है:-

जीव का वर्णन

समता-रमता उरधता, ग्यायकता सुखभास।
वेदकता चैतन्यता, ए सब जीवविलास ।।26।।

अर्थः- वीतराग भाव में लीन होना, ऊर्ध्वगमन, ज्ञायकस्वभाव, साहजिक सुख का सम्भोग, सुख-दुःख का स्वाद और चैतन्यता- ये सब जीव के निजगुण हैं।।26।।

काव्य- 26 पर प्रवचन

जीव, अजीव, आस्रव,बंध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष तथा पुण्य और पाप- ये नव तत्त्व हैं। जीवपदार्थ का वर्णन पूर्व में आ गया है। यहाँ जीवतत्त्व का वर्णन करते हैं।

यह भगवान आत्मा का विलास बतलाते हैं। राग-द्वेष रहित वीतरागभाव वह समता है। रागभाव में लीन होना, वह जीव का स्वभाव नहीं है, वीतरागभाव में लीन होना वह स्वभाव है।

श्रीमद् राजचन्द्र ने स्वयं इस पद का अर्थ किया है। श्रीमद् राजचन्द्र पुस्तक में 436वाँ पद्य है। 26वें वर्ष में लिखा है, वह अपनी चर्चा में लेते हैं-

श्री तीर्थंकर भगवान ने इस जगत में जीव नामक पदार्थ को जिसप्रकार कहा है, वह अत्यन्त

www.vitragvani.com

यथास्थित कहा है। उसे हमने निराबाधपने जाना है, हमने ऐसे आत्मा को स्पष्ट अनुभवा है, प्रकट वह ही आत्मा हम हैं।

वह आत्मा '**समता**' लक्षण से युक्त है, असंख्यप्रदेशी है, वर्तमान में जैसी चैतन्य की स्थिति है, वैसी ही भूतकाल में थी। अनन्तकाल से ऐसा है और भविष्य में भी ऐसा ही रहेगा। असंख्य प्रदेशों में से कभी घट-बढ़ नहीं होती। अरूपी है, उसमें से कभी रूपी नहीं होता। त्रिकाल आनन्दकन्द स्वभावी है, वह ऐसा का ऐसा ही रहता है।

जैसे लोटे से पानी भिन्न है, वैसे यह देह काशीघाट के लोटे जैसा है। इससे भगवान आत्मा त्रिकाल भिन्न है। लोटे का आकार लोटे के कारण और पानी का आकार पानी के कारण और आत्मा का आकार आत्मा के कारण है।

चैतन्यपना, अरूपीपना, असंख्यप्रदेशीपना आदि जो जीव का स्वभाव है, वह कभी नहीं छूटता। ऐसी जो समझ, उसका नाम समता है; वह जीव का लक्षण है। ये सब चैतन्य आदि स्वभाव भूत वर्त्तमान, भविष्य तीनों कालों में ऐसे के ऐसे रहते हैं, तीनों काल एकरूप रहते है। सम+ता=समपना-ऐसा कहना है। बनारसीदासजी का भी यही कहना है। समता शब्द में क्षेत्र से, काल से, गुण से समानपना बतलाया।

श्रीमद् राजचन्द्रजी का क्षयोपशम बहुत था। उससमय क्षयोपशम में वे एक ही पुरुष थे, पर गृहस्थअवस्था में रहते थे; इसलिए कीमत नहीं हुई। लोगों की बाह्यत्याग की महिमा है, परन्तु तत्त्व के भान बिना बाबा होकर बैठ जाये, उसकी क्या कीमत है?

जीव का असंख्यप्रदेशी क्षेत्र अनादि-अनन्त है, चैतन्यपने का भाव अनादि-अनन्त है, अरूपीपना अनादि-अनन्त है। इसप्रकार चैतन्यद्रव्य अनादि-अनन्त अर्थात् तीनों काल ऐसे लक्षण से सहित है।

आत्मसिद्धि में श्रीमद् ने आत्मा का स्वरूप लिखा है न!

शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम।
बीजु कहिए केटलु, कर विचार तो पाम।।

भगवान आत्मा शुद्ध-बुद्ध ज्ञान का सागर, ज्ञान के स्वभाववाला तत्त्व है। चैतन्यघन है, स्वयं प्रकाशी है। उसे प्रकाशने के लिए अन्य की आवश्यकता नहीं है। सुखधाम-आनन्द का धाम है। आत्मा स्वयं अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द का धाम है। अन्य -में स्त्री, धनादिक में उसका सुख नहीं है।

www.vitragvani.com

समता का सीधा अर्थ तो वीतरागभाव में रहना, वह है, वह तो अमुक काल में ही होता है; परन्तु श्रीमद् ने तो बनारसीदासजी के काव्य में से समता को त्रिकाल लक्षण गिनकर अर्थ निकाला है। जिसमें त्रिकाल चैतन्यपना आदि गुण है, वह आत्मा है। यह समता का अर्थ है । समता अर्थात् वीतरागभाव में रमना। समयसार नाटक में समता रमता का एक ही अर्थ लिया है और यहाँ दोनों के भिन्न अर्थ किये हैं। श्रीमद् ने बहुत सरस अर्थ किया है।

'रमता' अर्थात् रमणपना, क्या रमणपना? कि पशु-पक्षी, मनुष्य, वृक्षादि देह में जो रमणीयपना ज्ञात होता हैं- शरीर के अन्दर जो रमणीय आत्मा ज्ञात होता है, स्फूर्ति दिखती है, जो सुन्दरपने से सहित है, ऐसा रमणपना, वह आत्मा का लक्षण है। आत्मा की ऐसी रमणीयता न हो तो सम्पूर्ण जगत शून्यवत संभावित है।

प्रकाश के प्रकाशक- ऐसे भगवान आत्मा की हयाती-अस्तित्व बिना सम्पूर्ण जगत शून्यवत भासता है- ऐसी आत्मा की रमणीयता है।

श्रीमद् के अन्दर के क्षयोपशम की बहुत गंभीरता थी..शब्द के अन्दर के भाव भी कैसे निकाले हैं! परन्तु लोगों ने उन्हें बाहर से ही कल्प लिया है, उनकी बाहर की भक्ति करके मुक्ति होगी- ऐसा मानते हैं। भक्ति तो शुभभाव है, उससे मुक्ति किसप्रकार होगी? गुरु के सामने देखने से मुक्ति नहीं होती। उन्होंने तो यह कहा है कि तू अपने समक्ष देख! स्वद्रव्य की रक्षा कर! राग-पुण्य वह तेरी वस्तु नहीं। स्वद्रव्य की रक्षा कर, स्वद्रव्य का धारक हो!

स्वद्रव्य में व्यापक बन! पुण्य-पाप में मत व्याप! वे तो जड़ हैं, उसमें अपना विस्तार करने मत जा! स्वद्रव्य को धार! ऐसा कहा है। ऐसा कहीं नहीं कहा कि हमारी भक्ति कर तो तेरी रक्षा होगी। हमको धार! ऐसा भी नहीं कहा। उसमें (स्वद्रव्य परद्रव्य सम्बन्धी दश बोलों में) अन्तिम में कहा है कि परद्रव्य का रक्षकपना शीघ्र त्याग दे! परद्रव्य रागादि मेरे हैं, ऐसा धार -मान रखा है, वह छोड़ दे।

ऐसे लक्षणों से जो युक्त है, वह आत्मा है। उसी के कारण सब रम्य लगता है, उसके बिना तो सब शून्यवत लगता है। ऐसा रम्यपना जिसमें है, वह आत्मा है। आत्मा है तो शरीर ऐसा दिखता है। आत्मा चला जाता है तो शरीर ढल (विकृत) जाता है। भले ही आत्मा है, परन्तु शरीर की स्थिति तो तब भी शरीर के कारण से है, आत्मा के कारण नहीं। आत्मा हो और शरीर सड़ता है -ऐसा भी बनता है, शरीर में जीवाणु भी पड़ते हैं, वह तो शरीर का स्वभाव है। हम एक जगह

www.vitragvani.com

गये थे, वहाँ एक बाई का शरीर ऐसा सड़ गया था कि मरे हुए गधे के समान दुर्गन्धयुक्तसा हो गया था। एक जगह एक युवा के माता निकली थी तो दाने-दाने में जीवाणु पड़ी थी। आत्मा तो अन्दर है तथापि शरीर सड़ जाता है- यह शरीर का स्वभाव है।

यहाँ तो यह बताना था कि आत्मा हो, वहाँ तक शरीर उसकी अपनी योग्यता से तेजवाला (कांतियुक्त) रहता है। अन्तर में तेजी और स्फूर्ति है, वह आत्मा की है। ऐसी आत्मा की रमणीयता है।

'उरधता' का अर्थ यहाँ उर्ध्वगमन किया है, परन्तु वह तो कभी ही होता है; परन्तु यहाँ श्रीमद् ने अच्छा अर्थ किया है कि जो आत्मा का कायमी स्वभाव है। 'उर्ध्वपना' यह आत्मा का स्वभाव है। कोई भी जाननहार कभी भी किसी भी पदार्थ को अपने अविद्यमानपने जाने- ऐसा नहीं बनता। चैतन्य की अविद्यमानता में कोई पदार्थ ज्ञात नहीं होता। अत: किसी भी पदार्थ के जानने में प्रथम अपनी विद्यमानता घटित होती है।

यह शरीर है, यह वाणी है- यह सब आत्मा की हयाती बिना किसमें ज्ञात हो? अत: प्रत्येक पदार्थ को जानने से पूर्व जिसकी मुख्यता है- ऐसा जीव का उर्ध्वस्वभाव है। राग हो, द्वेष हो, शरीर में फेरफार हो, वह जाननहार बिना किसमें ज्ञात हो? ज्ञात ही नहीं हो, अत: सबमें जाननेवाले की ही मुख्यता है। किसी भी पदार्थ के ग्रहण-त्याग को ज्ञान जानता है। किसी का उदासीन ज्ञान होने में भी कारण स्वयं ही है।

इसप्रकार कोई भी पदार्थ के अल्प भी जानने में, अंगीकार करने में, त्याग करने में प्रथम जो रहता है, वह आत्मा है। ज्ञान बिना किसी पदार्थ का जानना नहीं हो सकता। इस पदार्थ को मैं अंगीकार करता हूँ- अथवा इस पदार्थ का त्याग करता हूँ -ऐसा जाननेवाले के बिना कौन जाने?

इसप्रकार सबसे प्रथम रहनेवाला उर्ध्व वह जीवपदार्थ है। उसे गौण करके अर्थात् कि उसके बिना कोई कुछ भी जानना चाहे तो वह बनने योग्य नहीं है। मात्र वही मुख्य हो तो ही अन्य कुछ जाना जा सकता है- ऐसा यह प्रकट उर्ध्वता धर्म जिसके अन्दर है उस पदार्थ को श्री तीर्थंकर जीव कहते हैं।

यहाँ नाटक समयसार में यह 26 वाँ श्लोक चल रहा है, जिसका अर्थ अपन श्रीमद् राजचन्द्र पुस्तक में से ले रहे हैं। श्रीमद्जी ने समता-रमता आदि का अर्थ विशेषप्रकार से किया है, वह अर्थ गंभीर है।

www.vitragvani.com

शास्त्र में समता का अर्थ वीतरागता और रमता का अर्थ उसमें रमण करना- ऐसा लिया है। परन्तु यहाँ श्रीमद् ने समता अर्थात् समपना ऐसा अर्थ लिया है। आत्मा भूत-भविष्य और वर्तमान काल- तीनों कालो में असंख्य प्रदेशी, चैतन्यस्वरूप, अरूपी आदि गुणों से समपने रहा है अर्थात् कि वे स्वभाव कभी नहीं छूटते ऐसा समपना वह आत्मा का लक्षण है। सम+ता अर्थात् समपना, रम+ता अर्थात् रम्यपना-ऐसे जो अर्थ श्रीमद् ने किये हैं वे यथार्थ घटित होते हैं।

आत्मा का स्वभाव रम्य है। आत्मा में त्रिकाल रम्यपना रहा है। उरधता अर्थात् उर्ध्वपना- यह अर्थ बराबर बैठता है। उर्ध्वगमन स्वभाव यह अर्थ नहीं बैठता; क्योंकि उर्ध्वगमन तो एक समय मात्र है, जबकि उर्ध्वता स्वभाव तो त्रिकाल है। उर्ध्वपना यह भाव वाचक शब्द है तो उसमें उर्ध्वपना किसप्रकार है वह यहाँ बताना है।

कोई भी जाननेवाला कभी भी किसी भी पदार्थ को अपनी अविद्यमानता में जाने- यह बनने योग्य नहीं है। प्रथम अपना विद्यमानपना घटित होता है अर्थात् कि किसी भी पदार्थ को जानने के काल में अपना अस्तित्व होना घटित होता है कि जो मुख्य है। जाननेवाले का उर्ध्वपना प्रत्येक काल में है। ज्ञान की विद्यमानता बिना कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

किसी भी वस्तु का संयोग हो या वियोग हो, उसका ज्ञान करनेवाला स्वयं है अथवा किसी वस्तु का उदासीन ज्ञान हो। उसमें भी कारण स्वयं है। राग का होना या जाना, शरीर का संयोग होना या वियोग होना और किसी भी वस्तु का उदासीन ज्ञान होना, उन तीनों को ज्ञान की विद्यमानता में जानता है, ज्ञान विद्यमान न हो तो उन सबको जाने कौन? अतः यह ज्ञान का उर्ध्वपना है।

प्रत्येक पदार्थ के अल्प जानपने में भी ज्ञान में जाननेवाला ही मुख्य है। जो सबमें प्रथम रहनेवाला है। अतः वह उर्ध्व अर्थात् मुख्य है, यह अर्थ ही यहाँ लागू पड़ता है। इस अर्थ से ही भाव भासता है। किसी भी शब्द का भाव तो भासना चाहिए न, कि इस शब्द द्वारा वस्तु का यह भाव बताते हैं।

भगवान चैतन्यमूर्ति की हयाती-अस्तित्व के बिना कोई कुछ भी जानना चाहे तो यह बनने योग्य नहीं है। जाननेवाले के बिना किसी का ग्रहणत्याग हो, उसे कौन जाने? राग आवे या जावे उसे राग तो जानता नहीं, तो राग को जाना किसने? कि जाननेवाला ही सर्व को जानता है। दया, दान, भक्ति आदि का राग आया और आकर चला गया। उसको आत्मा की अविद्यमानता में जाने कौन? जाननेवाले की अविद्यमानता में कुछ ज्ञात ही नहीं होता। अतः जाननेवाला ही मुख्य हो

www.vitragvani.com

तो ही अन्य सब जाना जा सके ऐसा यह प्रकट 'उर्ध्वता धर्म' जिसमें हैं, उसको भगवान जीव कहते हैं।

इस श्लोक का ऐसा अर्थ श्रीमद् ने अपनी ही विचक्षणता से निकाला है। बहुत सरस अर्थ किया है। उससमय हिन्दुस्तान में दूसरा ऐसा कोई पुरुष नहीं था -ऐसा लगता है। बहुत क्षयोपशम! शब्द बनारसीदासजी के हैं, परन्तु श्रीमद् ने अर्थ कैसा निकाला है!

यह जीवद्रव्य के लक्षण की बात चलती है। उसमें श्रीमद् ने एक-एक शब्द का पेट (गहरा आशय) खोला है। अहो! भगवान आत्मा की मुख्यता बिना यह राग आया-गया, शरीर आया-गया, रोग हुआ और गया उसे जाना किसने? जाननेवाला हो तो ही जाने। अत: रागादि होते हैं, उनकी मुख्यता नहीं; परन्तु जाननेवाले की मुख्यता है। आत्मा उसका जाननेवाला है, करनेवाला नहीं।

मात्र जाननेवाला ही मुख्य हो तो ही अन्य कुछ जाना जा सकता है। जाननेवाला मुख्य न हो और अन्य कुछ जाना जा सके ऐसा नहीं बनता; क्योंकि जाननेवाले बिना उन्हें जाने कौन? अत: प्रज्ञाब्रह्म चैतन्य ही सर्वकालों में मुख्य है। राग, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि क्रिया उससे भिन्न है; क्योंकि वे तो विकल्प हैं, वे कुछ नहीं जानते।

जाननेवाला स्वयं मुख्य न हो तो अन्य को जाने कौन? अन्य प्रसंगों को जाने कौन? प्रत्येक समय जाननेवाला हो तो ही उनका ज्ञान होता है। ऐसा जीव का उर्ध्वता धर्म है।

देखो! यह दृष्टि के विषय की बात नहीं है, दृष्टि का विषय तो अभेद है। वस्तु का स्वरूप ऐसा है ऐसा ज्ञान करके उसमें दृष्टि करे, तब अभेददृष्टि हो। वस्तु स्वयं एक तत्व है न। अस्तित्ववाली चीज है न! वह द्रव्य है, असंख्य प्रदेश उसका क्षेत्र है, ज्ञान- दर्शनादि उसके भाव हैं और वह त्रिकाल ऐसा का ऐसा रहा है; वह उसका काल है। इसको जीव का समपना गिनने में आया है।

'रम्यपना' यह भी आत्मा का लक्षण कहा है। जिसके विद्यमानपने बिना सम्पूर्ण जगत शून्यवत भासता है। अरे! शून्य को भी जाननेवाले बिना कौन जाने?

जिसकी मुख्यता में ही अन्य ज्ञात होता है, उसकी मुख्यता बिना ज्ञात नहीं होता। यह आत्मा का उर्ध्वपने का स्वभाव कहा है। यह राग है, यह पुण्य है, यह शरीर है, उसमें रोग आता है, जाता है, शुभभाव आते हैं, जाते हैं इन सबका जाननेवाला कौन? जाननेवाला (आत्मा) ही इन सबको जानता है। अत: कहा कि जाननेवाले की ही मुख्यता में अन्य सब ज्ञात होता है। ऐसा उर्ध्वपना जिसमें है, उस पदार्थ को श्री तीर्थंकर जीव कहते हैं।

www.vitragvani.com

अब चौथा लक्षण 'ज्ञायकता'। प्रकट ऐसे जड़पदार्थ और जीव, वे जिस कारण से भिन्न पड़ते हैं, वह लक्षण जीव का 'ज्ञायकता' नामक गुण है। प्रकट ऐसे जड़ पदार्थों में रागादि परिणाम भी आ जाते हैं; क्योंकि वे भी जड़ ही हैं। उनसे 'ज्ञायकता' लक्षण से जीव भिन्न पड़ता है। यह लक्षण जीव में त्रिकाल रहा है- इस कारण ज्ञायकपनें से रहित जीव को, किसी समय अनुभव नहीं सकते, ज्ञायकपने ही उसका अनुभव हो सकता है। तथा यह 'ज्ञायकपना' जीव के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं, पुण्य-पाप के विकल्पों, व्यवहार रत्नत्रय आदि में भी ज्ञायकपना संभव नहीं; क्योंकि वे भी अचेतन लक्षणवाले हैं। त्रिकाल अनुभव का कारण यह ज्ञायकभाव ही है। आत्मा के आनन्द के वेदन के कारणरूप यह ज्ञायकभाव ही है।

यह तो वस्तु के मूलस्वरूप की बात है! अपूर्व बात है! जगत बाहर में ही अटक जाता है। इससे सिर फोड़कर मर जाता है तो भी वस्तु का अनुभव नहीं होता। भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ अन्दर में ज्ञायकरूप से ही विराज रहा है। अन्य किसी में वह ज्ञायकपना नहीं, ऐसा जो 'ज्ञायकपना' ऐसे लक्षणवाले को श्री तीर्थंकर परमात्मा ने जीव कहा है। देखो, पुण्य-पापवाला जीव- ऐसा नहीं कहा।

साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा के समीप जा आया, उनके दर्शन किये, वाणी सुनी; परन्तु आत्मा का अनुभव नहीं हुआ; क्योंकि यह सब तो परलक्ष्यी वृत्ति का उत्थान है। भगवान द्वारा कथित 'ज्ञायकता' लक्षणवाले जीव का लक्ष्य करे तो अनुभव हो।

अब पाँचवाँ लक्षण 'सुखभास' कहा है। सुख का भास होना, वह आत्मा में है। शब्द, रस, रूप आदि पाँच इन्द्रियों के विषयों सम्बन्धी और समाधि आदि योग सम्बन्धी जिस स्थिति में सुख संभव है, उन्हें भिन्न-भिन्न करके देखने पर अन्त में उन सबमें सुख का कारण एक ही ऐसा यह जीव पदार्थ संभव है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में सुख तो नहीं परन्तु जीव कल्पना करता है न! उसीप्रकार शुभाशुभभाव में भी सुख की कल्पना करता है। उनमें सुख नहीं, परन्तु सुख का भास तो होता है, वह भी आत्मा में है। अज्ञानी बाहर के पदार्थों में लक्ष्य करके सुख मानता है, परन्तु वह तो दु:ख है। उसमें आत्मा का सुख नहीं है। सुख का वास्तविक कारण तो आत्मा है। उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का रस पड़ा है। वह आनन्द इन्द्रियातीत है, विकल्पातीत है, वचनातीत है, तनातीत है अर्थात् वह आनन्द इन्द्रिय, वाणी, मन, शरीर, विकल्प आदि से भिन्न है।

अज्ञानी जीव ने कभी इस तत्त्व का ज्ञान ही नहीं किया। तत्त्व के ज्ञान बिना व्रत, तप, भक्ति,

www.vitragvani.com

पूजा आदि कर-करके मर गया, तपस्या करके हैरान होकर मर गया; परन्तु जो करने योग्य था, वह कभी नहीं किया।

सुख का भास होना अर्थात् सुख का मालूम पड़ना, वह भी आत्मा में होता है। बाहर की क्रिया में, या दया-दान-विकल्प में सुख मालूम नहीं पड़ता। जीव के सिवाय कहीं सुख है ही नहीं।

देखो, बनारसीदासजी के इस एक श्लोक में इतना स्वरूप भरा है। पहले तो वे शृंगारी कवि थे, फिर अवस्था बदल गई; जैन के अव्वल कवि हो गये। जो शृंगाररस की कवितायें लिखी थीं, वे सब नदी में फैंक दी। अरे! मैंने ऐसा पाप किया। फिर तो दृष्टि गुलाट खाकर अन्दर में उतरी और सत्-समागम से (वस्तुतत्त्व का) भान हुआ। ऐसा परिवर्तन हो सकता है, न हो- ऐसा नहीं है। सौ चूहे मारकर बिल्ली हज को चली। (यह कहावत लोकप्रचलित है) तात्पर्य यह है कि पाप करनेवाला सुधर नहीं सके- ऐसा नहीं होता।

मैंने आत्मा को भूलकर अपराध किया है। वह मेरा गुनाह है। अरे! यह मैं नहीं, मैं तो सच्चिदानन्द आनन्दमूर्ति हूँ। गुनाह करना, वह मेरा स्वरूप नहीं।

यहाँ श्रीमद् ने सुखभास लक्षण के लिए व्यवहार से निद्रा का दृष्टान्त दिया है। जिस निद्रा में अन्य कोई पदार्थ तो नहीं, वहाँ भी मैं सुखी हूँ- ऐसा जो ज्ञान है, वह बाकी बचे हुए जीव पदार्थ का ही है। आत्मसिद्धि में आता है न- 'अबाध्य अनुभव जे रहे ते जीवस्वरूप' घटाने पर जो बचे वह आत्मा है। राग, शरीर, मन, वाणी, पुण्य, पाप के विकल्प आदि सबको बाद (घटाते) करते-करते बाकी जो बचा, वह आत्मा है। उसको घटाया नहीं जा सकता। आत्मा को घटाये तो शून्य रहे।

निद्रा में अन्य कोई पदार्थ तो विद्यमान नहीं और सुख का भासित होना तो अत्यन्त स्पष्ट है। वह जिससे भासित होता है, वह जीव नामक पदार्थ के सिवाय अन्य कहीं वह लक्षण देखा नहीं। सुख..सुख..सुख आत्मपदार्थ के सिवाय अन्य कहीं नहीं है।

सुख के लिए श्रीमद्जी ने निद्रा का दृष्टान्त लिया है। अपन एक सेठ का दृष्टान्त लेते हैं कि एक करोड़पति सेठ था। उसके एक ही पुत्र था। सेठ ने पुत्र से कहा कि अपने पास पर्याप्त धन है; अतः कुछ धंधा नहीं करना। तथापि पुत्र ने व्यापार किया और दस लाख का नुकसान हुआ। अब! सेठ तो सत्ताप्रिय मनुष्य था, उसके पास पुत्र पैसे लेने नहीं जा सका। अपने भाईबंधुओं के माध्यम से पिता से कहलवाया कि या तो पैसे दो, अन्यथा सवेरे मेरा मुँह देखने

www.vitragvani.com

को नहीं मिलेगा। मित्र ने सेठ से जाकर कहा तो सेठ क्रोधित हो गया। तब मित्र कहता है कि बापूजी! एक बात कहूँ? सुनो, तुम्हारी उम्र अस्सी वर्ष की तो हो गई है। अब पाँच-दस वर्ष में आप चले जाओगे, तब ये सारी सम्पत्ति तो आपके पुत्र की ही होगी न! विचार करके देखो तो ये पैसे तो उसी के गये, तुम्हारे कहाँ थे? तब सेठ ने उससे कहा कि बेटा! तुमने तो बहुत बड़ी बात की है, सच्ची बात है, यह ले! पैसे ले जा। इसमें मेरा कुछ भी कम नहीं हुआ।

देखो! सेठ पहले अकुलाकर दु:खी हुआ और फिर समाधान से सुख को प्राप्त हुआ। प्रतिकूलता तो वह की वही थी; परन्तु जहाँ सेठ की दृष्टि फिर गई, वहाँ संतोष हो गया। इतनी प्रतिकूलता में जिसे समाधान करना आता है, उसको अनन्त प्रतिकूलता में भी समाधान करना आता है, ऐसा यह आत्मा संतोषी है, सुखस्वरूप है।

भगवान आत्मा सुखस्वरूप है। चाहे जैसी प्रतिकूलता हो, परन्तु वह समाधान..समाधान स्वरूप है। और जिसको एक प्रतिकूलता में समाधान करना आता है, उसे सभी प्रतिकूलताओं में समाधान करना आता है। भले ही कितनी भी प्रतिकूलता आवे, परन्तु वे मुझमें नहीं, मैं तो ज्ञान हूँ। इसप्रकार जिसको अपनी दृष्टि करके समाधान और संतोष करना आता है, उसको ही सुख और शान्ति है; अन्यथा कहीं शान्ति नहीं है। भगवान आत्मा के सिवाय कहीं भी सुख और शान्ति नहीं है।

अब 'वेदकता' लक्षण बताते हैं-

यह मीठा है, यह खट्टा है, यह फीका है, यह खारा है ऐसा ज्ञान अथवा मैं इस स्थिति में हूँ, मैं ठिठुरता हूँ, मुझे ताप लगता है, दु:खी हूँ, दु:ख अनुभवता हूँ ऐसा जो स्पष्ट ज्ञान, वेदनज्ञान, अनुभवज्ञान, अनुभवपना, वह जिस किसी में भी हो तो वह इस जीवपद में ही है। यह जीव का 'वेदकता' लक्षण है।

खट्टा, खारा, ठण्डा, गर्म आदि को वेदनेवाला जीव है। उस वेदन स्वभाव से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा है। जड़पदार्थ किसी को वेद नहीं सकता; अत: ऐसा वेदकपना जिसमें है, वह जीव है ऐसा श्री तीर्थंकरदेव कहते हैं।

'**चैतन्यता**' भी आत्मा का लक्षण है। भगवान ज्ञान के प्रकाश बिना सूर्य चन्द्र, या दीपक के प्रकाश को कौन जाने? अत: स्पष्ट प्रकाशपना अनन्त-अनन्त कोटि दीपक, मणि, चन्द्र, सूर्यादि की कांति जिसके प्रकाश बिना प्रतिभासित नहीं होती अर्थात् वे सब स्वयं अपने को जानने

www.vitragvani.com

या जनाने योग्य नहीं, उन्हें जो जाननेवाला है, वह जीव है। सूर्यादि की कांति जिसके प्रकाश बिना प्रकटने में समर्थ नहीं अर्थात् कि यह दीपक है, यह मणि है, यह सूर्य है, उसका प्रकाश है उसे जाननेवाले के सिवाय कौन जाने? प्रकाश के अस्तित्त्ववाले पदार्थ को भी जिसके प्रकाश में जानना होता है, वह चैतन्य चिह्न जीव का लक्षण है।

अरे! इसने ऐसे आत्मा को सुना नहीं और कुछ पैसा हो जाये तो मानो 'मैं चौड़ा बाजार सकरा' हो जाता है। परन्तु देखो, यहाँ कहीं ऐसा आया है कि पैसा जीव का लक्षण है? जब राग भी जीव का लक्षण नहीं है तो पैसा तो कहीं दूर ही रह गया।

आत्मा तो चैतन्य प्रकाश का नूर है कि जिसके प्रकाश के बिना चन्द्र-सूर्य की कांति भी प्रकाशित होना संभव नहीं है। अर्थात् जाननेवाले के बिना ज्ञात नहीं होती। जिस पदार्थ के प्रकाश में -चैतन्यता से वे पदार्थ जाने जाते हैं, वे पदार्थ प्रकाश पाते हैं, स्पष्ट भासते हैं। वह पदार्थ जो कोई है, वह जीव है। अर्थात् वह लक्षण प्रकटपने स्पष्ट प्रकाशमान, अचल ऐसा निराबाध प्रकाशमान चैतन्य, वह जीव का लक्षण, जीव के प्रति उपयोग लगाने से प्रकट दिखाई देता है।

यह जो लक्षण कहे, उन्हें पुनः पुनः विचारकर, जीव निराबाध रूप से जाना जाता है। इसप्रकार श्री तीर्थंकर देव ने जीव के लक्षण कहे हैं।

अजीव का वर्णन

तनता मनता वचनता, जड़ता जड़सम्मेल।
लघुता गुरुता गमनता, ये अजीवके खेल ।।27।।

अर्थः- तन, मन, वचन, अचेतनता, एक-दूसरे से मिलना, हलका और भारीपन तथा गति करना- यह सब पुद्गल नामक अजीव द्रव्य की परिणति है।।27।।

काव्य - 27 पर प्रवचन

यह अजीव की व्याख्या है।

'**तनता**'- शरीरपना, यह जड़ का लक्षण है। भगवान चैतन्य उससे अत्यन्त भिन्न-भिन्न है। '**मनता**' अर्थात् मनपना भी जड़ का है। जैसे देखने का कार्य आत्मा करता है, परन्तु उसमें आँख निमित्त होती है; वैसे ही विचार तो भगवान आत्मा करता है, परन्तु उसमें निमित्तरूप जो मन है; वह अनन्त परमाणुओं से बना है। खिले हुए कमल के आकार जैसा है, परन्तु सूक्ष्म इतना है कि

www.vitragvani.com

डॉक्टर छाती चीरे तो भी कुछ हाथ में नहीं आता, इतना छोटा अंगुल के असंख्यातवाँ भाग माना है। उसको अवधिज्ञानी और गणधर देव जान सकते हैं, परन्तु डॉक्टर पोस्ट-मार्टम करे, तब भी हाथ में आवे अथवा दिखे वैसा नहीं है।

'**वचनता**'-भाषा भी जड़ है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और वाणी तो जड़ है, अतः आत्मा भाषा नहीं बोल सकता। वाणी का निकलना अजीव का कार्य है। शरीर और मन भी अजीव का खेल है, आत्मा का खेल नहीं; परन्तु आतमराम को अपने खेल की खबर नहीं और जड़ के खेल को यह शरीर मेरा, वचन मेरा, मन मेरा -मेरा करके बैठ गया है।

'**जड़ सम्मैल**'-परमाणुओं का मिलना और बिछुड़ना ये सब जड़ के कार्य हैं। आत्मा जड़ का कार्य नहीं कर सकता। भोजन का ग्रास मुँह में आना, पेट में जाना, मल बनना ये सब जड़ के खेल हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा तो अमृत आनन्दस्वरूप है, उसे स्वयं ने कभी देखा या जाना नहीं, उसकी श्रद्धा की दरकार भी नहीं की, उसको भूलकर-वर रहित बारात जोड़ दी है। दाल, भात करना, लड्डू करना, अनेक जाति का साधन इकट्ठा करना ये सब जड़ के खेल हैं, उन्हें मैं करता हूँ ऐसा अज्ञानी मानता है।

'**लघुता**'- अर्थात् हल्कापना, वह भी जड़ के होता है; आत्मा के नहीं होता। रूई हल्की और कोमल होती है। **गुरुता** अर्थात् भारीपना, वह भी जड़ का गुण है। **गमनता** अर्थात् गति करना, वह भी जड़ का खेल है। आत्मा शरीर को गति करावे, तब गति करे- ऐसा नहीं है। हाथ, पैर वाणी, शरीर आदि के हलन-चलन, गमन आदि जड़ का खेल है, आत्मा उसको नहीं करता।

जड़ का खेल अर्थात् जड़ की परिणति का कर्त्ता जड़ है। आत्मा तो उसका साक्षी है, परन्तु अज्ञानी को यह भान नहीं होने से वह अभिमान में चढ़ जाता है। यह संस्था मैं चलाता हूँ, यह महल मैंने बनाया है। अरे! यह विशाल मकान उसके मालिक ने तो नहीं बनाया, परन्तु कारीगर ने भी नहीं बनाया। यह तो जड़ का किया हुआ जड़ सम्मैल है। जड़ का खेल जड़ से होता है, आत्मा से नहीं होता।

समयसार में अन्तिम कलश आता है न कि जगत को नाचना हो तो नाचो। मैं तो जो हूँ, वह हूँ। यह टीका रचने का कार्य मेरा नहीं। अजीव नाचता है। मैं तो चैतन्य बिम्ब प्रकाश की मूर्ति हूँ। जड़ के परमाणु आयें, जायें, मिलें, भिन्न हों; मैं उनका साक्षी हूँ, करने वाला नहीं। इसप्रकार ज्ञानी साक्षी रहता है और अज्ञानी कर्ता होकर अभिमान करता है, परन्तु जड़ का खेल तो जड़ का ही है, वह आत्मा का नहीं होता।

www.vitragvani.com

यह श्री नाटक समयसार शास्त्र की उत्थानिका चलती है। उसमें जीव और अजीव का वर्णन आ गया, अब पुण्य तत्त्व का वर्णन अगले काव्य में चलता है।।

पुण्य का वर्णन

जो विशुद्धभावनि बंधै, अरु ऊरधमुख होइ।
जो सुखदायक जगतमैं, पुन्य पदारथ सोइ ।।28।।

अर्थः- जो शुभभावों से बँधता है, स्वर्गादि के सम्मुख होता है और लौकिक सुख का देनेवाला है, वह पुण्य पदार्थ है। ।।28।।

काव्य - 28 पर प्रवचन

विशुद्धभाव का अर्थ शुद्धभाव भी होता है और शुभभाव के अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। यहाँ विशुद्धभाव कहकर शुभभाव का अर्थ लेना है। जिसमें राग की मन्दता है, वह शुभभाव है, जिससे पुण्य बँधता है। दया, दान, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव है, पुण्यबंध के कारण हैं, परन्तु उनसे धर्म नहीं होता।

पुण्य उर्ध्वगति का कारण है, अतः उसको 'उरधमुख' कहा है। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि पाप अधोगति का कारण है और पुण्य उर्ध्वगति का कारण है और पुण्य तो मोक्षमार्ग का अनुसारी है- ऐसा कहा है, वह किसप्रकार ? और कब ? कि उस शुभभाव के विकल्प से भिन्न पड़कर स्वरूप की दृष्टि करे, तब शुद्धता प्रकट होती है, तब उस शुभभाव को उर्ध्वगति का कारण कहा जाता है।

तथा उसमें लिखा है कि शुभभाव जरूर उर्ध्वमुख करे, कारण कि जीव एकेन्द्रिय में से बाहर आता है, वह पुण्यभाव से ही बाहर आता है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, कौआ, कुत्ता आदि जीव मनुष्य आदि ऊँची गति में आते हैं, वह भी राग की मंदता से ही आते हैं; अतः पुण्य को उर्ध्वमुख कहा है। इससे वह ऊँची गति का कारण है, परन्तु धर्म नहीं। शुभभाव, वह मोक्षमार्ग नहीं, बंध का ही कारण है; परन्तु यहाँ शुभभाव में शुद्धता का अंश सिद्ध करना है, अतः उसे उर्ध्वता का कारण कहा है, परन्तु वह धर्म नहीं है।

भगवान आत्मा तो अबंधस्वरूप है। चैतन्यमूर्ति ज्ञानघन राग और कर्म के लेपरहित वस्तु है। स्वयं मुक्तस्वरूप ही है। मुक्तस्वरूप न हो तो मुक्ति की पर्याय प्रकट कहाँ से हो ? छोटी पीपल में चौसठ पहरी तिखास भरी ही है तो वह घिसने से व्यक्त होती है। तिखास कोई पत्थर

www.vitragvani.com

में से नहीं आती। वैसे ही शक्ति से तो आत्मा मुक्तस्वरूप ही है, उस पूर्णमुक्तस्वरूप के आश्रय से पर्याय में मुक्ति प्रकट हो, उसे सिद्धदशा, मुक्तदशा अथवा निर्वाण कहते हैं। यह मुक्तदशा द्रव्य में से ही आती है, कहीं बाहर से नहीं आती। पुण्य से (जीव) स्वर्गादिक के सन्मुख होता है, परन्तु उससे कर्म का अभाव नहीं होता।

'जो सुखदायक जगत में'- संसार में पुण्य और उसके फल को सुखदायक मानने में आता है। अनुकूल संयोग मिलें, पाँच-दश करोड़ रुपये मिलें, मोटर-गाड़ियाँ मिलें, नौकर-चाकर मिलें- इससे जगत में उसे सुखदायक गिना है, परन्तु वस्तुतः वह बंध का ही कारण है, मुक्ति का कारण नहीं; अतः वह आत्मा को सुखदायक नहीं है।

मुमुक्षु- यहाँ पुण्य को सुखदायक कहा है न?

पूज्य गुरूदेवश्री- भाषा देखो, जो सुखदायक जगत में.....जगत के जीव उसको सुखदायक मानते हैं। इज्जत, कीर्ति, मकान, स्वर्गादिक मिलें, उसमें संसारी जीवों को सुख लगता है। स्वर्ग को अमर कहा जाता है न! क्योकि वहाँ असंख्य अरब वर्षों की आयु है, अतः साधारण प्राणी को तो स्वर्ग ही वैकुंठ अक्षयधाम लगता है। यहाँ मनुष्यों में भी राजा, सेठिया आदि का वैभव ऐसा होता है कि गरीब मनुष्य तो आश्चर्य चकित हो देखता ही रहता है! परन्तु इसमें सुख नहीं है। भाई! जिसके फल में ऐसा सुख मिले, वह शुभभाव तो तूने अनन्त बार किये हैं। अनन्तबार नौंवे ग्रैवेयक तक हो आया, परन्तु उसमें सच्चा सुख कहाँ है? अनन्तकाल में शुभ क्रिया तो बहुत की, नग्न दिगम्बर द्रव्यलिंगी साधु हुआ, एक लंगोटी का भी परिगह नहीं; परन्तु राग से रहित आत्मा का शरण नहीं लिया, राग की क्रिया का शरण लिया।

छहढाला में कहा है कि-

मुनिव्रत धार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायो।।

सच्चिदानन्द प्रभु मेरा आत्मा पुण्य-पाप के विकल्पों से रहित शुद्ध आनन्दकन्द है- ऐसा भासित नहीं हुआ, इससे इतनी कड़क शुभ क्रिया करने पर भी लेश सुख प्राप्त नहीं हुआ।

'जो सुखदायक जगत में पुण्य पदारथ सोई'- शब्द कैसे लिए हैं! होशियार कवि हैं न! उनके शब्दों में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप आदि शुभभाव हैं। वे धर्म भी नहीं और आत्मपदार्थ भी नहीं।

www.vitragvani.com

'जीव और अजीव'- इन दो वस्तुओं का पहले वर्णन किया। अब उनकी सात पर्यायों का वर्णन करते हैं। उनमें पुण्य-पाप और आस्रव-बंध यह चार विकारी पर्यायें हैं। वे जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से होती हैं और संवर, निर्जरा और मोक्ष निर्विकारी पर्यायें हैं, वे जीव और पुद्गल के सम्बन्ध के अभाव से और जीव की पुरुषार्थ की जागृति व स्वसन्मुखता से प्रकट होती हैं।

सर्वप्रथम जीवतत्त्व का वर्णन किया, वह तो मुख्य वस्तु है। ज्ञायक, भगवान आत्मा सुखरूप है। चैतन्य स्वभावी, वेदन करनेवाला है, सो जीव है और शरीर, वाणी, मन, पैसा, मकान, कर्म आदि सब अजीव जड़तत्त्व है। इन दो के सम्बन्ध से जो दशा उत्पन्न होती है, उसमें से राग की मंदतारूप विशुद्धभाव, वह पुण्य पदार्थ है। उसे जगत में परिभ्रमण करनेवाले मूढ़ जीव सुखदायक मानते हैं, परन्तु वह जीव को सुखदायक नहीं है। वह तो जीव की विकारी दशा है।

पाप का वर्णन

संकलेश भावनि बँधै, सहज अधोमुख होई।
दुखदायक संसार मैं, पाप पदारथ सोइ ।।29।।

अर्थ:- जो अशुभ भावों से बँधता है तथा अपने आप नीच गति में गिरता है और संसार में दु:ख का देनेवाला है, वह पाप पदार्थ है ।।29।।

काव्य - 29 पर प्रवचन

संक्लेशभाव अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, भोग, क्रोध, मान, माया, लोभ, इज्जत, कीर्ति आदि के जो भाव है, वे तीव्र मलिनभाव हैं, अत: उन्हें संक्लेशभाव कहते हैं। पुण्यभाव मन्द मलिनभाव है और पापभाव तीव्र मलिनभाव है। ऐसे हिंसा आदि के पापभाव नये मलिन कर्मबंध के कारण हैं।

देखो, कमाने का भाव भी पापभाव है, उससे नया पाप कर्म बँधता है।

मुमुक्षु- कमाने से पैसा मिले, उसे दान में देने से तो पुण्य होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री:- धन में तृष्णा मन्द पड़े, राग मन्द हो तो पुण्य बँधता है; कोई पैसे से पुण्य नहीं बँधता और राग की मन्दता से पुण्य बँधता है तो भी जगत में सुख मिलता है, उससे आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता।

www.vitragvani.com

'सहज अधोमुख होई'- जैसे लोहे के गोले को पानी में डाले तो वह सहज ही नीचे जाता है, उसको धक्का नहीं देना पड़ता; उसीप्रकार पापभाव के फल में जीव सहज ही नीची गति में जाता है।

'दुखदायक संसार में' - अर्थात् जहाँ प्रतिकूल संयोग मिलें- ऐसे स्थान में ही वह जाता है। **'पाप पदारथ सोई'**- अर्थात् ऐसे संक्लेश भावों को पाप पदार्थ कहा जाता है।।29।।

अब आस्रव तत्त्व का वर्णन करते हैं। पुण्य-पाप दोनों भाव आस्रव हैं और नवीन कर्म बंध के कारण हैं।

आस्रव का वर्णन

जोई करमउदोत धरि, होइ क्रिया रसरत्त।
करषै नूतन करमकौ, सोई आस्रव तत्त ।।30।।

अर्थः- कर्म के उदय में योगों की जो राग सहित प्रवृत्ति होती है वह नवीन कर्मों को खींचती है, उसे आस्रव पदार्थ कहते हैं ।।30।।

काव्य - 30 पर प्रवचन

आस्रव अर्थात् आना, जिसभाव से नये कर्म आवें, उसे आस्रव कहते हैं।

'जोई करम उदोत धरि'- जब कर्म का उदय आता है, तब उसमें जुड़ान होने से जीव को पुण्य और पाप के भाव होते हैं। कर्म के उदय में योगों की जो रागसहित परिणति होती है, वह नवीन कर्मों को खींचती है, उसे आस्रव पदार्थ कहते हैं।

भगवान आत्मा अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को भूलकर हिंसा, झूठ, चोरी की पाप प्रवृत्ति में अथवा दया, दान, भक्ति आदि पुण्य प्रवृत्ति में रसपूर्वक जुड़ता है, तब नये कर्म बँधते हैं; क्योंकि वे दोनों राग की क्रिया हैं, आत्मा की धार्मिक क्रिया नहीं है; परन्तु जीवों को, धर्म की क्रिया क्या है और राग की क्रिया क्या है, उसकी ही खबर नहीं है। कर्म के उदय में जुड़ने से तो राग की ही क्रिया होती है और आनन्दस्वरूप आत्मा में रस जोड़ने से धर्म की -आनन्द की क्रिया प्रकट होती है।

राग के रसवाली क्रिया कर्मों को खींचती है, इससे नये कर्म बँधते हैं। हिंसा, झूठ आदि तो राग है ही; परन्तु सम्मेदशिखर की यात्रा आदि शुभक्रिया में राग का रस है वह कर्म को खींचने में निमित्त है, कर्म के अभाव में निमित्त नहीं -ऐसा यहाँ कहते हैं। परन्तु तत्त्व क्या है यह इसके

www.vitragvani.com

ज्ञान में नहीं आता, अतः अनादि से गड़बड़ खड़ी हुई है। शास्त्र पढ़े, बाँचे, विचारे; परन्तु अन्दर से मान्यता में गड़बड़ है, उसे नहीं निकालता।

त्रिकाली वस्तुस्थिति क्या है, वर्तमान दशा में विकृति क्या है, वह विकृति कैसे मिटे; उसकी अज्ञानी जीव को खबर नहीं है। ऐसे तत्त्व की दृष्टि बिना धर्म हो जाये ऐसा तीनकाल में भी संभव नहीं है।

जिसके द्वारा नये कर्म खिचें- ऐसा हिंसा, झूठ, विषय आदि या दया, दानादि शुभ-अशुभ क्रिया को आस्रवतत्त्व कहते हैं।

संवर का वर्णन

जो उपयोग स्वरूप धरि, वरतै जोग विरत्त।
रोकै आवत करमकौ, सो है संवर तत्त ।।31।।

अर्थः- जो ज्ञान-दर्शन उपयोग को प्राप्त करके योगों की क्रिया से विरक्त होता है और आस्रव को रोक देता है वह संवर पदार्थ हैं ।।31।।

काव्य - 31 पर प्रवचन

संवर अर्थात् राग-द्वेष के, पुण्य-पाप के परिणाम उत्पन्न नहीं होना और आत्मा के आश्रय से निर्मल दशा का प्रकट होना, उसे संवर कहते हैं। संक्षिप्त में राग का अटकना और निर्मलता का प्रकटना संवर है। पुण्य-पाप के परिणाम, संवर नहीं थे; वे तो आस्रव बंध के ही कारण थे।

संवर अर्थात् धर्म की निर्मल-पवित्रदशा। उस पवित्रदशा का स्वरूप क्या? '**उपयोग स्वरूप धरि**'- पुण्य-पाप के विकल्प बिना, शुद्धस्वरूप आत्मा का उपयोग धरे, व्यापार करे, उसे संवर कहते हैं। व्रत लेकर बैठ जाने से संवर नहीं होता; परन्तु उससे धर्म (संवर) मानने से तो उलटे मिथ्यात्व होता है।

आत्मा जानने -देखनेवाला चैतन्यबिम्ब प्रभु है, उसका पुण्य-पाप के भावरहित, जानने-देखने का शुद्ध निर्मल व्यापार, वह संवर है। सच्चिदानन्द प्रभु का वीतरागी-निर्मल उपयोग, चैतन्य के आश्रय से प्रकट हुआ जानने-देखने का जो परिणाम उपयोग को धरे, वह संवरतत्त्व है।

लोगों को ऐसा धर्म का स्वरूप कठिन मालूम होता है, मानो मेरु पर्वत उठाना हो! ऐसे ही अनन्तजीवन चले जाते हैं। धर्म किसी भी दिन नहीं किया था, पर मानता था कि मैंने धर्म किया है।

www.vitragvani.com

उपयोग से धर्म और क्रिया से कर्म ऐसा आता है न! शुभ-अशुभभाव वह राग की क्रिया है, उससे कर्म आते हैं और उपयोग से धर्म अर्थात् शुद्ध चैतन्यवस्तु में अन्तर एकाग्र होकर जानने-देखने के शुद्ध परिणाम प्रकट करना, उसको उपयोग कहते हैं, वही धर्म है और उसको ही संवर कहते हैं। पहले जो शुभ-अशुभभाव कहा, वह आस्रवतत्त्व है और जो शुद्ध उपयोग को धारण करे, वह संवरतत्त्व है।

'वत्थुसहावो धम्मो' जानना देखना और आनन्द वह जीव का अविनाशी त्रिकाल स्वभाव है, उसमें एकाकार होकर जानने-देखने के और आनन्द के शुद्ध परिणामों का करना, होना और धरना उसको संवर अथवा धर्म कहने में आता है।

यह संवरतत्त्व जीव की निर्विकारी दशा है, द्रव्य-गुण नहीं; परन्तु निर्मल पर्याय है और पुण्य-पाप तथा आस्रव-बंध विकारी पर्याय है।

'वरते जोग विरत्त'- जो शुभ-अशुभभाव से विरक्त होता है और शुद्धभाव से सहित है, वह संवर है, उसका ही नाम समकित है और वही धर्म है।

संवर और आस्रव दोनों विरोधी दशायें हैं। आस्रव में जीव शुभ-अशुभ क्रिया के रस में रत है और संवर में उनसे विरत है। आस्रव अशुद्धोपयोग है और संवर शुद्धोपयोग है। आस्रव कर्मों को खींचता है और संवर आते हुए कर्मों को रोकता है। आस्रव अधर्म है और संवर धर्म है।

भगवान ने शान्ति की शुद्धोपयोगरूप क्रिया को संवर कहा है। इस मूलतत्त्व को समझे बिना व्रतादि व्यर्थ हैं और प्रतिक्रमणादि करने और यात्रा कर लेने से धर्म नहीं हो जाता। ये सब तो विकारी प्रवृतियाँ हैं। 'करना' उसमें तो जीव के स्वभाव का नाश होता है।

लोगों को व्यापारादि अशुभक्रियाओं से बाहर आने का ही समय नहीं मिलता। उसमें से थोड़ा समय निकालकर शुभक्रिया करके मान लेते हैं कि हमें धर्म हो गया; परन्तु इस व्यवहार धर्म का अर्थ ही यह है कि धर्म नहीं, उसे धर्म कहना वह व्यवहार है। जिसका जो स्वरूप नहीं उसे उस रूप से कहने का नाम व्यवहार है।

भगवान आत्मा परम अतीन्द्रिय आनन्द का रसकन्द है। शुभाशुभराग से विरक्त होकर उस परम आनन्दकन्द में लीन होने से जो शुद्धोपयोग परिणाम प्रकट होता है उसे भगवान संवरतत्त्व कहते हैं। जिसको संवर हुआ, उसके पाप अटक -रुक गये।

कोई तो ऐसा कहते हैं कि भगवान की भक्ति करो तो तुमको संवर और निर्जरा होगी; परन्तु

www.vitragvani.com

भाई ! भगवान तो परद्रव्य है, उनकी भक्ति का भाव, वह तो राग है, उससे धर्म किसप्रकार होगा ? वहाँ भक्ति की धुन जगाकर कर्त्तापना हो, वह तो मिथ्यात्व है। परन्तु इसने अनन्तकाल में एक सैकेण्ड मात्र भी यह मार्ग प्रकट नहीं किया, अत: कठिन लगता है और राग के रस में तो अनादि से डूबा ही है, इसलिए वह सरल लगता है।

अनेकान्त किसको कहते हैं और एकान्त किसको कहते हैं इसकी खबर भी जगत को नहीं है और शब्द पकड़कर विपरीत अर्थ करते हैं। व्यवहार से भी धर्म होता है और निश्चय से भी धर्म होता है ऐसा मानते हैं। निश्चय से ही धर्म होता है- यह तो एकान्त है ऐसा कहते हैं; परन्तु भाई ! तुझे एकान्त-अनेकान्त का ज्ञान ही नहीं है। देखो, यहाँ क्रिया स्वरत और वरते जोग विरत कहकर अनेकान्त किया है। विकार की उत्पत्ति नहीं होना और निर्दोष स्वभाव प्रकट होना, उसे संवर-धर्म कहते हैं।

भाई ! भाषा तो बहुत सादी है, पर भाव बहुत गंभीर है।

'अनंतकाल थी आथड़यो, बिना मान भगवान।
सेव्या नहिं गुरु-संत ने, मूक्यू नहिं अभिमान ।।

हम शास्त्र जानते हैं- ऐसा अभिमान नहीं छोड़ा और आत्मा का भान नहीं किया। इसकारण जीव ने परिभ्रमण किया है। सच्चिदानन्द, निर्मलानन्द प्रभु आत्मा को भगवान सर्वज्ञदेव ने जैसा देखा और जैसा कहा है, वैसा अनन्तज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि गुणों का पिण्ड प्रभु आत्मा, उसके सन्मुख होकर जिसने शुद्धोपयोग को धारण किया है, उसके भगवान संवर अर्थात् धर्म का प्रारम्भ होना कहते हैं। धर्म का प्रारम्भ शुद्धोपयोग से ही होता है।

भगवान आत्मा महाप्रभु है। अनन्त-अनन्त आनन्द का रसकन्द है, उसमें पुण्य-पाप के विकल्प की गंध भी नहीं है। ऐसा ही सत् है। भाई ! अब सत् को असत् कैसे कहा जाये ? और असत् को सत् कैसा माना जाये ? आत्मा के सत् में पुण्य-पाप के विकल्प नहीं हैं, वे तो (जीव) कर्म के उदय में जुड़कर नये उत्पन्न करता है। आत्मतत्त्व पुण्य-पापरूप विकल्प के जाल से भिन्न है।

बनारसीदासजी महान कवि थे न ! बहुत सरस भाषा का प्रयोग किया है। शुभाशुभभाव को रागरस की क्रिया कहकर, वह कर्म को खींचने में कारण है, कर्म के रोकने में कारण नहीं ऐसा कहा है। शुभ-अशुभयोग से विरत हुआ है और अपने उपयोग स्वरूप को धारण किया है, उसके धर्म हैं -यह अनेकान्त है।

www.vitragvani.com

श्रीमद्जी ने भी कहा है कि "अनेकान्त भी सम्यक् एकान्त ऐसे निजपद की प्राप्ति सिवाय अन्य हेतु से उपकारी नहीं है।" सम्यक् स्वभावसन्मुख ढलने से शुद्धोपयोग प्रकट होता है और शुभ है, उसका ज्ञान होता है; उसको अनेकान्त कहते हैं। कल्पना से अर्थ करे, वह नहीं चलता। वस्तु की स्थिति जैसी है; संतों, आचार्यों के जो अभिप्राय है, उस अभिप्रायानुसार अर्थ करने पर ही वस्तु की स्थिति ज्ञान में आती है। भले ही पर्याय और राग का ज्ञान हो, परन्तु वह ज्ञान स्वभावसन्मुख ढलने पर ही यथार्थ होता है। सम्यक् एकान्त (स्वभाव) तरफ ढले बिना अनेकान्त का ज्ञान भी यथार्थ नहीं हो सकता।

जो अपने शुद्धोपयोग स्वरूप को धरता है और शुभ-अशुभ राग से विरत होता है वह कर्मों को आने से रोकता है-उसका नाम संवर है। एक से लेकर चौबीस घन्टे बैठे रहने से संवर नहीं हो जाता। मैं पर से निवृत हुआ हूँ-यह मान्यता ही मिथ्यात्व है; क्योंकि वह जड़ की क्रिया में ही 'मैं पना' मानकर बैठा है। जोगविरत का अर्थ ही यह है कि शुभ-अशुभ विकल्पों से निवृत्त होना और स्वभाव सन्मुख ठहरना (स्थिरता करना), उसका नाम ही धर्म है। आत्मा जड़ की क्रिया से तो निवृत्त ही है। आत्मा जड़ की क्रिया करता ही नहीं। तो जिससे तो निवृत्त ही है उससे नया निवृत होना रहा ही कहाँ? यह तो अज्ञान से शुभ-अशुभ क्रिया में जुड़ता था उससे निवृत्त हुआ और स्वभाव में रत्त अर्थात् शुद्धोपयोग प्रकट हुआ, वह कर्म को रोकने का कारण है।

समकिती का कथन हो, श्रावक का हो, मुनि का हो या केवली का हो; किसी के भी कथन में फेर नहीं पड़ता। उसकी अपनी स्थिरता में फेर है, यह बात अलग है। वह चारित्र की स्थिरता का भेद है, परन्तु वस्तु की दृष्टि में किसी को फेर (अन्तर) नहीं है; अतः जैसा केवली प्ररूपित करते हैं, वैसा ही समकिती प्ररूपित करता है। बनारसीदासजी ने पूर्ण में आठवें काव्य में लिया है कि **"जाकैं घट प्रकट विवेक गणधर कौ सो।"** तीर्थकर के वजीर धर्मराजा के दीवान जो गणधरदेव, उन्हें जैसी श्रद्धा है, ऐसी ही श्रद्धा समकिती को होती है; फिर समकिती भले ही नरक में हो, तिर्यंच में हो, मनुष्य में हो या देव में हो, प्रत्येक की श्रद्धा समान है।

छहढाला में भी कहा है कि-

'चरितमोहवश लेश न संजम, पै सुरनाथ जजैं हैं।' (तीसरी ढाल)

अर्थात् चारित्रमोह के आधीन हो जाने से आसक्ति नहीं छूटती, फिर भी समकिती का इन्द्र भी आदर करते हैं। समकिती को आसक्ति से विरक्ति तो हुई है, इससे तो समकिती हुआ है परन्तु आसक्ति नहीं छूटती।

www.vitragvani.com

अहा! अनादि से भ्रमणा में भूले जीव को सीधे रास्ते आना कठिन पड़ता है। बाहर की प्रवृत्ति करना, दुकान छोड़कर, धर्मस्थान में आकर बैठना यह कुछ धर्म की क्रिया की ऐसा लगता है; परन्तु भाई! तू दुकान से तो भिन्न ही है। शुभ-अशुभराग की क्रिया से निवृत्त होना, वह निवृत्ति है और शुद्धोपयोग प्रकट करना, वह तेरी धर्म की प्रवृत्ति है।

'रोके आवत कर्म को सो है संवर तत्त'- शुभ-अशुभराग की क्रिया से रहित होना और निर्मलदशा प्रकट करना, उसे यहाँ संवरतत्त्व कहते हैं।

संवर आस्रव को रोक देता है। अर्थात् कर्म आते थे और उन्हें रोक दिया- ऐसा नहीं। स्वभाव का आश्रय लेने से पुण्य-पाप उत्पन्न नहीं होते, इसकारण कर्म नहीं आते, उसे 'रोका' ऐसा कहा जाता है। कोई कर्म के रजकण आते थे और उन्हें रोक दिया- ऐसा अर्थ नहीं है। स्वयं पहले शुभाशुभभाव में रुकता था तो कर्म आते थे और अब उनसे निवृत्त होकर शुद्धोपयोग में रुका- इसकारण कर्म स्वयं ही नहीं आते।

एक-एक तत्त्व का अर्थ समझने में भी बड़ा अन्तर है, अपनी कल्पना से अर्थ करे और माने कि मैं यथार्थ अर्थ करता हूँ। भाई! शास्त्र को समझने की आँखें कोई दूसरी ही होती हैं।

'रोके आवत कर्म को'- अर्थात् आते कर्म को रोका नहीं, परन्तु कर्मागमन का कारण जो राग, वह नहीं हुआ और शुद्धोपयोग हुआ- इसकारण कर्म आने ही नहीं थे, वे नहीं आये; उन्हें व्यवहार से 'रोका' ऐसा कहा जाता है।

संवर किसे कहते हैं अर्थात् धर्म किसे कहते हैं? धर्म कैसे उत्पन्न होता है? उसका वर्णन चल रहा है।

शुभ और अशुभ विकाररूप भाव हैं, उन्हें रोककर अथवा उनसे विरक्त होकर जो जानने-देखने रूप शुद्धोपयोग को धारण करता है, वह संवर है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजादि के भाव होते हैं; वह शुभयोग है और हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध, मान आदि के भाव होते हैं, वह अशुभयोग है, उनसे विरक्त होकर ज्ञाता-दृष्टा भाव को धरे वह संवर है। अर्थात् शुभ-अशुभ भाव से रहित शुद्धभाव को धारण करना-उसका नाम संवर अथवा धर्म है।

अज्ञानी जिसको आत्मा कहते हैं, वह नहीं; परन्तु सर्वज्ञ वीतराग द्वारा देखा और कहा गया जो आत्मा; वह शरीर, वाणी और कर्म से तो भिन्न है ही; परन्तु दया, दान, व्रतादि शुभभाव और हिंसा, झूठ, चोरी, वासना, क्रोध, मानादि के अशुभभावों से भी चैतन्यतत्त्व भिन्न है। ऐसे

www.vitragvani.com

चैतन्यप्रभु का माहात्म्य करके जो शुद्ध त्रिकाली भाव में एकाकार हो, उसे राग के मेलरहित जो शुद्धोपयोग होता है, वह संवरतत्त्व है। अपने चैतन्य स्वभाव की दृष्टि करके, पुण्य-पाप के विकल्प रहित जो शुद्धपरिणाम प्रकट होते हैं, उन्हें परमात्मा संवरतत्त्व कहते हैं।

देखो! मार्ग ही ऐसा है। दुनिया नहीं माने, इससे कोई मार्ग नहीं बदल जाता। दुनिया को तो अभी खबर ही नहीं कि धर्म क्या चीज है और वह कैसे प्रकट होता है।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन है, चैतन्यप्रकाश स्वरूप पवित्र मूर्ति है, उसकी सन्मुखता करके, राग से विमुख होकर अपने शुद्धभाव को धारण करे; उसको सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और संवर कहते हैं। संवर से ही धर्म का प्रारम्भ होता है।

'जो उपयोगस्वरूप धरि वरतै जोग विरत' - इसमें अस्ति-नास्ति से संवर का स्वरूप बताया है। ज्ञानानन्दस्वभाव का शुद्ध व्यापार किया, वह अस्ति और शुभ-अशुभ विकल्प से विरत हुआ, वह नास्ति।

'रोके आवत कर्म को' - अर्थात् कर्म आते थे, उन्हें रोक दिया- ऐसा नहीं; परन्तु शुद्धभाव होने से कर्म आये ही नहीं। पहले शुभ-अशुभभाव थे, उनके निमित्त से कर्म आते थे, अब शुभाशुभभाव से विरक्त होकर शुद्धभाव में आया, इसकारण कर्म आना ही नहीं थे, वे नहीं आये, उसे यहाँ कर्म को रोका- ऐसा कहा है। कर्म के एक भी रजकण को लाना या रोकना जीव के अधिकार में नहीं है; क्योंकि कर्म तो जड़ है और आत्मा चैतन्य है। आता है न! कि 'दाने-दाने पर लिखा है खानेवाले का नाम' इसका अर्थ क्या? जो रजकण का पिण्ड जिसके पास आना है वह उसके पास आयेगा... आयेगा और आयेगा ही और जो परमाणु नहीं आने हैं, वे नहीं ही आयेंगे, उसमें आत्मा का कुछ भी अधिकार नहीं है। आहार लूँ या नहीं लूँ ऐसा विकल्प होता है; परन्तु आहार आना या नहीं आना वह जड़ की क्रिया है। अज्ञानी उसका स्वामी होने जाता है, अतः वह मिथ्यादृष्टि है।

शरीर सदा अजीव है, वह जीव के साथ रहा है; परन्तु कोई जीव होकर नहीं रहा, शरीर तो अजीवरूप से ही रहा है। तथापि अज्ञानी मूढ उसको निज मानता है वह तो उठाईगीर (चोर) कहलाता है कि जो परवस्तु को निज मान लेता है।

सिद्धान्त नक्की करो कि शरीर अजीवरूप से ही रहा है। यदि शरीर जीवरूप हो तो वह अरूपी होना चाहिए; परन्तु शरीर तो रूपी है, जड़ है; वाणी भी जड़ है और पैसा भी जड़-धूल है, वह तुम्हारा होकर नहीं रहता, धूल तो धूल ही है।

www.vitragvani.com

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि आस्रवतत्त्व भी जीव नहीं है। शुभाशुभ परिणाम आस्रवतत्त्व है, मेल है, जो उन्हें अपना मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है, अजैन है। लोगों ने,सत्य क्या है? तत्त्व क्या है? यह ज्ञान में लिया ही नहीं है, अनादि से विपरीत मान रखा है।

अन्तर की अपूर्व वस्तु क्या है, वह भी लोगों को सुनने को नहीं मिली। मात्र बाहर से व्रत लेकर, तप करके, यात्रा करके मान लेते हैं कि धर्म हो गया; परन्तु वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा तो कहते हैं कि शुभाशुभ परिणाम का रुकना, उनसे विरक्त होना और आनन्दकन्द प्रभु में लीन होना ही संवर और धर्म है।

चैतन्यस्वरूप तो अनादि-अनन्त वीतराग स्वरूप से ही है, उसकी दृष्टि करने से वीतरागभाव का वेदन हो और नये कर्म आना रुके, वह तो संवर की भूमिका हुई; परन्तु अब जो पुराने कर्म शेष हैं, उनका क्या करना, उसके लिए निर्जरा के स्वरूप का वर्णन करते हैं। जिसको संवर नहीं है, उसको तो निर्जरा होती ही नहीं है। संवरपूर्वक ही निर्जरा होती है। वही वास्तविक निर्जरा है।

पुण्य से धर्म होता है ऐसी जिसकी दृष्टि है, वह तो छह छह माह के उपवास करे या करोड़ों का दान दे, परन्तु उसको धर्म नहीं होता और निर्जरा भी नहीं होती। पूर्व में कहा है कि शुद्धतत्त्व की पहचान और उसके सन्मुख दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रकट हो अर्थात् नये कर्म नहीं आते, परन्तु जो पुराने कर्म सत्ता में पड़े हैं, उनका नाश किसप्रकार करना, उसकी अब बात करते हैं।

निर्जरा का वर्णन

जो पूरव सत्ता करम, करि थिति पूरन आउ।
खिरबेकौ उद्यत भयौ, सो निर्जरा लखाउ ।।32।।

अर्थ:- जो पूर्वस्थित कर्म अपनी अवधि पूर्ण करके झड़ने को तत्पर होता है उसे निर्जरा पदार्थ जानो ।।32।।

काव्य - 32 पर प्रवचन

पूर्व में अज्ञानभाव से बँधे हुए जो कर्म सत्ता में पड़े हैं, उनका अब आत्मभानपूर्वक संवरदशा में टलना-झरना-खिरना किसप्रकार होता है कि उन कर्मों की स्थिति पूर्ण ही होने को आई है और भगवान आत्मा अपने आनन्दस्वरूप में पुरुषार्थ करके आया, अत: तुरन्त कर्म खिर जाते हैं।

www.vitragvani.com

देखो सेठ! यह धन आता है, वह तुम्हारी चतुराई से आता है ऐसा नहीं है। पूर्व के पुण्य के कर्म सत्ता में पड़े हों, उसके गलने की तैयारी हो, तब ऐसे संयोग दिखाई देते हैं। कर्मों और संयोग में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, परन्तु तुम्हारी चतुराई से धन आता है ऐसा नहीं है। हमने ऐसे बहुत से बुद्धिहीन मनुष्य देखे हैं जिनके पास धन के ढेर हैं।

एक वृक्ष की डाल पर से फल खिरने की तैयारी हो, तब वह डंठल से भिन्न हो जाता है; वैसे ही पूर्वोपार्जित पाक के काल में सामने ऐसी योग्यतावाले संयोगों की व्यवस्था बैठ जाती है, उसमें आत्मा का पुरुषार्थ कुछ भी नहीं करता; तथापि वस्तुस्थिति से अनजान मनुष्य ऐसा मानते हैं कि हमने व्यवस्था बराबर रखी, काम-काज की डोर हाथ में रखी है, इससे इतने धनादि मिले हैं -तो यह उनका बड़ा भ्रम है।

पुण्य-पाप, आस्रव का भिन्न-भिन्न तत्त्वरूप से वर्णन करने के पश्चात् जो स्वरूप सन्मुख दृष्टि करके अन्तर्मुख हुआ और अतीन्द्रिय आनन्द पाया उसे मिथ्यात्व का कर्म आना रुक गया-वह संवरतत्त्व कहा। अब निर्जरा के तीन प्रकार हैं; एक तो, शुद्धोपयोग की उग्रता करना वह निर्जरा है। पंचास्तिकाय में तो शुद्धोपयोग को ही निर्जरा कहा है। दूसरी, शुभाशुभभावरूप अशुद्धोपयोग न होना अर्थात् उसका नाश होना वह निर्जरा है और तीसरी, कर्मों का खिर जाना वह निर्जरा है, वह जड़ की निर्जरा हुई।

भाई! यह तो अभ्यास करे तो समझ में आवे- ऐसा है। फिर से लेते हैं:- शुभ और अशुभभाव, वह अशुद्धोपयोग है, बंध का कारण है। वह नहीं हुआ, गल गया -वह नास्ति से निर्जरा हुई और शुद्धोपयोगरूप पवित्रता की प्राप्ति -वह अस्ति से निर्जरा हुई और उस समय कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके खिर जाते हैं -वह जड़ की निर्जरा (द्रव्यनिर्जरा) है।

कर्म तो जड़ हैं, उन्हें लाना या हटाना, आत्मा का कार्य नहीं है। आत्मा कर्मों का स्वामी नहीं और कर्म आत्मा के दास नहीं, दोनों स्वतन्त्र तत्त्व है, परन्तु यहाँ जीव के शुद्धोपयोगरूप परिणाम होने से अशुद्धता का नाश होता है, तब कर्म उसकी अपनी योग्यता के खिर जाते हैं। जीव तो शुद्धोपयोग का उद्यम करता है और अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करता है, वह कोई कर्म में फेरफार नहीं करता।

उपवासादि क्रिया से कर्म नहीं खिरते। छहढाला में आता है कि 'मुनिव्रतधार अनन्तबार ग्रैवेयक उपजायो...। इस जीव ने अनन्तबार मुनिव्रत धारण किया, पंच महाव्रतों का पालन किया,

www.vitragvani.com

अट्ठाईस मूलगुण धारण किये, चमड़ी उतारकर उस पर नमक छिड़कें, फिर भी क्रोध न करे- इतनी क्षमा रखी; परन्तु आत्मा का भान नहीं किया। इसकारण समस्त पुण्य की क्रियाओं से कर्म बाँधता था।

सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की इन्द्रों और गणधरों की उपस्थिति में दिव्यध्वनि द्वारा कही हुई यह बात है। कुन्दकुन्दाचार्य सीमन्धर भगवान के पास गये थे, उन्हें दो हजार वर्ष हो गये हैं। महाविदेहक्षेत्र में अभी भी सीमन्धर भगवान विराजते हैं और अभी भविष्य में अरबों वर्षो तक रहेंगे। बहुत लम्बा -करोड़ पूर्व का उनका आयुष्य है।

करोड़ पूर्व किसको कहते हैं- यह खबर है? घर में धन कितना है, उसकी तो खबर रखते हो और इसमें कहोगे कि यह तो भगवान जानें। तो भगवान तो जानते ही हैं; परन्तु यह भगवानभाई को भी जानना चाहिए न! करोड़ पूर्व की स्थिति ऐसी है कि एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष चले जाते है; इतने वर्ष का तो एक पूर्व और ऐसे करोड़ पूर्व की स्थिति पूर्ण होगी, तब सीमन्धर भगवान मोक्ष में पधारेंगे। अनन्तकाल की तुलना में तो यह स्थिति भी अल्प ही है।

संवत् उनपचास (49)में कुन्दकुन्दाचार्य वहाँ महाविदेह गये थे। आठ दिन रहे थे और आकर इस समयसार की रचना की थी। उसके ऊपर नौ सौ वर्ष पूर्व हुए अमृतचन्द्राचार्य ने कलश रचे और उन पर पण्डित राजमल्लजी पाण्डे ने (बालबोधिनी) टीका रची और उस पर से कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने यह नाटक समयसार बनाया है।

उसमें यहाँ निर्जरा के वर्णन में कहते हैं कि उससमय कर्मों के तो गलने का समय था ही; परन्तु जीव ने उससमय क्या पुरुषार्थ किया? कि जीव ने स्वभावसन्मुख की जागृति में विशेष शुद्धता प्रकट की। पुण्य-पाप का विकल्प छूटकर निर्विकल्प चैतन्य भगवान आत्मा में उग्र पुरुषार्थ से जग गया। उसका नाम निर्जरा कहने में आता है।

अरे! अनन्तबार मनुष्यपना मिला, अनन्तबार साधु हुआ, त्यागी हुआ; परन्तु अपना मूल सत्त्व क्या है? उसका ज्ञान नहीं किया और तत्त्व की दृष्टि बिना तो किंचितमात्र भी संवर या निर्जरा नहीं होते। यहाँ कहते हैं कि "खिरवे को उद्यत भयौ" अर्थात् क्या? कि कर्मों के खिरने की तैयारी हुई और आत्मा अपनी स्वभावसन्मुखता के पुरुषार्थ में जुड़ गया। चैतन्यनूर, स्वभाव के पूर में प्रवेश करके विशेष शुद्धता प्रकट की उसे पुरुषार्थ से निर्जरा की ऐसा कहा जाता है।

www.vitragvani.com

ये बातें कठिन लगने से साधारण समाज के जीव तो यों के यों ही परिभ्रमण करके मरते हैं। पैसेवाले दान देकर धर्म मान लेते हैं। बलवान शरीरवाले क्रिया करके धर्म मान लेते हैं और बलवान मनवाले अर्थात् क्षयोपशम ज्ञान के उघाड़वाले बातें करके धर्म मान लेते हैं।

इस जीव ने चौरासी लाख योनी में एक-एक में अवतार धारण किया है, परन्तु भूल गया है; तो क्या अवतार नहीं किये? अरे! नरक के एक क्षण के दु:ख सुने नहीं जा सकें, वैसे नरक में अनन्तबार जाकर आया है। नरक में कम से कम आयु दश हजार वर्ष है और अधिकतम स्थिति तैंतीस सागर प्रमाण है। एक सागर में कोड़ाकोड़ी पल्योमप की स्थिति होती है और एक पल्योपम के असंख्यातवें भाग में असंख्य अरब वर्ष होते हैं। पूर्व में करोड़पूर्व की स्थिति कही थी। ऐसे तो असंख्य अरब करोड़ पूर्व होते हैं, तब एक सागर होता है। इतने लम्बे काल की स्थितिवाले सातवें नरक में भी जीव अनन्तबार हो आया। एक अपने आत्मा का ज्ञान नहीं, सम्यग्दर्शन क्या है, उसका भान नहीं- इससे अज्ञान में जीव ने नरकगति में जो दु:ख भोगे हैं, वे या तो भगवान जानते हैं या स्वयं भोगता है; वाणी में वे आ सकें ऐसा नहीं है।

जीव ने अनन्त नरक के भव किये, उससे असंख्यगुने अनन्त स्वर्ग के भव किये, जहाँ अकेला पुण्यफल मिलता है; अत: दुनिया तो उसे अमरधाम-वैकुंठ मानती है। ऐसे स्थान में इकतीस-इकतीस सागर की स्थिति में अनन्तबार जा आया; परन्तु पुण्य-पाप से रहित, आनन्दस्वरूप आत्मा कि जिसको विकल्प के सहारे की भी जरूरत नहीं, उसकी अन्तर अनुभव दृष्टि जीव ने कभी नहीं की। परमात्मा के द्वारा कथित आत्मा की यह बात जीव के अन्तर में कभी नहीं बैठी। ऐसा भी कुछ होता होगा इसप्रकार कुछ न कुछ बचाव करके अटक गया है।

सर्वथा बंध का अभाव वह तो मोक्ष है; परन्तु बंध का एकदेश अभाव होकर वास्तव में आंशिक पवित्रता प्रकट हो, उसे निर्जरा अथवा शुद्धता कहने में आता है। थोड़ा परन्तु सत्य होना चाहिए। अभी तो तत्त्व किसे कहना- यह ज्ञान भी न हो और धर्म हो जाय ऐसा कभी नहीं हो सकता।

अनन्त काल थी आथड्यो, बिना भान भगवान।
सेव्या नहीं गुरु संत ने, मूक्यो नहिं अभिमान।।

संतों की बात मिली नहीं और हम जानते हैं- ऐसे अभिमान ही अभिमान में रह गया, परन्तु शास्त्रज्ञान- यह कोई वस्तु नहीं है। चीज तो यह है कि जो अतीन्द्रियआनन्द के नाथ में दृष्टि और

www.vitragvani.com

स्थिरता से निर्जरा प्रकट करे, वह वस्तु-चीज है। वरना तो उपवास कर-करके मर जाए तो भी निर्जरा नहीं होती।

जगत को रुचे या न रुचे, परन्तु मार्ग तो ऐसा ही है। हमारे पास मक्खन लगाने की बात नहीं है कि पैसेवाले को धर्म होता है और गरीब को धर्म नहीं होता। परमात्मप्रकाश में योगीन्दुदेव ने पंचमकाल के पैसेवाले कैसे हैं- यह लिखा है कि पुण्य से वैभव मिलता है, वैभव से मद होता है और मद से मति भ्रष्ट हो जाती है। हम ही कुछ बड़े हैं. गरीबों को तो कुछ गिनते ही नहीं और मतिभ्रष्ट होने से अविवेक से पाप बाँधता है. ऐसा पुण्य हमें नहीं चाहिए

आत्मा के अनुभवपूर्वक शुभभाव आवें और पुण्य बँध जाये, उसमें तो शुभभाव का आदर नहीं। इसकारण उसके फल के समय, यह मेरा हैं- ऐसा अभिमान नहीं होता; परन्तु ऊपर जो कहा, वह तो अज्ञानी के पुण्य की बात है। मिथ्यादृष्टि को पुण्य भी पाप का ही कारण बनता है।

प्रभु-आत्मा रजकण और राग के अंश से भिन्न है। कर्म, वह रजकण है और शुभ-अशुभभाव राग का अंश है। उन दोनों तत्त्वों से भगवान आत्मा एक भिन्न तत्त्व है। **'सिद्धसमान सदा पद मेरा'**- ऐसे परमात्मस्वरूप में उपयोग उग्ररूप से एकाग्रता प्रकट करे; उसको यहाँ निर्जरातत्त्व कहने मे आता है और इस निर्जरा के भाव के निमित्त से कर्म स्वयं स्वतः गलकर खिर जाते हैं, उसे द्रव्यनिर्जरा कहते हैं।

बंध का वर्णन

जो नवकरम पुरानसौं, मिलैं गांठि दिढ़ होइ।
सकति बढ़ावै बंस की बंध पदारथ सोइ ।।33।।

अर्थः- जो नवीन कर्म पुराने कर्म से परस्पर मिलकर मजबूत बँध जाता है और कर्मशक्ति की परम्परा को बढ़ाता है, वह बन्ध पदार्थ है ।।33।।

काव्य - 33 पर प्रवचन

अब बंधतत्त्व का वर्णन करते हैं। संवर में नये कर्म रुकते हैं, निर्जरा में पुराने कर्म खिरते हैं, परन्तु यह बंधतत्त्व क्या है? कि पुराने कर्मों के साथ नये कर्मों को जोड़ देता है, वह बंध है।

भगवान आत्मा अबंधस्वरूप है, पुण्य-पापभाव, वह भावबंध है और जड़कर्म बँधते हैं, वह द्रव्यबंध है। जो नये कर्म पुराने कर्मों के साथ परस्पर मिलकर मजबूत बँध जाते हैं और कर्मशक्ति की परम्परा को बढ़ाते हैं, वह बंधपदार्थ है।

www.vitragvani.com

मिथ्यादृष्टि को स्वरूप के अज्ञान में नये कर्म पुराने कर्मों के साथ मिलकर मजबूत गाँठ बना देते हैं, इससे कर्म का बंध बढ़ जाता है। निर्जरा में शुद्धता का वंश बढ़ता है और इस बंध में कर्म का वंश बढ़ता है।

यह तो जिसको चारों गतियों में दु:ख लगा हो और उसमें से निकलना हो, उसके लिए बात है। राग में कहीं भी सुख लगता हो तो वह तो मिथ्यादृष्टि है। जो स्वर्ग में भी आनन्द मानता है, वह मूढ़ है। सुख तो एकमात्र आत्मा में है, उसके बदले शरीर में, लक्ष्मी में, सेठपने में, इज्जत में सुख माने; वह मूढ़ है। अपना आनन्द पर में माननेवाला तो मूढ़ ही होगा न!

अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर, शरीरादि अजीवतत्त्व को और रागादि आस्रवतत्त्व को अपना मानकर अज्ञानी मूढ़ जीव नये कर्म बाँधता है और पुरानों के साथ नये कर्म मिलने से कर्म की गाँठ को बहुत दृढ़ बनाता है।

यह मार्ग जुदा है भाई! दुनिया के साथ मिलान करने जायेगा तो कहीं नहीं मिलेगा।

जिसकी दृष्टि आत्मा में नहीं और पुण्य-पाप, आस्रव और अजीवतत्त्व में जिसकी दृष्टि है, उसके पुराने कर्म तो सत्ता में पड़े ही है, और नये बाँधता है, वे दोनों मिलकर कर्म की गाँठ को मजबूत बना देते हैं।

'सकति बढ़ावे वंस की, बंध पदारथ सोई'- पदार्थ कहो या तत्त्व कहो या वस्तु कहो -सब एक ही है। वस्तुरूप से तो प्रभु बंध से रहित है; परन्तु ऐसी दृष्टि नहीं और पुण्य-पापादि भावबंध और द्रव्यबंध से मैं सहित हूँ ऐसी दृष्टि होने के कारण मिथ्यादृष्टि नये कर्म बाँधकर कर्म की शक्ति को पुष्ट करता है। देखो! यह बंध की व्याख्या है।

पुरुषार्थसिद्धि उपाय की 14 वीं गाथा में लिया है कि आत्मा कर्म और कर्म के निमित्त से होनेवाले पुण्य-पाप भाव से रहित है, उसे सहित मानना- यही भव का बीज है। अहा हा..! आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म (नोकर्म) से रहित होने पर भी सहित मानना ही भव का बीज है, यही बंध का कारण है।

मोक्ष का वर्णन

थिति पूरन करि जो करम, खिरै बंधपद भानि।
हंस अंस उज्जल करै, मोक्ष तत्त्व सो जानि ।।34।।

अर्थ:- जो कर्म अपनी स्थिति पूर्ण करके बन्ध दशा को नष्ट कर लेता है और आत्मगुणों को निर्मल करता है, उसे मोक्ष पदार्थ जानो ।।34।।

www.vitragvani.com

काव्य - 34 पर प्रवचन

श्री नाटक समयसार की उत्थानिका का यह 34 वाँ श्लोक है, जिसमें कविवर ने 'मोक्षतत्त्व' का वर्णन किया है।

भगवान आत्मा अंबधस्वरूप है। उसमें जो रागादि विकार हैं, वे बंधस्वरूप हैं, उस बंध का एकदेश नाश होना, उसका नाम निर्जरा अथवा धर्म है और उसका सर्वथा नाश होना, उसका नाम मोक्ष है।

जैसे हंस की चोंच में खटास है, वह दूध और पानी को भिन्न कर देती है; वैसे ही यह आत्महंस निज शुद्धात्मा के आश्रय से रागादि आस्रवों का नाश करके आत्मा अपने अंश को अर्थात् दशा को उज्जवल करता है और उस दशा को पूर्ण निर्मल करे, उसका नाम मोक्ष है।

श्रीमद् राजचंद जी आत्मसिद्धि में कहते हैं:-

मोक्ष कही निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ।
समझाव्यो संक्षेप में, सकलमार्ग निर्ग्रन्थ ।।

अपनी पर्याय में पूर्ण शुद्धता हो, उसका नाम मोक्ष है और अपूर्ण शुद्धता हो, उसको साधकदशा अथवा संवर-निर्जरा कहते हैं। सम्पूर्णरूप से राग-द्वेषादि भावों का नाश और आंशिक शुद्धता का प्रकट होना, वह धर्म अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वही संवर-निर्जरा है।

मोक्ष यानी सिद्धशिला में जाकर लटकना, वह मोक्ष नहीं। अपनी पर्याय में मलिनता का पूर्णरूप से नाश होकर पूर्णरूप निर्मलता की प्राप्ति होने का नाम मोक्ष है।

अरे! इसे अपने स्वरूप की ही खबर नहीं और भ्रमणा से अनादिकाल से भटक रहा है। अनन्तबार स्वर्ग का देव हुआ, अनन्तबार राजा हुआ और अनन्तबार सौ बार रोटी माँगने पर भी मुश्किल से रोटी मिलें, ऐसा भिखारी हुआ। यह सब इसके लिए कोई नया नहीं है। नया तो यह है कि अपने आनन्दधाम भगवान के ज्ञायकधाम में प्रवेश करना और राग से हटना। यह कभी इस जीव ने किया नहीं। अनन्तकाल में एक समय भी यह काम जीव ने नहीं किया। अत: कहते हैं कि प्रभु! तेरा भगवान आत्मा पूर्ण निर्मल चिद्कंद है। चिद् अर्थात् ज्ञान का कंद है। उसकी दशा में मिथ्यात्व का सम्पूर्ण नाश और राग-द्वेष का आंशिक नाश करके निर्मलदशा प्रगट करने का नाम धर्म है, वही मुक्ति का कारण है।

www.vitragvani.com

समाधिशतक में पूज्यपाद स्वामी कहते हैं कि मैं दूसरों को समझाऊँ- ऐसा विकल्प आता है, वह उन्माद है; क्योंकि वह भी राग है न! भगवान आत्मा तो रागरहित निर्विकल्प चैतन्यघन है। उसमें अन्य को समझाने का विकल्प या अन्य द्वारा समझने का विकल्प- यें दोनों उन्माद हैं। आत्मा में वाणी तो है नहीं कि जिससे दूसरों को समझावे या समझे और विकल्प उठता है, वह तो राग है; वह राग भी कुछ समझता नहीं है। अत: राग से भी जीव समझता नहीं। आत्मा तो रागरहित निर्विकल्प विज्ञानघन है, जिसमें समझने या समझाने के विकल्प की गंध भी नहीं है। अत: पर्याय में जो रागादि के एकत्व से मलिनता खड़ी हुई है, उसे भिन्न करके निर्मलता प्रकट करना, वह संवर-निर्जरारूप जीव का प्रथम धर्म है।

छहढाला में दौलतरामजी कहते हैं कि 'लाख बात की बात यही निश्चय उर लाओ, तोरि सकल जग दंद फंद निज आतम ध्याओ।' यह छहढाला तो बहुतों को कंठस्थ होती है। व्यापार-धंधा करते-करते भी ये भाव याद कर सकते हैं। उसमें कहा है कि लाख, करोड़ और अनन्त बातों का सार यह है कि पूर्णानन्दनाथ भगवान आत्मा को ग्रहण कर ले।

'हंस अंस उज्ज्वल करे'- पुण्य-पाप का विकल्प है. वह पानी समान है और भगवान आत्मा ज्ञानानन्द रसकंद है -इन दोनों को भिन्न जानकर ज्ञानानन्द में एकाकार होकर राग-द्वेष रूप पानी को पृथक् कर देने का नाम धर्म है और ऐसा धर्म करनेवाले आत्मा को हंस कहा है। भाव समझे, वह हंस है। भाव समझे बिना कोई परमहंस नहीं।

यह नवतत्त्वों का वर्णन पूरा हुआ और अब छह द्रव्यों के नाम व उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं।

भगवान सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव ने केवलज्ञान में एक समय में तीनकाल व तीनलोक को देखा, उसमें छह द्रव्य देखे हैं- जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। संख्या अपेक्षा तो द्रव्य अनन्त हैं, परन्तु जाति अपेक्षा छह हैं, उनके नामांतर कहते हैं। यह तो नाटक है न! अत: जैसे नाटक में, अब यह पात्र प्रवेश करता है ऐसा कहकर पात्र का परिचय देते हैं न! वैसे ही यहाँ भी वस्तु का स्वरूप बताते हैं।

हमने तो बाल्यावस्था में नाटक देखे हैं न। उससमय तो नाटक बहुत वैराग्यमय होते थे। अभी तो अनीति और अराजकता बहुत बढ़ गई है। धर्म के नाम पर झगड़े होने लगे हैं। उससमय तो धर्म को कोई जानता ही नहीं था। किन्तु नीति बहुत थी, नैतिक जीवन था। अभी तो अनैतिकता और कालाबाजारी बहुत बढ़ गई है।

www.vitragvani.com

यहाँ अपने इस नाटक के पात्र का वर्णन चलता है। उसमें वस्तु अर्थात् जिसमें अनन्त गुण बसते हैं, उसका नाम वस्तु है। गोम्मटसार में यह बात आती है कि कोई भी आत्मा हो या परमाणु हो; परन्तु जिसमें अनन्तगुण रहते हैं, वह वस्तु है। भगवान ने वस्तु रूप से अनन्तजीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्य कालाणु ऐसी छह प्रकार की वस्तुयें देखी हैं। उनके नाम तो अनेक हैं, उनमें से अमुक नाम इसप्रकार हैं।

वस्तु के नाम

भाव पदारथ समय धन, तत्त्व वित्त वसु दर्व।
द्रविन अरथ इत्यादि बहु, वस्तु नाम ये सर्व ।।35।।

अर्थः- भाव, पदार्थ, समय, धन, तत्त्व, वित्त, वसु, द्रव्य, द्रविण, अर्थ आदि सब वस्तु के नाम हैं। ।।35।।

काव्य - 35 पर प्रवचन

पदार्थ को भाव भी कहते हैं। समयसार में प्रथम कलश में अमृतचद्राचार्य ने '**चित्स्वभावाय भावाय**' में आत्मा को भाव कहा है।

वस्तु को समय भी कहते हैं। सम+अय् अर्थात् सम्यक् प्रकार से अपना परिणमन करने वाले छह द्रव्यों को समय कहा जाता है। जीव जीव में परिणमन करता हैं। जड़ जड़ में परिणमन करता है। जीव जड़ में नहीं परिणमता और जड़ जीव में नहीं परिणमता। यह दिखता है, वह पुद्गल का छोटे से छोटा परमाणु-अणु; वह भी स्वयं अपने से अपने में परिणमन करता है। यह अँगुली हिलती है, वह अपने से हिलती है, आत्मा से नहीं हिलती; फिर भी मूढ़ जीव मानते हैं कि मैं अँगुली को हिलाता हूँ।

किसी भी द्रव्य का शुद्ध परिणमन हो या अशुद्ध परिणमन हो, किन्तु वह अपने से परिणमता है, पर से नहीं; अतः उसे समय कहा जाता है। आत्मा भी समय है और परमाणु भी समय है। दोनों अपने अपने से हैं। क्यों सेठ! ये बीड़ी के पत्ते बँधते हैं, वे अपने से बँधते हैं, तुम्हारे विकल्प से बीड़ी के पत्ते नहीं बँधते। तथा बीड़ी के बंडल जीप में भरकर एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाते हो न! वे तुम नहीं ले जाते, किन्तु उनका एक-एक परमाणु स्वयं अपने से परिणमता है, इसलिए भगवान उसे समय कहते हैं।

www.vitragvani.com

वस्तु को धन भी कहते हैं; क्यों ? क्योंकि छहों द्रव्य स्वयं अपनी मालिकी की (स्वामित्व की) वस्तु है, स्वयं अपना धन है, लक्ष्मी ही धन है ऐसा नहीं। जीव व्यर्थ ही पर धन का मालिक हो जाता है। जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य धन हैं।

वस्तु को तत्त्व भी कहते हैं। छहों द्रव्य तत्त्व है। द्रव्यों को तत्त्व कहो या तत्त्व को द्रव्य कहो, सब एक ही है। द्रव्य का सत्त्व, वह उसका तत्त्व है; अतः प्रत्येक द्रव्य तत्त्व है।

द्रव्य को वित्त अर्थात् लक्ष्मी भी कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य के पास अपनी-अपनी लक्ष्मी है अतः आत्मा भी वित्त है, पुद्गल भी वित्त है, कालाणु भी वित्त है, छहों द्रव्य वस्तु है अतः अपनी लक्ष्मी से सहित है। वे किसी को अपनी लक्ष्मी देते भी नहीं और लेते भी नहीं, अतः द्रव्य को वित्त भी कहते हैं।

वस्तु को द्रव्य कहते हैं- यह तो प्रसिद्ध है, गुणपर्याय के समूह को द्रव्य कहते हैं। परमाणु भी गुण का पुंज है, आत्मा भी गुण का पुंज है, आकाश भी गुण का पुंज है, इसप्रकार प्रत्येक वस्तु गुण का पुंज है, अतः उसे द्रव्य कहते हैं। द्रव्य अर्थात् पैसा, यह बात नहीं है। स्वाध्याय मन्दिर में द्रव्यदृष्टि, वह सम्यक्दृष्टि- यह सूत्र मोटे अक्षरों में लिखा हुआ है। उसे पढ़कर एक श्वेताम्बर भाई कहे कि यह क्या है ? करोड़पति यहाँ आते हैं, उनकी दृष्टि सम्यक् दृष्टि है- ऐसा लिखा होगा। अरे भाई ! जैनकुल में जन्म लिया, फिर भी द्रव्य किसे कहते हैं, यह खबर नहीं। पैसों के लिए मजदूरी कर-करके मर जाता है। मूल में तो राग-द्वेष की मजदूरी है। बाहर की मजदूरी तो जीव कर ही नहीं सकता। संकल्प-विकल्प, राग-द्वेष की मजदूरी करके मर जाता है। अहा..हा...। आत्मा कहाँ है, कैसा है, धर्म कैसे हो यह कुछ खबर नहीं और बाहर के क्रिया-कलाप में पड़ा है।

'द्रव्यदृष्टि वह सम्यक्दृष्टि'- अर्थात् त्रिकाली आनन्दकन्द आत्मा की अन्तर दृष्टि करके अनुभव करे, वह सम्यग्दृष्टि है। राग और एक समय की पर्याय की रुचि छोड़कर अनन्तगुण से अभेद आत्मा की अनुभूति करना, वह सम्यक् दृष्टि है।

वस्तु को '**द्रविन**' भी कहते हैं। प्रवचनसार की 193 वीं गाथा में द्रविन शब्द से बात करके देह और द्रविन सब अध्रुव-नाशवान कहा है। कायम अविनाशी रहनेवाला द्रव्य ही ध्रुव है, एक समय की पर्याय भी ध्रुव नहीं। वहाँ द्रविन को लक्ष्मी के अर्थ में अध्रुव कहा है; किन्तु छहों द्रव्यों को भी द्रविन कहते हैं।

www.vitragvani.com

'**अरथ**' छहों द्रव्यो को अर्थ कहते हैं। अर्थ यानी वाचक का वाच्य। जैसे शक्कर शब्द वाचक है और शक्कर पदार्थ वाच्य है; वैसे ही अर्थ यानी पदार्थ-जीव भी अर्थ है, पुद्गल भी अर्थ है, और धर्मास्तिकाय आदि भी अर्थ हैं।

इसप्रकार नाटक प्रारम्भ करने से पूर्व वस्तु के भिन्न-भिन्न नाम कह दिये हैं, अत: ये शब्द आवें तो उसका अर्थ वस्तु समझना।

शुद्ध जीवद्रव्यके नाम

परमपुरुष परमेसुर परमज्योति,
परब्रह्म पूरन परम परधान है।
अनादि अनंत अविगत अविनाशी अज,
निरदुंद मुकत मुकुंद अमलान है।।
निराबाध निगम निरंजन निरविकार,
निराकार संसारसिरोमनि सुजान है।
सरवदरसी सरवज्ञ सिद्ध स्वामी सिव,
धनी नाथ ईस जगदीस भगवान है।।36।।

अर्थ:- परमपुरुष, परमेश्वर, परमज्योति, परब्रह्म, पूर्ण, परम, प्रधान, अनादि, अनन्त, अव्यक्त, अविनाशी, अज, निर्द्वंद्व, मुक्त, मुकुन्द, अमलान, निराबाध, निगम, निरंजन, निर्विकार, निराकार, संसार- शिरोमणि , सुज्ञान, सर्वदर्शी, सर्वज्ञ, सिद्ध, स्वामी, शिव, धनी, नाथ, ईश, जगदीश, भगवान- ये सब शुद्ध जीवद्रव्य के नाम हैं।।36।।

काव्य - 36 पर प्रवचन

अब विकार और संयोग से रहित शुद्धजीव के भिन्न-भिन्न नाम कहते हैं-

ये शुद्ध जीवद्रव्य के नाम हैं, उन्हें सुनकर ऐसा नहीं कहना कि मैं तो पामर हूँ। अरे! सुन न भाई! तू पामर कैसा ? पामरता तो तेरी मिथ्यामान्यता ने उधार लाई वस्तु है, वह तेरी वस्तु नहीं। पर्याय में मिथ्याबुद्धिवाले अज्ञानी पामर हैं, परन्तु कोई उनका द्रव्य पामर नही है।

भगवान आत्मा **परमपुरुष** है। दृष्टि का विषय -सम्यग्दर्शन का ध्येय जो शुद्ध आत्मा, वह परमपुरुष है। भले ही देह स्त्री का हो, किन्तु उसका द्रव्य तो परमपुरुष है। सभी का शुद्धद्रव्य तो परमपुरुष ही है।

www.vitragvani.com

आत्मा '**परमेश्वर**' है, जिनकी दशा निर्मल हो गई, वे तो परमेश्वर हैं ही, किन्तु सभी का शुद्धद्रव्य भी परमात्मा ही है। अरे! तीर्थंकर हो गये, वे परमात्मा हैं। हम परमात्मा होंगे? हाँ तीर्थंकर तो अवस्था से परमात्मा हो गये, परन्तु तेरा स्वभाव तो त्रिकाल परमात्मा है। यदि स्वभाव परमात्मस्वरूप न हो तो पर्याय में परमात्मपना कहाँ से आयेगा? जैसे छोटी पीपल में चौसठ पहरी चरपराहट है तो वह घिसने से बाहर व्यक्त होती है, न हो तो कहाँ से आवे? पत्थर को कितना ही घिस लो, परन्तु चरपराहट नहीं आती; क्योंकि उसमें चरपराहट है ही नहीं।

वैसे ही चैतन्यराजा में परमेश्वरपद पूरा का पूरा भरा हुआ है, परन्तु रंक होकर उसने रत्न को रोली (कचरे) में डाल दिया है। राग-द्वेष और विकल्प की दृष्टि करके विद्यमान निर्विकल्प परमेश्वरपद को भूल गया है। उसे याद दिलाते हुए संत कहते हैं कि भाई! तू तो परमेश्वर है। पर्याय में मिथ्यात्व और अज्ञान होने से कोई द्रव्य में से परमेश्वरपना चला नहीं गया। प्रत्येक आत्मा परमेश्वर है।

'**परम ज्योति**' भगवान आत्मा चैतन्य के नूर का पूर है। भगवान! तू चैतन्यप्रकाश की अनन्तज्योति है। एक समय की पर्याय में संसार है, विकार है- ऐसी दृष्टि छोड़ दे और अन्दर देख तो तू तो परमज्योति से भरा हुआ है। वही तेरी वस्तु है। वही तेरा स्वधाम है। उसमें दृष्टि करने का नाम ही सम्यग्दर्शन है। वहीं से प्रथम में प्रथम धर्म की शुरूआत होती है। बाकी सब तो व्यर्थ है। यह उत्तम मनुष्यभव मिला और यदि चैतन्यस्वभाव की दृष्टि नहीं की, भव के अभाव का उपाय नहीं किया तो तेरा मनुष्यजन्म निष्फल है, व्यर्थ है। पाँच-पच्चीस लाख रुपये मिलें और बाहर में कुछ नाम हो, उससे मनुष्यजन्म की सफलता नहीं है। लोग समाजभूषण का पद दें उसमें तुम्हारी शोभा नहीं है। आत्मा स्वयं अनन्त गुण के समाज का भूषण है। तुम संख्या अपेक्षा अनन्त गुणों के स्वामी हो।

महान बात है बापू! दुनिया से जुदी जाति की बात है। सर्वज्ञ वीतराग परमदेव की बातें दुनियां से जुदी जाति की हैं।

'**परब्रह्म**' उत्कृष्ट आनन्द का कंद आत्मा परब्रह्म है। पर्याय में राग-द्वेष उत्पन्न करता है, वह उसकी वस्तु नहीं। वह तो नया, कृत्रिम राग-द्वेष खड़ा करके दुःखी होता है, वह कोई स्वाभाविक वस्तु नहीं। पुण्य-पाप का विकल्प, राग, निमित्त और एक समय की पर्याय की दृष्टि छोड़कर परम आनन्दमय परब्रह्म की दृष्टि करना, वह प्रथमधर्म है, सम्यग्दर्शन है।

www.vitragvani.com

तारणस्वामी के शास्त्रों में बहुत आता है- अप्पा सो परम अप्पा। आत्मा हैं, वही परमात्मा है; परन्तु अज्ञानी जीव को अभी पान-बीड़ी बिना चले नहीं। इसे यह बात बैठती नहीं, इसलिए कहता है कि हम तो पामर हैं। भाई! तू तो अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करनेवाला है; परन्तु तुझे खबर नहीं, इसलिए तू विचारा है। वस्तुदृष्टि से तो तू पूर्ण परमब्रह्म प्रभु है। अवस्था में विकार और संसार है। वस्तु में विकार अथवा अपूर्णता नहीं।

'**परमप्रधान**' अर्थात् ऊँची वस्तु। सबमें ऊँची से ऊँची वस्तु आत्मा है। ऐसी वस्तु को देखकर अन्तर में दृष्टि करके बहिर्दृष्टि छोड़ने के लिए यह बात है।

भगवान आत्मा '**अनादि-अनन्त**' है। जो 'है' उसकी आदि क्या? जो 'है' उसकी उत्पत्ति कैसी? जो 'है' उसको कौन बनावे? भूतकाल...भूतकाल, उसकी कोई शुरूआत नहीं; वैसे ही आत्मा भी अनादि का है, उसकी कोई आदि नहीं। उसकी दृष्टि की नहीं और एक समय की पर्याय, जो कि आती-जाती है, उसकी दृष्टि करके यह जीव मिथ्यादृष्टि हो रहा है। भगवान आत्मा तो अनादि का है और अनन्तकाल तक रहनेवाला है। जो सत् है, उसका कभी नाश नहीं होता। जो 'है,' वह सर्वकाल में है....है और है... जो 'है' वह कभी नष्ट नहीं होता।

'**अविगत**' अर्थात् आत्मा सबको जाननेवाला है। तीनकाल-तीनलोक को तो जाने, किन्तु इससे अनन्तगुना लोक हो तो भी एक समय में जान ले- ऐसा उसका स्वभाव है। विशेष प्रकार से जानने का आत्मा का स्वभाव है। वह किसी को नहीं जाने- ऐसा नहीं बनता, किन्तु आत्मा किसी का करनेवाला नहीं है। पर को तो नहीं करता, किन्तु राग को करना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जो आत्मा को रागसहित मानता है, वही आत्मा को राग का कर्त्ता मानता है। आत्मा तो वस्तुतः जाननेवाला है। आत्मा राग का कर्त्ता भी नहीं, भोक्ता भी नहीं और राग का छोड़नेवाला भी नहीं। मैं आत्मा त्रिकाल अविगत विशेष प्रकार से सबको जानने के स्वभाववाला हूँ। मैं ज्ञान के गम्य हूँ।

अहा! ऐसे आत्मा के ज्ञान बिना, उसकी श्रद्धा कैसे हो, उसकी खबर बिना जीव ने अनन्त-काल गँवाया है। धर्म के बिना अनन्तकाल गँवाया है और धर्म के नाम पर भी अधर्म का सेवन किया है।

अविनाशी- आत्मा त्रिकाल ध्रुव अनादि- अनन्त अविनाशी है। शरीरादि विनाशीक है,

www.vitragvani.com

परन्तु मैं तो अविनाशी आतमराम हूँ। रागादिक विनाशीक हैं और एक समय की पर्याय भी विनाशीक है। मैं एक ध्रुव अविनाशी हूँ।

'**अज**'- आत्मा जन्म से रहित है। आत्मा की सत्ता सदा ऐसी की ऐसी है। शरीर के संयोग और वियोग से जन्म-मरण कहे जाते हैं; परन्तु आत्मा को कभी जन्म-मरण है ही नहीं। योगसार शास्त्र में योगीन्दुदेव ने कहा है कि जन्म, यह तो कलंक है। आत्मा को शरीर का संयोग होना, वह कलंक है। जैसे हाथ या पैर में छठी अंगुली हो तो वह काटने योग्य वस्तु है, रखने योग्य वस्तु नहीं; उससे पंजा शोभता नहीं है। वैसे ही शरीर का संयोग होना आत्मा के लिए कलंकरूप है। वह रखने की वस्तु नहीं है। राग-द्वेष भी आत्मा को कलंक है। पुण्यभाव भी मैल है, कलंक है। पुण्य से प्राप्त होने वाले संयोग तो धूल हैं। वे तो आत्मा की वस्तु नहीं परन्तु पुण्यभाव भी आत्मा के कलंक है।

आत्मा '**निरद्वंद**' है, उसमें दोपना नही। (आत्मा) अद्वैत चिदानन्द परमात्मा है। पुण्य-पाप, हर्ष-शोक इत्यादि द्वंद्व का उसमें अभाव है। छहढाला में आता है, वह पहले कहा न!

लाख बात की बात यही, निश्चय उर लाओ।
तोड़ी सकल जग दंद फंद, निज आतम ध्यावो।।

परन्तु इसका अर्थ नहीं करते, भाव नहीं समझे और मात्र तोते की तरह बोल जाये तो उससे कोई लाभ नहीं होता। एकरूप वस्तु में द्वंद्व कैसा? आत्मा में संसार कैसा? राग-द्वेष द्वंद्व-फंद आत्मा में है ही नहीं, अतः भगवान आत्मा को निरद्वंद्व कहा है।

'**मुक्त**' आत्मा तो मुक्तस्वरूप ही है। पर्याय में बंध होता है और मुक्ति होती है, उससे रहित आत्मा तो त्रिकाल मुक्त स्वरूप ही है। सिद्धदशा होती है, उसमें पर्याय में मुक्ति होती है, किन्तु द्रव्य तो सदा मुक्त ही है। समयसार की पन्द्रहवीं गाथा में कहा है न! "जो आत्मा को अबद्धस्पष्ट देखता है, वह समस्त जिनशासन को देखता है। जिसने कर्मबंधन से रहित अपनी दृष्टि करके, वीतराग भाव सम्यग्दर्शन प्रकट किया और जिसको भावश्रुतज्ञान का उपयोग प्रकट हुआ, उसने सम्पूर्ण जैनशासन देख लिया। और जिसने नहीं देखा, उसने कुछ नहीं देखा। वस्तु सदा मुक्त है। वस्तु को बंधन किसप्रकार हो? यदि वस्तु में बंधन हो, तब तो वस्तु का ही अभाव हो जावे।

आत्मा तो आनन्दकन्द-चैतन्यदल ध्रुव परमात्मा है। उसको बंध कैसा? एक समय की पर्याय में रागादि विकार और बंध है, परन्तु वस्तु में बंध कैसा? आत्मवस्तु त्रिकाल बंधरहित मुक्त है।

www.vitragvani.com

यहाँ नवतत्त्वों में एक आत्मतत्त्व कैसा है? यह बताया जा रहा है।

आत्मा '**मुकन्द**' है अर्थात् आत्मा मोक्ष का देनेवाला है। वस्तु स्वयं मुक्तस्वरूप है और पर्याय मे मुक्तिप्रदाता है। ऐसा कहकर व्यवहारमोक्षमार्ग से मुक्ति होती है या निश्चय मोक्षमार्ग से मुक्ति होती है – दोनों बात छोड़ दी हैं। अपनी मुक्ति अर्थात् परमात्म पद का देनेवाला आत्मा स्वयं ही है। जिसमे मुक्ति हो, उसमें से मुक्ति आवे न! व्यवहार सम्यग्दर्शन, वह तो राग है, उसमें से तो मुक्ति नहीं आती; परन्तु निश्चयमोक्षमार्ग में से भी मुक्ति नहीं आती। मुक्तिप्रदाता तो द्रव्य है। अन्य परमात्मा इस जीव को मुक्ति दें– यह बात भी व्यवहार से कही जाती है, निश्चय से मुक्ति का दाता अपना द्रव्य ही है। इसप्रकार मुकुन्द का अर्थ हुआ।

अब कहते हैं कि आत्मा वस्तुरूप से '**अमलान**' है, परन्तु पर्याय में वर्तमान में राग–द्वेष आदि मलिनता होने से हीन, मुरझाई और विकृतदशा दिखती है, तथापि वस्तु स्वयं कमजोर या मलिन नहीं है। पर्यायदृष्टि से देखने से मानो मैं हीन हो गया, मलिन हो गया अथवा विपरीत हो गया –ऐसा दिखता है; परन्तु वस्तुदृष्टि से देखने पर हीनता, मलिनता या विपरीतता वस्तु के स्वभाव में नहीं है; अत: कहा है कि वस्तु 'अमलान' है। वह पर्याय में मुरझाई हुई दिखती है; परन्तु वस्तु मुरझाई नहीं, हीन नहीं होती; सदा ही एकरूप है, उसकी दृष्टि करने का नाम ही सम्यग्दर्शन है और सम्यग्दर्शन बिना तो सब व्यर्थ है।

पर्याय में मलिनता होने पर भी जो 'अमलान' है, वह द्रव्य है। पर्याय में तो मलिनता है। यदि पर्याय में भी मलिनता न हो तो संसार किसका? पर्याय में संसार है, परन्तु चैतन्य वस्तु की दृष्टि करे तो प्रभु आत्मा तो 'अमलान' ही है।

भगवान आत्मा '**निराबाध**' है, उसमें किसी जाति की बाधा या पीड़ा नहीं है। आत्मा चिद्रस है। ऐसे आत्मा की दृष्टि करना, वह सम्यग्दर्शन है। निमित्त की, राग की और एकसमय की पर्याय की दृष्टि छोड़कर एक निराबाध स्वभाव की दृष्टि करना, वह शुद्ध जीव की दृष्टि है। वर्तमान दशा में राग–द्वेषादि दिखते हैं– इतना ही आत्मा को माने, वह तो मिथ्यादृष्टि है, वह तो संसार में घूमनेवाला है। यह तो जिसको धर्म करना है और संसार के दु:ख का अभाव करना है, उसको ऐसे निराबाध भगवान आत्मा की दृष्टि करनी कि जिसमें बाधा नहीं, पीड़ा नही, दु:ख नहीं; जो परमात्मस्वरूप निराबाध वस्तु है।

ऐसे आत्मा को कहाँ खोजना? अरे! उसे कहीं खोजना जाना पड़े, वैसा नहीं है। वह तो अपनी ही वस्तु है। स्वयं सच्चिदानन्द भगवान आत्मा शाश्वत् आनन्द का घन है, निराबाध है;

www.vitragvani.com

किन्तु इसने कहीं यह बात सुनी नहीं है। लोग धर्म के नाम पर भी भक्ति, पूजा, दानादि की ही प्रवृत्ति कर रहे हैं और उसी रागप्रवृत्ति में धर्म मानते हैं। जीवों की योग्यता ही ऐसी है। पुण्य की क्रिया में धर्म मानकर उसका सेवन कर रहे हैं।

यहाँ तो कहते हैं कि जिसमें शरीर नहीं, कर्म नहीं और विकल्प भी जिसमें नहीं ऐसे 'निराबाध' निज आत्मा की दृष्टि करना, उसका नाम प्रथम धर्म की शुरूआत है।

भगवान आत्मा '**निगम**' है। इन्द्रियों से या दया, दानादि के शुभविकल्पों से भी आत्मा गम्य नहीं है। अत: उसको निगम कहते हैं। प्रत्येक आत्मा का अन्तर स्वरूप सिद्धभगवान जैसा ही है। ऐसे शुद्ध आत्मा को अन्तर ज्ञान में ज्ञेय बनाकर उसकी प्रतीति करने का नाम सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शन का विषय, ऐसा यह भगवान आत्मा 'निगम' है।

आत्मा '**निरंजन**' है। उसमें अंजन अर्थात् मैल नहीं है। एकसमय की पर्याय में विकार है और उसमें निमित्तरूप कर्म का सम्बन्ध भी है, वह तो व्यवहारनय का विषय है। वह धर्म का विषय नहीं है।

संसार के विकल्प से रहित होने के कारण आत्मा '**निरविकार**' है। चारगति, राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि अनेकप्रकार के उदयभावों से रहित है, अत: निर्विकार है। अस्ति-नास्ति से कहो तो आत्मा अविकार का पिण्ड है और विकार से रहित है। इस तनमन्दिर जिनदेव में विराजते हैं वह धर्म का कारण है। मन्दिर में भगवान विराजते हैं, वे तो पुण्यबंध में कारण हैं, धर्म के नहीं। सम्मेदशिखर आदि तीर्थों की वंदना का भाव आता है न! वह शुभभाव है। ऐसे भाव आते अवश्य हैं। अशुभ से बचने के लिए ये भाव भले ही हों, परन्तु वे भाव धर्म नहीं है। धर्म तो अपने निर्विकार स्वभाव की निर्विकल्प दृष्टि करना ही है; परन्तु यह धर्म जीव ने अनादिकाल से किया नहीं है और यही करने योग्य है, अन्य कुछ करने योग्य नहीं है -ऐसी श्रद्धा भी नहीं की।

निराकार- जड़ का आकार आत्मा में नहीं है। शरीर के आकार प्रमाण अपना असंख्यप्रदेशी आत्मा का आकार है, किन्तु शरीर के आकार से वह भिन्न है। वह तो शुद्ध चैतन्य अरूपी विज्ञानधन है। उसका अरूपी आकार है। जड़ का आकार उसमें नहीं है। ऐसे आत्मा को दृष्टि में ले, तब उसने आत्मा को जाना और माना कहलाये, इसके सिवाय अन्य सब बिना एक के बिन्दी समान है।

अहा हा..! वीतरागदर्शन को समझना जगत को बहुत कठिन पड़ता है।

www.vitragvani.com

जैसे काशीघाट के लोटा में पानी भरा है, उस पानी का आकार लोटा जैसा है; परन्तु पानी स्वयं लोटा के अत्यन्त भिन्न आकाररूप रहा है। वैसे ही इस शरीररूपी काशीघाट के लोटा में ज्ञानजल रहता है, उसका आकार शरीर जैसा दिखता है; किन्तु वह आकार न तो शरीर का है और न शरीर के कारण से है। हड्डी, माँस, रुधिर से बने हुए इस शरीर के आकार से ज्ञानानन्दजल का आकार भिन्न है, किन्तु इसे घर के और खिड़की दरवाजों के आकार कैसे होते हैं, उसकी तो खबर होती है; परन्तु अपने आत्मा के आकार की खबर नहीं होती; क्योंकि उसके लिए निवृत्ति नहीं है, फुरसत कहाँ है? बहुत काम है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा तो '**संसार सिरोमणि**' है। संसार से उर्ध्व रहनेवाला है। काम, क्रोध, मान, माया, दया, दानादि सर्व विकल्पों से पार आत्मा उसका शिरोमणि है। संसार का शिरोमणि यानी संसार का नायक नहीं, संसार से अधिक -भिन्न है। संसार किसको कहते हैं? राग-द्वेष और मिथ्याभाव, वह संसार; स्त्री-पुत्रादि, वह संसार नहीं; वे तो परवस्तु हैं। यदि वे संसार हों तो देह छूटने के साथ ही संसार छूट जाये, परन्तु ऐसा नहीं है। यह शरीर मेरा, राग-द्वेष मेरे, पुण्य-पाप भाव मेरे -ऐसी मिथ्यामान्यता और राग-द्वेषभाव ही वस्तुतः संसार है।

योगीन्दुदेव ने परमात्मप्रकाश में यह बात ली है कि जो भगवान सिद्ध सर्वगुण सम्पन्न, शुद्ध और आदरणीय न हो तो सर्व संसारी प्राणियों से उर्ध्व किसप्रकार होंगे? सिद्ध भगवान चौदह ब्रह्माण्ड में सबसे ऊपर लोक के अग्रभाग में रहते हैं, अतः वे संसार शिरोमणि हैं और सिद्ध के समान प्रत्येक आत्मा विकल्प से भिन्न निर्विकल्प वस्तु है; अतः वह भी संसार शिरोमणि है।

अहो! जहाँ आत्मा विकल्प से भी भिन्न है तो फिर ये मकान किसके? किसका पुत्र? किसका शरीर? किसकी वाणी? सब भिन्न है। भगवान! तुम तो आत्मा हो न! तो त्रिलोकीनाथ भगवान तो जो विकल्प से भी भिन्न है- ऐसे आत्मा को आत्मा कहते हैं।

आत्मा '**सुजान**' है अर्थात् सबको जैसा है, वैसा जाननेवाला है; राग को रागरूप, शरीर को शरीररूप और आत्मा को आत्मारूप जैसे भिन्न-भिन्न है, वैसे जाननेवाला है। अतः सुजान अर्थात् चैतन्यरस का पिण्ड है। उसमें पुण्य-पाप के विकार की तो गंध भी नहीं है। पुण्य-पाप तो आस्रवतत्त्व है, शरीर अजीवतत्त्व है और आत्मा स्वयं तो सुजानतत्त्व -जीवतत्त्व है; परन्तु इसे खबर नहीं है। जहाँ स्वयं है, वहाँ शोधता नहीं और जहाँ नहीं, वहाँ अपने को खोजता है। पुण्य की क्रिया में आत्मा को खोजता है, यह तो पहली डोकरी के दृष्टान्त जैसा है कि डोकरी (बुढ़िया)

www.vitragvani.com

की सुई खोई अँधेरे में और वह खोजती थी अन्यत्र, जहाँ प्रकाश था वहाँ; परन्तु वस्तु जहाँ खोई हो, वहाँ ही ढूँढे तब तो मिले न! वैसे ही आत्मा को राग की क्रिया में खोजने जाये तो मिले? अज्ञान में आत्मा खोया है, अतः ज्ञान करने से वह प्राप्त हो- ऐसा है।

चैतन्य भगवान तो अकेले ज्ञान का पिण्ड है, चैतन्यसूर्य है, प्रकाश का प्रकाशक है। सम्पूर्ण दुनिया के सूर्य-चन्द्र का प्रकाश, मणिरत्नों का प्रकाश, हीरा का प्रकाश आदि प्रकाश का प्रकाशक अर्थात् जाननेवाला आत्मा है, परन्तु उनको अपना माननेवाला नहीं है। जड़ को अपना माननेवाला आत्मा आत्मा नहीं; किन्तु अनात्मा है, जड़ है।

आत्मा '**सरवदरसी**' है अर्थात् सबको देखनेवाला है। ऐसे सर्वदर्शी आत्मा की दृष्टि करने से पर्याय में सर्वदर्शीपना प्रकट होता है। एक समय में तीनकाल-तीनलोक हैं उन्हें और स्वयं है- ऐसी महासत्ता को देखे- ऐसी शक्ति आत्मा में है- ऐसे आत्मा की दृष्टि करने से मैं सर्वदर्शी हूँ- ऐसी प्रतीति होती है। मैं विकल्प नहीं, एकसमय की पर्याय भी मैं नहीं। मैं आत्मा हूँ- ऐसी प्रतीति होना, वह सम्यग्दर्शन है। अल्पदर्शन की पर्याय जितना भी मैं नहीं, मैं तो सर्वदर्शी स्वभावी वस्तु हूँ।

आत्मा '**सरवज्ञ**' है। जैसे शक्कर का मीठा स्वभाव है, नमक का खारा स्वभाव है, अफीम का कड़वा स्वभाव है; वैसे ही आत्मा का सर्वज्ञ स्वभाव है। भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी ही है। उसकी प्रथम प्रतीति सम्यग्दर्शन में होती है कि मैं सर्वज्ञस्वरूप हूँ, पश्चात् उस स्वरूप में एकाग्रता करने से व्यक्त पर्याय में सर्वज्ञता प्रकट होती है। शक्ति थी, वह व्यक्त होती है।

अब इस सर्वज्ञ पर्याय में क्या नहीं ज्ञात हो? इस जीव की, इस समय ऐसी पर्याय होगी और उसमें ये ही निमित्त होंगे- इसप्रकार तीनकाल तीनलोक सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात होता है, क्या उसमें फेरफार हो सकता है? जैसा ज्ञात हुआ, वैसा ही है। पर्याय क्रमसर होती है और जो होनी हो, वही होती है; तो उसको क्रमबद्ध मानने में क्या हानि है? प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध परिणमित हो रही है, वह सर्वज्ञ के ज्ञान में बराबर आ जाती है, वह कोई पर्याय आगे-पीछे नहीं होती।

बहुतों को प्रश्न होता है कि यदि सभी पर्यायें क्रमबद्ध ही होती हैं तो फिर पुरुषार्थ करना ही कहाँ रहा? हमारे साथ के एक सम्प्रदाय के साधु भी ऐसा कहते थे कि भगवान ने देखा होगा, वैसा होगा अपना पुरुषार्थ कुछ काम का नहीं। भवभ्रमण का नाश जब होना होगा, तभी होगा -ऐसा बारम्बार बोला करते थे। वह दो वर्ष तक तो सुन लिया, फिर एक बार कहा कि ऐसा नहीं

www.vitragvani.com

है। भगवान तो कहते हैं कि जैसे हम हैं, वैसा तुम अपने को जानो तो सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहेगा। जिसकी दृष्टि सर्वज्ञ का स्वीकार करती है कि सर्वज्ञ एक समय में तीनकाल, तीनलोक को जानते है-ऐसी जिसकी पर्याय में प्रतीति आती है, उसको स्वसन्मुख होकर सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता। एक सैकेण्ड में असंख्यातवें भाग में सर्वज्ञ तीनलोक-तीनकाल को जानते हैं ऐसे सर्वज्ञ के ज्ञान का स्वीकार जिसको आता है, उसकी दृष्टि अपने सर्वज्ञस्वभाव पर जाती है। उसको सम्यग्दर्शन हुए बिना नहीं रहता और जिसको सम्यग्दर्शन होता है, उसको अल्पकाल में मोक्ष होता ही है।

बहुत सूक्ष्म विषय है! तत्त्व की दृष्टि बहुत सूक्ष्म है।

एक समय किसको कहते हैं? आँख बंद करके खोले, इतने में असंख्य समय हो जाते हैं। एक 'क' बोला, इतने में असंख्य समय बीत जाते हैं। तो ऐसे समय का जो छोटे से छोटा भाग वह एक समय है। इतने से काल में सर्वज्ञ के ज्ञान में तीनकाल-तीनलोक ज्ञात हो जाते हैं- ऐसी एक समय की सर्वज्ञ की पर्याय की महान् सामर्थ्य है। उसकी प्रतीति करनेवाला जीव वैसी प्रतीति किसके लक्ष्य से कर सकता है? अपने द्रव्यस्वभाव में ऐसा सर्वज्ञपद पड़ा है, उसके लक्ष्य से ही सर्वज्ञ की प्रतीति कर सकता है। विकल्प या एक समय की पर्याय के लक्ष्य से सर्वज्ञ की प्रतीति नहीं हो सकती।

वस्तुत: तो इसने धर्म के नाम पर अनन्तकाल से क्रिया ही की है; अत: यह वास्तविक तत्त्व समझना कठिन लगता है, परन्तु समयसार में कहा है न! क्लेश करो तो करो, किन्तु आत्मा तो ज्ञान से प्राप्त होता है, क्रिया से प्राप्त नहीं होता।

सर्वज्ञ सबको जाने, उसमें क्या शेष रहता है? कुछ भी नहीं। तीनकाल और तीनलोक सर्वज्ञ भगवान को एक समय में जानने में आ जाते हैं। ऐसा ज्ञान कहाँ से प्रकट होता है? कि अपने सर्वज्ञस्वभाव में से सर्वज्ञपर्याय प्रकट होती है। छोटी पीपल के अन्दर चौसठ पहरी चरपराहट है। वह उसे घोटने से पर्याय में प्रकट होती है। वैसे ही सर्वज्ञ-स्वभाव है, उसकी प्रतीति और उसमें एकाग्रता करने से पर्याय में सर्वज्ञता प्रकट होती है, अत: निश्चित होता है कि सर्वज्ञस्वभाव की तरफ पुरुषार्थ झुके बिना सर्वज्ञ की सच्ची प्रतीति नहीं होती। सर्वज्ञ की प्रतीति करनेवाले के जन्म-मरण नहीं मिटें- ऐसा तीनकाल में भी नहीं बनता। ऐसा जोर संवत् 1872 के साल में अन्दर से आता था। तब तो समयसार या प्रवचनसार आदि कोई शास्त्र भी नहीं मिले

www.vitragvani.com

थे। प्रवचनसार की 80वीं गाथा में यही भाव विद्यमान है। जो अरिहन्त के द्रव्य, गुण, पर्याय को जानता है; वह अपने द्रव्य, गुण, पर्याय को जानता है और उसका मोह नष्ट होता है।

सर्वज्ञ की प्रतीति हो और जन्म-मरण नहीं मिटे यह बात हम सुनने को भी तैयार नहीं हैं- ऐसा उससमय गुरुभाई से कह दिया था। ऐसा सम्प्रदाय हमें नहीं चाहिए। एक समय में तीनकाल-तीनलोक को जाने- ऐसे सर्वज्ञ की श्रद्धा हो और जन्म-मरण नहीं मिटे- ऐसा तीनकाल में नहीं बन सकता।

लोगों को, अन्दर में आत्मा क्या वस्तु है? यह शोधने की दरकार नहीं है। एक तो संसार में व्यापार के पाप में बीस-बीस घण्टे अटके रहते हैं, उसमें एकाध घण्टा धर्म सुनने जायें तो वहाँ पुण्य से और राग से तुम्हारा कल्याण होगा- ऐसा सुनकर उसे ही धर्म मान लेते हैं।

यहाँ तो नाटक समयसार में जीवतत्त्व का वर्णन चल रहा है। पूर्वरंग में ही जीवतत्त्व की पहचान कराई है कि भगवान शुद्धजीव तो सर्वज्ञस्वभावी है। वह रागवाला, शरीरवाला, पुण्यवाला अथवा अल्पज्ञतावाला नहीं है। भगवान! यह राग तेरा नहीं है, शरीर तेरा नहीं है और अल्पज्ञता जितना ही तू नहीं है, तू तो सर्वज्ञस्वभावी है। एक समय में तीनकाल-तीनलोक को एकसाथ जाने- ऐसी शक्ति लेकर जो बैठा है, वह भगवान आत्मा है। अहा हा.....।

अभी तो जिसको यह बात सुनने को भी नहीं मिलती, वह कब विचारे और कब परिणमन करे? व्यापार के रस के आगे जीवन चला जाता है और अन्त में जब शरीर कमजोर पड़ जाता है, आँख में से पानी आवे, कान से सुने नहीं, बैठा जावे नहीं; तब कहता है कि मुझसे कुछ नहीं होता। अरे भाई! यह धर्म का काम तो पहले ही कर लेने जैसा है। छहढाला में दौलतरामजी लिखते हैं न!

इम जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ।
जबलों न रोग जरा गहै, तबलौं झठिति निज हित करो।।

रोग, वृद्धावस्था और मरण नहीं आवे, उसके पूर्व ही शीघ्र अपना काम करले। अभी नही. अभी नहीं ऐसा करेगा तो कभी नहीं होगा और मरकर कौआ-कुत्ता बन जायेगा। सारी जिन्दगी माया-कपट की हो वह मरकर तिरछे-गाय, भैंस, कुत्ता, चूहा, बिल्ली आदि तिर्यन्च में अवतरित होता है। भगवान कहते हैं कि जिसने पूर्व भव में माया, कपट, कुटिलता और अभिमान किया है, उसका आत्मा तो आड़ा गया ही; किन्तु शरीर भी आड़ा ही मिलेगा।

www.vitragvani.com

अहा! जो आत्मा के एक स्वभाव का भी स्वीकार करता है, उसे सब स्वीकार हो जाता है। 'मैं तो सर्वज्ञस्वभावी भगवान आत्मा हूँ', मेरा तो सबको जानने का स्वभाव है। कोई भी विकल्प करना या परद्रव्य का कार्य करना या पर में से कुछ लेना, वह मेरा स्वभाव नहीं है।

अरे! जिसने रुचिपूर्वक संसार का सेवन किया हो, उसे यह सुनते हुए करंट लगता है, किन्तु करंट लगे तो उसे विचारने का अवकाश है; किन्तु यह तो वास्तविक तड़प भी पैदा नहीं होने देता।

एक समय अर्थात् सैकेण्ड के असंख्यातवें भाग में भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, उसमे शंका का स्थान कहाँ है? मेरा कल्याण कब होगा- ऐसा नहीं, मैं स्वयं ही कल्याण स्वरूप हूँ- ऐसी दृष्टि हुई, उसने कल्याण अपने अधिकार में कर लिया। जिसने अन्तरसन्मुख होकर कल्याणमूर्ति, वीतरागमूर्ति सर्वज्ञस्वभाव की प्रतीति की, उसने कल्याण अपने कब्जे में कर लिया।

आत्मा सिद्ध है। बनारसीदासजी ने पूर्व में 19वें काव्य में सिद्धसमान आत्मा का वर्णन किया है-

चेतनरूप अनुप अमूरत, सिद्धसमान सदा पद मेरौ।
मोहमहातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरौ।।

अर्थात् मैं सदा सिद्धसमान होने पर भी पर्याय में राग और विकल्प को निज मानकर मैंने महामोह का अंधकार खड़ा किया है; परन्तु मैं तो सदा सिद्धसमान हूँ।

ज्ञानकला उपजी अब मोही, कहौ गुन नाटक आगम केरौ।
जासु प्रसाद सधै शिवमारग, बेगि मिटे भववास बसेरौ।।

मैं सिद्ध ही हूँ। द्रव्य से, स्वभाव से, शक्ति से मैं सिद्ध ही हूँ। यही मेरी दृष्टि का विषय है। शक्ति में सिद्धपद न हो तो व्यक्त कहाँ से हो? स्वभाव से मैं सदा सिद्ध ही हूँ। यह मेरा सिद्धस्वरूप ही दृष्टि का विषय है। राग और अल्पज्ञान दृष्टि का विषय नहीं।

भगवान आत्मा '**स्वामी**' है। स्व जो शुद्ध आनन्दस्वरूप मेरा धन, उसका मैं स्वामी हूँ। मैं अनन्तगुणों का स्वामी हूँ। मैं पत्नि का पति नहीं, लक्ष्मी का पति-लक्ष्मीपति नहीं, मैं नरपति अर्थात् राजा नहीं हूँ।

मैं चैतन्य होकर जड़ का स्वामी कैसे होऊँ? मैं तो मेरे ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त गुणों का स्वामी हूँ। मैं कोई राग का, पुण्य का या पर का स्वामी नहीं हूँ।

www.vitragvani.com

जैसे कन्या की सगाई होते ही उसकी दृष्टि बदल जाती है, उसको अब पति और उसकी सम्पत्ति अपनेरूप लगने लगती है, पिता की सम्पत्ति का स्वामीपना दृष्टि में से छूट जाता है, वैसे ही जहाँ जीव को स्वभाव का लक्ष्य होता है, वहाँ दृष्टि बदल जाती है। अहो! मैं तो मेरे अनन्तज्ञान और आनन्द का स्वामी हूँ। इस राग और पुण्य का स्वामी मैं नहीं हूँ। ऐसी उसकी दृष्टि पलट जाती है। दृष्टि के पलटने में देर ही कितनी?

ऐसी महान उत्कृष्ट बाते हैं भाई! कोई ऐसा कहता है कि ऊँची है इसलिए पचती नहीं है, तो क्या तुझे सत्य पचता नहीं है तो असत्य पचाना है? असत्य पचायेगा तो जो चौरासी का चक्कर अनादि से चालू है, वह चलता ही रहेगा। देखो न! ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती कि जिसको यहाँ छह खण्ड का राज्य था, सोलह हजार देव जिसकी सेवा करते थे, बत्तीस हजार राजा चँवर ढोरते थे, वही चक्रवर्ती मरकर दूसरे ही क्षण सातवें नरक में नारकी बन गया। संयोगी वस्तु हो उसका संयोग कब तक रहेगा? उसका वियोग तो निश्चित है। ममता करके पाप का भार बढ़ाया तो उसके फल में नीचे नरक में चला गया।

यहाँ कहते हैं कि तुझमें बाहर की कोई वस्तु ही नहीं, पुण्य-पाप तेरे में नहीं। तू तो अपने ज्ञान, आनन्द, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, सिद्धसमान पद का स्वामी है। ऐसे स्वामीपने की दृष्टि हो, उसका नाम धर्म हैं बाकी सब तो धर्म के नाम पर बातें है।

आत्मा '**शिव**' है। शिव अर्थात् शंकर नहीं, किन्तु शिव अर्थात् आत्मा कल्याणमूर्ति है। जिसमें कोई उपद्रव ही नहीं, उपद्रव अर्थात् दु:ख की जिसमें गंध भी नहीं -ऐसा आत्मा अनादि-अनन्त शिव है, सुख का धाम है।

आत्मा अपने स्वरूप धन का स्वामी है, अत: आत्मा को '**धनी**' कहा है। अपने ज्ञान, आनन्द आदि अनन्तगुण, वे अपना धन हैं उसका आत्मा धनी है; पर का धनी (मालिक) होने जाता है, वह तो अनात्मा है, जड़ है, अज्ञानी है।

आत्मा '**नाथ**' है। जो हो, उसकी रक्षा करे और जो नहीं हो, उसको प्राप्त करावे; उसको नाथ कहते हैं। भगवान आत्मा अपने स्वरूपधन की प्रतीतिरूप पर्याय प्रकट होती हैं, उसकी रक्षा करता है और अप्रकट शुद्धपर्याय को प्रकटाता है, अत: नाथ है। योग और क्षेम के करनेवाले को नाथ कहते हैं।

अपना आत्मा ही अपना ईश्वर है। तीनकाल में उसके कोई दूसरा ईश्वर नहीं; अत: आत्मा '**ईस**' है। आत्मा ही **जगदीश** है अर्थात् कि तीनकाल-तीनलोक का जाननेवाला है।

www.vitragvani.com

आत्मा '**भगवान**' है। भग अर्थात् लक्ष्मी और वान अर्थात् वाला। जो अपने ज्ञान-आनन्द की लक्ष्मीवाला है, लक्ष्मीरूप है; अत: भगवान है। 'मैं ही भगवान हूँ'- ऐसी अपनी भगवानपने की दृष्टि करने से आत्मा पर्याय में साक्षात् भगवान होता है।।36।।

अब नाटक समयसार की उत्थानिका का 37वाँ श्लोक प्रारम्भ करते हैं, जिसमें पण्डित बनारसीदासजी ने सामान्यरूप से जीवद्रव्य के नाम कहे हैं।

सामान्यत: जीवद्रव्य के नाम

चिदानंद चेतन अलख जीव समैसार,
बुद्धरूप अबुद्ध असुद्ध उपजोगी है।
चिद्रूप स्वयंभू चिनमूरति धरमवंत,
प्रानवंत प्रानी जंतु भुत भवभोगी है।।
गुनधारी कलाधारी भेषधारी विद्याधारी,
अंगधारी संगधारी जोगधारी जोगी है।
चिन्मय अखंड हंस अक्षर आतमराम,
करमकौ करतार परम विजोगी है ।।37।।

अर्थ:- चिदानन्द, चेतन, अलक्ष, जीव, समयसार, बुद्धरूप, अबुद्ध, अशुद्ध, उपयोगी, चिद्रूप, स्वयंभू, चिन्मूर्ति, धर्मवन्त, प्राणवन्त, प्राणी, जन्तु, भूत, भवभोगी, गुणधारी, कलाधारी, भेषधारी, अंगधारी, संगधारी, योगधारी, योगी, चिन्मय, अखण्ड, हंस, अक्षर, आत्माराम, कर्म-कर्त्ता, परमवियोगी- ये सब जीवद्रव्य के नाम हैं।।37।।

काव्य - 37 पर प्रवचन

पहला नाम है '**चिदानन्द**', चिद् अर्थात् ज्ञान+आनन्द जिसमें है, वह चिदानन्द है, वह सहजानन्द है, अत: सहजानन्द भी आत्मा का नाम है।

चेतन- आत्मा चेतनेवाला है, जाननेवाला है, इसलिए उसे चेतन कहा है। '**अलख**' अर्थात् आत्मा इन्द्रियों से जानने में नहीं आता, इसलिए उसे अलख कहा है। इन्द्रियों से और विकल्प से भी जो जानने में न आवे, वैसा अलख है।

जीव- यह तो उसका नाम है। स्वरूप से जीवे, वह जीव है।

समयसार- शास्त्र का नाम समयसार है और आत्मा का नाम भी समयसार है।

www.vitragvani.com

सम+अय्+सार=समयसार। अर्थात् सम्यक् प्रकार से ज्ञान और आनन्दरूप से परिणमन करके जो द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित होता है- ऐसे आत्मा को समयसार कहते हैं। शास्त्र को समय-सार नाम दिया; परन्तु वे तो शब्द हैं। वस्तुत: तो आत्मा ही समयसार है।

'**बुद्धरूप**' आत्मा अकेला ज्ञानस्वरूपी है, ज्ञान का पिण्ड है। 'शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन'। '**अबुद्ध**' अपने स्वरूप को नहीं जानता- ऐसा आत्मा अबुद्ध भी है। जहाँ तक पर्याय में अपने आत्मा को न जाने- वहाँ तक वह अबुद्ध है। नहीं जाननेवाला, वह भी आत्मा है। यहाँ यह कहना है कि अज्ञान है, वह भी आत्मा है। अज्ञान पर से या पर के कारण से नहीं होता। अपनी ज्ञानानन्दमय वस्तु को न जाने और राग को आत्मा माने- ऐसा अबुद्ध भी आत्मा है, वह कोई जड़ नहीं है। अज्ञान, राग-द्वेष आदि जीव की पर्याय में होते हैं। 'अपने को आप भूल के हैरान हो गया, यह अपने से अपने को भूलकर हैरान होता है, किसी कर्म या पदद्रव्य से हैरान नहीं होता।

'**भवभोगी**' भव को भोगनेवाला भी आत्मा है, अत: उसे भवभोगी नाम दिया है। नरक, तिर्यंच मनुष्यादि भवों में जो विकारीभाव होते हैं, उन्हें भोगनेवाला आत्मा है, कोई जड़ उन्हें नहीं भोगता। अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों में राग-द्वेष होते हैं उन्हें जीव भोगता है। रोग भले ही शरीर में आता है; परन्तु उसके प्रति के द्वेष के भाव को जीव भोगता है।

जैसे सिद्धपर्याय का भोक्ता जीव है, वैसे ही अज्ञानदशा में विकारी पर्याय का भोक्ता भी जीव है। विकार का भोक्ता जड़ नहीं है। आत्मा दाल, भात, रोटी, लड्डू आदि जड़ वस्तुओं को नहीं भोगता, परन्तु उनके प्रति होनेवाले राग को आत्मा ही भोगता है। मनुष्यगति अच्छी, देवगति अच्छी, नरक और तिर्यन्च गति अच्छी नहीं- ऐसी राग-द्वेष की पर्याय को जीव भोगता है। इसलिए कहा कि राग-द्वेषरूप भाव को भोगनेवाला जीव है।

गुनधारी- आत्मा ज्ञान, दर्शनादि अनन्त गुणों का धारक है, अत: वह गुणधारी है।

कलाधारी- ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि की कला का धारक होने से आत्मा को कलाधारी कहा है।

भेषधारी- त्रिकाल द्रव्य की अपेक्षा से राग-द्वेष तो वेष है ही, किन्तु संवर-निर्जरा रूप धर्म भी वेष है। उस वेष का धारक होने से आत्मा वेषधारी हैं। शरीर, वाणी, मन का धारक आत्मा नहीं है।

देखो! ये बनारसीदास, नाटक समयसार में जीव की इन सब नामों से पहचान कराते हैं।

www.vitragvani.com

विद्याधारी- आत्मा विद्या का धारक है। ज्ञान विद्या हो या अज्ञान विद्या हो, किन्तु उसका धारक आत्मा ही है।

अंगधारी- आत्मा को व्यवहार से शरीरधारी भी कहते हैं। अंग अर्थात् शरीर, उसके साथ आत्मा का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

संगधारी- आत्मा राग-द्वेष के संगवाला है अत: उसे संगधारी कहा है। कुटुम्ब-परिवार के संग को धरनेवाला नहीं, किन्तु राग के संग का धरनेवाला आत्मा है।

जोगधारी- मन, वचन, काया के निमित्त से जीव की अपने से हुई अपनी कम्पन की योग्यता को योग कहते हैं, उसका धारक आत्मा योगधारी है। योगी- योग को धरे, वह योगी। सच्ची दृष्टि से ले तो अपने निर्मल श्रद्धा-ज्ञान को धारण करके रहे वह योगी है। लोग कहते हैं कि योग करना, ध्यान करना; परन्तु यह सब तो मिथ्या है। यहाँ तो वस्तु के भानसहित उसमें जुड़ान करके रहे, वह योगधारी है, वही योगी है। वस्तुस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान बिना किसका ध्यान करे? इसतरह जो भोगी है, वही योगी है। जो पहले राग-द्वेष को भोगता था, तब भोगी कहलाया; वही जीव जब आत्मा के आनन्द को भोगने लगा, तब उसे योगी कहते हैं।

चिन्मय- आत्मा ज्ञानमय वस्तु है। जैसे शक्कर मिठासमय है, वैसे ही आत्मा चिद् अर्थात् ज्ञानमय है। **अखण्ड**-आत्मा असंख्यातप्रदेशी होने पर भी अखण्ड है, उसमें कोई खण्ड नहीं, वह अभेद है।

हंस- आत्मा अपने स्वभाव को और राग-द्वेष को भिन्न करने की ताकत रखता है, अत: उसको हंस की उपमा दी है। एक भजन में भी आता है कि 'मारो हंसलो नानो ने देवल जुनुरे थयु' अर्थात् यह शरीररूपी देवल पुराना हो गया है और मेरा हंस तो ऐसा का ऐसा है; उसमें कुछ बाल या वृद्धावस्था नहीं। हमने तो छोटी उम्र से ही बहुत भजन सीखे हैं। 'भगत' ही कहलाते थे, व्यापार करते हुए भी बहुत रस नहीं इसकारण लोग भगत कहते थे।

यहाँ कहते हैं कि राग-द्वेष-अज्ञान से हटकर अपने स्वरूप का अनुभव करे, उसको हंस कहते हैं और विशेष वीतरागता प्रकट करनेवाले को 'परमहंस' कहते हैं। हंस जैसे उज्ज्वल वस्त्र पहनने से हंस नहीं कहलाते।

अक्षर- आत्मा को क्षर अर्थात् नाश होनापना कभी नहीं है, अत: वह अक्षर है, अनादि-अनन्त है। लोग कहते हैं न, ये जीव अक्षरधाम में गया; किन्तु बाहर में कोई अक्षरधाम नहीं है। स्वयं

www.vitragvani.com

राग-द्वेष, पुण्य-पाप के विकल्प को छोड़कर अपनी अविनाशी शक्ति को प्रकट करे, वही अक्षरधाम है।

आतमराम- जो अपने ज्ञानानन्द में रमे और विकार से हट जाये, ऐसे भावस्वरूप द्रव्य को आतमराम कहते हैं।

करम को करतार- आत्मा ही कर्म का कर्त्ता है अर्थात् भावकर्म का करनेवाला जीव स्वयं है, जड़कर्म जीव को विकार नहीं कराता। हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभभाव और अहिंसा, सत्य, दया-दानादि शुभभाव का करनेवाला अज्ञानी आत्मा स्वयं ही है, आत्मा को जड़कर्म का कर्त्ता तो व्यवहार से कहते हैं।

परम विजोगी- शुद्ध चैतन्यघन आत्मा राग की क्रिया से परम वियोगी है। विकार का परम वियोगी, वह आत्मा है। इसप्रकार जीव के साधारण नाम कहे।

अब आकाशद्रव्य के नाम कहते हैं। शास्त्र में इसप्रकार भिन्न-भिन्न नाम आते हैं, वहाँ उसका अर्थ इसप्रकार जान लेना- ऐसी सूचना करते हैं। शास्त्र में एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न नामों से कहा गया होता है।

आकाश एक अरूपी असंख्यातप्रदेशी द्रव्य है, उसके भिन्न-भिन्न नाम इस प्रकार है-

आकाश के नाम

खं विहाय अंबर गगन, अंतरिच्छ जगधाम।
व्योम वियत नभ मेघपथ, ये अकाशके नाम।।38।।

अर्थः- खं, विहाय, अम्बर, गगन, अन्तरिक्ष, जगधाम, व्योम, वियत, नभ, मेघपथ- ये आकाश के नाम हैं।।38।।

काव्य - 38 पर प्रवचन

'**खं**' आकाश को खं कहते हैं। इसकारण ही आकाश में गमन करनेवाले पक्षी, सूर्य आदि को खग कहते हैं, परन्तु एक कविता में आता है, उसतरह आकाश में जो पक्षी के पग शोधते हैं और पानी में मछली के पैर खोजते हैं, वे मूर्ख हैं; उसीप्रकार राग-द्वेष में आत्मा को खोजे, वह मूर्ख है।

'**विहाय, अम्बर**' ये भी आकाश के नाम हैं। दिगम्बर शब्द में दिशा जिसका अम्बर है,

www.vitragvani.com

वह दिगम्बर है- ऐसा अर्थ है। यहाँ आकाश को अम्बर कहा है। आकाश को गगन भी कहते हैं।

'**अंतरिच्छ**'- जो किसी के आधार बिना रहता है, वह सर्वव्यापी आकाश है। '**जगधाम**'- व्यवहार से सम्पूर्ण दुनिया जिसमें बसती है, उसको जगधाम-आकाश कहते हैं। **व्योम, वियत** अर्थात् विस्तार, **नभ** और **मेघपथ** -ये भी आकाश के नाम हैं। आकाश एक अरूपी महापदार्थ है, उसे भगवान ने देखा है, वह कोई कल्पना नहीं है।।38।।

काल के नाम

जम कृतांत अंतक त्रिदस, आवर्ती मृतथान।
प्रानहरन आदिततनय, काल नाम परवान।।39।।

अर्थ:- यम, कृतांत, अन्तक, त्रिदश, आवर्ती, मुत्युस्थान, प्राणहरण, आदित्यतनय- ये कालके नाम हैं।।39।।

काव्य - 39 पर प्रवचन

जम- काल को ही यम कहते हैं। जिससमय देह छूटने का काल है, उससमय को ही यम कहते हैं, उसके बदले लोग यम अर्थात् जीव को लेने आनेवाला मानते हैं। ऐसा कोई (यम) जीव को लेने नहीं आता। '**कृतांत**' अर्थात् कार्य को पूरा करनेवाला काल है। अंतक अर्थात् अन्त करनेवाला; देह की स्थिति का अन्त आता है, उसको काल कहते हैं।

त्रिदस- काल को त्रिदश भी कहते हैं। **आवर्ती** अर्थात् परावर्तन, जड़ और चैतन्य के पलटने की पर्याय को भी काल कहते हैं। भगवान ने कहा है कि प्रत्येक द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से है, पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नहीं। द्रव्य अर्थात् गुण-पर्याय का पिण्ड, क्षेत्र अर्थात् अवगाहन, काल अर्थात् दशा और भाव अर्थात् शक्ति।

सप्तभंगी के पहले बोल में यह आ जाता है कि प्रत्येक द्रव्य की अपने स्वचतुष्ट्य से अस्ति है और परचतुष्ट्य से नास्ति है। तो इसप्रकार अपनी पर्याय का पलटना यही काल है, उसे यहाँ आवर्त शब्द से कहा है।

मृतथान- मरने के स्थान को काल कहते हैं। देह में जीव के रहने की स्थिति पूर्ण हो, उससमय को काल कहा जाता है। कोई यमराज इस अरूपी आत्मा को पकड़ ही नहीं सकता तो ले तो कहाँ जावे?

www.vitragvani.com

प्रानहरन- पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काय, आयु और स्वासोच्छवास- ये दश प्राण हैं। उनकी स्थिति पूर्ण हो जाये, अत: उसे काल या प्राण हरण कहते हैं।

आदित्यतनय- आदित्य अर्थात् सूर्य उसकी गति का माप देने में काल निमित्त है, अत: उसे सूर्य का पुत्र कहते हैं। इसप्रकार काल के नाम कहे।

अब कवि यह बताते हैं कि पुण्य कितने नामों से पहचाना जाता है-

पुण्य के नाम

पुन्य सुकृत ऊरधवदन, अकररोग शुभकर्म।
सुखदायक संसारफल, भाग बहिर्मुख धर्म।।40।।

अर्थ:- पुण्य, सुकृत, ऊर्ध्ववदन, अकररोग, शुभकर्म, सुखदायक, संसारफल, भाग्य, बहिर्मुख, धर्म- ये पुण्य के नाम है।।40।।

काव्य - 40 पर प्रवचन

पुण्य- शुभभाव को पुण्य कहते हैं और जो शुभकर्म बँधता है, उसे भी पुण्य कहते हैं। सवेरे के प्रवचन में कहा था न! लक्ष्मी खर्च करने से कम नहीं होती, पुण्य क्षीण होने से लक्ष्मी खत्म हो जाती है। पूर्व के जो पुण्य के जड़ परमाणु पड़े हैं, उनकी स्थिति पूरी हो जाये तो लक्ष्मी बिना उपयोग किये ही नष्ट हो जाती है और पुण्य हो तो लक्ष्मी खर्च करने से भी खत्म नहीं होती।

सुकृत- अच्छे कार्य को सुकृत कहते हैं। पापकार्य की अपेक्षा से जो अच्छे कार्य - दया, दान व्रत, भक्ति, यात्रा आदि के भाव, वे पुण्य हैं; किन्तु धर्म नहीं हैं।

उरधवदन- पुण्य से जीव ऊँचे क्षेत्र में आता है। स्वर्ग में जाये, सेठ हो- यह सब पुण्य के फल में होता हैं, अत: (पुण्य को) उर्ध्ववदन कहा है। यह परमार्थ की बात नहीं है, व्यवहार की बात है न! इन्दौर के सरसेठ हुकमचन्दजी बाजार में निकलें; वहाँ तो व्यापारी दुकान में से नीचे उतर आवें, खमा.. खमा.. हो। इनके वस्त्रादि सब ऊँची जाति के, यहाँ भी एकबार आ गये हैं। उनके गले मे सत्रह लाख का हार था। हीरे का हार अर्थात् नीले पत्थर थे। कहा कि यह तो शेर सवाशेर वजन उठाने का है!

दुनियाँ में पुण्य को ऊँचा मानने में आता है, अत: उसको उर्ध्ववदन कहा है। सेठाई मिले या अच्छा वेतन मिले, बाहर की अनुकुलता हो, इसलिए ऊँचे कहलाते हैं।

www.vitragvani.com

अकररोग- रोग को नहीं करे वह पुण्य है। शुभकर्म शुभभाव को पुण्य कहते हैं, वैसे ही साता वेदनीय बँधे, उसे भी पुण्य-शुभकर्म कहते हैं। पुण्य के फल में लक्ष्मी ढूँढने न जाये तो भी सामने से आती है, वह शुभकर्म है; धर्म नहीं। धूल है, पुण्य के फल में धूल मिलती है; पर आत्मा प्राप्त नहीं होता। **सुखदायक**- दुनिया में पुण्य सुखदायक गिना जाता है। लोग ऐसा कहते हैं कि पैसा है, हमारे तो बादशाही है; परन्तु इसमें वास्तविक सुख नहीं है।

भाग्य- पुण्य कहो या भाग्य कहो- एक ही है। हमारे भाग्य में था, वह मिला- ऐसा कहते हैं न! किन्तु भाग्य यह कोई नई वस्तु नहीं है। ये तो निगोद के जीव को भी होता है। निगोद यानी एकेन्द्रिय जीव को भी शुभभाव होता है। आलू की एक राई जितनी कणी में असंख्य तो औदारिक शरीर हैं और एक-एक शरीर में अभी तक जितने सिद्ध हुए, उनसे अनन्तगुने जीव हैं; उनके पास मन, वचन भी नहीं; फिर भी वे क्षण में शुभ और क्षण में अशुभभाव करते हैं, ऐसा भगवान का वचन है। तो यह शुभकर्म वहाँ भी है, परन्तु वह कोई धर्म का कारण नहीं है।

बहिर्मुख- पुण्य बहिर्मुखभाव है, अन्तर्मुख भाव नहीं। अन्तर्मुख भाव तो सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्र है। यह तो पर के लक्ष्य से हुई राग की मन्दतारूप बहिर्मुखभाव है।

धर्म- बंध के कारण ऐसे पुण्यभाव को व्यवहार धर्म कहा जाता है, परन्तु वह परमार्थ धर्म नहीं है।

पाप के नाम

पाप अधोमुख एन अघ, कंप रोग दुखधाम।
कलिल कलुस किल्विस दुरित, असुभ करमके नाम।।41।।

अर्थः- पाप, अधोमुख, एन, अघ, कंप, रोग, दुखधाम, कलिल, कलुष, किल्विष और दुरित- ये अशुभ कर्म के नाम है।।41।।

काव्य - 41 पर प्रवचन

पाप- हिंसा, झूठ, चोरी आदि भाव को पाप कहते हैं और उसके निमित्त से जो जड़ परमाणु बँधते हैं, उन्हें द्रव्यपाप कहते हैं।

अधोमुख- पाप करनेवाला अधोमुख -नीचे जाता है। तीव्र पाप करनेवाला नरक में जाता है। बड़े-बड़े राजा शिकारादि सप्तव्यसनो का सेवन करते हैं, वे पाप के फल में नीचे जाते हैं,

www.vitragvani.com

अत: पाप तो अधोमुख है। पाप को '**एन**' भी कहते हैं। पूर्व के पुण्य से सब अनुकुल भोग प्राप्त होते हैं, परन्तु उन्हें भोगने का भाव पाप है।

अघ- पाप को अघ अर्थात् दोष कहते हैं। '**कम्प**' यानी अस्थिरता, पाप में हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग वासना, मान, बढ़ाई आदि बहुत अस्थिरभाव हैं, वे पाप के कम्प है।

रोग- पाप को रोग कहते हैं तथा रोग भी पाप से ही आते हैं। असाता का उदय हो तो शरीर की कितनी ही सार-सँभाल करो, फिर भी रोग आये बिना नहीं रहता। अत: पाप को ही रोग कहा है। **दु:खधाम**- पाप, वह दु:ख का धाम है।

श्रोता- इस पाप से ही पैसा मिलाता है, उसे दु:खदायक कैसे कहते हो?

पूज्य गुरुदेवश्री- पैसे पाप भाव से नहीं मिलते। पैसे तो पूर्व के पुण्य के फल से मिलते है। पापभाव से तो पापकर्म बँधता है। कमाने का भाव, खाने का भाव, वकालात का भाव - ये सब पापभाव हैं, दु:खधाम हैं। श्रीमद् में आता है न! 'सुखधाम अनंत सुसंत चही, दिन-रात रहे तद्ध्यान मही...! पाप तो पाप के धाम में ले जानेवाला दु:खधाम है और पाप परिणाम स्वयं ही दु:खधाम है और दु:ख धाम में ले जाते हैं

कलिल- अर्थात् मेल है। पाप तो मेल है। '**कलुस**' पाप तो क्लेशरूप दु:खदायक मलिन परिणाम है। **किल्विस** -हल्के देव को किल्विस कहते हैं। को किल्विष कहते हैं।

दुरित- भौंडी रीत, खोटी रीत। पाप, वह झूठी रीत है।

अशुभ- पाप को अशुभ भी कहते हैं।

इसप्रकार पाप के नाम कहे।

मोक्ष के नाम

सिद्धक्षेत्र त्रिभुवनमुकुट, शिवथल अविचलथान।
मोख मुकति वैकुंठ सिव, पंचमगति निरवान।।42।।

अर्थ:- सिद्धक्षेत्र, त्रिभुवनमुकुट, शिवथल, अविचलस्थान, मोक्ष, मुक्ति, वैकुंठ, शिव, पंचमगति, निर्वाण -ये मोक्ष के नाम हैं।।42।।

काव्य - 42 पर प्रवचन

अब कविवर मोक्ष के नामांतर कहते हैं-

www.vitragvani.com

सिद्धक्षेत्र- अपना आतमा पूर्ण पवित्र हो जाता है अत: आत्मा ही परमार्थ से सिद्धक्षेत्र है। लोक के अंत में सिद्धशिला है, उसे व्यवहार से सिद्धक्षेत्र कहते हैं। वस्तुत: तो मुक्ति यहाँ होती है। शरीर और राग से भिन्न होकर केवलज्ञान और केवलदर्शन की पर्याय तो यहाँ ही होती है, अत: अपना निर्मल असंख्यातप्रदेशी क्षेत्र ही सिद्धक्षेत्र है, उसमें अरूपी आनन्दकन्द सिद्ध विराजते हैं।

त्रिभुवन मुकुट- सिद्धभगवान तीनलोक के ऊपर रहते हैं। उर्ध्व, मध्य और अधो- इन तीनों लोक के ऊपर मुकुट के स्थान पर है।

मूड़बद्री में नया मन्दिर बनाया है, उसका नाम 'त्रिभुवनतिलक चूड़ामणि' रखा है। हम (पूज्य गुरुदेवश्री) वहाँ जा आये हैं। सम्पूर्ण हिन्दुस्तान में दो बार यात्रा की है।

शिवथल- शिव अर्थात् सुख उसके स्थानरूप मोक्ष को शिवथल कहा है। शिव अर्थात् निरुपद्रव-रागादि उपद्रव से रहित आत्मा की निर्मल दशा, वह शिवथान है।

अविचलथान- सिद्धक्षेत्र अविचल है। जीव वहाँ जाते हैं; परन्तु वहाँ से वापिस निकलते नहीं हैं। आत्मा की ऐसी पूर्ण पवित्रदशा को मोक्ष कहते हैं, उसको ही मुक्ति कहते हैं और उसको ही वैकुंठ कहते हैं। वैकुंठ कोई दूसरा स्थान नहीं है। वहाँ कोई देव है और सेवा करते हैं- ऐसा कुछ नही है।

पंचमगति- नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव- ये चार गतियाँ हैं, उनसे विलक्षण यह पंचमगति है। पूर्णदशा को प्राप्त हुए अक्रिय परमात्मा इस पंचमगति में रहते हैं।

निरवान- जिसमें अकल्याण नहीं- ऐसे भाव को और ऐसे स्थान को निर्वाण कहते हैं।

शीतलीभूत हो गए शान्त परमात्मा इस स्थान में रहते है।

ये सब मोक्ष के ही विविध नाम हैं।

बुद्धि के नाम

प्रज्ञा धिसना सेमुसी, धी मेधा मति बुद्धि।
सुरति मनीषा चेतना, आसय अंश विसुद्धि।।43।।

अर्थ:- प्रज्ञा, धिषणा, सेमुषी, धी, मेधा, मति, बुद्धि, सुरती, मनीषा, चेतना, आशय, अंश, और विशुद्धि -ये बुद्धि के नाम हैं।।43।।

www.vitragvani.com

काव्य - 43 पर प्रवचन

प्रज्ञा- जिस ज्ञान से आत्मा रागादि से भिन्न होता है, उसे प्रज्ञा कहते हैं। अपने स्वभाव और पुण्य-पापरूप मलिन भावों के बीच साँध है। उस साँध में प्रज्ञाछैनी डालने से राग से भिन्न अपना निर्मल स्वभाव अनुभव में आता है, उसको प्रज्ञा अथवा बुद्धि कहते हैं। दुनियादारी की बुद्धि को प्रज्ञा नहीं कहते। प्र+ज्ञ अर्थात् विशेषप्रकार का ज्ञान कि जिससे आत्मा रागादि से भिन्न अनुभव में आवे।

धिसणा- यह भी बुद्धि का एक नाम है, जो राग और पर को छान दे- ऐसी धी अर्थात् बुद्धि को धिसणा कहते हैं। जो रागादि की छाल को छान दे और अपने स्वभाव की दृष्टि करे- ऐसी बुद्धि को धिसणा कहते है।

सेमुसी- जिस बुद्धि से अपने स्वभाव की सन्मुखता होती है- ऐसी बुद्धि को सेमुसी कहते हैं। शरीर, वाणी और मन तो जड़ है और पुण्य-पाप रागादिभाव तो आस्रव हैं, उनके सन्मुख रहना वह बुद्धि नहीं है। व्यवहार कुशलता में जो बुद्धि है उसको बुद्धि नहीं कहते। राग और परसन्मुख बुद्धि तो अनादि से चली आती है, वह तो अज्ञान है। अनाकुल आनन्द धाम प्रभु की सन्मुख बुद्धि, वही ज्ञान है।

धी- जो बुद्धि शुद्ध चैतन्य आत्मा का ध्येय करके रहती है, उस बुद्धि को धी कहते हैं। देखो, यह नाटक समयसार! बनारसीदासजी पहले तो बहुत शृंगारी-रसिक थे, फिर सत्संग मिला, वहाँ एकदम पलट गये। ये पण्डितजी कहते हैं कि अखण्ड निज परमात्मा का जो ध्येय बनावे, उसे धी अथवा बुद्धि कहते हैं। क्यों सेठ! यह पुस्तक पढ़ी है कि नहीं ? हमें तो संवत् 1878 की साल में यह पुस्तक मिली थी दामनगर से, तब से पढ़ते हैं।

मेधा- अर्थात् समझदारपना अथवा शानपना। जो बुद्धि आत्मा का ज्ञान करे, उसे मेधा अर्थात् शाणी बुद्धि कहते हैं, बाकी सब बुद्धि तो पागलपना है।

मति- अर्थात् जो मतिज्ञान राग से भिन्न पड़कर स्वरूप में लग जाता है, उसको मति कहते हैं। 'जैसी मति वैसी गति' होती है न! जिसकी मति स्वरूप की तरफ है, उसकी मोक्ष में गति होती है और जिसकी गति राग और पर तरफ है, उसको चारगति में घूमना पड़ता है। परमात्मप्रकाश में कहा हैं कि 'जैसी मति वैसी गति'। जो मति राग से हटकर स्वरूप में लगी है, उसकी मोक्षगति ही होगी और जो मति राग-द्वेष में एकमेक है, उसे तो कुमति-कुबुद्धि कहते हैं। देखो पण्डितजी! यह शास्त्र पढ़कर प्रोफेसर हो जाने को बुद्धि नहीं कहा है।

www.vitragvani.com

बुद्धि- जो अपने आत्मा को जाने, वह बुद्धि है। बाकी पर में या राग में होशियारी करे, वह बुद्धि नहीं है।

सुरति- बुद्धि को सुरति भी कहा है। अपने शुद्ध आनन्दकन्द में रमे, वह सुरति बुद्धि है। नाटक में जैसे प्रवेश में पहले पात्रों का परिचय कराते हैं, वैसे ही यहाँ नाटककार भूमिका में शब्दों का परिचय करा रहे हैं। रागरूप रति है, वह कुरति है और स्वभाव में रति है, वह सुरति है। गृहस्थाश्रम में रहनेवाले ज्ञानी कवि यह कहते हैं। अध्यात्म के महान कवि हो गये हैं। उनकी तत्त्व की दृष्टि बहुत स्पष्ट थी।

मनीषा- अर्थात् विचार। जो स्व और पर का विचार करता है, उसे मनीषा या विचारक कहते हैं।

चेतना- जो बुद्धि अपने ज्ञानानन्द स्वरूप में चेत जाये, उसे चेतना कहते हैं।

आशय- वैसे तो अभिप्राय को आशय कहते हैं परन्तु यहाँ बुद्धि के लिए भी आशय शब्द लिया है। 'मेरे कहने का आशय यह है'- ऐसा कहते हैं न! मेरा स्वरूप पूर्ण है- ऐसा माननेवाली मति को आशय कहते है।

अंश- अर्थात् पर्याय। त्रिकाली भगवान आत्मा अंशी है और उसकी तरफ जो बुद्धि गई है उसे अंश कहते है। केवलज्ञान भी एक अंश है क्योंकि पर्याय है न! वैसे ही स्वभाव सन्मुखत की मति भी अंश है।

विसुद्धि- इसके तीन प्रकार है। शुभभाव को विशुद्धि कहते हैं। एकदेश शुद्धता को भी विशुद्धि कहते हैं और पूर्ण शुद्धता को भी विशुद्धि कहते हैं। यहाँ तो स्वभाव तरफ के अवलम्बन में जो शुद्धि अथवा निर्मलता होती है, उसको विशुद्धि कहा है।इसप्रकार बुद्धि के नामांतर कहे।।43।।

विचक्षण पुरुष के नाम

निपुन विचच्छन विबुध बुध, विद्याधर विद्वान।
पटु प्रवीन पंडित चतुर, सुधी सुजन मतिमान।।44।।
कलावंत कोविद कुसल, सुमन दच्छ धीमंत।
ज्ञाता सज्जन ब्रह्मविद, तज्ञ गुनीजन संत।।45।।

www.vitragvani.com

अर्थः- निपुण, विचक्षण, विबुध, बुद्ध, विद्याधर, विद्वान्, पटु, प्रवीण, पंडित, चतुर, सुधी, सुजन, मतिमान, कलावन्त, कोविद, कुशल, सुमन, दक्ष, धीमन्त, ज्ञाता, सज्जन, ब्रह्मवित्, तज्ञ, गुणीजन और सन्त, ये विद्वान् पुरुष के नाम हैं।।44, 45।।

काव्य - 44, 45 पर प्रवचन

अब विचक्षण पुरुष के नाम कहते हैं। इस नाटक में आगे कहेंगे कि निगम अर्थात् शुद्धात्मा के स्वरूप का कथन करूँगा। अपने आनन्द रस को पोषे- ऐसे आत्मा के पूर्णानन्द स्वभाव को निगम कहते हैं।

निपुन अर्थात् प्रवीण, जिसने अपने आत्मा को और विकार को भिन्न करके प्रवीणता सिद्ध की है- ऐसे ज्ञानियों को निपुण कहते हैं। यह समझने के लिए अभ्यास चाहिए भाई! जिसको जन्म-मरण का नाश करना है, चौरासी के अवतार के दु:खों से छूटना है, उसके लिए यह बात है। अभ्यास न हो तो उसे समझने में देरी लगती है। अभ्यास करके भी करना तो यही है, 'स्वभाव को पहचानना।' संसार में चतुर समझे जानेवाले निपुण नहीं हैं। लोग तो पैसेवालों को बहुत मक्खन लगाते हैं कि आप चतुर हो, निपुण हो-बहुत बुद्धिमान हो; परन्तु यहाँ तो कहते है कि जो अपने ज्ञानानन्दस्वभाव को पहचाने, वह निपुण है। हीरा-माणिक के पारखी उनकी तो कीमत करते हैं, परन्तु अपने को नहीं परखते। कहा भी है।

परख्या माणेक मोतियाँ, परख्या हेम कपूर ।
पण एक न परख्यो आतमा, त्यां रह्यो दिग्मूढ़ ।।

आत्मा कौन है? उसकी परीक्षा करके कभी पहचान नहीं की। आत्मा की पहचान करे तो उसकी महिमा आये बिना नहीं रहे। आत्मा की महिमा करे, वह निपुण है। दुनिया में अनेकप्रकार की निपुणता करे, वह तो अनिपुणता है। शुद्ध आनन्दघन की बुद्धि करे, वही निपुणता है। भले ही उसको शास्त्र का ज्ञान कम हो तो भी उसके साथ निपुणता का कोई सम्बन्ध नहीं है। त्रिलोकनाथ भगवान ने जैसा आत्मा कहा, वैसा जिसने जाना; वही निपुण है। देखो! संस्कृत-व्याकरण के जाननेवाले को निपुण नहीं कहा।

विचक्षण- दुनिया की कला जाने वह विचक्षण नहीं, किन्तु अपनी वस्तु को पहचाने वही विचक्षण है। अनन्त शुद्ध गुणों का पिण्ड प्रभु, जो उसका ज्ञान करे वह विचक्षण पुरुष है। वही '**विबुध**' है, क्योंकि जिसने राग और शरीर से रहित त्रिकाली आत्मा का बोध किया है, अत: वह विबुध है, विशेष बुद्धिमान है।

www.vitragvani.com

बुध- बुध्यते इति बुधः। अपने शुद्ध आनन्दस्वभाव को जाने, उस पुरुष को बुधपुरुष कहते हैं। '**विद्याधर**' जो वैताड्य पर्वत पर विद्या के धारी विद्याधर रहते हैं, वे तो लौकिक विद्याधर हैं। ये तो अपने शुद्ध चिदानन्दध्रुव की विद्या के धारक हैं- ऐसे सम्यग्दृष्टि को विद्याधर कहा है। त्रिकाल विद्या को- ध्रुव को जानना, वह विद्या और उस विद्या का जो धारक, वह विद्याधर है।

विद्वान- विद्यमान भगवान आत्मा का स्वरूप जाने, वह विद्वान है। '**पटु**' अर्थात् चतुर। जिसकी पटुता स्वरूप तरफ ढली है, वह पटु है।

प्रवीण- 'सिद्धसमान सदा पद मेरो'- जो अपने को ऐसा सिद्धसमान जानता है, वह प्रवीण है। मैं पामर हूँ और मैं रागवाला हूँ- ऐसा माने, वह प्रवीण नहीं है। कोई मत वाले भगवान के समीप अपने दोषों का पश्चात्ताप करके बहुत रोते हैं। परन्तु भाई! अकेले दोष ही देखे है या निर्दोष स्वभाव भी देखा है। राग के गीत तो बहुत गाये, अब एकबार वीतराग स्वभाव के गीत गावे, वह प्रवीण है।

पण्डित- आत्मा को जाने वह पण्डित है। परमात्मप्रकाश और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी आता है कि जिसने निजस्वभाव की कीमत की है और राग की कीमत उड़ा दी है, वह पण्डित है। '**चतुर**' अर्थात् शाणा। जिसने स्वभावसन्मुख होकर अपनी चतुराई प्रकट की है, वह चतुर है। '**सुधी**'- जो अपने स्वरूप की आनन्दमय सत्ता का स्वीकार करता है, वह सुधी है। बाहर के कार्यों में चतुराई करके भिन्न-भिन्न डिजाइने बनाता है वह 'सुधी' नहीं है। जड़ की क्रिया तो जड़ से होती है वह तुझसे नहीं होती भाई!

'**सुजन**'- अर्थात् भलाजन। जिसने आत्मा की शुद्धि की पहचान की है, उसे सुजन कहते हैं।

मतिमान- सम्यक् मति को धारण करता है, वह मतिमान है।

कलावंत- अपनी केवलज्ञान की कला को प्रकट करे -ऐसे मति-श्रुतज्ञानी को कलावंत कहते हैं, वही कलाबाज है।

कोविद- कोविद एक पदवी का नाम है, परन्तु यहाँ कहते हैं कि जिसको आत्मा का भान है वह कोविद है।

'**कुसल**'- शरीर से कुशल, वह कुशल नहीं, किन्तु जिन्हें आत्मा का भान है ऐसे ज्ञानी कुशल हैं।

www.vitragvani.com

'**सुमन**'- जिसने अखण्ड आनन्दमय आत्मा की स्वीकृति की, उसकी प्रतीति की वह सुमन पुरुष है। जिन्हें पूर्ण शान्तरस की प्रतीति हुई, वे सब सुमन हैं शेष सब कुमन हैं।

'**दच्छ**'- अर्थात् सयाना, चतुर। जो आत्मा में दक्ष है, उसे दच्छ कहा हैं। शास्त्र में जहाँ भी ऐसे-ऐसे नाम आते हैं वहाँ विचक्षण पुरुष ज्ञानी की यह बात है-ऐसा समझ लेना।

'**धीमंत**'- जैसे लक्ष्मी वाले को श्रीमंत कहते हैं वैसे बुद्धिमान को धीमंत कहते हैं। यहाँ तो कहते हैं कि श्रीमंत भी वह है कि जिसके पास स्वरूप की लक्ष्मी है और धीमंत भी वही है कि जिसके पास आत्मा की बुद्धि है।

'**ज्ञाता**'- जानने-देखने वाला। राग और शरीर की क्रिया करनेवाला, वह आत्मा नहीं। मैं जाननेवाला ज्ञाता हूँ- ऐसा जाने वह ज्ञाता है।

'**सज्जन**'- अर्थात् सत्+जन। सत्स्वरूप भगवान आत्मा के भानवाले को सज्जन कहते हैं। लौकिक में लौकिक नीतिवान को सज्जन कहते हैं। यहाँ जी अविनाशी आत्मा को जाने, वह सज्जन है।

ब्रह्मविद- ब्रह्म अर्थात् आनन्दस्वरूप, विद अर्थात् जाननेवाला। आनन्दस्वरूप आत्मा को जानने वाला ब्रह्मविद है। '**तज्ञ**'- अर्थात् आत्मा को जाननेवाला।

'**गुनीजन**'- अनन्त गुणस्वरूप आत्मा को जाननेवाला गुणीजन कहलाता है। "शान्ति प्राप्त करावे, उसे संत कहिये, उनके दासानुदास होकर रहिये"- ऐसा भजन आता है न! वह ऐसे ज्ञानी संत की बात है। बाहर के बाबा, साधु, फकीर संत नहीं कहलाते। भगवान सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा कथित आत्मा का बोध करके शान्ति में रहें, वे संत हैं।

'शांत दशा तिनकी पहचानी,
करे कर जौरि बनारसि वंदन ।।

इसप्रकार विचक्षण पुरुष के नामरूप काव्य पूर्ण हुआ।

मुनीश्वर के नाम

मुनि महंत तापस तपी, भिच्छुक चारितधाम।
जती तपोधन संयमी, व्रती साधु ऋषि नाम।।46।।

अर्थः- मुनि, महंत, तापस, तपी, भिक्षुक, चारित्रधाम, यती, तपोधन, सयमी, व्रती, साधु और ऋषि ये मुनि के नाम हैं।।46।।

www.vitragvani.com

काव्य - 46 पर प्रवचन

अब मुनीश्वर के नाम कहते हैं-

'मुन्यते इति मुनि'- अपने आनन्द का अपने को दान करके आनन्द का अनुभव करें वें मुनि हैं। '**महंत**'- जिन्होंने अपनी बुद्धि को आत्मा में लगा दिया- ऐसे आत्मा को महंत कहते हैं। कोई मन्दिर के अधिष्ठाता को महंत कहते हैं, वे महंत नहीं हैं। यहाँ तो रजकण और राग के कण से भी रहित आत्मा के अधिष्ठाता हैं उन्हें महंत कहते हैं।

मार्मिक बात की है बनारसीदासजी ने! कैसा नाटक बनाया है!

तापस- मुनिराज को तापस भी कहते हैं, क्योंकि वे तप द्वारा इच्छा का निरोध करके अपने स्वरूप के अतीन्द्रिय अमृत आनन्द दशा को प्राप्त करते हैं, अत: मुनिराज को 'तापस' कहते हैं। अन्यथा तो तपस्या कर-करके मर जाये किन्तु अमृत सागर को प्राप्त न हो, उसे तापस नहीं कहते।

'**तपी**'- जो लड्डू उड़ावे और अलमस्थ होकर फिरे, वह तपी नहीं है; परन्तु जिसने स्वरूप में इच्छा का निरोध करके अमृत आनन्द को प्राप्त किया और जो मोक्ष के समीप आ गया है, वह तपी है। पुण्य-पाप के राग से रहित चैतन्य के मठ का जो स्वामी है, वह महंत है, वह तपी है।

भिच्छुक- भिक्षा द्वारा भोजन करे, उसे भिक्षुक कहते हैं। अन्तर में आनन्दस्वरूप को शोधकर आनन्द का अनुभव करे, वह भिक्षुक है।

चारितधाम- अहा! मुनि अर्थात् आत्मा के आनन्द और शान्ति का धाम देख लो! मुनि को अन्तर में इतनी अधिक शान्ति प्रकट हो गई है कि चारित्र अर्थात् रमने का स्थान हो गया है। बाहर में नग्नपना और अट्ठाईस मूलगुण है, वह चारित्र नहीं है। अन्तर में, निर्विकल्प स्वरूप में लीन होकर असंख्यप्रदेशी अपना स्थान प्राप्त कर लिया है, वह मुनि का चारित्रधाम है। जगत से जुदी ही जाति की बात है।

'**जती**'- जती अर्थात् बाबा-साधु नहीं, परन्तु अपने आनन्द और शुद्धस्वभाव का जतन करे, रक्षा करे; वह जती (यति) है। राग और पुण्य की रक्षा करे, वह तो अजती है। देखो! व्यवहार की रक्षा करनेवाला जती नहीं ऐसा कहा है।

www.vitragvani.com

तपोधन- जिसके इच्छा का निरोध करके अपना आनन्द प्रकट हुआ है, उसके पास तपरूपी धन है, अत: वह तपोधन है। सेठों के पास तो धूल का धन है, जबकि मुनि के पास तो तपरूपी धन है। जैसे गेरू लगने से सुवर्ण शोभता -चमकता है, वैसे ही जिसने तप से आनन्ददशा प्रकट करके आत्मा में शोभा बढ़ाई है, उन्हें तपोधन कहते हैं।

संयमी- बाहर में इन्द्रिय संयम और अन्दर में आत्मा में लीन है- ऐसे मुनि को संयमी कहा है। अतीन्द्रिय भगवान आत्मा इन्द्रिय और विकल्प द्वारा गम्य नहीं है। अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय आत्मा में रमनेवाले मुनि को संयमी कहते हैं।

व्रती- मुनिराज अन्तर स्वरूप में -आनन्द में चिपट गये है; अत: उन्हें व्रती कहते हैं। मुनि स्वरूप में लिपट जाते हैं।

साधु- अपने स्वरूप को साधते हैं अत: मुनि को साधु भी कहते हैं।

ऋषि- आत्मा का साक्षात्कार होकर आनन्द की वृद्धि हुई है; अत: मुनि को ऋषि कहा है। गले में बाल लगावे और तिलक-छापा लगावे, वे ऋषि नहीं है। इसप्रकार मुनिश्वर के नामांतर पूर्ण हुए।

दर्शन के नाम

दरस विलोकनि देखनौ, अवलोकनि दृगचाल।
लखन दृष्टि निरखनि जुवनि, चितवनि चाहनि भाल।।47।।

अर्थ:- दर्शन, विलोकन, देखना, अवलोकन, दृष्टि, निरीक्षण, जोवना, चितवन, चाहन और भाल -ये दर्शन के नाम हैं।।47।।

काव्य - 47 पर प्रवचन

अब दर्शन अर्थात् देखना, स्व-पर रूप महासत्ता के देखनेवाले दर्शन के नाम कहते हैं-

दरस- अर्थात् देखना, सर्वजीव हैं- ऐसा देखना, वह दर्शन है।

विलोकनि- विशेष अवलोकन। स्व और पर को बराबर अवलोकना, विलोकन है।

देखनी- स्व-पर सब चीज है, ऐसा देखना वह, मुझमें पर या पर में मैं हूँ- ऐसा नहीं; मात्र देखना, वह दर्शन है।

अवलोकनि- स्व और पर की सत्ता का अवलोकन, वह दर्शनगुण का कार्य है।

www.vitragvani.com

दृगचाल- स्व और पर है, उन्हें देखना, वह दर्शन की चाल है।

लखन- जैसे जानना आत्मा का लक्षण है, वैसे ही देखना भी आत्मा का लक्षण है।

दृष्टि- अर्थात् भी देखना। यह दर्शनउपयोग की बात है।

निरखनी जुवनि- यह भी उसके ही नाम हैं।

चितवनी- माने जैसा है, वैसा देखना।

चाहनि- अर्थात् चाहना, यह है- ऐसा देखनेवाले दर्शन का चाहनी नाम कहा है।

भाल- यह भी 'देखना' दर्शन का एक नाम है।

इसप्रकार दर्शन के नामांतर हुए।

ज्ञान और चारित्र के नाम

ग्यान बोध अवगम मनन, जगतभान जगजान।
संजम चारित आचरन, चरन वृत्ति थिरवान।।48।।

अर्थ:- ज्ञान, बोध, अवगम, मनन, जगत्भानु, जगत्ज्ञान- ये ज्ञान के नाम हैं। संयम, चारित्र आचरण, चरण, वृत्त, थिरवान- ये चारित्र के नाम हैं।।48।।

काव्य - 48 पर प्रवचन

जानना, वह ज्ञान, बोध माने भी ज्ञान और अवगम करना माने भी ज्ञान करना। मनन अर्थात् ज्ञान में एकाग्र होकर मनन करना।

'**जगतभानु**' अर्थात् चैतन्यसूर्य भगवान आत्मा जगत का सूर्य है। आत्मा का ज्ञान ही जगतभानु है। जगत का सूर्य तो साधारण है, किन्तु ज्ञानसूर्य तो महान् है।

'**जगजान**' अर्थात् स्वज्ञेय और परज्ञेय को जाननेवाला होने से ज्ञान को जगजान कहते हैं।-इसप्रकार ज्ञान के नामांतर हुए।

संयम- स्वरूप में संयम अर्थात् इन्द्रियों से हटकर अतीन्द्रिय स्वरूप में रहने का नाम संयम है।

चारित्र- स्वरूप में रमना अर्थात् शुद्ध आनन्द का भोजन करना, वह चारित्र है। स्वरूप में रमना, वह आचरण है; दया-दानादि राग की क्रिया आचरण नहीं है।

www.vitragvani.com

वृत्ति- स्वरूप में रागरहित वृत्ति का परिणमन करना, वह वृत्ति-चारित्र है। पंचमहाव्रत का विकल्प, वह चारित्र नहीं।

थिरवान- अपने आनन्दस्वरूप में स्थिरपना, वह भी चारित्र है। इसप्रकार चारित्र के नामांतर हुए।

सत्य के नाम

सम्यक सत्य अमोघ सत, निसंदेह निरधार।
ठीक जथारथ उचित तथ, मिथ्या आदि अकार।।49।।

अर्थः- सम्यक्, सत्य, अमोघ, सत्, नि:संदेह, निरधार, ठीक, यथार्थ, उचित, तथ्य- ये सत्य के नाम हैं। इन शब्दों के आदि में अकार लगाने से झूठ के नाम होते हैं।।49।।

काव्य - 49 पर प्रवचन

जैसा स्वरूप है, वैसा जानना; उसका नाम सम्यक् अथवा सत्य है। अनादि-अनन्त भगवान आत्मा सत्य साहेब है, उसे भी सत्य कहते हैं।

अमोघ- अर्थात् सफल। जैसे रामचन्द्रजी का बाण अमोघ था अर्थात् लगे बिना रहे ही नहीं- ऐसा अमोघ था, वैसे ही सत्य भी अमोघ होता है। जिसकी दृष्टि परमानन्द स्वरूप में आई, उसकी मुक्ति हुए बिना रहती ही नहीं- ऐसा यह सत्य अमोघ है।

सत्-सत् स्वरूप आत्मा ही सत् है। सत्य का एक नाम नि:संदेह भी है। भगवान आत्मा का भान और उसका भाव नि:संदेह है। **निरधार**- सत्य को नक्की करना, उसका नाम निरधार है। ठीक, यथार्थ, उचित- ये भी सत्य के नाम हैं। वस्तु जैसी है, वैसी यथार्थ जानना; वह सत्य है। सत्य ही उचित है। '**तथ**' माने जैसा है, वैसा। ये सब सत्य के नाम हैं। इनके साथ 'अ' लगाने से ये झूठ के नाम हो जाते हैं जैसे कि असम्यक्, असत्य, असत्, अयथार्थ, अतथ, अनुचित, अठीक- ये सब झूठ के नाम हैं।।49।।

झूठ के नाम

अजथारथ मिथ्या मृषा, वृथा असत्त अलीक।
मुधा मोध नि:फल वितथ, अनुचित असत अठीक।।50।।

www.vitragvani.com

अर्थः- अयथार्थ, मिथ्या, मृषा, वृथा, असत्य, अलीक, मुधा, मोघ, निःफल, वितथ, अनुचित, असत्, अठीक,- ये झूठ के नाम हैं।।50।।

काव्य - 50 पर प्रवचन

सर्वज्ञ परमात्मा ने द्रव्य-गुण-पर्याय का जैसा स्वरूप कहा है; वैसा न कहे, वह सब झूट है- अयथार्थ अर्थ को कहनेवाला है, अतः उसे अयथार्थ, मिथ्या, मृषा, वृथा-व्यर्थ, असत्, अलीक आदि नामों से कहते हैं। मुधा नाम वह मूर्ख है। निष्फल माने झूठे को कोई धर्म का फल नहीं होता; अतः निष्फल है।

नाटक समयसार के बारह अधिकार

जीव निरजीव करता करम पुण्य पाप,
आस्रव संवर निरजरा बंध मोष है।
सरव विसुद्धि स्यादवाद साध्य साधक,
दुवादस दुवार धरै समैसार कोष है।।
दरवानुयोग दरवानुजोग दूरि करै,
निगमकौ नाटक परमरसपोष है।
सो परमागम बनारसी बखानै जामैं,
ग्यानकौ निदान सुद्ध चारितकी चोष है।।51।

अर्थः- समयसारजी के भंडार में जीव, अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष, सर्वविशुद्धि, स्याद्वाद और साध्यसाधक ये बारह अधिकार हैं। यह उत्कृष्ट ग्रन्थ द्रव्यानुयोगरूप है, आत्मा को परद्रव्यों के संयोग से पृथक् करता है अर्थात् मोक्षमार्ग में लगाता है। आत्मा का नाटक परमशान्तिरस को पुष्ट करनेवाला है, सम्यग्ज्ञान और शुद्धचारित्र का कारण है।, इसे पण्डित बनारसीदासजी पद्य-रचना में वर्णन करते हैं।।51।।

काव्य- 51 पर प्रवचन

अब पण्डितजी नाटक समयसार के बारह अधिकारों के नाम बताते हैं-

नाटक समयसार में पहला 'जीवअधिकार' कहेंगे। दूसरा अजीवअधिकार कहेंगे। तीसरा कर्त्ता-कर्मअधिकार, जिसमें राग का और पर का कर्त्ता आत्मा को माने, वह अज्ञानी है, यह कहेंगे। चौथा पुण्य-पापअधिकार, जिसमें शुभ-अशुभ- दोनों भाव विकार हैं, बंध के कारण हैं-

www.vitragvani.com

यह कहेंगे। पाँचवाँ आस्रवअधिकार अर्थात् पुण्य-पाप- दोनो आस्रव हैं- यह कहेंगे। छठवें संवरअधिकार में आस्रव का निरोध करके स्वभाव की शान्ति प्रकट करना संवर है- यह कहेंगे। सातवें निर्जराअधिकार में कर्मों के नाशरूप निर्जरा; आठवें-नौवें अधिकार में बंध और मोक्षअधिकार कहेंगे और ग्यारहवें स्याद्वाद अधिकार में अनेकान्त का स्वरूप कहेंगे और अन्तिम साध्य-साधक द्वार में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप साधक और पूर्ण स्वरूप साध्य का कथन करेंगे।

इसप्रकार बारह अधिकाररूप समयसार भण्डार है। यह उत्कृष्ट ग्रन्थ द्रव्यानुयोग रूप है। द्रव्यानुयोग वस्तु का जैसा स्वरूप है, उस अनुरूप परिणमन करना बतानेवाला है। वह आत्मा को परद्रव्य से पृथक् करने का भी कार्य करता है, अर्थात् जीव को मोक्षमार्ग में लगाता है।

यह आत्मा का नाटक परम शान्तरस को पुष्ट करनेवाला है। शान्ति...शान्ति... शान्तिमय अकषाय स्वभाव को प्रकट करनेवाला है और पोषण करनेवाला है। ऐसे इस ग्रन्थ की उत्थानिका हुई अर्थात् प्रवेशद्वार हुआ।

यह शास्त्र तो सम्यग्ज्ञान और शुद्ध चारित्र का कारण है। कविवर बनारसीदासजी ने उसका पद्यरूप से वर्णन किया है।

www.vitragvani.com

1

जीवद्वार

श्री नाटक समयसार ग्रन्थ का यह प्रथम 'जीवद्वार' अधिकार प्रारम्भ होता है। उसमें सर्वप्रथम मांगलिक रूप से चिदानन्द भगवान की स्तुति करते हैं। वैसे तो यह अमृतचन्द्राचार्य के कलशों का भावार्थ ही है।

चिदानन्द भगवान की स्तुति

शोभित निज अनुभूति जुत चिदानंद भगवान।
सार पदारथ आतमा, सकल पदारथ जान।।1।।

अर्थ:- वह चिदानन्द प्रभु अपने स्वानुभव से सुशोभित है। सब पदार्थों में सारभूत आत्मपदार्थ है और सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञाता है।।।1।।

काव्य - 1 पर प्रवचन

भगवान आत्मा कैसा है? कि निज अनुभूति से सुशोभित है। अपनी अनुभूति से अनन्त ज्ञान-आनन्द स्वरूप भगवान आत्मा प्रकाशमान होता है। पुण्य-पाप, विकल्प या निमित्त से आत्मा प्रसिद्धि में नहीं आता। ऐसे आत्मा को मंगलाचरण में नमस्कार करते हैं।

आज से लगभग नौ सौ वर्ष पहले अमृतचन्द्राचार्य हो गये हैं। उन्होंने श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव रचित समयसार की बहुत ही गूढ़-गंभीर टीका रची है, मानो अध्यात्म-मन्दिर पर कलश जैसी टीका बनाई है। उसका मांगलिक भी देखो न कैसा है!

भगवान आत्मा शरीर और कर्म से तो रहित है ही, किन्तु पुण्य-पाप के विकार से भी रहित है। ऐसा आत्मा, वह समयसार है और वह स्वसंवेदन से प्रकाशित होता है। पुण्य-पाप के रागस्वभाव से अनुसरना, यह तो अनादि से चला आता है, किन्तु यह तो अज्ञान है। अब अपने ज्ञानानन्द स्वभाव में एकाग्र होकर उसे अनुसरना, वह सम्यग्ज्ञान है। अहो ! ज्ञान-आनन्द की अनुभूति से आत्मा प्रकाशित होता है; शोभित होता है, उसका नाम धर्म है। सारा कथन अस्ति से है।

www.vitragvani.com

सम+अय+सार= शरीर, कर्म और पुण्य-पाप के राग से रहित जो सारभूत अपना चिदानन्द आत्मा है, वह अपनी आनन्द की अनुभूति से सुशोभित होता है, प्रकाशित होता है। इसप्रकार प्रथम धर्म की शुरूआत होती है। स्वानुभूति से प्रकाशित हो- ऐसा ही आत्मा का स्वभाव है। अत: कहा कि **"स्वानुभूत्या चकासते"** अलिंगग्रहण के बीस बोल हैं। उसमें छठवें बोल में यह बात है कि 'आत्मा अपने स्वभाव से स्वयं प्रकाशमान प्रत्यक्ष ज्ञाता है'। बहुत सूक्ष्म बात है ! जैनदर्शन ही सूक्ष्म है ! अरे, वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है! रागरहित वीतराग निर्विकल्प वस्तु को ही जैनपना अथवा आत्मा कहते हैं। ऐसे आत्मा की प्रतीति स्वसवेदन में ही होती है और तभी आत्मा की यथार्थ श्रद्धा होती है।

यह 'शोभित निज अनुभूति' का अर्थ चलता है। पुस्तक सामने रखकर देखो ! व्यापार के बही-खाते तो बहुत देखते हो, अब ये चोपड़े (बही-खाते) देखो। दो हजार वर्ष पूर्व भगवान कुन्दकुन्दाचार्य हो गये हैं। वे साक्षात् सीमन्धर भगवान के पास महाविदेहक्षेत्र में गये थे। आठ दिन वहाँ रहे थे और भगवान की वाणी सुनी थी। उन कुन्दकुन्दाचार्य ने यह शास्त्र रचा है और उस पर नौ सौ वर्ष पूर्व हुए वनवासी दिगम्बर संत अमृतचन्द्राचार्य ने टीका रची है। उसके मंगलाचरण का यह कलश है। उसका अर्थ चलता है। 'नम: समयसाराय' यह महामांगलिक है। उसमें कहते हैं कि अपने आनन्द का अनुभव करने से आत्मा को धर्म होता है, उससे आत्मा शोभित है, राग और पुण्य-पाप के अनुभव से तो आत्मा अशोभित है।

यह मार्ग अलौकिक है भगवान! कोई जुदी ही जाति का मार्ग है। लोग इस मार्ग को जानते नहीं और सेवा-पूजा में ही धर्म मानकर अटक गये हैं। अनादिकाल से शुभाशुभ राग के वेदन में उस तरफ के झुकाव के कारण मिथ्यात्व के वेदन में झूलता अज्ञानी चार गति में घूमता है और दु:खी होता है, तो अब उसे धर्म और सुख किस प्रकार हो- उसका यह कथन है।

भगवान आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित है। द्रव्यकर्म माने ज्ञानावरणादि आठ जड़कर्म, भावकर्म अर्थात् रागादि विकार और नोकर्म माने शरीरादि संयोगी पदार्थ। जो इन तीनों से रहित है, वह समयसार-आत्मा है। अज्ञानी को शुभ-अशुभ राग का वेदन तो अनादि से है, किन्तु वह उसे शोभता नहीं। वह आत्मा का श्रृंगार नहीं। प्रभु! तेरे स्वभाव में तो अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति आदि भरे पड़े हैं। उस तरफ झुकाव करने से पर्याय में अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव हो, वह धर्म है। यह वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा के द्वारा कथित

www.vitragvani.com

धर्म का स्वरूप है। ऐसा धर्म प्रकट होने में तेरी शोभा है। विकार और चार गति से छूटने की भावना रूप अन्तर्दशा, वह धर्म हैं।

अरिहन्त, सिद्ध आदि पंचपरमेष्ठी तो परद्रव्य हैं। उनका स्वयं को अनुभव नहीं हो सकता। उनकी ओर लक्ष्य जाये; वह तो विकल्प है, राग है। अपनी अनुभूति से स्वयं प्रकट प्रकाशमान होता है। यह तो अभी अनुभूति यानी पर्याय की बात चलती है। पर्याय यानी अवस्था। द्रव्य, गुण त्रिकाल हैं और पर्याय क्षणिक है। उस पर्याय में अनादि से राग, विकल्प और मिथ्यात्व का वेदन है; वह आत्मा नहीं, वह तो अनात्मा का वेदन है। ज्ञानानन्द स्वभाव के अनुसरण से जो ज्ञान-आनन्द का वेदन पर्याय में आता है उसके द्वारा आत्मा प्रकाशमान होता है। उसके द्वारा आत्मा की यथार्थ प्रतीति होती है।

यह तो वीतराग का कोई अचिन्त्य मार्ग है। बाहर में शरीर की क्रिया की प्रवृत्ति आदि से धर्म मान रहा है। यह तो अनादि से चला आ रहा मिथ्यात्व भाव ही है, नरक और निगोद जाने की खान है। शरीर तो जड़ है और राग होता है, वह भी चेतन नहीं है। नव तत्वों में वह आस्रव तत्व है। उससे रहित अपना शुद्ध आत्माद्रव्य स्वभाव है, उसकी अनुभूति करना धर्म है, वही सार है। अनुभूति हुई, वही आत्मा को सच्चा नमस्कार है। वही आत्मा को नम गया। नमन् माने विनय अर्थात् आत्मा का आदर और सत्कार करना, वही आत्मा की अनुभूति है।

यह सूक्ष्म बात है। धर्म सुलभ है, किन्तु साधारण मनुष्य स्थूल रीति से समझ जाये- ऐसा धर्म नहीं, बहुत दुर्लभ है। बहुत अलौकिक बात है, अपूर्व है; क्योंकि अनन्तकाल में एक सैकेण्ड भी ऐसी अनुभूति नहीं हुई। एक-दो सैकेण्ड भी अनुभूति हुई होती तो उसकी मुक्ति हुए बिना नहीं रहती। दोज उगे और पूर्णिमा न हो- ऐसा कभी नहीं बनता। पूर्णिमा होती है, होती है और होती ही है। वैसे ही एकबार भगवान चैतन्य की तरफ झुकाव होकर आनन्द का अनुभव और सम्यग्ज्ञान की दोज उगी, उसके केवलज्ञानरूपी पूर्णिमा हुए बिना नहीं रहती; उसे केवलज्ञान अवश्य ही प्राप्त होता है।

भावाय अर्थात् भगवान, जो अपने स्वभाव भाव स्वरूप है, परभाव स्वरूप नहीं; किन्तु अपने भावस्वरूप भगवान है और **चित्स्वभावाय** अर्थात् ज्ञान और आनन्द, वह आत्मा का स्वभाव है।

www.vitragvani.com

दरबार !(एक ग्रामीण मुमुक्षु) यह आत्मा दरबार है। उसमें अनन्तज्ञान, आनन्द आदि साम्राज्य है, उसका तू स्वामी है। तू कल्याण स्वरूप है और कल्याण करनेवाला है, परन्तु उसके भान बिना कल्याण किस प्रकार हो ? अज्ञानी अनादि से आत्मा के भान बिना ही बाहर की क्रिया से अपना कल्याण मान रहा है।

भावाय माने द्रव्य और चित्स्वभावाय यह उसका स्वभाव है। जैसे शक्कर का मीठा और श्वेत स्वभाव है, अफीम का कड़वा और काला स्वभाव है; वैसे ही भगवान आत्मा का ज्ञान और आनन्द स्वभाव है और अनुभूति उसकी पर्याय है।

सर्वभावान्तरच्छिदे अर्थात् भगवान आत्मा सर्वभावों को जाननेवाला है।

भावार्थ, वह द्रव्य है। चित्स्वभावाय, वह गुण है और स्वानुभूति, वह उसकी निचली दशा की अपूर्ण पर्याय है। उस आनन्दरूप धर्म की पर्याय से सबको जाननेवाला ज्ञान प्रकट होता है। अनुभूति से सर्वज्ञपद प्रकट होता है। किसी राग या निमित्त से सर्वज्ञपद प्रकट नहीं होता, यह यहाँ सिद्ध करना है। अनुभूति में अपना स्वरूप तो जानने में आया था किन्तु अब अपने से भिन्न सर्व पदार्थों का भी एकसाथ जानना होता है, वह सर्वज्ञदशा अनुभूति से ही प्राप्त होती है। स्वानुभूति, वह धर्म की शुरूआत है, संवर-निर्जरा है और सर्व सर्वभावान्तरच्छिदे अर्थात् मोक्ष, वह पूर्णता है।

इसप्रकार एक कलश में जीवद्रव्य, उसके गुण और संवर, निर्जरा व मोक्ष पर्याय यह सब आ गया। आस्रव-बंध और अजीव, वे जीव में नहीं है; अतः उनकी यहाँ बात ही नही ली है। नास्ति से बात ही नहीं की, मात्र अस्ति ही बतायी है।

देखो ! ऐसा यह समयसार का अलौकिक मांगलिक है। जैसे भैंस के स्तनों का दोहन करने से उसमें भरा हुआ दूध बाहर आता है, वैसे ही अमृतचन्द्राचार्य देव ने (समयसार का) कस-मूलतत्त्व बाहर निकाला है। शास्त्र में जो भाव भरे हैं, उन्हें अमृतचन्द्राचार्य देव बलपूर्वक बाहर लाये हैं, ऐसी यह टीका है।

अब 'सर्वभावान्तरच्छिदे' रूप जो मोक्ष की पर्याय है, उसे प्राप्त हुए सिद्धभगवान की स्तुति बनारसीदासजी करते हैं-

www.vitragvani.com

सिद्ध भगवान की स्तुति, जिसमें शुद्ध आत्मा का वर्णन है।

जो अपनी दुति आप विराजत,
है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक,
महा सुख सागरकौ विसरामी।
जीव अजीव जिते जगमैं,
तिनकौ गुन ज्ञायक अंतरजामी।
सो सिवरूप बसै सिव थानक,
ताहि विलोकि नमैं सिवगामी।।2।।

अर्थः- जो अपने आत्मज्ञान की ज्योति से प्रकाशित हैं, सब पदार्थों में मुख्य हैं, जिनका चैतन्य चिह्न है, जो निर्विकार हैं, बड़े भारी सुखसमुद्र में आनन्द करते हैं, संसार में जितने चेतन-अचेतन पदार्थ हैं उनके गुणों के ज्ञाता घटपट जानने वाले हैं, वे सिद्ध भगवान मोक्षरूप हैं, मोक्षपुरी के निवासी हैं; उन्हें मोक्षगामी जीव ज्ञानदृष्टि से देखकर नमस्कार करते हैं।।2।।

काव्य - 2 पर प्रवचन

देखो !'विलोकि' कहकर सिद्ध का स्वरूप ऐसा है ऐसे भान सहित नमने की बात की है; भान बिना नमें, वह तो 'तूमड़ी के कंकर' जैसा है। तूमड़ी अर्थात् सूखी हुई दूधी, जिसमें बीज अलग पड़ जाते हैं अर्थात् अन्दर बजने लगते हैं, मानो अन्दर पैसे खनकते हो ऐसा लगता है; परन्तु इसे भान नहीं कि ये तो बीज हैं। वैसे ही सिद्ध को नमस्कार करे, किन्तु सिद्ध के स्वरूप की खबर न हो- ऐसों की यहाँ बात नहीं है।

मुमुक्षुः- सिद्ध का स्वरूप समझने की दरकार होनी चाहिए न !

पूज्य गुरुदेवश्रीः- जहाँ रुचि हो, वहाँ दरकार आये बिना नहीं रहती। यह व्यापार धंधे की दरकार किसने सिखलाई है ? रुचि थी तो दरकार आ गई न! व्यापार- धंधे में तो दरकार आ गई न! धंधे की दरकार रखने से पैसा नहीं आता, वह तो पूर्व का पुण्य हो तो आता है। आँख की पलक झपकना- यह भी तुम्हारा कार्य नहीं है। जड़ की पर्याय जड़ से होती है, वह चेतन का काम नहीं है। फिर भी जो यह मानता है कि मैं जड़ का कार्य कर सकता हूँ, कमाई कर सकता हूँ, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

www.vitragvani.com

अब यहाँ श्लोक का अर्थ करते हैं-

'**जो अपनी दुति**' अर्थात् ज्योति से स्वयं प्रकाशित है। सिद्धभगवान अपनी चैतन्य ज्योति से विराजते हैं। सिद्ध भगवान किसी का कुछ कर नहीं देते। किसी का भला-बुरा करना सिद्ध का कार्य नहीं है। 'णमो सिद्धार्ण' कहते ही सिद्ध के स्वरूप का भावभासन होना चाहिए। कैसे हैं सिद्ध भगवान? जिन्हें चैतन्यप्रकाश का पूर्ण नूर प्रकट हो गया है, उन्हें सिद्ध भगवान कहते हैं और ऐसी ही शक्ति इस आत्मा में पड़ी है, उसमें से ही सिद्धपना प्रकट होता है। धर्मी अपने स्वभाव को ऐसा मानता है, यह बात पूर्व में आ गई है। ''चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्धसमान सदा पद मेरो'' शरीर नहीं, कर्म नहीं, राग नहीं और अल्पज्ञपना भी मेरा स्वरूप नहीं; मैं तो सिद्धसमान हूँ। सूक्ष्म बात है! अपूर्व है! अनन्तकाल में कभी नहीं जानी ऐसी बात है। दया, दान, व्रत, भक्ति तो अनन्तबार किये हैं वह कोई अपूर्व नहीं है।

आत्मा में सदा ही जो सिद्धस्वरूप सत्त्व है उसमें से प्रवाहित होकर पर्याय में सिद्धपना प्रकट होता है। यह तो अन्दर का फोटो खींचने की बात है, किन्तु अरे! 'मोह महातम आतम अंग, कियो परसंग महातम घेरो'' मैंने अपने स्वरूप को नहीं जानकर महामिथ्यात्व के कारण जो मेरे नहीं हैं -ऐसे शरीर व रागादिक को निज माना है। इस महामोहरूप मिथ्यात्व के कारण ऐसा मान रखा है।

भगवान आत्मा तो चैतन्यज्योत सिद्धसमान होने पर भी मैंने वर्तमान पर्याय में महामिथ्यात्व के कारण विकल्प खड़े करके स्वभाव को घेर डाला है और पर का संग करके महाअज्ञान रूपी अंधकार फैलाया है, किन्तु अब बनारसीदासजी कहते हैं कि 'ज्ञानकला उपजी अब मोंकू, कहूँ गुन नाटक आगम केरो,' राग और विकल्प से रहित स्वरूप का भान मुझे हो गया है। इससें समयसाररूपी आगम का नाटक कहकर उसमें मैं उसके (स्वरूप के) गुण कहूँगा, जिसके प्रसाद से मेरा मोक्षमार्ग सधेगा। मोक्षमार्ग की साधना पुण्य से नहीं होती। तारणस्वामी ने एक स्थान पर कहा है कि यदि तू जनरंजन कराने के लिए पुण्य से धर्म होने का उपदेश देता है तो तू नरकगामी है। विपरीत मार्ग बताकर दुनिया को राजी रखता है, उसे नरक के सिवाय अन्य क्या हो? मोक्षमार्ग की साधना तो अपने आनन्द स्वरूप को साधते-साधते होती है।

"जासु प्रसाद सधै शिवमारग बेग मिटे घटवास बसेरो।"

अहो! यह देह तो हड्डी और चमड़ी से निर्मित है, मिट्टी है; इसमें आत्मा का बसना यह

www.vitragvani.com

तो कलंक है। मोक्ष को साधने से इस कलंकरूप देह में बसना शीघ्र छूट जाता है, भव का वास छूट जाता है, शीघ्र छूट जाता है।

पहले यह सब ज्ञान में लेने की बात है। समझे तो फिर प्रयोग कर सकता है। बिना समझे कहाँ पुरुषार्थ करेगा ? कहाँ जाना है और कहाँ से हटना है- इसका पता न हो तो कहाँ जाए ?

यहाँ सिद्ध की स्तुति करते हुए कहते हैं कि सिद्धभगवान अपनी आत्मज्योति से प्रकाशित हैं, सर्व पदार्थों में प्रधान हैं अग्रसर हैं। चेतन जिनका लक्षण यानी चिह्न है, जानना-देखना यह उनका ट्रेडमार्क है। पुण्य-पाप का विकल्प, वह उनका लक्षण नहीं। प्रभु तो निर्विकार हैं, वैसे ही यह आत्मा भी वस्तुरूप से त्रिकाल निर्विकार है और निष्कलंक है।

सिद्धभगवान महासुखसागर में आनन्द करते हैं। कोई प्रश्न करता था कि महाराज! सिद्धभगवान किसी का काम करते हैं या नहीं ? हम तो जो पाँच-पच्चीस मनुष्यों का काम करे, उन्हें बड़ा मानते हैं। (उत्तर दिया) भाई! सिद्धभगवान किसी का काम नहीं करते। किसी का भला-बुरा नहीं करते। तुम भी किसी का भला नहीं कर सकते हो, मात्र मान्यता करते हो। तुम तुम्हारे शरीर में आनेवाले रोग को ही नहीं मिटा सकते तो अन्य का तो कर ही कहाँ सकते हो ?

प्रश्नः- रोग तो डॉक्टर मिटाता है न ?

पूज्य गुरुदेव श्रीः- अरे! क्या डॉक्टर रोग मिटाता है! डॉक्टर स्वयं को ही रोग या मरण से नहीं बचा सकता। देह की स्थिति जिस समय जिस क्षेत्र में जैसी होनी होती है; वैसी होती है होती है और होती ही है। इन्द्र ऊपर से उसे बदलने के लिए आवे तो भी बदल नहीं सकता।

यहाँ तो कहते हैं कि आरामगृह तो भगवान आत्मा है। सिद्धभगवान महासुखसागर में विश्राम करते हैं। देखो! पहले सिद्धभगवान को याद किया है, स्वयं को सिद्ध होना है न! प्रभु आप तो नीचे पधारते नहीं, परन्तु हम तो आपका स्मरण करके नीचे उतारते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य भी गाथा में प्रथम सिद्धों को नमस्कार करते हैं।

"वंदित्तु सव्व सिद्धे--।"

रामचन्द्रजी जब बालक थे दो वर्ष के, तब एकबार छत पर बैठे हुए थे। वहाँ से चन्द्रमा पर नजर पड़ने से वे चन्द्रमा को नीचे उतारने की चेष्टा करने लगे। रामचन्द्रजी तो तद्भव मोक्षगामी थे न! तो पूत के लक्षण तो पालने में ही दिखते हैं न! वे चन्द्र को बुलावें पर वह आवे नहीं; अतः वे रोने लगे। तब राजा दशरथ ने दीवान से रामचन्द्रजी के रोने के कारण की खोज

www.vitragvani.com

करने को कहा। दीवान ने कहा कि मैं दीवानपना करूँ या बालक को रखूँ। अरे! यह तो महापुरुष है। भाग्यवान-पुण्यशाली है। भाग्य कोई भभूत लगने से थोड़े ही छिप जाता है। दीवान खोज करने जाता है कि बालक क्यों रोता है, देखा...ठीक, इन्हें तो चन्द्रमा को नीचे उतारना है; परन्तु वह कैसे उतरे? नीचे जाकर दर्पण ले आये, उसमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब राम को बतलाकर दर्पण उनकी जेब में रख दिया। बस, राम चुप हो गये। वैसे ही आत्मा जब सिद्धभगवान को याद करता है, तब सिद्ध तो नीचे नहीं आते; परन्तु सिद्धसमान अपने आत्मा की अनुभूति करता है। वह जानता है कि सिद्धभगवान मेरे हृदय में (ज्ञान में) आ गये ऐसा लगता है। 'मैं ही सिद्धसमान हूँ।' मेरा स्वरूप सिद्ध जैसा है ऐसा अनुभव करते हुए स्वयं सिद्ध हो जाता है।

सिद्धभगवान को महासुखसागर विश्रामी कहा है, परन्तु सागर तो अल्प योजन के विस्तारवाला होता है और सिद्ध को तो अनन्त..अनन्त..अनन्त आनन्द का सागर पर्याय में उछलता है। सागर के मध्य में से ज्वार आता है; वैसे ही द्रव्य में जो आनन्द है, उसकी पर्याय में भरती (ज्वार) आती है।

'सो सिवरूप बसे सिवथानक' ऊपर शिवस्थान है, वहाँ सिद्धभगवान बसते हैं। वहाँ बँगले नहीं है। बँगले, लाड़ी, गाड़ी, घोड़ी आदि कुछ वहाँ नहीं है। परवस्तु के लक्ष्य से जो आकुलता उत्पन्न होती थी, उसका नाश करके अनाकुलता उत्पन्न हुई है, उसे अब परवस्तु से क्या काम? अपना अनन्त आनन्द सागर उछलता है, उसका अनुभव करते हैं। उन्हें बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है। वे तो अपने असंख्य प्रदेशों में रहते हैं।

सिद्धभगवान मोक्षरूप हैं, मोक्षपुरी के निवासी हैं, उन्हें मोक्षगामी जीव ज्ञानदृष्टि से देखकर नमस्कार करता है। धर्मी जीव को सिद्धसमान अपने स्वरूप की दृष्टि हुई है और सिद्धपर्याय का ज्ञान हुआ है, उस ज्ञानदृष्टि द्वारा सिद्ध को नमस्कार करता है।

श्रीमद्जी अपूर्व अवसर काव्य में लिखते हैं न:-

सादि-अनन्त अनन्त समाधि सुख मां
अनन्त दर्शन ज्ञान अनन्त सहित जो ।।अपूर्व।।

श्रीमद् राजचन्द्र हो गये हैं, उनकी खबर है। ववाणियाँ में हुए हैं। सात वर्ष की उम्र में जातिस्मरण हुआ था। सोलह वर्ष की उम्र में तो मोक्षमाला बनाई, जैसे माला में एक सौ आठ मोती होते हैं, वैसे ही इसमें-मोक्षमाला में एक सौ आठ पाठ हैं। उनकी शक्ति बहुत थी, बहुत

www.vitragvani.com

क्षयोपशम! तीन दिन में पूरी मोक्षमाला बना दी थी। आत्मा कहाँ सोलह वर्ष का है! वह तो अनादि-अनन्त है। मोक्षमाला में एक पाठ है कि-

मैं कौन हूँ, आया कहाँ से और मेरा रूप क्या।
सम्बन्ध दु:खमय कौन है, स्वीकृत करूँ परिहार क्या।।
इसका विचार विवेक पूर्वक, शान्त होकर कीजिये।
तो सर्व आत्मिक ज्ञान के सिद्धान्त का रस पीजिये ।।

उसका विचार विवेकपूर्वक अर्थात् राग से और विकल्प से भिन्न पढ़कर विचार करे तो आत्मा के सर्वभाव अनुभव में आवें। आत्मा शुद्ध चैतन्य आनन्दघन है -ऐसा ज्ञान में आ जाये।

यहाँ कहते हैं **"ताहि विलोकि नमे सिवगामी।"**

जिसको अपने ज्ञान में अपनी अनुभूति हुई है, वह अपने ज्ञान में सिद्धस्वरूप का अवलोकन करके सिद्ध को नमस्कार करता है। सम्यग्दृष्टि-ज्ञानी इन सिद्ध को पहचानकर उन्हें नमस्कार करता है। णमो सिद्धाणं कहे, परन्तु सिद्ध के स्वरूप को पहिचाने नहीं, उसकी यह बात नहीं।

णमो अरिहंताणं- माने जिनने अरि अर्थात् राग द्वेष और अज्ञान को हरकर वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट किया है, उन्हें अरिहन्त कहते हैं। अरिहन्त के चार कर्मों का नाश हुआ है और सिद्ध के आठों कर्मों का अभाव हुआ है। वे ज्ञानशरीरी हुए हैं, उन सिद्धों को बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं। ज्ञान और आनन्द ही जिसका शरीर है, उसे जो निरन्तर अनुभवते हैं- ऐसे सिद्धों को नमस्कार करके मांगलिक किया।

अब जिनवाणी की स्तुति करते हैं। पहले देव की स्तुति की, अब जिनवाणी की स्तुति करते हैं और गुरु तो अमृतचन्द्राचार्य स्वयं ही हैं।

गुरु अमृतचन्द्राचार्य तीन चौकड़ी कषाय के अभाववाले नग्न दिगम्बर भावलिंगी संत थे। अष्टपाहुड़ में -दर्शनपाहुड़ में कहा है कि जिन्होंने अपनी वीतरागमूर्ति आत्मा का आश्रय लेकर तीन कषायों का अभाव किया है और बाह्य में नग्न दिगम्बर मुद्रा है, वह जैनदर्शन है। माल सहित बारदान की बात है, खाली बारदान की कोई कीमत नहीं है। अकेला नग्नपना या अट्ठाईस मूलगुणों का पालन, वह तो खाली बारदान जैसा है। अन्तर में सच्चिदानन्द प्रभु की दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता प्रकट की हो तो वह माल सहित नग्न दिगम्बर दशा जैनदर्शन है। अमृतचन्द्राचार्य ऐसे ही भावलिंगी मुनि थे।

www.vitragvani.com

जिनवाणी की स्तुति

जोग धरै रहै जोगसौं भिन्न,
अनंत गुनातम केवलज्ञानी।
तासु हृदै-द्रहसौं निकसी,
सरितासम ह्वै श्रुत-सिंधु समानी।।
याते अनंत नयातम लच्छन,
सत्य स्वरूप सिधंत बखानी।
बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध,
सदा जगमाँहि जगै जिनवानी।।3।।

अर्थः- अनंत गुणों के धारक केवलज्ञानी भगवान यद्यपि सयोगी हैं तथापि योगों से पृथक् हैं। उनके हृदयरूप द्रहसे नदीरूप जिनवाणी निकलकर शास्त्ररूप समुद्र में प्रवेश कर गई है, इससे सिद्धान्त में इसे सत्यस्वरूप और अनंतनयात्मक कहा है। इसे जैनधर्म के मर्मी सम्यग्दृष्टि जीव पहचानते हैं, मूर्ख मिथ्यादृष्टि लोग नहीं समझते। ऐसी जिनवाणी जगत में सदा जयवंत होवे।।3।।

काव्य - 3 पर प्रवचन

अब बनारसीदासजी जिनवाणी की स्तुति करते हैं-

'**जोग धरै रहे जोग सों भिन्न, अनन्त गुणातम केवलज्ञानी**' -जिन्होंने अरि यानी राग-द्वेष और अज्ञान का नाश करके अपने ज्ञान, दर्शन, आनन्द, वीर्य आदि अनन्त गुणों को पर्याय में प्रकट किया है- ऐसे अरिहन्त-सर्वज्ञ केवली भगवान के जोग यानी मन, वचन, काया का योग होता है फिर भी वे योग से भिन्न है- वस्तु योग से भिन्न है ऐसे प्रभु के अन्तर में से प्रवाहित वाणी, वह जिनवाणी है।

धर्मी को सम्यग्दर्शन में भी अनन्तगुण आंशिक व्यक्त ज्ञात होते हैं। वे ही गुण केवली के पूर्ण प्रकट हो जाते हैं। यद्यपि अरिहन्त केवली के शरीर है और मन, वचन, काया के सात योग भी हैं; फिर भी भगवान योग से ज्ञान का अनुभव नहीं करते, ज्ञान से ही सब जानते हैं। शरीर को, योगों को और अवशेष चार अघाति कर्मों को अपने ज्ञान द्वारा जानते हैं और लोकालोक को भी ज्ञान द्वारा जानते हैं।

www.vitragvani.com

तासु हृदै-द्रह सौं निकली, सरितासम पड़े श्रुत-सिन्धु-समानी, प्रभु के केवलज्ञानरूप सरोवर में से यह वाणीरूपी नदी निकली है। "वीर हिमाचल तैं निकसी गुरु गौतम के मुख कुण्ड ढरी है।" पूर्णज्ञान-आनन्दरूप सरोवर में से वाणीरूपी नदी निकली है। यह निमित्त से कथन है। कोई ज्ञान वाणी में आता नहीं या वाणी ज्ञान में जाती नहीं, परन्तु जिन्हें पूर्णज्ञान प्रकट हुआ है -ऐसे सर्वज्ञ की वाणी भी ऐसी ही निकलती है। इसी कारण वाणी को 'सर्वज्ञ अनुसारिणी' कहकर पूज्य कही है। परमाणु की भाषारूप पर्याय ऐसी निकलती है कि जो स्व-पर को बताती है। वह ज्ञानसरोवर में से आती है- यह निमित्त से कथन किया है। आत्मा में वाणी नहीं भरी, वाणी तो जड़ है और आत्मा तो चैतन्यमूर्ति है।

भगवान की उस वाणी में से शास्त्रों की रचना हुई है। गणधर भगवान ग्यारह अंग और चौदहपूर्व(द्वादशांग) की रचना करते हैं। वाणीरूपी नदी इस श्रुत सिन्धु में समाई है। वह वाणी कैसी है कि अनन्त नयों के लक्षणवाली है। सिद्धान्त में उसे सत्यस्वरूप और अनन्त नययुक्त कहा है। वाणी अनन्त नयात्मक है।

जयधवल में नय के दो प्रकार कहे हैं- एक वास्तविक नय अर्थात् ज्ञान का अंश और वाणी, वह उपचरित नय है। यहाँ इस उपचारक नय की बात चलती है। जैसा सर्वज्ञ पद प्रकट हुआ वैसी वाणी निकलती है। वाणी तो वाणी के कारण निकलती है, परन्तु वह उस पद के योग्य ही होती है। जैसे कोई मनुष्य माँस नही खाता हो, शराब नहीं पीता हो, ब्रह्मचारी हो तो उसके मुख से- माँस खाने योग्य है या विषय सेवन योग्य है- ऐसी वाणी निकलती ही नहीं; क्योंकि अन्दर में जैसा भाव होता है, उसके अनुकूल ही वाणी का योग होता है।

ॐ ध्वनि निकलती है, उसके कर्त्ता भगवान नहीं है; परन्तु भगवान के ज्ञान के अनुरूप ही वाणी आती है। वह ॐ ध्वनि अनन्त नयस्वरूप है। ज्ञान के एक अंश को नय कहते हैं। वह अनन्त पदार्थों के एक अंश को अपने ज्ञान से जानता है।

'सत्य स्वरूप सिधंत बखानी' द्रव्य, नवतत्त्व, बंधमार्ग, मोक्षमार्ग आदि जैसे हैं, वैसे यथार्थरूप से जिनवाणी बताती है; अत: उसे सत्यस्वरूप कहा है। वीतराग की वाणी में वीतरागता ही आती है। राग करने योग्य है या राग ठीक है- ऐसी वाणी जिनवाणी में नहीं आती। जैसे आत्मा में स्व-पर को जानने की ताकत है वैसे ही वाणी में स्व-पर को कहने की ताकत है। उस वाणी में से सिद्धान्त प्रकट हुए है।

www.vitragvani.com

"**बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध।**" -सम्यग्ज्ञानी ही इस वाणी को यथार्थरूप से जानता है। श्रीमद्जी ने सोलह वर्ष की उम्र में मोक्षमाला लिखी है, उसमें जिनवाणी का वर्णन इसप्रकार किया है

अनन्त-अनन्त भाव भेद से भरेली भूली,
अनन्त-अनन्त नय निक्षेपे व्याख्यानी छे।
सकल जगत हितकारिणी हारिणी मोह,
तारिणी भवाब्धि मोक्ष चारिणी प्रमाणी छे।
उपमा आप्यानी तेने तमा राखवी ते व्यर्थ,
आपवानी निजमति मपाई में मानी छे।
अहो राजचन्द्र बाल ख्याल नथी पामता ए,
जिनेश्वर तनी वाणी जाणी तेने जाणी छे।

श्रीमद् द्वारा सोलह वर्ष की आयु में लिखी गयी यह वाणी की महिमा सामान्य जीवों को (आयु के आकड़े को उलटा करे तो) इकशठ वर्ष में भी समझना कठिन पड़ती है। प्रभु की वाणी अनन्त-अनन्त भाव के भेद-प्रकार से भरी हुई है। अनन्त नय स्वरूप है। सम्पूर्ण-जगत को हित का कारण है। मोह को नाश करनेवाली है। तारिणी भवाब्धि अर्थात् भव का अभाव कराने वाली है। संसार-समुद्र में से जीव को तिरा लेनेवाली है अनन्त सुखरूप मोक्ष को देनेवाली है, पूर्णता प्राप्त करानेवाली है। ऐसी प्रभु की वाणी को किसी की उपमा नहीं दी जा सकती है। उपमा देनेवाला स्वयं मप जाता है। बाल अर्थात् अज्ञानी वीतराग की वाणी का ख्याल नहीं पा सकते। जिनेश्वर की वाणी तो जिसने जानी उसी ने जानी है- ज्ञानी ही जानते हैं अज्ञानी नहीं जानते।

ज्ञानी ही जिनवाणी के मर्म को जान सकते हैं। अज्ञानी उसके मर्म को नहीं जान सकते। वे अपनी कल्पना से अर्थ करते हैं, निश्चय-व्यवहार की अपेक्षा को नहीं समझते, बुध लखै न लखै दुरबुद्ध, बुध अर्थात् सम्यग्दृष्टि जिन-धर्म का मर्मी है। दुरबुद्ध अर्थात् मिथ्यादृष्टि जिनवाणी के मर्म को पहिचान नहीं सकता।

मुमुक्षुः- सबको मूर्ख कहा..... ?

पूज्य गुरुदेवश्रीः- जो समझें नहीं, वे सब मूर्ख हैं। जिनवाणी ही उसे कहते हैं कि जिसमें से वीतरागता का पोषण मिले और पूर्ण वीतरागता प्रकट हो। तब जो वीतरागता का पोषण न करे

www.vitragvani.com

और राग का पोषण करे कि पहले राग करो व्यवहार धर्म करो फिर निश्चय, वह जिनवाणी के मर्म को नहीं समझता। जिनवाणी राग करने को कहती ही नहीं।

यहाँ तो वीतराग की वाणी क्या कहती है, उसकी परीक्षा करके समझना यह कठिन काम है। बहुत विचक्षणता चाहिए, तत्त्वज्ञानी ही उसे जान सकता है।

'सदा जगमाहिं जगै जिनवाणी' जिनवाणी-जगत में सदा जयवंत हो। देखो! यह जिनवाणी की स्तुति! वाणी तो वाणी है, उसमें कोई आत्मा का भाव नहीं भरा है, वह जड़भाव है; फिर भी उसमें वास्तविक वस्तु का स्वरूप कहने की ताकत विद्यमान है। ऐसी सर्वज्ञ की दिव्यध्वनि सदा जयवंत रहो।

कवि व्यवस्था

हौं निहचै तिहुंकाल, सुद्ध चेतनमय मूरति।
पर परनति संजोग, भई जड़ता विसफूरति।।
मोहकर्म पर हेतु पाइ, चेतन पर रच्चइ।
ज्यौं धतूर-रस पान करत, नर बहुविध नच्चइ।।
अब समयसार वरनन करत,
परम सुद्धता होहु मुझ।
अनयास बनारसिदास कहि,
मिटहु सहज भ्रमकी अरुझ।।4।।

अर्थ:- मैं निश्चयनय से सदाकाल शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ, परन्तु पर-परणति के समागम से अज्ञानदशा प्राप्त हुई है। मोहकर्म का पर निमित्त पाकर आत्मा परपदार्थों में अनुराग करता है, इससे धतूरे का रस पीकर नाचनेवाले मनुष्य जैसी दशा हो रही है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि अब समयसार का वर्णन करने से मुझे परम विशुद्धता प्राप्त होवे और बिना प्रयत्न ही मिथ्यात्व की उलझन अपने आप मिट जावे।।4।।

काव्य - 4 पर प्रवचन

अब, समयसार के तीसरे कलश का अर्थरूप काव्य कहते हैं।

मैं तो अनादि-अनन्त शुद्ध चैतन्य की मूर्ति हूँ, परन्तु परपरणति रूप राग-द्वेष और अज्ञान के संयोग से जड़ता अर्थात् अज्ञानदशा प्रकट हुई है। ''मैं तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ'' - यह द्रव्यदृष्टि

www.vitragvani.com

है, परन्तु मैंने निजवस्तु को भूलकर अज्ञान खड़ा किया है; राग-द्वेष, पुण्य-पाप-यह सब अज्ञान है। इस अज्ञान के संयोग से मुझे जड़ता प्राप्त हुई है। मेरा स्वरूप तो ऐसा है कि आनन्द और ज्ञान की जागृति प्रगट हो किन्तु अज्ञान के कारण से जड़ता हुई है। **जड़ता विसफुरति,** पुण्य-पाप, राग और द्वेष कि जिसमें चैतन्य के स्वभाव का अभाव है ऐसी जड़ता की जागृति हुई है। पर्याय में ऐसा बना है यह बनारसीदासजी कहते हैं। वस्तु तो वस्तु ही है, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा। द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि दोनो का विषय यहाँ बताया है।

परपरिणति का संयोग मैंने किया है, किसी अन्य ने नहीं कराया है। अपने को आप भूल के हैरान हो गया..मैंने ही मलिन दशा का संयोग किया है। मैं शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव तो त्रिकाल हूँ; फिर भी मेरी दशा में मैंने विकार यानी संसार प्रवृत्ति की जागृति की है। पुण्य-पापरूप दोनों विकारभाव जड़ हैं, उनमें चेतनता नहीं है। मैं तो त्रिकाल चेतन स्वरूप होने पर भी दशा में ऐसी अचेतनता की जागृति हुई है और वह भी अनादि से है यह भी सिद्ध किया। अनादि से पर्याय में शुद्धता थी और अब अशुद्धता हुई- ऐसा नहीं है। अपने परमानन्द स्वभाव की दृष्टि नहीं की- इससे अनादि से पर्याय में अशुद्धता है। अपने शुद्ध त्रिकाल स्वभाव पर दृष्टि नहीं करके मैंने ही अपनी दशा में अशुद्धता की जागृति की है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत-अव्रत, काम-क्रोध आदि विकल्पोंवाली दशा को मैं ही प्राप्त हुआ हूँ।

पर्याय में अशुद्धता हुई उसमें मोहकर्म के उदय का निमित्त था। '**मोहकर्म पर हेतु पाइ, चेतन पर रच्चइ।**' अनादि से पर ऐसे मोहकर्म का निमित्त पाकर जीव अपनी पर्याय में राग को रचता है। मूल में तो अपने स्वरूप का भान नहीं, अत: जीव परपदार्थ का लक्ष्य करके विकारी दशा को उत्पन्न करता है। शरीर को, मन को, वाणी को तो आत्मा रचता ही नहीं, क्योंकि वे तो जड़ हैं -परद्रव्य हैं, आत्मा तो उनके लक्ष्य से अपनी पर्याय में विकार को रचता है। स्वयं त्रिकाली निर्विकार भगवान होने पर भी विकार को रचता है; क्योंकि दृष्टि मिथ्या है।

'**चेतन पर रच्चइ**' भगवान आत्मा त्रिकाल प्रज्ञाब्रह्म स्वरूप होने पर भी अपने को भूलकर राग और पुण्य-पाप की रचना करता है, उससे संसार है। 'पर रच्चई' यानी पर के लक्ष्य से अपनी ममता को रचता है। मोहकर्म के निमित्त से अर्थात् उसका संयोग देखकर पर्याय में स्वयं अज्ञान, मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याभाव, राग-द्वेष आदि विकार को उत्पन्न किया है। इससे आनन्द के स्थान पर दु:ख खड़ा हुआ है।

www.vitragvani.com

ज्यों धतूर रसपान करत, नर बहुविध नच्चइ, जैसे धतूरा पीनेवाले को वस्तु सफेद होने पर भी पीली दिखती है; वैसे ही मिथ्यादृष्टि को विपरीत दृष्टि के कारण परवस्तु निजरूप दिखती है। अपना शुद्धस्वरूप तो दिखता ही नहीं और परवस्तु मेरी है और मैं उसका हूँ- ऐसा मानकर असंख्य प्रकार के अशुभराग की रचना करके नाचता है। सबसे भिन्न अपने शुद्धस्वरूप को नहीं देखता।

'अब समयसार वरनन करत' -अब तो मैं आत्मा का वर्णन करूँगा कि जो परम शुद्ध चैतन्य है। आत्मा का वर्णन करते हुए मेरा लक्ष्य तो शुद्ध चैतन्य पर ही है।

बनारसीदासजी कहते हैं कि भगवान जैसा कहते हैं वैसे शुद्धात्मा का वर्णन करूँगा। समयसार माने ही शुद्धात्मा; उसका वर्णन करने से मुझे परम शुद्धता की प्राप्ति होओ। मूल कलश में "समयसार व्याख्येव" शब्द पड़ा है। उसका अर्थ ही यह है कि शुद्धात्मा के वर्णन से मेरी पर्याय में जो थोड़ी अशुद्धि है, उसका नाश होकर परम शुद्धता प्राप्त हो जाओ। समयसार का वर्णन करते हुए लक्ष्य तो अन्दर में घूँटता है तो उसी काल में सर्व अशुद्धि नष्ट हो जाओ।

'परम शुद्धता होहु मुझ'- मैं त्रिकाल शुद्ध ही हूँ- ऐसी दृष्टि हुई है। इसकारण पर्याय में शुद्धता तो है ही, परन्तु साथ में थोड़ी अशुद्धि है, उसका नाश होकर परम शुद्धता प्राप्त होओ। द्रव्य-गुण में जैसी शुद्धि है, वैसी पर्याय में प्राप्त होओ। शास्त्र की रचना करते समय भले ही विकल्प हो और वाणी निकलती हो; परन्तु मेरी दृष्टि तो शुद्ध सत्ता के ऊपर ही है, ध्रुव पर दृष्टि तो पड़ी ही है, तो पर्याय में अशुद्धता है, उसका नाश हो जाओ।

व्याख्या में अशुद्धि का नाश हो जाओ ऐसा विकल्प है। व्याख्या तो निमित्त है, उससे अशुद्धि नष्ट नहीं होती, परन्तु ऐसा विकल्प उठा है। बनारसीदासजी कहते हैं कि **"अनायस मिटहूँ सहज भ्रम को अरुझ"** अनायास अर्थात् ग्रन्थ पढ़ने आदि का प्रयत्न किये बिना मिथ्यात्व की अरुझ अपने आप मिट जाये। मैं तो आत्मा के ग्रन्थ को खूब खोलूँगा। मेरी दृष्टि तो शुद्धस्वभाव के ऊपर ही है, अत: अशुद्धता का नाश होओ। दृष्टि के ज़ोर में प्रतिक्षण शुद्धता बढ़ते-बढ़ते परम शुद्धता प्रकट हो जाओ।

बनारसीदासजी कहते हैं कि द्रव्य और गुण तो शुद्ध ही हैं और पर्याय में भी सम्यग्दर्शन है उतनी शुद्धि है; परन्तु अभी अशुद्धि पूरी गई नहीं तो इस काल में मेरी अनुभूति अन्तर में एकाग्र होकर अशुद्धता का नाश हो जाओ।

www.vitragvani.com

अब यहाँ दुरबुद्ध का अर्थ दिया है, वह लेते हैं। दुरबुद्ध माने मिथ्यादृष्टि। अथवा कोई व्याकरणादि का ज्ञाता पुरुष; परन्तु नयज्ञान से जो रहित है- ऐसा। जिसको निश्चय-व्यवहार का स्वरूप क्या है, उसकी कुछ भी खबर नहीं- ऐसे लोगों को आदिपुराण में जिनसेनाचार्य ने अक्षर-म्लेच्छ कहा है। अपने स्वरूप का भान नहीं और अकेले व्याकरण, संस्कृत आदि के ज्ञान से अपने को ज्ञानी मान लेता है; वह अक्षरम्लेच्छ-अक्षर के पीछे पागल ऐसा कहा है। अपनी दृष्टि कैसी है और वास्तव में वस्तु क्या है यह समझे बिना शास्त्र पढ़ने में होशियार हो जाये, सुन्दर कवितायें रचे उससे क्या हुआ? उसे तो यहाँ अक्षरम्लेच्छ कहा है।

जिसको शुद्ध निश्चयनय से अपना शुद्ध आनन्द पकड़ में नहीं आया और इस अक्षर म्लेच्छपने में अटका हुआ है, वह दुरबुद्ध है।

इसप्रकार तीनों कलशों का अर्थ हुआ।

शास्त्र का माहात्म्य

निहचैमैं रूप एक विवहारमैं अनेक,
यही नै-विरोधमैं जगत भरमायौ है।
जगके विवाद नासिबेकौं जिन आगम है,
जामैं स्याद्वादनाम लच्छन सुहायौ है।।
दरसनमोह जाकौ गयौ है सहजरूप,
आगम प्रमान ताके हिरदैमैं आयौ है।
अनैसौं अखंडित अनूतन अनंत तेज,
ऐसो पद पूरन तुरंत तिनि पायौ है।।5।।

अर्थः- निश्चयनय में पदार्थ एकरूप है और व्यवहार में अनेकरूप है। इस नय-विरोध में संसार भूल रहा है, सो इस विवाद को नष्ट करनेवाला जिनागम है जिसमें स्याद्वाद का शुभ चिह्न है। जिस जीव को दर्शनमोहनीय उदय नहीं होता उसके हृदय में स्वतः स्वभाव यह प्रामाणिक जिनागम प्रवेश करता है और उसे तत्काल ही नित्य, अनादि और अनंत प्रकाशवान मोक्षपद प्राप्त होता है।।5।।

www.vitragvani.com

काव्य - 5 पर प्रवचन

श्री समयसार शास्त्र के चौथे कलश की टीका प्रारम्भ करते हैं। यह नाटक समयसार के जीवद्वार का पाँचवा काव्य है। इसमें बनारसीदासजी शास्त्र का माहात्म्य करते हैं-

निश्चयनय में पदार्थ एकरूप है और व्यवहार में अनेकरूप है। अनन्तगुणों से अभेद आत्मा को देखो तो एकरूप है, अनेक गुण तथा पर्यायों से देखो तो आत्मा अनेकरूप है। जो एक है वही अनेक है; क्योंकि वस्तुदृष्टि से आत्मा एक है और उसकी शक्ति व अवस्था देखो तो अनेक है।

'याही नै-विरोध में जगत भरमायो है', निश्चय और व्यवहारनय के भान बिना जगत भ्रम में पड़ा है। वस्तु को एकरूप ही माने, गुण और अवस्था से अनेकरूप है- ऐसा न माने, वह भ्रम में है; उसीप्रकार ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त शक्तियाँ होने पर भी आत्मा वस्तुरूप से एक है- ऐसा न माने तो भी भ्रम में है।

आत्मा क्या वस्तु है? उसका भान होना ही धर्म है, वही सम्यग्दर्शन है और वही जन्म-मरण मिटाने का उपाय है।

व्यवहार अर्थात् भेद से देखें तो ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि गुण और अवस्थायें अनेक हैं और अभेद से देखें तो वस्तु एक है। जैसे सुवर्ण को वस्तुरूप से देखो तो सोना एक वस्तु है, किन्तु पीलापन, चिकनापन, वज़न आदि से देखो तो उसमें अनेक गुण और अवस्थायें दिखती हैं। आत्मा सत् चिदानन्द ज्ञान और आनन्द के रूपवाला एक पदार्थ है।

जगत के लोगों में तो कोई आत्मा को अखण्ड एकरूप ही देखते हैं और कोई आत्मा को अनेक अवस्थावाला ही देखते हैं। वे दोनों भूल में हैं। वस्तु को एकान्त से एकपक्षीय दृष्टि से देखते हैं, वे भ्रम में पड़े हैं। वस्तु को अखण्डरूप नहीं मानना भी भूल है और अनेक गुण-पर्यायरूप भी वस्तु स्वयं ही है- ऐसा नहीं मानना भी भूल है भ्रम है। परस्पर विरुद्ध दो नयों में जगत भरमाया है। कोई एक को नहीं मानता तो कोई अनेक को नहीं मानता, दोनों भूल में हैं।

जग के विवाद नासिवेकों जिन आगम हैं। आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, वह पर का कार्य करनेवाला अथवा पर से अपना कार्य करानेवाला नहीं है, सबको जाननेवाला है -ऐसे जाननहार तत्त्व की अन्तर्मुख एकाग्रता से जिसने अपनी शक्ति के सत्त्व में सबको जाननापना

www.vitragvani.com

था, वह वर्तमान दशा में प्रकट किया; उसका नाम 'सर्वज्ञ' है। ऐसे सर्वज्ञ भगवान की जो वाणी निकली, वह निश्चय और व्यवहार के विरोध को मिटानेवाली है।

सर्वज्ञ वीतराग की वाणी नय विरोध को किस प्रकार मिटाती है? कि वस्तुदृष्टि से-सामान्य दृष्टि से- तत्त्वदृष्टि से आत्मा एक है और व्यवहारदृष्टि से -भेददृष्टि से आत्मा अनेक रूप है इन दोनों में कोई विरोध नहीं; परन्तु जगत के अज्ञानी जीवों ने कभी अपनी जाति को जानने का प्रयत्न नहीं किया। देखनेवाला स्वयं है, पर देखता है अन्य को -ऐसी दशा हुई है। स्वयं कौन है, उसे नहीं जानता। 'वर रहित बारात' जैसी दशा हुई है, जाननेवाला स्वयं, किन्तु जानता है पर को!

तुम कौन हो और किस प्रकार हो? मैं वस्तुदृष्टि से एक हूँ और ज्ञान, आनन्द आदि गुणभेद के रूप से अनेक हूँ। दोनों दृष्टियों में विरोध लगता है। उस विरोध को वीतराग शासन मिटा देता है। द्रव्यदृष्टि से आत्मा एक ही है और भेददृष्टि से अनेक ही है।

जो एक हो वह अनेक कैसे होगा? और जो अनेक है, वह एक कैसे होगा? उन्हें तो परस्पर विरोध है- ऐसा लगता है। जैनदर्शन उस विरोध को मिटा देता है। वीतराग का आगम उस विरोध को मिटा देता है कि भाई! सोना सोनारूप से एक है; परन्तु पीलापन, चिकनापन आदि गुण तथा हार, कंगन, कुण्डल आदि अवस्थारूप से अनेक है। जैसे उसमें विरोध नहीं है, उसी प्रकार आत्मा के स्वरूप में भी विरोध नहीं है। अनेक होने पर भी एक के साथ और एक होने पर भी अनेक के साथ विरोध नहीं है। वस्तुदृष्टि से एक है और अवस्थादृष्टि से अनेक है। इसप्रकार वीतराग का शासन 'अपेक्षा' से समझाकर वस्तु को सिद्ध करता है और विरोध मिटा देता है।

द्रव्यदृष्टि से एक है और पर्यायदृष्टि से अनेक है -ऐसी परस्पर विरुद्धता होने पर भी वस्तु में विरोध मिटाने की यह दृष्टि शास्त्र प्रदान करते हैं।

यदि वस्तु सर्वथा एकरूप ही हो तो उसमें जानना देखना, श्रद्धा करना, आनन्द प्रकट करना ऐसी अनेकरूपता नहीं हो सकती और यदि वस्तु सर्वथा अनेकरूप ही हो तो एकरूप आनन्दकन्द का अनुभव न हो। एक बिना अनेकता नहीं हो सकती। एक बिना अनेकदशा प्रकट नहीं होती और अनेक न माने तो प्रकट अनेक दशाओं की नास्ति हो जाये।

यह मार्ग बहुत सूक्ष्म है परन्तु ज्ञान में समाये वैसा है, सर्वज्ञ से सिद्ध हुआ मार्ग है; परन्तु कभी उस जाति का प्रयत्न किया ही नहीं।

www.vitragvani.com

'जामें स्याद्वाद नाम लच्छन सुहायो है।' -वीतराग का आगम स्याद्वाद लक्षण से सुशोभित है, स्याद्वाद से ही वीतराग का आगम पहिचाना जा सकता है; क्योंकि स्याद्वाद आगम का लक्षण है। स्यात् अर्थात् कथंचित, वाद अर्थात् कहना। वस्तु कथंचित नित्य है, कथंचित अनित्य है अथवा तो द्रव्य अपेक्षा से नित्य है, पर्याय अपेक्षा से अनित्य है। वस्तु अपेक्षा से एक है, अवस्थादृष्टि से अनेक है। इसप्रकार कथंचित अपेक्षा से जिनागम वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा बताता है।

यह समझना कठिन है अत: इसमे उपयोग को बराबर लगाना। बाहर में तो किसी की होशियारी कोई काम नहीं आती।

प्रश्न:- विवेक से तो काम होता है न! कौन सी वस्तु किसे देना या नहीं देना- यह सब विवेक से होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री:- जड़ के परमाणुओं का आना-जाना उनके अपने से होता है, आत्मा के कारण से नहीं। परमाणु को परिवर्तित करने का भाव अज्ञान है। जड़ तो स्वतंत्र वस्तु है, वह कोई जीव के आधीन नहीं है। जीव के स्वरूप में विकल्प ही नहीं है, वहाँ लेने-देने की वृत्ति कहाँ उठावे? मन में विचार करे कि यह माल इसको देना है; इस मार्ग से, इस वाहन से भेजना है; परन्तु यह कोई कार्य आत्मा से नहीं होता।

प्रश्न:- तो यह सब खोटा है? स्वप्न है?

पूज्य गुरुदेवश्री:- स्वप्न नहीं। वस्तु का आना-जाना होता है; परन्तु वह जीव के विकल्प से नहीं होता, वस्तु की स्वयं की योग्यता से होता है। भाषा की क्रिया भी जड़ से होती है, जीव नहीं बोल सकता। मृत्यु के समय मनुष्य की बहुत इच्छा होती है कि लाख-दो लाख का दान बोलता जाऊँ; परन्तु जीभ ही काम नहीं करती हो तो जीव क्या कर सकता है? ख्याल में आवे कि बोलना चाहता हूँ, परन्तु बोल नहीं सकता। जड़ का कार्य चेतन कैसे कर सकता है? जड़ को चलना हो तो चलता है।

इस नाटक समयसार के कर्त्ता बनारसीदासजी के भी ऐसा ही बनाव बना था। मृत्यु के समय भाषा बंद हो गई थी, किन्तु जीव के देह छोड़ने में समय लगा तो लोग बातें करने लगे कि पण्डितजी का जीव कहीं भटक रहा है। जब तक घर के सभी परिवारजन हाजिर नहीं होंगे, दौलत की पोटली साथ नहीं रखेंगे तब तक मोह नहीं टूटेगा। वास्तव में कविवर तो अपने ध्यान

www.vitragvani.com

में थे, उन्हें कहीं मोह नहीं था; परन्तु आयुष्य की डोर थोड़े ही तोड़ सकते हैं? लोक की मूर्खता को कविवर सहन नहीं कर सके। उन्हें लोगों की मूढ़ता का निवारण करने की इच्छा हुई, इशारे से पेन और पेपर मँगाया और छन्द लिखकर दे दिये, जिन्हें पढ़कर लोगों को अपनी भूल का ज्ञान हुआ और कविवर को महान् धर्मात्मा समझकर वैयावृत्य करने लगे। कविवर द्वारा लिखा गया छन्द यह है-

ज्ञान कुतक्का हाथ मारि अरि मोहना,
प्रकट्यो रूप स्वरूप, अनन्त सुसोहना।
जा परजै को अन्त सत्य कर मानना,
चले बनारसीदास फेर नहीं आवना।।

मैं रागरूपी बैरी को ज्ञानरूपी तलवार से मारकर बैठा हूँ। मैं तो सत्चिदानन्द आत्मा हूँ और मुझे अन्तर में आनन्द प्रकट है, वह मेरी शोभा है। अब इस देह की पर्याय का अन्त आया है। बनारसीदास (स्वयं) जाते हैं, फिर से यहाँ आना नहीं है।

यहाँ भी एक मुमुक्ष भाई का शरीर एकदम जीर्ण हो गया, मृत्यु शैय्या पर पड़े थे; पर प्राण निकलने में समय लगा तो लोग कल्पना करने लगे कि पुत्र मोह में जीव अटका हुआ लगता है; तब उन्होंने कह दिया- मुझे कहीं मोह नहीं है, अपने विचार में हूँ, मुझे कुछ सुनाओ मत..परन्तु लोगों ने तो अपनी रीति से सहजानन्दी..सुनाया। उन्होंने जीवन में बहुत वाचन-विचार किया था और उस समय भी अपने विचारपूर्वक देह छोड़ दी।

भाई! वाणी तो जड़ है। भाषा बंद होने के काल में बंद होती है और बोलने के काल में बोला जाता है, आत्मा नहीं बोलता। जड़ के परमाणु स्वतंत्ररूप से भाषारूप परिणमते हैं, जीव उसमें निमित्त है; परन्तु जीव बोलता नहीं। वीतराग का शासन जड़-चेतन पदार्थ की सिद्धि करके, जड़ की अवस्था जड़ से और चेतन की अवस्था चेतन से होती है- ऐसा समझाता है। जीव की अवस्था में जड़ नहीं और जड़ की अवस्था में जीव नहीं - ऐसा स्पष्टीकरण वीतराग शासन में ही है।

'**स्याद्वाद नाम लक्षण सुहायो है**'- अपेक्षा से कथन को समझना चाहिए। आत्मा बोलता है, चलता है यह तो निमित्त का कथन है। वस्तुतः आत्मा बोलता या चलता नहीं है। आत्मा तो मात्र जानता है अथवा विकल्प करके चार गतियों में भटकता है। अरे! मुझे यह कहना था और रह गया, भाषा बंद हो गई -ऐसा अज्ञानी को होता है। ज्ञानी तो जानते हैं कि मेरे कुछ

www.vitragvani.com

नहीं रहा, मेरे कुछ कहना भी नहीं और सुनना भी नहीं। मैं तो जाननहार आनन्दकन्द आत्मा हूँ।

'दरसनमोह जाको गयौ है सहजरूप' –जिसे अन्तर में आनन्दस्वरूप आत्मा का भान हुआ है उसके भ्रान्ति का नाश हुआ है। पहले तो एकान्तदृष्टि थी कि मैं एक हूँ अथवा अनेक ही हूँ। राग का कर्ता हूँ, शरीर की क्रिया को करता हूँ –ऐसी भ्रान्ति का नाश हुआ है। जिसके दर्शनमोह का नाश हुआ है, उसके हृदय में सहजभाव से यह प्रामाणिक जिनशासन प्रवेश करता है। सर्वज्ञ की वाणी में किस अपेक्षा से कथन है, वह ज्ञानी के हृदय में आ जाता है। उसे भ्रान्ति नहीं होती कि सर्वज्ञ की वाणी में ऐसा कैसे कहा होगा?

सर्वज्ञ परमात्मा ने जो शास्त्र कहे हैं वे शास्त्र ज्ञानी के हृदय में प्रमाणता को पाते हैं, उसमें भ्रान्ति नहीं होती है, जैसी है, वैसा भाव बैठ जाता है। वस्तुदृष्टि से आत्मा एक है, अवस्थादृष्टि से अनेक है। वस्तुदृष्टि से शुद्ध है, अवस्थादृष्टि से अशुद्ध है –ऐसी भ्रान्ति रहित श्रद्धा हो जाती है।

अनैं सों अखण्डित अर्थात् कुनय से वस्तु का खण्डन नहीं हो सकता। कोई आत्मा को एकान्त से एक मानें या अनेक मानें, उससे वस्तु का खण्डन नहीं होता या वस्तु में विरोध नहीं आता।

अनूतन– भगवान आत्मा नया नहीं है, अनादि का है..है..है..। आत्मा नया उत्पन्न नहीं होता। इस भव के पूर्व अन्य भव में था, उससे पूर्व अन्य में– ऐसा अनादि से भव होते आये हैं, परन्तु आत्मा तो अनादि से ऐसा का ऐसा ही है। **अनन्त तेज**–आत्मा का तेज अनन्त है। उसमें ज्ञान और आनन्द का अनन्त तेज रहता है। आत्मा नित्य अनादि–अनन्त तेजस्वरूप है। ज्ञान का तेज अर्थात् जाननहार..जाननहार, सबका जाननहार है। राग हो उसे भी जाने और शरीर की क्रिया को भी जाने– सबको जाने– ऐसा तेज है। आत्मा नित्य अनादि–अनन्त प्रकाश स्वरूप है।

जिनको शास्त्र के कहे अनुसार आत्मा का स्वरूप जम गया है कि मैं तो त्रिकाल आनन्दमूर्ति हूँ, रागादि हैं, परन्तु वे मेरा स्वरूप नहीं; और कर्म आदि भी हैं, वे उसके स्वरूप में हैं, मेरे में नहीं– इसप्रकार जिसको अन्दर में श्रद्धा हो गई है, उसका कुनय से खण्डन नहीं होता; क्योंकि कुतर्क से खण्डित हो, तत्त्व ऐसा नहीं है।

'ऐसा पद पूरन तुरंत तिनि पायो है'– अर्थात् जिसको अन्दर में सहजानन्द आनन्दकन्द प्रभु की दृष्टि प्रकट हुई है, उसको अल्पकाल में पूरन–मोक्षपद प्राप्त होता है। अक्षीण यानी नाश को प्राप्त न हो– ऐसा मोक्ष उसको अल्पकाल में होता है। इतना ही इसको

www.vitragvani.com

करना है- अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान से भरी हुई वस्तु का अन्तर में अनुभव करना और राग के अनुभव को दृष्टि में से छोड़ देना। ऐसे आत्मा के अनुभव से धर्म प्राप्त करके पूर्ण मोक्षपद को प्राप्त होता है, उसके फिर संसार परिभ्रमण नहीं रहता।

इसप्रकार यह चौथे कलश की टीका रूप पाँचवाँ काव्य हुआ।

अब पाँचवें कलश की टीकारुप छठवाँ काव्य इसप्रकार है-

निश्चयनय की प्रधानता

ज्यौं नर कोउ गिरै गिरिसौं तिहि,
सोइ हितू जो गहै दिढ़बाहीं।
त्यौं बुधकौं विवहार भलौ,
तबलौं जबलौं शिव प्रापति नाहीं।।
यद्यपि यौं परवान तथापि,
सधै परमारथ चेतनमाहीं।
जीव अव्यापक है परसौं,
विवहारसौं तौ परकी परछाहीं।।6।।

अर्थः- जैसे कोई मनुष्य पहाड़ परसे फिसल पड़े और कोई हितकारी बनकर उसकी भुजा मजबूती से पकड़ लेवे उसी प्रकार ज्ञानियों को जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ है तब तक व्यवहार का अवलम्ब है, यद्यपि यह बात सत्य है तो भी निश्चयनय चैतन्य को सिद्ध करता है तथा जीव को पर से भिन्न दर्शाता है और व्यवहारनय तो जीव को पर के आश्रित करता है।

भावार्थः- यद्यपि चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहार का ही अवलम्बन है, परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चयनय उपादेय है, क्योंकि उससे पदार्थ का असली स्वरूप जाना जाता है और व्यवहारनय अभूतार्थ होने से परमार्थ में प्रयोजनभूत नहीं है।।6।।

काव्य - 6 पर प्रवचन

कवि बहुत होशियार है, आध्यात्मिक कवि है न! जैसे कोई पर्वत पर से फिसल जाये और कोई हितकारी बनकर उसका हाथ मजबूती से पकड़ ले; उसीप्रकार ज्ञानियों को जहाँतक मोक्ष प्राप्त नहीं होता, वहाँतक व्यवहारनय का अवलम्बन है। मोक्ष होने तक व्यवहारनय की दशा

www.vitragvani.com

उदय की, योग के कंपन की होती है, इतनी ही बात है। व्यवहार भला है या आश्रय करने जैसा है- ऐसा नहीं है।

ज्ञानी धर्मात्मा को अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि में ध्येय और आलम्बन तो शुद्धवस्तु का है; परन्तु जहाँ तक पूर्ण मोक्ष न हो, वहाँ तक उनकी दशा में भेदरूप अवस्था है। वह 'है' इसप्रकार जानने योग्य है, नहीं हैं- ऐसा नहीं। शिवप्राप्ति अर्थात् मोक्ष-आत्मा की पूर्णदशा की प्राप्ति न हो, वहाँ तक अधूरी दशा है; उसे जानना चाहिए।

अहो! इसने अनन्तकाल से चैतन्य का माल जड़ा नहीं है, बाहर की माथापच्ची में पड़ा है; उसका अन्त नहीं आया अर्थात् संसार से मुक्त होने का अवसर नहीं आया, परिभ्रमण का ही अवसर रहा है।

आत्मा सत् चिदानन्द आनन्दस्वरूप है। उसकी दृष्टि करने का नाम ही धर्म है। जहाँ तक इस धर्म की पूर्णतारूप मोक्ष न हो, वहाँ तक अधूरी दशा है- ऐसा जानने का नाम व्यवहार है।

यह जन्म-जरा-मरण के मार्ग से मुक्त होने की बात है। जैसे पहाड़ पर से गिरता मनुष्य हो, उसका हाथ कोई मजबूती से पकड़ ले तो वह उसके लिए निमित्तरूप अवलम्बन कहलाता है। अथवा सीढ़ी पर चढ़ता मनुष्य अपने पुरुषार्थ से चढ़ता है, परन्तु उसमें लकड़ी निमित्तरूप होती है, वैसे ही धर्मी को पूर्णता न हो, वहाँ तक उसकी दशा में भेदरूप पर्याय है, उसे जानने का नाम व्यवहार कहा जाता है।

'यद्यपि यौं परवान' - भेदरूप पर्याय को जानने का ऐसा व्यवहार है, तथापि परमार्थ का साधन तो अभेद आत्मा की दृष्टि और उसमें एकाग्रता ही है। व्यवहार वह कोई साधन नहीं; परन्तु.. इस परिभ्रमण के रास्ते की आड़ में इसको यह नक्की करने का समय ही कहाँ है। पाँच-पच्चीस लाख की आय होती हो तो उसी में मस्त हो जाता है। सवेरे से सायंकाल तक व्यापार-धंधे में बैठा रहे और इसी से मुझे लाभ होता है- ऐसा मानता रहे, वह मूर्ख है। खाना खाते समय भी हाथ में टेलीफोन होता है।

एक बार हम पालेज से मुम्बई माल लेने गये थे। वहाँ आड़तिया के यहाँ साथ जीमने बैठे और फोन आया तो खाते-खाते फोन लिया। उससे कहा भाई! जिस खाने के लिए रुलते हो, उसमें भी शान्ति नहीं! सुख से भोजन भी नहीं कर सकते! भोजन तो शान्ति से करो। अरे! जब मरण का टेलीफोन आयेगा, तब तुम्हारा क्या होगा?

www.vitragvani.com

तुझे सुख और आनन्द चाहिए है न! अखण्ड आनन्द तो तेरे आत्मा में है। उस आनन्द की प्रतीति और अनुभव होने से जन्म-मरण के अभाव के भणकार आते हैं। भले ही उस समय गृहस्थ अवस्था हो, परन्तु वह भणकार बढ़ते-बढ़ते पूर्ण निर्मलदशा - मोक्ष न हो, वहाँ तक अपूर्णदशा है, उसे जानने का नाम व्यवहार है; परन्तु इस व्यवहार से परमार्थ नहीं सधता। '**सधै परमारथ चेतनमाहीं**। ज्ञान का पुंज जो चेतन स्वभाव, उसका आश्रय लेकर आत्मा की शान्ति का साधनपना होता है, अन्य कोई शान्ति का साधन नहीं है।

व्यवहार होता है, वह हमको प्रमाण है; परन्तु उससे परमार्थ नहीं सध सकता। अधूरी अवस्था और राग-रूप पर्याय व्यवहार है, उससे परमार्थ नहीं सधता। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का स्वामी है, उसमें दृष्टि देने से परमार्थ मार्ग सध सकता है।

भावार्थ में कहा है कि यद्यपि चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहार होता है; परन्तु उपादेय तो निश्चयनय ही है; क्योंकि उससे पदार्थ का असली स्वरूप जानने में आता है और व्यवहारनय अभूतार्थ होने से परमार्थ में प्रयोजनभूत नहीं है।

आत्मा की खान में अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, शान्ति आदि भरी है- ऐसे स्वभाव के अन्तर साधन से आत्मा का परमार्थ धर्म सध सकता है। व्यवहार भले ही हो, उससे इन्कार नहीं; परन्तु उस व्यवहार के आश्रय से परमार्थ धर्म नहीं सध सकता। 'सधै परमारथ चेतन माहीं'- चैतन्य के आश्रय से ही चैतन्य की साधना होती है। व्यवहार व्यवहार के स्थान में है, वह जानने लायक है; परन्तु निश्चय साधन तो अन्तर आत्मा में जाना- वही है। अन्तर आत्मा में एकाग्र होना, वह साधन है।

'**जीव अव्यापक है पर सौं**'- वस्तुतः तो आत्मा व्यवहार से व्यापक ही नहीं (राग में आत्मा नहीं व्यापता)। व्यवहारनय पराश्रित है और निश्चय स्वाश्रित है। निश्चय चैतन्य को सिद्ध करता है तथा जीव को पर से भिन्न दर्शाता है और व्यवहारनय तो जीव को पराश्रित करता है, अतः व्यवहार का साधन, वह कोई मुक्ति का कारण नहीं है। सच्चिदानन्द प्रभु का आश्रय करना ही मुक्ति का कारण है।

यहाँ तो आत्मा व्यवहार से अव्यापक है- यह सिद्ध करते हैं। वस्तुतः धर्मी का आत्मा पर से व्यापक है ही नहीं। यह बात अज्ञानी को कठिन पड़ती है; परन्तु जैसे संसार में तो कठिन ऐसा चक्रवर्ती ब्याज भी निकालता है न! तो आत्मा में राग किस प्रकार है, वह कैसे मिटे? उसके प्रयत्न में क्यों नहीं चढ़ता? आत्मा राग में व्यापक नहीं अर्थात् क्या? कि राग आत्मा के स्वभाव

www.vitragvani.com

से भिन्न है। दया, दान, भक्ति का राग भले ही हो; परन्तु आत्मा उससे भिन्न है - अव्यापक है। अत: शुद्ध चैतन्यवस्तु की दृष्टि होते धर्मी जीव के आत्मा में राग नहीं आता, राग नहीं पसरता और राग में आत्मा नहीं पसरता।

'विवहारसौं तौ पर की परछाहीं'- भेद और विकल्प वह तो पर की परछाई है, स्व की पर्याय या स्व की छाया नहीं। पद्य में भी कवि ने कितना घोंटा है। स्वयं गृहस्थाश्रम में स्त्री-पुत्रादि परिवार में थे, फिर भी कहते हैं कि उनमें हम नहीं। भगवान की भक्ति आदि का विकल्प आता है, परन्तु उसमें हम नहीं और उसमें व्यापक नहीं अर्थात् हम उस व्यवहार में फैले हुए नहीं है।

यह शरीर तो जड़-मिट्टी-धूल है। मिट्टी से (पुद्गल से) निर्मित है और मिट्टी में मिल जायेगा। आठ प्रकार के कर्म भी जड़-मिट्टी हैं और पुण्य-पाप का विकल्प होता है, वह विकार है। यह है- ऐसा जानना सही है, परन्तु धर्मी उसमें व्यापते नहीं। धर्मी राग के भाव से भी विरक्त रहते हैं। धर्मी तो मात्र अपनी वीतरागी पर्याय में व्यापक हैं, उसमें अभेद होते हैं, राग में अभेद नहीं होते।

"पराश्रित वह व्यवहार, स्वाश्रित वह निश्चय," स्वाश्रित निश्चय को प्राप्त ऐसे मुनि को भी पराश्रित ऐसा राग होता है; और राग है- इतना जानने योग्य है, परन्तु उससे आगे बढ़कर वह रागभाव लाभ-दायक है या उसके आश्रय से धर्म बढ़ता है, ऐसा नहीं है।

जैसी रुचि पर में है यदि वैसी ही रुचि स्व में करे तो उसको स्वरूपानुभव में देरी नहीं लगे। तुलसीदासजी ने भी लिखा है न-

जैसी प्रीति हराम से, वैसी हरि से होय।
चला जाये बैकुंठ में, पला न पकड़े कोय।

पर में तो इसकी रुचि का पार नहीं है। एक लाख रुपये मिले वहाँ तो लापसी (हलुवा) राँधता है। भाई! यह लाख तो राख है। इसको तो ऐसा होता है कि ओहो! आज तो कुछ पाया है। फोन आया है ....भाई! तुझे तेरी टोन नहीं आती और यह विपरीत टोन आती है। तेरा स्वभाव क्या है? उसकी टोन तो तुझे सूझती नहीं और यह पर की टोन तुझे सूझती है। ये सब परिभ्रमण के रास्ते हैं। एक दिन में दो लाख की कमाई हो तो भी क्या? उसमें से एक पाई भी साथ जानेवाली है? साथ तो कुछ नहीं जाता, परन्तु उसके प्रेम में तू दुर्गति में चला जायेगा- यह बात निश्चित है।

www.vitragvani.com

जिसने अपनी जाति जानी नहीं। मैं कौन हूँ? उसकी कीमत की नहीं और राग तथा पर की कीमत टाली नहीं, वह चौरासी के अवतार में भ्रमण करने चला जाता है। जिसको स्व की कीमत होती है, उसको राग की कीमत नहीं रहती। वह स्वक्षेत्र में चला जाता है।

इसप्रकार छठवें काव्य का अर्थ हुआ। अब भावार्थ लेते हैं-

भावार्थः- यद्यपि चौथे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक व्यवहार का अवलम्बन है, परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से निश्चयनय उपादेय है; क्योंकि उससे पदार्थ का असली स्वरूप ज्ञात होता है और व्यवहारनय अभूतार्थ होने से परमार्थ में प्रयोजनभूत नहीं है।

भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द है। उसका अवलम्बन लेने से, अर्थात् आत्मा जैसा है, वैसी दृष्टि होने से पर्याय में शान्ति और आनन्द आता है। वैसी दशा को चौथा गुणस्थान कहा जाता है, वहीं से निश्चय और व्यवहार प्रारम्भ होते हैं। जहाँ तक भगवान आत्मा शुद्ध है- ऐसी दृष्टि ही नहीं और राग से लाभ मानता है, पुण्य से धर्म मानता है; वह तो मूढ़-मिथ्यादृष्टि है, उसके तो धर्म का प्रारम्भ ही नहीं है। वह तो पहले गुणस्थान में है। चौथे गुणस्थान से ही धर्म का प्रारम्भ होता है। जैसे ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ होती हैं, वैसे ही सिद्ध होने के लिए यह चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक की सीढ़ियाँ है। चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक निश्चय-व्यवहार होते हैं।

देखो सेठ! सम्यग्दर्शन में शान्ति होती है- ऐसा कहा है; पैसे से शान्ति होती है- ऐसा नहीं कहा। पैसा तो धूल है, उस धूल से तो शरीर का रोग भी नहीं मिटता। पैसा हो तो डॉक्टर को बुलाकर दवा हो.. पैसा बिना कहाँ से हो? परन्तु डॉक्टर आकर दवा कर जाये फिर भी मनुष्य मरते नहीं देखे क्या? अरे! डॉक्टर स्वयं भी मर जाता है; अतः पैसे से रोग या मरण नहीं रुकता। पैसे से शान्ति नहीं होती। शरीर, स्त्री, पुत्रादि परिवार से भी शान्ति बिलकुल नहीं होती।

यहाँ तो कहते हैं कि चौथे गुणस्थान से चौदहवें तक पर्याय में व्यवहार होता है। अर्थात् भले ही विकल्प न हो, परन्तु भेद है, योग का कंपन है। अरे! कंपन मिट जाये तो भी आंशिक अशुद्धता है, वह व्यवहार है। ऐसा व्यवहार होता ही है; परन्तु वह आदरणीय नहीं, उपादेय नहीं, शरण नहीं। ज्ञानी को निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं, जबकि अज्ञानी को निश्चय प्रकट हुआ नहीं तो उसके व्यवहार भी नहीं है। भेद तो उसके भी होते हैं, परन्तु अभेद अखण्ड आत्मा के भान बिना उस भेद को भेदरूप नहीं जानता; अतः उसको व्यवहार भी नहीं है।

www.vitragvani.com

ज्ञानी के व्यवहार है, भेद है; परन्तु आश्रय करने की अपेक्षा से वे उपादेय नहीं हैं। उपादेय तो एक पूर्णानन्द स्वरूप आत्मा ही आदरणीय है। व्यवहार है अवश्य; परन्तु उपादेय नहीं और निश्चय है एवं वह उपादेय भी है।

भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यघन, एकरूप, ध्रुव..ध्रुव आनन्दघन है; वही आत्मा का असली स्वरूप है। निश्चय द्वारा ऐसा असली स्वरूप जानने में आता है। व्यवहार से आत्मा का ऐसा असली स्वरूप ज्ञात नहीं होता। व्यवहार द्वारा तो आत्मा की रागवाली, कंपनवाली या उदयवाली पर्याय ज्ञात होती है, किन्तु आत्मा का असली स्वरूप ज्ञात नहीं होता; अत: व्यवहार झूठा है। यह अन्दर का पर्याय का व्यवहार भी झूठा है। वहाँ बाहर के व्यवहार की तो बात ही कहाँ रही ? व्यापार आदि के व्यवहार की तो यहाँ बात ही नहीं है।

आत्मा के असली निश्चय स्वरूप के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। उसकी पर्याय में रागादि का व्यवहार होता है; वह जानने लायक है, आदर के लायक नहीं।

श्रोता:- बहुत ऊँची बात है ?

पूज्य गुरुदेवश्री:-प्रथम में प्रथम बात ही यह है, अन्य सब तो बिना एक के बिन्दियाँ हैं। वस्तु का वास्तविक स्वरूप कैसा है ? उसकी ही जिसे खबर न हो, उसको धर्म कहाँ से होगा ? जिसको धर्म करना हो, उसको राग और एक समय की पर्याय से रहित सिद्ध समान निज आत्मा ही उपादेय है।

निज शुद्धात्मा के असली स्वरूप की भावनावाले को भेदरूप व्यवहार वर्तता है, परन्तु वह आश्रय करने लायक या उपादेय नहीं है; क्योंकि व्यवहार को उपादेय करने से वस्तु का कायमी-असली शुद्धस्वरूप श्रद्धा-ज्ञान में नहीं आता। व्यवहार का विषय एक समय की पर्याय और राग है, वह स्थायी रहनेवाली वस्तु नहीं; अत: वह परमार्थ में प्रयोजनभूत नहीं है।

लोगों को बहुत कड़क लगे- ऐसी बात है। लोग तो पैसे के पीछे मजदूरी करके मर जाते हैं। यह पैसेवाले तो सबसे बड़े मजदूर हैं, क्योंकि सामान्य मजदूर तो दिन भर में आठ घण्टे ही काम करता है और ये तो चौबीस घण्टे काम करते हैं। सबेरे आठ बजे से रात्रि दस बजे तक तो दुकान पर चले जाते हैं और फिर घर में फोन से मजदूरी तो चालू ही है; अत: ये पैसेवाले बड़े मजदूर हैं।

अरिहन्त परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि तेरा नित्य ज्ञानानन्दस्वरूप जो ध्रुव है, वह एक ही

www.vitragvani.com

तुझे आदरणीय है। पर्याय में राग और भेद है, वह नहीं है ऐसा नहीं; परन्तु वे हैं- ऐसा जानने योग्य है, आदरने योग्य नहीं।

लोगों को ऐसा लगता है कि अरे! हम खाते-पीते और मौज करते हैं, वहाँ तुम- आत्मा पर का काम नहीं करता और पर को नहीं भोगता- यह बात कहाँ से लाये?

भाई! वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि आत्मा आँख की एक पलक को भी हिला नहीं सकता। आत्मा तो अरूपी है। अरूपी पदार्थ रूपी को किस प्रकार करे? आत्मा पर को छूता ही नहीं तो पर के काम तो किस प्रकार करे? मात्र कल्पना करता है कि मैं पर के काम करता हूँ; पर का कार्य तो पर से होता है, जीव उसका कर्त्ता नहीं है।

तुझे सुखी होना हो, दु:ख को मिटाना हो तो अनन्त आनन्द का धाम तेरा शुद्धस्वरूप है, उस पर दृष्टि लगा। इसके अलावा सुखी होने का अन्य कोई उपाय नहीं है। तो शिष्य को प्रश्न होता है कि दृष्टि में तो एक आत्मा ही आदरणीय होता है यह सत्य है, परन्तु साथ में वर्तामान में कुछ व्यवहार है या नहीं? उससे आचार्य देव कहते है कि भाई! हाँ, व्यवहार होता है। समकिती को भक्ति आदि के शुभभावरूप व्यवहार होता है और एकसमय की पर्याय भी वास्तव में व्यवहार है। यह व्यवहार है- ऐसे मात्र जानने योग्य है, व्यवहार आदरने योग्य नहीं है। परमार्थ में प्रयोजनभूत नहीं है।

सम्यग्दर्शन का स्वरूप

शुद्धनय निहचै अकेलौ आपु चिदानंद,
अपनैंही गुन परजायकौ गहतु है।
पूरन विग्यानघन सो है विवहारमाहिं,
नव तत्वरूपी पंच दर्वमैं रहतु है।।
पंच दर्व नव तत्त्व न्यारे जीव न्यारौ लखै,
सम्यकदरस यहै और न गहतु है।
सम्यकदरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटो बनारसी कहतु है ।।17।।

अर्थ:- शुद्ध निश्चयनय से चिदानन्द अकेला ही है और अपने गुण-पर्यायों में परिणमन करता है। व्यवहारनय में वह पूर्णज्ञान का पिण्ड वा पाँच द्रव्य नव तत्त्व में एकसा हो रहा है। पाँच

www.vitragvani.com

द्रव्य और नव तत्त्वों से चेतियता चेतन निराला है, ऐसा श्रद्धान करना और इसके सिवाय अन्य भांति श्रद्धान नहीं करना सो सम्यक्दर्शन है; और सम्यक्दर्शन ही आत्मा का स्वरूप है। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि वह सम्यक्दर्शन अर्थात् आत्मा का स्वरूप मेरे हृदय में प्रगट होवे ।।7।।

काव्य - 7 पर प्रवचन

अब समयसार के छठवें श्लोक के पद्यानुवाद रूप सातवाँ काव्य कहते हैं। समयसार के कलशों के कविवर बनारसीदासजी ने पद्य लिखे हैं। इस काव्य में सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया है।

शुद्ध निश्चयनय से चिदानन्द इतना ही है। शुद्ध निश्चयनय अर्थात् सत्यदृष्टि से देखें तो ज्ञानानन्द भगवान आत्मा इतना ही है। शरीर, वाणी, मन और पुण्य-पाप से भिन्न आत्मा इतना ही है। आत्मा समय-समय की पर्याय से भी भिन्न है। शुद्धज्ञान से देखें तो चिदानन्द भगवान आत्मा अनादि-अनन्त ध्रुवरूप विराजता है, अभी भी ऐसे ही है। मान्यता में मान लिया है कि मैं मनुष्य हूँ, रागी-द्वेषी हूँ -यह भ्रम है, अज्ञान है-मूर्ख की मूर्खता है।

जिसको पैसे की रुचि होती है, वह पैसेवाले को बड़ा मानता है। बाकी यहाँ तो गरीब हो या पैसेवाला हो, जिसकी मान्यता ही विपरीत है; वे सब मूर्ख हैं, मूर्खाई में बड़े हैं। यहाँ तो जो गुण में बड़े हैं- ऐसे अरिहन्त और सिद्धभगवान, वे 'बड़े' हैं।

निश्चय माने सच्ची दृष्टि से देखें तो चिदानन्द भगवान आत्मा अनादि-अनन्त ज्ञानानन्द से भरा है, वह एक ही संतों को आदरणीय है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी प्रत्येक का आत्मा निश्चय से सदा शुद्ध ही है, परन्तु अज्ञानी स्वयं अपनी भूल से ही उसे चूक गया है अत: उसे दिखता नहीं है। पर को देखने गया, वहाँ अपने को देखना भूल गया। यह पैसा--यह मकान--यह सब मेरे- ऐसे पर को देखने गया, वहाँ इसकी दृष्टि में से चैतन्य खो गया। जिसकी दृष्टि में पुण्य-पाप और उसके फल की अधिकता दिखती है, उसकी दृष्टि में से चिदानन्द भगवान आत्मा खो जाता है।

त्रिकाल चिदान्नंद स्वभाव की दृष्टि करना, उसका नाम सम्यग्दर्शन है।

'अपनैहि गुन परजाय कौ गहतु है'- भगवान आत्मा समझ का पिण्ड है, वह अपने गुण-पर्याय को ग्रहण करता है। वह राग का,पर का अथवा विकल्प का ग्रहण नही करता। राग,

www.vitragvani.com

विकल्प और विकाररूप से परिणमे, वह आत्मा नहीं है। जो निर्मल गुणरूप से परिणमता है, वही आत्मा है, वही सच्चिदानन्द है। आत्मा को सच्चिदानन्द तो बहुत कहते हैं, परन्तु उसके अर्थ को यथार्थ नहीं जानते।

मैं पर का कार्य कर दूँ-- व्यापार में गहरी रुचि लेकर कमाई बढ़ा दूँ-- खूब पैसा पैदा कर दूँ- ऐसा माननेवाला मूढ़ पर का स्वामी होकर अनात्मा होता है। इसप्रकार मैं पुण्य-पापरूप परिणमता हूँ- ऐसा माननेवाला भी अनात्मा है, आत्मा नहीं।

भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञान का धाम है। वह स्वयं आनन्द और ज्ञानरूप परिणमित हो, उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा पररूप परिणमता तो नहीं, परन्तु पर का कर्त्ता भी नहीं है और दया, दान, व्रत, भक्ति के शुभराग और हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि अशुभरागरूप-विकार रूप भी आत्मा नहीं परिणमता। साक्षात् इन भावों रूप परिणमे, उसे आत्मा नहीं कहते; वह (तो) अनात्मा है।

यह तो परमात्मा तीर्थंकर देव का कहा हुआ मार्ग है। लोगों को यह मार्ग मिला नहीं, अत: यह बात बहुत ऊँची है- ऐसा लगता है; परन्तु यह बात ऊँची नहीं है। यह तो पहले में पहली बात है। सुखी होने का पंथ और विधि तो एकमात्र यही है। अन्य सब परिभ्रमण का पंथ है। उसमें अज्ञानी उत्साहपूर्वक दौड़ रहे हैं।

चिदानन्द भगवान आत्मा शुद्ध ज्ञान और आनन्द का कन्द है और ज्ञान व आनन्द का परिणमन होता है वह उसकी पर्याय है। अशुद्ध परिणमन होता है, वह आत्मा का परिणमन नहीं है। 'आत्मा', वह वस्तु-द्रव्य है, 'चिदानन्द', वह उसका गुण है और ज्ञान-आनन्दरूप से परिणमे, वह उसकी पर्याय है। इसप्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय- तीनों शुद्ध हैं। सम्यग्दर्शन में आत्मा की प्रतीति होने पर द्रव्य, गुण, पर्याय-तीनो शुद्ध है। जहाँ अशुद्ध परिणमन भी आत्मा का नहीं; वहाँ स्त्री, पुत्रादि तो कहीं दूर ही रह गये। उन्हें अपना माननेवाला तो जड़ का स्वामी होता है।

ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा को जानकर उस रूप परिणमना, वह आत्मा का रूप है। शुद्ध चिदानन्दघन, वह चिदानन्द स्वभाववाला स्वभाववान है- ऐसी दृष्टि हो; वहाँ पर्याय में श्रद्धापने होना, ज्ञानपने होना, चारित्रपने होना, आनन्दपने होना, शुद्धतापने होना- वह गुणों का परिणमन है। रागादि हों, विकल्प हों, वह उसका परिणमन नहीं।

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव गणधर और इन्द्रों की हाजिरी में, अरबों देवों की उपस्थिति में

www.vitragvani.com

ऐसा वस्तुस्वरूप बतलाते थे, उसे ही यहाँ कुन्दकुन्द्राचार्य और अमृतचन्दाचार्य फरमाते हैं और उसी का अर्थ बनारसीदासजी पद्य में कहते हैं और उन्हीं एक-एक शब्दों का अर्थ यहाँ हो रहा है।

'शुद्धनय निहचै अकैली आपु चिदानन्द, अपने ही गुन परजाय को गहतु है'- व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प, वह अपने गुण की पर्याय नहीं- ऐसा कहते हैं। देव-शास्त्र-गुरु को मानने का विकल्प, वह मेरी पर्याय नहीं। क्यों ? शुद्ध वस्तु की पर्याय शुद्ध होगी या अशुद्ध होगी ? चैतन्य की खान में अशुद्धता नहीं भरी है तो अशुद्धता आवे कहाँ से ? आत्मा तो पवित्रता का पिण्ड है, अत: पवित्र निर्दोष दशा हो वही उसकी पर्याय है।

इसका अर्थ यह हुआ कि जो अपने द्रव्य का आदर करता है, उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होते ही हैं- ऐसा उसका स्वभाव है। द्रव्य की दृष्टि करे और निर्मलता न प्रकटे- ऐसा कैसे हो सकता है ? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-आनन्द और शान्तिरूप परिणमना- यही आत्मा का स्वभाव है।

नये मनुष्य को ऐसा लगे कि यह क्या कहते हैं ? भगवान के दर्शन करना, नवकार मंत्र पढ़ना, भक्ति करना, उसको धर्म कहते हैं। "शिवपद हमको दीजे रे महाराज शिवपद हमको दीजे"- ऐसी भक्ति करे तो शिवपद मिले; परन्तु भाई ! क्या तेरा शिवपद भगवान के पास है ? तेरा शिवपद तो तेरे पास है, उसकी दृष्टि कर ! उस रूप परिणमना, वह स्वभाव ही है; अत: अवश्य ही परिणमन होगा। मिथ्यात्व और क्रोध, मानादिरूप परिणमने का तो जीव का स्वभाव ही नहीं था, फिर भी उठाईगीर होकर ऐसा अज्ञान खड़ा किया है; परन्तु अपने श्रद्धा-ज्ञान-आनन्दरूप परिणमने का तो जीव का स्वभाव ही है।

मनुष्यभव में यह कर लेने जैसा है। भाई ! देखो न, छोटी-छोटी उम्र के मनुष्य चले जाते हैं। अरे ! जो करने योग्य है वह करे नहीं और नहीं करने योग्य में जिन्दगी चली जाती है। अब ऐसा काम कब हो ?

व्यवहार को ग्रहण करना या निमित्त को ग्रहण करना- ऐसा जीव का स्वभाव ही नहीं है। निर्मल पर्याय को ग्रहण करना, वह उसका स्वभाव है। अहा ! यह वीतराग का धर्म कोई अलौकिक है।

'पूरन विग्यानघन सो है विवहारमाहीं'- भगवान आत्मा विज्ञानघन है। जैसे पाँच मन की बर्फ की शिला हो, वैसे ही यह आत्मा पूर्ण ज्ञान और शान्ति की मोटी शिला है। देह के अन्दर, किन्तु देह के रजकणों से भिन्न ज्ञानानन्द की शिला है। व्यवहार से वह पाँच द्रव्यों और

www.vitragvani.com

नवतत्त्वों में रहता है, परन्तु वह नवरूप नहीं होता। वर्तमान पर्याय में काम-क्रोधादि थे, वे मिटकर संवर-निर्जरा होती है, अत: आत्मा नवतत्त्वरूप पर्याय में होता है; परन्तु वास्तव में वस्तु-द्रव्य है, वह नवरूप नहीं हुई।

ये बनारसीदासजी रंगीले-क्षृंगारी कवि थे; परन्तु सत्समागम हुआ, वहाँ रुचि का परिवर्तन हो गया, सारी दृष्टि फिर गई। अरे! हम तो आत्मा हैं। अतीन्द्रिय आनन्द के घन हैं, हमारा परिणमन तो शुद्ध ही होगा न! हम विज्ञानघन हैं, फिर भी पर्याय में नवतत्त्वरूप परिणमन होता है। व्यवहार से जीव पाँच द्रव्यों में रहता है- ऐसा भी कहा जाता है। जिनागम में अर्थात् प्रवचनसार में छह द्रव्य कहे हैं, परन्तु यहाँ काल को गौण करके पंचास्तिकायों को ही द्रव्य कहे हैं।

'पंच दर्व नव तत्त्व न्यारै जीव न्यारौ लखै'- आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और अपने सिवाय सर्व जीवों से यह जीव भिन्न है। यह आत्मा अनंत सिद्धों और देव-शास्त्र-गुरु से भी भिन्न है। अरे! संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय भी द्रव्य से भिन्न है। वस्तु एकरूप ध्रुव अनादि-अनन्त सत् चित् है, वह कोई नवरूप नहीं हुई। आत्मा व्यवहार से नवतत्त्वरूप होता है, परन्तु निश्चय से नवपर्यायरूप नहीं होता। आत्मा नव से भिन्न है। 'लखै' का अर्थ यहाँ 'श्रद्धे' - ऐसा लेना। जो आत्मा को पाँच द्रव्यों और नवतत्त्वों से भिन्न श्रद्धता है- मानता है- अनुभवता है वह सम्यग्दर्शन है।

कलश टीका में कलश टीकाकार राजमल्लजी ने इस कलश के अर्थ में नवतत्त्वरूप आत्मा के अनुभव को मिथ्यात्व कहा है। उसमें संवर-निर्जरा अनादि के जो अशुद्ध हैं। उनकी बात ली है, शुद्ध संवर-निर्जरा की बात नहीं।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा आकाशादि पाँचों द्रव्यों से भिन्न है। अन्य के अस्तित्व से- अन्य के होनेपने से जीव का अस्तित्व नहीं है। पाँच द्रव्यों और नवतत्त्वों से आत्मा का अस्तित्व-होनापना अत्यन्त निराला है। अत: आत्मा को इन सबसे निराला देखना-श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है। **'सम्यकदरस यहै और न गहतु है'**। छहढाला में पण्डित दौलतरामजी ने भी लिखा है, 'पर द्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है।'

'सम्यकदरस जोइ आतम सरूप सोई'- सम्यग्दर्शन में आत्मा अखण्ड पूर्णानन्द है ऐसा देखना, वह आत्मा का स्वभाव ही है। राग और दया, दान के विकल्प, वे आत्मा का स्वरूप नहीं और आत्मा का स्वरूप उनसे दिखता नहीं। सम्यग्दर्शन में ही आत्मा जैसा है, वैसा श्रद्धा में आता है।

www.vitragvani.com

'मेरे घट प्रकटे बनारसि कहतु है'- पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं- ऐसा आत्मा का स्वरूप मुझे प्रकट होओ अर्थात् मेरे ज्ञान की पूर्णदशा प्राप्त होओ -ऐसा कहकर सिद्धपद को आमन्त्रण देते हैं।

इसप्रकार समयसार के छठवें कलश के पद्यानुवाद रूप सातवाँ काव्य पूर्ण हुआ।

जीव की दशा पर अग्नि का दृष्टान्त

जैसैं तृण काठ बांस आरने इत्यादि और,
ईंधन अनेक विधि पावकमैं दहिये ।
आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप,
दीसै एक दाहक सुभाव जब गहिये ।।
तैसैं नवतत्त्वमैभयौ है बहु भेषी जीव,
सुद्धरूप मिश्रित असुद्ध रूप कहिये ।
जाही छिन चेतना सकतिकौ विचार कीजै,
ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये ।।8।।

अर्थः- जैसे कि घास, काठ, बांस वा जंगल के अनेक ईंधन आदि अग्नि में जलते हैं, उनकी आकृतिपर ध्यान देने से अग्नि अनेकरूप दिखती है, परन्तु यदि मात्र दाहक स्वभाव पर दृष्टि डाली जावे तो सब अग्नि एकरूप ही है; उसी प्रकार जीव (व्यवहारनय से) नव तत्त्वों में शुद्ध, अशुद्ध मिश्र आदि अनेक रूप हो रहा है; परन्तु जब उसकी चैतन्यशक्तिपर विचार किया जाता है तब वह (शुद्धनय से) अरूपी और अभेदरूप ग्रहण होता है ।।8।।

काव्य - 8 पर प्रवचन

अब सातवें कलश के अनुवादरूप आठवाँ काव्य कहते हैं, जिसमें जीव की दशा पर अग्नि का दृष्टान्त देते हैं।

परमात्मा त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव क्या कहते हैं, उसकी जिसे खबर नहीं- समझ में ही फेर है, वाद-विवाद में पड़ा है; उसको सम्यग्दर्शन नहीं होता। अपनी कल्पनानुसार वस्तु का स्वरूप माने और धनवान हो तो दान देकर, मन्दिर आदि बनवावे और मान ले कि हमें धर्म हो गया तो ऐसे मान लेने से धर्म नहीं हो जाता। मन्दिर बनता है, वह तो पुद्गल से बनता है और बनाने का भाव शुभभाव है, उससे पुण्य बँधता है; परन्तु धर्म नहीं होता। धर्म तो अन्दर में आनन्द मन्दिर खोलने से होता है।

www.vitragvani.com

जैसे तृण काठ--आदि अनेक ईंधन अग्नि में जलते हैं, उनकी आकृति पर ध्यान देने से अग्नि अनेक रूप दिखती है, परन्तु अग्नि के दाहक स्वभाव पर दृष्टि करो तो अग्नि एकरूप ही है। जंगल में सूखे हुये छाणे (कंडे) का आकार अलग होता है, लकड़ी का आकार अलग होता है, पत्तों का अलग होता है और गन्ने के छिलकों को जलावे तो उनका आकार अलग होता है और मनुष्य को जलावे तब अग्नि में ऊपर से मनुष्य का आकार दिखता है; परन्तु वास्तव में अग्नि का स्वभाव देखो तो दाहक--दाहक--दाहक है, एकरूप दाहक स्वभाव है।

बनारसीदासजी दृष्टान्त देकर सरल करके समझाते हैं।

'दीसै एक दाहकस्वभाव जब गहिये'- भिन्न-भिन्न ईंधन अग्नि में जल रहे हैं, उसी समय अग्नि को उसके एक दाहक स्वभाव से देखो तो सब अग्नि एकरूप है और अनेक आकार गौण हैं, एक दाहक स्वभाव मुख्य है।

'तैसे नवतत्त्व मैं भयो है बहुभेषी जीव' -अग्नि की तरह जीव व्यवहारनय से नवतत्त्वों में शुद्ध-अशुद्ध, मिश्र आदि अनेकरूप हो रहा है। रागरूप होता है, बंधरूप होता है, संवररूप होता है, निर्जरा और मोक्षरूप होता है। ये सब आत्मा के वेष हैं। मोक्ष भी वेष हैं, अवस्था है, गुण नही।

इसप्रकार आत्मा व्यवहारनय से नवतत्त्वरूप होने पर भी उसके चेतना स्वभाव से देखो तो वह त्रिकाल एक चेतना स्वभाव रूप ही है। चेतना--चेतना--चेतना त्रिकाल एकरूप विज्ञानघन है। उसमें सभी भेद गौण हो जाते हैं।

'जाहीं छिन चेतना सकति कौ विचार कीजै, ताहीं छिन अलख अभेदरूप लहिये'- जिस क्षण आत्मा की चेतना शक्ति का विचार करने में आता है, तब वह अरूपी और अभेदरूप ग्रहण होती है। जिस क्षण चैतन्य शक्ति का सत्त्व देखो, उस क्षण अलख माने विकल्प और भेद से ज्ञात न हो, वैसा आत्मा स्वसंवेदन से जान लिया जाता है- अनुभव में आता है। जैसा अलख और अभेद है, वैसा स्वसंवेदन में आता है।

मार्ग जरा कठिन तो है; परन्तु सरल भाषा में आता है; अत: थोड़ा अभ्यास हो तो समझ में आवे- ऐसी बात है। समझ में नहीं आवे- ऐसा नहीं। अग्नि को लकड़ी की अग्नि, तिनके की अग्नि, छाने की अग्नि ऐसे दाहक के आकार से देखो तो अग्नि अनेकरूप दिखती है, परन्तु

www.vitragvani.com

अग्नि को दाहकरूप देखो तो दाहक--दाहक--दाहकरूप अग्नि एकरूप है। वैसे ही आत्मा को जीव का विकल्प, अजीव का विकल्प, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्षरूप से देखो तो आत्मा अनेकरूप दिखता है, परन्तु आत्मा को चैतन्य--चैतन्य--चैतन्यरूप से देखो तो आत्मा एकरूप चैतन्य है।

आत्मा एकरूप नित्य ध्रुव अरूपी अभेदरूप दृष्टि में आता है, उसे ही आत्मा कहने में आता है।

जीव की दशा पर स्वर्ण का दृष्टान्त

जैसैं बनवारी मैं कुघात के मिलाप हेम,
नानाभांति भयौ पै तथापि एक नाम है।
कसिकैं कसौटी लोकु निरखैं सराफ ताहि,
बानके प्रवान करि लेतु देतु दाम है ।।
तैसैं ही अनादि पुद्गलसौं संजोगी जीव,
नव तत्त्वरूपमैं अरूपी महा धाम है।
दीसै उनमानसौं उदोतवान ठौर ठौर,
दूसरौ न और एक आतमा ही राम है ।।9।।

अर्थः- जिस प्रकार सुवर्ण कुधातु के संयोग से अग्नि के ताव में अनेकरूप होता है, परन्तु तो भी उसका नाम एक सोना ही रहता है तथा सर्राफ कसौटी पर कसकर उसकी रेखा देखता है और उसकी चमक के अनुसार दाम देता-लेता है; उसी प्रकार अरूपी महा दीप्तवान जीव अनादिकाल से पुद्गल के समागम में नवतत्त्व रूप दिखता है, परन्तु अनुमान प्रमाण से सब हालतों में ज्ञानस्वरूप एक आत्मराम के सिवाय और दूसरा कुछ नहीं है।

भावार्थः- जब आत्मा अशुभ भाव में वर्तता है तब पापतत्त्वरूप होता है, जब शुभ भाव में वर्तता है तब पुण्यतत्त्वरूप होता है, और जब शम, दम, संयमभाव में वर्तता है तब संवररूप होता है, इसी प्रकार भावास्रव भावबंध आदि में वर्तता हुआ आस्रव-बंधादिरूप होता है, तथा जब शरीरादि जड़ पदार्थों में अहंबुद्धि करता है तब जड़स्वरूप होता है; परन्तु वास्तव में इन सब अवस्थाओं में वह शुद्ध सुवर्ण समान निर्विकार है।।9।।

www.vitragvani.com

काव्य - 9 पर प्रवचन

यह श्री नाटक समयसार के जीवद्वार का नौवाँ काव्य है-

जैसे सोना कथीर, चाँदी, पीतल आदि सहित अशुद्ध हो, उसे शुद्ध करने के लिए कुलड़ी (भट्टी) में डालकर ताव दिये जाते हैं तो तेरहवाँ, चौदहवाँ, सोलहवाँ आदि सोने की अनेक अवस्थायें होती हैं; फिर भी हर समय उसका नाम सोना ही है। वस्तुरूप से सोना तो प्रत्येक अवस्था में सोना ही है- सर्राफ उस सोने को कसौटी पर कसकर उसकी रेखा देखता है और उसकी चमक अनुसार सोने का भाव निश्चित करता है। यह तो दृष्टान्त हुआ। उसका सिद्धान्त यह है कि यह अरूपी महा दीप्तिवाला जीव अनादिकाल से पुद्गल के समागम में नवतत्त्वरूप दिखता है, परन्तु वस्तुरूप से जीव तो सदा एकरूप ही है। वह अनुमान प्रमाण से समस्त दशाओं में ज्ञानस्वरूप एक आत्माराम ही है, अन्य कुछ नहीं- ऐसा निश्चित होता है।

सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव ने शुद्ध चैतन्य आनन्द स्वरूप आत्मा को ही आत्मा कहा है। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञान आनन्द का धाम है, परन्तु अनादिकाल से कर्म और अन्य पुद्गल से संयोग में रहा हुआ है, इससे नवतत्त्वरूप दिखता है। पर्याय में नवतत्त्वरूप दिखता है, वही आत्मा द्रव्य से अरूपी महाआनन्द मूर्ति सदा एकरूप रहा है।

नवतत्त्व कौन से ? जीव सम्बन्धी विकल्प, वह जीवतत्त्व; अजीव सम्बन्धी विकल्प, वह अजीवतत्त्व; दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह आस्रव और उसमें अटकना, वह बंधतत्त्व है; उस आस्रव का अभाव करके स्वभाव के आश्रय से धर्म प्रकट हो, वह संवरतत्त्व है; शुद्धि में वृद्धि हो, वह निर्जरातत्त्व है और शुद्धि की पूर्णता होती है, वह मोक्षतत्त्व है। ये सब पर्यायें हैं। पुद्गल कर्म के निमित्त से पर्याय में आस्रव, बंध, पुण्य, पाप आदि मलिन पर्याय और उसका अभाव होकर संवर, निर्जरा, मोक्ष रूप निर्मल पर्यायें दिखती हैं। पर्याय में नवतत्त्व दिखते हैं, परन्तु वस्तु में ऐसे नौ भेद नहीं है। सोनारूप से सोना सोना ही है, वैसे ही वस्तुरूप से आत्मा अरूपी आनन्दघन है; उसमें दृष्टि करने से पर्याय में धर्म प्रकट होता है। इसके सिवाय बाहर से कहीं से भी धर्म प्रकट नहीं होता।

वस्तुरूप से आत्मा एकरूप त्रिकाली ज्ञान-आनन्दघन है। ऐसा ही उसका त्रिकाली स्वरूप है। उसमें कर्म के सम्बन्ध से नव भेदरूप अवस्था दिखती है, फिर भी उसको एकरूप देखो तो उसमें भेद है ही नहीं। अरूपी शुद्ध ज्ञान..ज्ञान..ज्ञान..आनंद.. अनादि-अनन्त ज्ञान आनन्द स्वरूप आत्मा एकरूप है; वह निश्चय है, पर्याय में नौ प्रकार दिखते हैं वह व्यवहार है।

www.vitragvani.com

जिसको धर्म करना है, चौरासी के अवतार-जन्म-मरण का नाश करना है, उसे क्या करना वह कहते हैं। आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। बाहर में पैसे से, परिवार से और आबरू आदि से आनन्द मानता है वह तो कल्पित आनन्द है। वस्तुत: वह आनन्द नहीं परन्तु दु:ख है। ऐसी दु:ख रूप अवस्था जीव की पर्याय में होती है परन्तु वह कोई जीव का स्वरूप नहीं है। वह तो जीव की विकाररूप अवस्था है। और धीरज से वस्तु का आश्रय लेने पर जो धर्मदशा प्रकट होती है उसके तीन प्रकार हैं- संवर, निर्जरा और मोक्ष। संवर माने शुद्धि की उत्पत्ति, निर्जरा माने शुद्धि की वृद्धि और मोक्ष माने शुद्धि की पूर्णता।

इसप्रकार शुद्ध और अशुद्ध अवस्था जीव की दशा में है, परन्तु वह व्यवहार है।

सेठ! यह तुम्हारा व्यापार तो व्यवहार भी नहीं- ऐसा कहते हैं। यह तो जड़ परद्रव्य के खाते में गया। व्यापार की क्रिया, वह आत्मा का व्यवहार नहीं।

आत्मा तो वह है कि जो त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा ने जगत को बताया है- प्रसिद्ध किया है। जैसे सोने को ताव देने पर कथीर घटता जाता है और सोना निर्मल होता जाता है- इस अपेक्षा से उसकी दशा में भेद पड़ते दिखाई देते हैं, परन्तु सोनारूप से तो सोना सोना ही है; वैसे ही अनन्त-अनन्त ज्ञान-दर्शनादि स्वरूप से विराजमान महाप्रभु को संसार अवस्था में निमित्त के सम्बन्ध से हिंसा, झूठ आदि पाप परिणाम; अहिंसा, सत्य आदि पुण्य परिणाम; शुभ-अशुभ दोनों रूप आस्रव भाव, बंधभाव और धर्म प्रकट होने के पश्चात् पूर्ण न हो वहाँ तक शुद्धि और शुद्धि की वृद्धिरूप संवर, निर्जरा भाव आत्मा की दशा में दिखते है; परन्तु उसी समय वस्तुरूप से देखो तो आत्मा एकरूप ही है।

देखो! एक आत्मा में दो प्रकार कहे हैं। परद्रव्य तो पर में ही है अर्थात् शरीर शरीर में है और कर्म कर्म में है। वे जीव में नहीं; परन्तु जीव के अपने दो भाव हैं, उसमें एक पर्याय भाव है जिसमें नौ प्रकार की दशा दिखती है, वह सब व्यवहार है। मैं जीव हूँ ऐसा विकल्प, अजीव मेरे में नहीं ऐसा विकल्प, शुभ-अशुभभाव- आस्रव और बंध ये विकारी दशायें हैं और वस्तुस्वभाव की दृष्टि करने से जो धर्म की दशा प्रकट होती है, वह निर्विकारी दशा है ये सब दशायें व्यवहार हैं; क्योंकि ये वस्तु का त्रिकाली स्वरूप नहीं है। नई प्रकट होती है, अत: अवस्था, वह व्यवहार जीव है।

भगवान आत्मा त्रिकाल शुद्ध चैतन्य धातु है। उसकी दशा में पुण्य-पाप और आस्रव-

www.vitragvani.com

बंध आदि होते हैं, वह व्यवहार है। उसी प्रकार वस्तु जो त्रिकाली ध्रुव सत् चैतन्य, उसके आश्रय से जो शुद्धि प्रकट होती है, शान्ति और आनन्द आदि धर्म के अंश प्रकट होते हैं, वह भी व्यवहार है।

आत्मा के सम्बन्धवाली दशा को व्यवहार कहा है। बाह्य व्यवहार की बात नहीं है। उस व्यवहार का तो कुछ स्थान ही नहीं है। वह व्यवहार तो आत्मा का विषय ही नहीं है। आत्मा एक वस्तु है, अत: वह त्रिकाली है; क्योंकि 'है' उसकी उत्पत्ति या नाश नहीं होता। जो वस्तु होती है वह स्वभाव बिना की नहीं होती है। वस्तु का स्वभाव, वह 'निश्चय' है। त्रिकाली स्वभाववाला तत्त्व, वह द्रव्य अथवा वस्तु अथवा निश्चय है और उसकी विकारीदशा, वह असद्भूत व्यवहार है और वस्तुस्वभाव के आश्रय से जो धर्म की- शान्ति और आनन्द की निर्मलदशा प्रकट होती है, वह सद्भूत व्यवहार है। एक समय की पर्याय भी भेदवाला व्यवहार है, अत: वह हेय है।

एकरूप त्रिकाली ज्ञायक भगवान आत्मा एक ही उपादेय और आदरणीय है; परन्तु अरे! इसको अपने हित के मार्ग की खबर नहीं है। सब परिभ्रमण के मार्ग में होशियार हो गये हैं।

त्रिलोकनाथ परमात्मा ऐसा फरमाते हैं कि भाई! तेरे में दो प्रकार हैं और वे पर के कारण से नहीं और पर से नहीं, परन्तु तेरे ही कारण से हुई पुण्य-पाप, आस्रव-बंध की पर्याय और तेरे आश्रय से हुई संवर, निर्जरा की पर्याय, वह व्यवहार है। अत: वह आदरणीय नहीं, हेय हैं। नव पर्यायरूप अवस्था है, नहीं है- ऐसा नहीं; परन्तु वस्तु की दृष्टि से देखो तो आत्मा एकरूप--एकरूप--एकरूप पूर्ण शुद्ध है।

अरे! इसको 'मैं कौन हूँ'- इसकी खबर नहीं। यह बात किसी दिन सुनी नहीं। कहाँ पहुँचना है, कैसे जाना, कैसे रहना- इसकी खबर नहीं--- जिन्दगी व्यर्थ चली जाती है। यह धनादि की अनुकूलता दिखती है, वह भी पूर्व का पुण्य जला, तब आई है; कोई वर्तमान पुरुषार्थ से आई नहीं है। ये पैसे अपने नजदीक आये हैं इतना ही, अपने अन्दर तो मात्र उसकी ममता आई है, पैसा तो पैसे में रहा है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को जबतक पूर्णता न हो, वहाँ तक उसकी दशा में पुण्य-पाप, आस्रव और बंध होते हैं और स्वभाव के आश्रय से प्रकटी शुद्धि और निर्विकल्पता में आनन्द के अंश प्रकट होते हैं- ये सब दशायें होती है और पूर्णता हो तब पूर्णदशा होती है, परन्तु वह व्यवहार है। भेद पड़ते हैं अत: वह व्यवहार है। अभेद शाश्वत निजवस्तु, वह निश्चय है।

आत्मा ध्रुवरूप से अनादि-अनन्त एकरूप वस्तु है। उसकी दृष्टि करने पर - उसकी

www.vitragvani.com

सन्मुखता और रागादि से विमुखता करने पर उसकी दशा में सम्यग्दर्शन, ज्ञान-स्थिरता, आनन्द, शान्ति आदि धर्म की शुरूआत होती है, वह आत्मा की दशा है; परन्तु आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं, अत: वह व्यवहार है। सिद्धदशा प्रकट होती है, वह भी नई होती है, त्रिकाली नहीं; त्रिकाली का एक अंश है, अत: व्यवहार है।

जैसे सोने को अग्नि का ताव देने से सोने की अवस्था में लाल-पीले आदि अनेक रंग दिखते हैं, वैसे ही भगवान आत्मा में कर्म के निमित्त के सम्बन्ध में पुण्य-पाप आदि विकारी अवस्था और कर्म के अभाव के निमित्त में संवर, निर्जरा आदि निर्मल अवस्था दिखती है, पूर्ण शुद्ध हो, तब मुक्ति दिखती है; परन्तु ये सब नई-नई होती अवस्थायें हैं, वस्तु का त्रिकाली रूप नहीं।

अहा! इसको अपने स्वरूप की खबर नहीं है। बाहर में चतुर मनुष्य गिना जाता हो, बात करने बैठे तो सारी दुनिया की बातें कर ले, परन्तु इसको अपने वास्तविक स्वरूप की खबर नहीं है। उससे यहाँ गुरु कहते हैं कि भाई! एकबार तेरे स्वरूप की बात सुन तो सही! तेरी अस्ति दो प्रकार से है- एक वस्तुरूप से तेरी अस्ति है और दूसरी पर्यायरूप से तेरी अस्ति है।

भगवान आत्मा अविनाशी आनन्द और ज्ञान का धाम है, महावस्तु है, एकरूप है; वह निश्चयनय का विषय है। अरूपी महादीप्तिवान-चैतन्य के प्रकाश के नूर का पूर है, वह तू ही है। वह महादीप्तिवान जीव अनादिकाल से कर्मपुद्गल के समागम से नवतत्त्वरूप दिखता है, भेदरूप दिखता है; परन्तु अनुमान प्रमाण से समस्त दशाओं में वह ज्ञानस्वरूप एक आत्माराम सिवाय अन्य कुछ नहीं।

अनुमान प्रमाण से देखो तो जीव की समस्त दशाओं में ज्ञान--ज्ञान--ज्ञान की चमक त्रिकाल है, उसे देख!

पात्रता हो तो यह बात रुच जाती है। मार्ग तो यही है- ऐसा पहले समझ में- ज्ञान में तो ले! लोग दया, दान, व्रत तथा तप आदि में धर्म मानकर बैठे हैं। अरे! इसे कहाँ जाना है और किस मार्ग में अटका पड़ा है!

भाई! तू एकरूप त्रिकाली द्रव्य है, उसका एकबार अनुमान तो कर! नवतत्त्वों के भेद हैं, वे तो दशा में है, व्यवहार का विषय है- वर्तमाननय का विषय है; परन्तु त्रिकालीनय से अन्तर में देख तो अकेला चित्शक्ति का चमत्कार--चित्शक्ति का चमत्कार त्रिकाल है।

www.vitragvani.com

'दीसै उनमान सौ उदौतवान ठौर-ठौर'- जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वहाँ-वहाँ आत्मा चैतन्य चमत्कार से जाननहार--जाननहार--जाननहार है। राग का जाननहार, आस्रव का जाननहार, बंध का जाननहार, संवर, निर्जरा और मोक्ष का भी जाननहार है। जाननहार सदा सबका जाननहार है। एक आत्माराम सिवाय अन्य कुछ नहीं है। अर्थात् ज्ञान--ज्ञान--ज्ञानस्वरूप है, उसमें कोई भेद नहीं है।

लोगों को यह अभ्यास नहीं है, अत: कठिन पड़ता है। कभी अपनी जाति को देखा नहीं और कैसे देखना, यह भी पता नहीं है।

एक चिद्रूप आत्माराम में शरीर, वाणी, मन, आबरू, पैसा आदि तो नहीं; परन्तु ये आस्रव, संवर आदि नवभेद भी उसमे नहीं। अहो! यह वीतराग मार्ग का मक्खन है।

आत्माराम--आत्माराम--आनन्द--आनन्द त्रिकाल अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है, वह आत्मा है। अतीन्द्रिय ज्ञान का खजाना है। पर्याय तेरा व्यवहार है और द्रव्य तेरा निश्चय है। देखो! संवर, निर्जरा और मोक्ष भी व्यवहार है।

भावार्थ- जब आत्मा अशुभभाव में वर्तता है, तब पापतत्त्वरूप होता है। हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापभाव हैं। दया, दान, सत्य, अचौर्य आदि पुण्यभाव हैं- इन दोनों प्रकार के राग से हटकर स्वभाव है वैसी ही वीतरागता पर्याय में प्रकट हो-उसका नाम समता है। समता प्रकट हो, तब आत्मा आवरण से मुक्त होता है अर्थात् कि संवर होता है।

पुण्य-पाप के विकल्प में वर्तता जीव आस्रवरूप होता है और पुण्य-पाप के राग में अटकता जीव भाव बंधरूप होता है। और जब यह शरीर मेरा, पैसे मेरे, मकान मेरा- ऐसे जड़ पदार्थो में अहंबुद्धि करता है, तब जड़स्वरूप होता है अर्थात् अपने को जड़ मानता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि यह पैसा है तो खर्च कर सकते हैं। पैसे के बिना प्रीतिभोज हो सकता है? गरीब मनुष्य कर सकता है? ऐसा मानते हुए वह जड़ का स्वामी होता है। भाई! पैसा पैसे के कारण आता है और जाता है, उसमें आत्मा कुछ नहीं कर सकता। एक आँख की पलक को फेरना, वह भी आत्मा का कार्य नहीं है; फिर भी अज्ञानी पर के कार्य का कर्त्ता होता है, वह पर्याय में जड़बुद्धि हुआ है।

वास्तव में, शुद्ध और अशुद्ध समस्त दशाओं में आत्मा वस्तुरूप से निर्विकार है। सोना में भेद नहीं देखकर सोने को सोनेरूप देखो तो सोना एकरूप है; वैसे ही पर्याय के भेद को नहीं

www.vitragvani.com

देखकर त्रिकाली वस्तु को देखे तो आत्मा आनन्दधाम है। जो दशा में भेदरूप वर्तता है, वही आत्मा वस्तुरूप से अभेद और निर्विकार है। पर्याय में भेद है, परन्तु वस्तु अभेद है।

अनुभव की दशा में सूर्य का दृष्टान्त

जैसैं रवि-मंडल के उदै महि-मंडलमैं,
आतप अटल तम पटल विलातु है।
तैसैं परमातमाकौ अनुभौ रहत जौलौं.
तौलौं कहूं दुविधा न कहूं पच्छपातु है ।।
नयकौ न लेस परवानकौ न परवेस,
निच्छेपके वंसकौ विधुंस होत जातु है।
जे जे वस्तु साधक हैं तेऊ तहां बाधक हैं,
बाकी राग दोष की दसा की कौन बातु है ।।10।।

अर्थ:- जिस प्रकार सूर्य के उदय में भूमंडल पर धूप फैल जाती है और अंधकार का लोप हो जाता है, उसी प्रकार जबतक शुद्ध आत्मा का अनुभव रहता है तबतक कोई विकल्प व नय आदि का पक्ष नहीं रहता। वहाँ नय-विचार का लेश नहीं है, प्रमाण की पहुँच नहीं है और निक्षेपों का समुदाय नष्ट हो जाता है। पूर्व की दशा में जो जो बातें सहायक थीं वे ही अनुभव की दशा में बाधक होती हैं और राग-द्वेष तो बाधक हैं ही।

भावार्थ:- नय तो वस्तु का गुण सिद्ध करता है और अनुभव सिद्ध वस्तु का होता है, इससे अनुभव में नय का काम नहीं है, प्रत्यक्ष-परोक्ष आदि प्रमाण असिद्ध वस्तु को सिद्ध करते हैं सो अनुभव में वस्तु सिद्ध ही है अत: प्रमाण भी अनावश्यक है, निक्षेप से वस्तु की स्थिति समझमें आती है सो अनुभव में शुद्ध आत्म-पदार्थ का भान रहता है अत: निक्षेप भी निष्प्रयोजन है, इतना ही नहीं ये तीनों अनुभव की दशा में बाधाकारक हैं परन्तु इन्हें हानिकर समझकर प्रथम अवस्था में छोड़ने का उपदेश नहीं है, क्योंकि इनके बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। ये नय आदि साधक हैं और अनुभव साध्य है, जैसे कि दंड चक्र आदि साधनों के बिना घट की सृष्टि नहीं होती। परन्तु जिस प्रकार घट पदार्थ सिद्ध हुए पीछे दंड चक्र आदि विडंबनारूप ही होते हैं, उसी प्रकार अनुभव प्राप्त होने के उपरान्त नय निक्षेप आदि के विकल्प हानिकारक हैं ।।10।।

www.vitragvani.com

काव्य- 10 पर प्रवचन

अब दशवें काव्य में सूर्य के दृष्टान्त से अनुभव की दशा का वर्णन करते हैं:-

जैसे सूर्य के उदय में भूमण्डल के ऊपर ताप फैल जाता है और अंधकार का लोप हो जाता है, वैसे ही **"परमातम को अनुभौ रहत जौलौं, तौलों कहु दुविधा न कहं पच्छपातु है"** निर्विकल्प अनुभव में नय के पक्ष या विकल्प नहीं रहते। सम्यग्दर्शन और ज्ञान प्रकट होता है, अतीन्द्रिय आनन्द आता है। शुद्ध आत्मा के अखण्ड आनन्द के अनुभव में, मैं द्रव्य हूँ या पर्याय हूँ- ऐसे दो भेद भी नहीं रहते। परमात्मा का अनुभव माने नौ भेदस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं, परन्तु जैसा त्रिकाली आत्मा का स्वरूप है; वैसी अनुभवरूप पर्याय जिसमें सर्व विकल्प टूट जाते हैं।

चैतन्य साहेब जब अपने घर में प्रवेश करता है, निर्विकल्प अनुभव करता है; तब वहाँ कोई विकल्प या भेद आदि का प्रवेश नहीं है।

'अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष सरूप।।

अपने ध्रुवस्वरूप आत्मा के अनुभव में, मैं एक हूँ और पर्याय में अनेक भेद हैं- ऐसे विकल्प नहीं होते; परन्तु आत्मा में एकाग्रता हो, उसका नाम अनुभव है, उसका नाम धर्म है। जिसको अभी धर्म के स्वरूप की समझ ही न हो, उसको ऐसा अनुभव कहाँ से होगा ? वह तो चौरासी के अवतार में फेरे कर-करके मर रहा है। लग्न मण्डप में तो चार या सात फेरे फिरते हैं; परन्तु कौआ, कुत्ता, कीड़ी, कछुआ, नरक, निगोद आदि में अनन्त फेरे फिर आया है; परन्तु अभी सब भूल गया है। इन अनन्त अवतारों के नाश का उपाय यह एक ही 'धर्म' है।

त्रिकाल जागृतस्वरूप ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के सन्मुख होने पर अमृत आनन्द का स्वाद आता है। उसमें यह अनुभव है और मैं उसका अनुभव करता हूँ- ऐसा भेद नहीं है अथवा किसी नय या प्रमाण आदि का पक्षपात भी वहाँ नहीं है। अर्थात् मैं ज्ञान गुणवाला हूँ या द्रव्य-पर्यायस्वरूप वस्तु हूँ- ऐसा पक्ष अनुभव में नहीं होता।

अनुभव में नयविचार का लेश नहीं है और प्रमाण की पहुँच नहीं है। अर्थात् द्रव्य त्रिकाली है और पर्याय क्षणिक तथा भेदरूप है -ऐसा विकल्प अनुभव में नहीं होता।

अनुभव में निक्षेपों का समुदाय नष्ट हो जाता है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव- इन चार निक्षेपों से वस्तु पहचानी जाती है, ऐसी वस्तु को पहचानने की रीत भी अनुभव में नहीं होती।

www.vitragvani.com

वस्तु का स्वरूप सिद्ध करने के लिए नय, प्रमाण आदि साधन होते हैं, परन्तु अनुभव करने में उनके विकल्प बाधक हैं। नय का और प्रमाण का विकल्पात्मक ज्ञान अनुभव करने में विघ्न करनेवाला है। नय माने ज्ञान का एक अंश। वस्तु अनन्त गुणात्मक है, उसका एक-एक गुण नय से सिद्ध होता है। वस्तु का ऐसा स्वरूप प्रमाण से सिद्ध होता है। वस्तु का नाम, द्रव्य, भाव आदि का निक्षेप से वस्तु सिद्ध होती है; परन्तु वस्तु के अनुभव के काल में नय, निक्षेप या प्रमाण नहीं होते। जो वस्तु को सिद्ध करने के लिए साधक हैं, वे ही वस्तु के अनुभव काल में बाधक हैं।

जैसे बाजार में से वस्तु लेने जाए तब वस्तु का भाव पूछते हैं। बाँट सच्चे हैं या नहीं- बराबर तौलते हैं या नहीं, वह देखते हैं; परन्तु घर लाकर उस माल को खाने बैठे, तब वह कुछ याद नहीं करते। वैसे ही अपनी वस्तु-स्थिति की मर्यादा जानने के लिए उसका त्रिकाली स्वभाव और क्षणिक पर्याय का ज्ञान में निर्णय करते हैं, परन्तु अनुभव के काल में द्रव्य या पर्याय का विचार नहीं होता- ऐसा मार्ग है बापू! पहले इसे श्रद्धा-ज्ञान में तो समझना पड़ेगा कि मार्ग इसप्रकार है।

'बाकी राग दोष की दसा की कौन बातु है' -जहाँ जीव राग के परदे तोड़कर निर्विकल्प अनुभव में जाता है, वहाँ राग-द्वेष कहाँ से हो? जहाँ भेद नहीं, विकल्प नहीं; वहाँ अन्य राग-द्वेष की तो बात ही नहीं होती न। कंदमूल नहीं खाना, रात्रिभोजन नहीं करना, सामायिक करनी, प्रतिक्रमण करना, अष्टमी, चतुर्दशी को हरितकाय नहीं खाना- यह सब उसकी भूमिका में होते हैं। यह शुभराग है, धर्म नहीं। वस्तु का निर्विकल्प अनुभव, वह धर्म है, उसमें नय निक्षेप और प्रमाण के विकल्प भी बाधक हैं कि जो प्रथम भूमिका में वस्तु की सिद्धि करने के लिए साधक हैं, परन्तु उन्हें ही लाभरूप और निज मान ले तो मिथ्यात्व है। कषाय की मन्दता से उत्पन्न विकल्प भी अनुभव में बाधक हैं।

अरे! मनुष्य भव मिला-- भवभ्रमण में से निकलने का अवसर आया, तब सत्य जैसा है, वैसा समझ ले। भाई! भगवान आत्मा-चिन्तामणिरत्न प्रभु सहजानन्द का सागर उछला, कल्पवृक्ष के फल फले; वहाँ कहते हैं कि नय निक्षेप के विकल्पों की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ परमात्मा ऐसा कहते हैं कि पहले आत्मा का स्वरूप नय, निक्षेप, प्रमाण से जान ले; परन्तु अनुभव के काल में तो ये नयादि के विकल्प नहीं, आत्मा अपनी साधना में चढ़ता है, तब क्या-क्या होता है? उसकी बात चल रही है।

अनादि का जो पुण्य-पाप और राग-द्वेष का अनुभव है, वह मिथ्यात्व है। त्रिकाल अभेद

www.vitragvani.com

शुद्ध चैतन्य वस्तु का ज्ञान करे, उस ज्ञान को निश्चयनय कहते हैं और जो वर्तमान अवस्था को लक्ष्य में ले, उस ज्ञान को व्यवहारनय कहते हैं -इन दोनों विकल्पों की बात है। अनुभव में तो इन दोनों नयों का लेश भी प्रवेश नहीं है। भगवान आत्मा तो निर्विकल्प वीतरागमूर्ति है। चौथे गुणस्थान में हो, पाँचवें में हो या सातवें में हो; परन्तु उस अनुभव के काल में विकल्प का अभाव होता है।

प्रथम सम्यग्दर्शन शुद्धोपयोग के काल में ही होता है। पुण्य-पाप के विकल्प के काल में अनुभव नहीं होता। अखण्ड अभेद वस्तु, वह निश्चय और एक समय की पर्याय, वह व्यवहार- इन दोनों को विषय करनेवाले प्रमाण ज्ञान की पहुँच भी अनुभव में नहीं है।

नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों ही निक्षेपों का अनुभव में नाश हो जाता है। **"जै जै वस्तु साधक है, तेऊ वहाँ बाधक है'** अनुभव के पहले जो प्रमाण-नय और निक्षेप वस्तु को सिद्ध करने में साधक थे, वे ही अनुभव में बाधक होते हैं; तो फिर अन्य राग-द्वेष की कथा का तो क्या कहना ? दया पालूँ या सत्य बोलूँ- आदि विकल्प तो अनुभव में होते ही नहीं।

यह बात बहुत ऊँची लगती है, परन्तु ऊँची है नहीं। वस्तु के अनुभव काल की स्थिति की बात है। धर्मी को अनुभव काल में आनन्द का स्वाद होता है। भले ही (धर्मी) चौथे गुणस्थान में हो या पाँचवें गुणस्थान में हो या सप्तम गुणस्थानवर्ती मुनि हो, परन्तु वे अन्तर अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद से स्वरूप में डूबते होते हैं।

परमात्मा के पेट में अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं। वे परमात्मा कौन से ? अरिहन्त और सिद्ध ? नहीं नहीं। जो पुण्य-पाप को निज मानता है; वह बहिरात्मा है। जो शुद्ध स्वरूप का अनुभव करे, वह अन्तरात्मा है। ये अन्तरात्मा अपने पूर्ण स्वरूप का अनुभव करें, तब उन्हें परमात्मा कहते हैं।

भगवान ने तेरे आत्मा का यह स्वरूप कहा है। ऐसा भाव पहिले होता है, उसे व्यवहार से साधक कहा है परन्तु वही भाव अनुभव में बाधक है, और राग-द्वेष तो बाधक है ही।

भावार्थ-नय तो वस्तु के गुण को सिद्ध करता है अर्थात् त्रिकाली द्रव्य, वह निश्चय है और वर्तमान अवस्था, वह व्यवहार है ऐसे दोनों अंशों को प्रमाण सिद्ध करता हैं। वस्तु के एक-एक अंश अर्थात् धर्म को नय सिद्ध करता है और अनुभव, सिद्ध हुई वस्तु का होता है। उसमें सिद्ध करने को कुछ नहीं रहता।

आत्मा को राग अथवा विकल्प सहित मानना तो मिथ्यात्व है; वही चार गति में परिभ्रमण

www.vitragvani.com

का बीज़ है। पुरुषार्थसिद्धिउपाय गाथा 14 में कहा है न! आत्मा राग, कर्म और शरीर से सहित नहीं होने पर भी सहित मानना, वही संसार में परिभ्रमण का बीज है।

भगवान आत्मा तो जिनस्वरूप है, वीतरागमूर्ति है। परमार्थ से आत्मा में और जिनस्वरूप में भेद नहीं है। ऐसे अनुभव तक पहुँचनेवालों की कितनी योग्यता और पात्रता हो! इस अनुभव के बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के बिना धर्म नहीं होता।

वस्तुरूप से आत्मा त्रिकाली आनन्दकन्द है, उसे जाननेवाले ज्ञान का अंश, वह निश्चय है। वह निश्चयनय ध्रुव को सिद्ध करता है और वर्तमान पर्याय को व्यवहारनय सिद्ध करता है। इन नयों से सिद्ध हुई वस्तु का ही अनुभव होता है, अतः अनुभव के काल में कुछ साबित करना नहीं रहता। जैसे माल लेने जाते हैं तब उसका भाव पूछते हैं; सही तोलता है या नहीं यह देखते हैं आदि सब करते हैं, परन्तु उस माल को खाते समय भाव आदि का कुछ विचार नहीं करते; यह सब भूल जायें, तभी वस्तु का अनुभव होता है। वैसे ही बांट एवं भाव आदि की तरह यहाँ नय, निक्षेप और प्रमाण से पहले वस्तु स्वरूप निश्चित करते हैं कि त्रिकाली द्रव्य कैसा है, उसकी अवस्था कैसी है, सम्पूर्ण वस्तु कैसी है, उसके कितने अंश है? आदि.. आदि; परन्तु अनुभव के काल में वैसा कोई विकल्प नहीं रहता और ऐसा विचार करे तो अनुभव नहीं होता- इसकारण (विचार को) अनुभव काल में बाधक कहा है।

प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण तो नहीं सिद्ध हुई वस्तु को सिद्ध करते हैं; परन्तु अनुभव करे, तब प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रमाण नहीं होता। अनुभव मे वस्तु सिद्ध ही है, अतः वहाँ प्रमाण भी अनावश्यक है।

निक्षेप से वस्तु की स्थिति समझने में आती है कि यह वस्तु है, यह वस्तु का भाव है, यह शक्ति है और यह प्रकट अवस्था है; परन्तु अनुभव में तो प्रगट वस्तु का ही अनुभव है इसलिए वहाँ यह द्रव्य है, यह भाव है- ऐसे विकल्प की भी आवश्यकता नहीं रहती; अतः निक्षेप भी अनुभव में निष्प्रयोजन है। इतना ही नहीं ये नय, प्रमाण और निक्षेप अनुभव की दशा में बाधा करते हैं, विघ्न करते हैं; परन्तु प्रथम अवस्था में उन्हें हानिकारक समझकर छोड़ने का उपदेश नहीं है; क्योंकि उनके बिना पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।

वस्तु कैसी है, उसमें कितनी शक्ति है, कितनी पर्याय है, इत्यादि भाव को सिद्ध करने के लिए नय, प्रमाणादि की आवश्यकता है; क्योंकि वे वस्तु को सिद्ध करते हैं। उनके द्वारा सर्वज्ञ कथित आत्मा और अज्ञानी कथित आत्मा के स्वरूप की भिन्नता जानी जा सकती है।

www.vitragvani.com

जैसे दंड, चक्र आदि साधनों बिना घट की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे घट पदार्थ सिद्ध होने के पश्चात् दंड, चक्र आदि विडम्बनारूप ही होते हैं, उसीप्रकार अनुभव होने के पश्चात् नय, निक्षेप आदि का विकल्प हानिकारक है। दंड, चक्र बिना घड़ा नहीं होता– इसका अर्थ इतना कि घड़ा हो तब दंड, चक्र आदि होते हैं; परन्तु उनसे घड़ा होता है– ऐसा नहीं। निमित्त कार्यकाल में उपस्थित होता है; परन्तु उस निमित्त से कार्य या कार्यकाल नहीं होता। जिस वस्तु की जो अवस्था जिस काल में होती है, वह उसका कार्यकाल है, उस काल में निमित्त होता है; परन्तु निमित्त आया इसलिए कार्य हुआ– ऐसा मानो तब तो वह निमित्त ही उपादान बन गया।

इस मनुष्य देह का एक-एक क्षण चक्रवर्ती की सम्पदा की अपेक्षा भी अधिक मूल्यवान है, इसका एक समय भी व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। आत्मा के कार्य के लिए समय का सदुपयोग करना चाहिए। यह काल अपनी जात (स्वरूप) का निर्णय और अनुभव करने के लिए है। आँख बंद होने के पूर्व यह कार्य कर लेने जैसा है।

यहाँ कहते हैं कि चक्रादि साधनों बिना घट की उत्पत्ति नहीं होती– यह नास्ति से कथन है। अस्ति का कथन और स्वरूप यह है कि घड़ा होने के काल में कुम्हार और चक्रादि साधनों का निमित्त होता है। घड़ा होने के पश्चात् वह विडंबनारूप है अर्थात् इन साधनों में निमित्तपना भी नहीं रहता। वैसे ही अनुभव हो जाने के बाद नय, निक्षेप, प्रमाण के विकल्पों की आवश्यकता नहीं रहती।

बनिया बही-खाते सँभालते हैं न! उसीप्रकार यहाँ भगवान के बही-खाते सँभालने की बात है।

शुद्धनय की अपेक्षा जीव का स्वरूप

आदि अंत पूरन-सुभाव-संयुक्त है।
पर-सरूप-पर-जोग-कल्पनामुक्त है।।
सदा एकरस प्रगट कही है जैन मैं।
सुद्धनयातम वस्तु विराजै बैनमैं ।।11।।

अर्थः– जीव, आदि अवस्था निगोद से लगाकर अंत अवस्था सिद्ध पर्यायपर्यन्त अपने परिपूर्ण स्वभाव से संयुक्त है और परद्रव्यों की कल्पना से रहित है, सदैव एक चैतन्य रस से सम्पन्न है, ऐसा शुद्धनय की अपेक्षा जिनवाणी में कहा है।।11।।

www.vitragvani.com

काव्य - 11 पर प्रवचन

अब, शुद्धनय की अपेक्षा से जीव का स्वरूप कहते हैं-

आत्मस्वभावं परभावभिन्नं मापूर्ण माद्यन्त विमुक्तं मेकं।।
विलीन संकल्प विकल्प जालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति।।

परमानन्दमूर्ति भगवान तीर्थंकरदेव ने देखा, ऐसा जो पवित्र आत्मा शुद्धनय से कैसा है- वह कहते हैं। पर्याय के भेद और राग, वह तो अशुद्धनय का विषय है। यहाँ शुद्धनय से आत्मा का स्वरूप कहते हैं।

यह एक-एक श्लोक वीतराग मार्ग का मक्खन है।

जीव आदि अवस्था निगोद से लगाकर अन्त अवस्था सिद्धपर्याय पर्यन्त अपने परिपूर्ण स्वभाव से संयुक्त है। जीव की आदि अवस्था निगोद है। आलू, शकरकंद, गाजर ये सब निगोद अवस्था है। जीव अनादि से इस दशा में था। इस छोटी से छोटी निगोद दशा से लेकर सिद्ध होगा, वहाँ तक की समस्त दशाओं में वस्तु तो परिपूर्ण है। अवस्थाओं का लक्ष्य न करे तो द्रव्यस्वभाव पूर्ण--पूर्ण--पूर्ण है। द्रव्य सदा पूर्णस्वभाव सहित है।

आलू, शकरकंद आदि कंदमूल के एक कण में असंख्य तो शरीर हैं और एक-एक शरीर में आज तक सिद्ध हुए उससे अनन्तगुने जीव हैं। यह भगवान की कही हुई बहुत मोटी बात है। जीव की निगोद अवस्था है वह बहुत छोटी है और सिद्धदशा पूर्ण है; परन्तु इन समस्त दशाओं में वस्तु तो सदा एकरूप परिपूर्ण है ध्रुव हैं।

अहा--हा! यह भी क्या बात है! एक राई के बराबर कण में असंख्य शरीर और एक-एक शरीर में अनन्त जीव; उन प्रत्येक का द्रव्य तो स्वभाव से परिपूर्ण भरा है। यह जीव का सदृश स्वभाव है। शक्ति के वर्णन में आता है कि सदृश और विसदृश जिसका रूप है- ऐसी अस्तित्वमात्रमयी परिणाम शक्ति आत्मा में है।

ये तो मोक्ष के मंडप की बातें हैं बापू! बाहर में दुनिया के महोत्सव तो अज्ञान में बहुत मनाये, परन्तु बापू! यह चीज कोई जुदी ही है।

भगवान ने केवलज्ञान में छह द्रव्य देखे हैं। उनमें अनन्तजीव, अनन्तानन्त पुद्गल, धर्म,अधर्म,आकाश एक-एक और असंख्यात कालाणु हैं। उसमें से जीव किसी भी अवस्था में हो, छोटी से छोटी निगोद अवस्था में हो; परन्तु तब भी उसका द्रव्य तो पूर्ण स्वभाव से भरा ही

www.vitragvani.com

रहता है। अत: कहते हैं कि अंश को लक्ष्य में न ले और द्रव्य को लक्ष्य में ले तो द्रव्य तो सदा पूर्ण पूर्ण ध्रुव रहा है।

अहो! आचार्यों ने गजब काम किया है! आत्मा हथेली पर बताया है उसपर एक नजर तो कर!

एक समय की पर्याय का लक्ष्य, वह पर्यायदृष्टि है। उसे छोड़ दे तो द्रव्य तो सदा ध्रुव स्वभाव से सहित है। जिसको धर्म करना हो उसे यह समझना पड़ेगा; क्योंकि धर्म पूर्णस्वभाव में से ही निकलता है। वर्तमान अवस्था तो अंश है, उसमें से धर्म नहीं निकलता। धर्म स्वयं भी अंश है उस अंश के समय भी वस्तु ध्रुव-स्वभाव सहित है।

'पर सरूप परजोग कल्पना मुक्त है' -मेरे इस परद्रव्य का निमित्त है ऐसी कल्पना से भी वस्तु रहित है और परद्रव्य के लक्ष्य से होते विकृतभावों से भी वस्तु रहित है, एक समय की पर्याय से रहित है और पूर्ण ध्रुव स्वभाव से सहित है। वस्तु की ऐसी पहचान और सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान हुए बिना व्रत, तप करते हैं वे सब बिना एक की बिन्दियाँ हैं।

'आत्मस्वभावं परभावभिन्नम्' -इसके द्वारा अस्ति-नास्ति से वस्तु का स्वरूप बताया है। त्रिकाल ध्रुव शक्तिमान प्रभु अपने ध्रुव-स्वभाव से सहित है और पररूप निमित्त, कर्म और संयोग से रहित है। पररूप और परजोग अर्थात् पर का सम्बन्ध, उससे आत्मा रहित है। शुद्धनय स्वरूप से आत्मा ऐसा है।

लोग ऐसा कहते हैं कि इससे कुछ सरल है या नहीं?

भाई! जो वस्तु में हो, वह सरल होगा या नहीं? सरल में सरल प्रथम धर्म सम्यग्दर्शन धर्म है, फिर चारित्र और केवलज्ञान तो महा उत्तमधर्म है।

मिथ्यात्व के समान महापाप नहीं और सम्यग्दर्शन के समान प्रथम धर्म नहीं है, परन्तु अज्ञानी को इन दोनों की खबर नहीं है। मिथ्यात्व में क्या पाप है- इसकी भी उसे खबर नहीं है। आत्मा को परद्रव्य से सहित मानना, वह मिथ्यात्व है और मैं पर के सम्बन्ध में हूँ- ऐसा मानना भी मिथ्यात्व है। आत्मा अबद्धस्पृष्ट है, पर के सम्बन्ध से रहित है।

यह बात समझने के लिए कितनी धीरज चाहिए!

आत्मा को पर का सम्बन्ध तो नहीं, परन्तु वह पर के सम्बन्ध की कल्पना से भी मुक्त है। **'सदा एक रस प्रकट कहो है जैन में, शुद्ध नयातम वस्तु बिराजै बैन में-'** वीतराग

www.vitragvani.com

की वाणी में द्रव्य का- शुद्धनय का विषय इसप्रकार सदा एकरूप कहा है। तीनकाल-तीनलोक के जाननेवाले अरिहन्तदेव की वाणी में ध्रुव शुद्धनय का विषय सदा एकरूप प्रकट कहा है। वस्तु सदा प्रकट है।

दया पालने में धर्म मानते हो न! तो आत्मा की दया तो पाल! आत्मा को एक अंश जितना मानना, वह तो उसकी हिंसा है। रागवाला मानना, वह जीव की हिंसा है। आत्मा तो सदैव चैतन्यरस से सम्पन्न है, ज्ञायकरस से सम्पन्न है। शुद्धनय से वस्तु सदैव ऐसे स्वरूप से विराजमान है ऐसा जिनवाणी में कहा है।

हितोपदेश:-

सदगुरु कहै भव्यजीवनिसौं,
तोरहु तुरित मोह की जेल।
समकितरूप गहौ अपनौ गुन,
करहु सुद्ध अनुभव कौ खेल।
पुद्गलपिंड भाव रागादिक,
इनसौं नहीं तुम्हारौ मेल।
ए जड़ प्रगट गुपत तुम चेतन,
जैसैं भिन्न तोय अरु तेल।।12।।

अर्थ:- भव्य जीवों को श्रीगुरु उपदेश करते हैं कि शीघ्र ही मोह का बन्धन तोड़ दो, अपना सम्यक्त्वगुण ग्रहण करो और शुद्ध अनुभव में मस्त हो जाओ। पुद्गल द्रव्य और रागादिक भावों से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। ये स्पष्ट अचेतन हैं और तुम अरूपी चैतन्य हो तथा पानी से भिन्न तेल के समान उनसे न्यारे हो ।।12।।

काव्य - 12 पर प्रवचन

यह श्री नाटक समयसार का जीवद्वार का 12वाँ श्लोक है, जो समयसार कलश 11 के पद्यानुवाद रूप है।

सद्गुरु कहते हैं कि प्रभु! मोह के बंधन को तोड़। राग द्वेष और विकल्प मेरा है ऐसा जो मोहभाव है उसे तोड़! उपदेश का कथन है, अत: 'मोह को तोड़' -ऐसा आता है, परन्तु वस्तुत: तो स्वभाव के सन्मुख होने पर मोह टूट जाता है।

www.vitragvani.com

पुण्य-पाप भावों की एकताबुद्धि, वह मोह की जेल है। उसको शीघ्र तोड़ ऐसा कहा है। पहले व्यवहार सुधारो, फिर उसमें आगे बढ़कर मोह को तोड़ने जाओ ऐसा नहीं कहा; क्योंकि धर्म के प्रारम्भ होने के पूर्व जो शुभराग होता है, वह कोई व्यवहार नहीं है। आत्मा को शुभ उपयोग से सहित मानना, यही मोह की जेल है। सूक्ष्म से सूक्ष्म विकल्प की एकता-बुद्धि, वह भी मोह की जेल है। पर में सावधानी ही मिथ्यात्व भाव है। अनादि से शरीर में, राग में, विकल्प में निजपना माना है, पर में सावधानी की है, वही मोह है; वही मिथ्यात्व है और वही अनन्त संसार का बीज है।

'तोरहूँ तुरित मोह की जेल' -अपने ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द स्वरूप के सन्मुख होकर राग की एकता की मिथ्यात्वभावना को छोड़ दे।

कोई ऐसा कहते हैं कि सर्वप्रथम जीवों को प्रथमानुयोग का उपदेश देना चाहिए, फिर द्रव्यानुयोग का उपदेश हो। अरे भाई! यह आयुष्य तो चला जा रहा है, कोई इसकी मर्यादा की तो खबर है नहीं, अकस्मात् देह छूट जाये तो जो काम करना है, वह तो रह जायेगा। यहाँ तो आचार्यदेव ने कहा है कि शीघ्र मोह की जेल को तोड़ दो। पहले यह बाँचो पढ़ो; फिर मोह तोड़ो- ऐसा नहीं। अनादि से राग की एकता कर रखी है, उसे शीघ्र तोड़ दो।

यह तो जिसको जन्म-मरण के चक्कर से छूटना हो- उसके लिए बात है, जिसे बचाव करना हो उसके लिए बात नहीं है।

'करना वह तो मरना है' राग करना, वह मेरा कार्य है- ऐसी मान्यता तो सम्यग्दर्शन का नाश करती है।

मोह का बंधन माने मोहकर्म का बंधन नहीं। यहाँ तो मोहभाव का बंधन शीघ्र तोड़ दे- ऐसा कहते हैं। 'समय वर्ते सावधान' कहते हैं न! अर्थात् स्वरूप की - स्वभाव की सावधानी में वर्तो । राग की सावधानीरूप अशुद्धता को छोड़ दो। कन्या पधराओ सावधान! नहीं, मोक्ष कन्या को पधराओ। हाड़ और मांस के मंथन के मैथुन में तू सुख मानता है प्रभु! तुझे क्या हुआ है? इसमें सुख मानता है, वही मिथ्यात्व है।

जड़ की प्रत्येक क्रिया स्वतंत्र होती है, वह कोई तुझसे नहीं होती। तुझसे तो अज्ञानदशा में उस क्रिया के राग में एकत्वबुद्धि होती है, वह मोह है। राग की सावधानी वही मिथ्यात्वभाव है। इसको ऐसा लगता है कि मैं दया पालता हूँ, परन्तु किसकी दया? भाई! पर की दया का भाव तो

www.vitragvani.com

विकल्प है, राग है, विभावभाव है और उस राग के साथ एकत्व बुद्धि, वह तो मिथ्यात्व है। राग और आत्मा के स्वभाव के बीच भेद है, एकता नहीं। उन्हें एक मानना ही मिथ्यात्व है।

आनन्द, शान्ति, सुख, ज्ञानादि सब आत्मा में हैं और जहाँ ये नहीं वहाँ तू नजर रखकर बैठा है कि इसमें से मुझे सुख-शान्ति मिलेगी। अपने भगवान के सामने भी देखता नहीं। स्वभाव में नजरबंदी नहीं करता और राग में नजरबंदी करके बैठा है। राग के साथ एकता की है यही महामोह और महाबंधन है।

भगवान तो रागरहित शुद्ध चैतन्यघन स्वभावी है। उसमें झुकने जैसा है, उसके बदले जहाँ झुकने जैसा नहीं- ऐसे राग में यह झुक गया है; अत: कहना पड़ता है कि मोह को तोड़! राग की एकता में झुका न होता तो ऐसा कहना नहीं पड़ता। चाहे कितनी भी उपवास करे परन्तु उप माने स्वभाव की समीप वास न करे, वह राग की वासना में ही बसा हुआ है। वह स्वभाव से तो दूर ही है।

शरीर का क्षणमात्र का भी भरोसा नहीं है। प्रभु! पहले अपना हित कर ले!

भगवान तीर्थंकर देव कहते हैं- प्रभु! तू परमात्मा की जाति का है, परमात्मा के कुल का है। सिद्ध की जाति का होकर तू राग में रुका है यह तुझे कलंक है। भाई! आचार्यदेव और ज्ञानी संत भी यही उपदेश देते हैं। जो अनादि से करता आया है, उसे छोड़कर अब आत्मा का कल्याण कर!

अनादि से तूने जड़ के कार्य तो कभी किये ही नहीं, परन्तु मैं जड़ का कार्य कर सकता हूँ ऐसी मिथ्यामान्यता की है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि जैसा निमित्त होता है, रजकण का वैसा परिणमन होता है। रजकण अपने आप से ही परिणमता हो तब तो एकरूप परिणमन कैसे नहीं हो? अत: जिस जाति का निमित्त हो, उस अनुसार रजकण परिणमता है; परन्तु भाई! रजकण का परिणमन एकरूप ही हो ऐसा नहीं है। रजकण की अवस्था एकरूप होती ही नहीं।

'समकितरूप गहो अपनो गुन'- अर्थात् श्रद्धा गुण तो त्रिकाल है, परन्तु वर्तमान पर्याय में उसे पकड़ो। विभाव और राग, वह कोई अपना गुण नहीं है। अर्थात् अपनी पर्याय नहीं है। राग तो जड़ की दशा है। जिस राग से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह राग भी जड़-अचेतन है। भगवान (आत्मा) तो चैतन्यरस का कंद है और समकित, वह उसका गुण अर्थात् पर्याय है। उसे प्रकट करना वह प्रथम में प्रथम बात है।

www.vitragvani.com

'करहू शुद्ध अनुभव को खेल'- समकित ग्रहण करके शुद्ध अनुभव में मस्त हो जाओ। (जीव) राग की मिठास का अनुभव करता था, वह तो मिथ्यात्व का अनुभव है। अब 'करहू' कहकर ज्ञायक का खेल करने को- मस्ती करने को कहते हैं। अन्य के साथ की मस्ती छोड़कर स्वभाव में मस्ती कर न! प्रिय से प्रिय वस्तु तो तेरी अपनी है। उसमें खेल कर! अनादि से राग का खेल तो करता आया है, वह तो अधर्म का खेल है।

हमारे क्या करना? कि अनादि का राग करना छोड़कर स्वभाव का खेल कर! अनुभव का खेल होने पर राग की एकता का खेल समाप्त हो जाता है।

'पुद्गल पिण्ड भाव रागादिक इनसौं नाहीं तुम्हारो मेल'- पुद्गल पिण्ड जो शरीर, वाणी, मन तथा रागादिक भाव वे भी वास्तव में पुद्गल है, उनके साथ जीव का कुछ सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि तुम (जीव) तो जागृत चैतन्य स्वभाव के रसकंद हो और ये रागादिभाव तथा रजकण तो अचेतन और जड़स्वभावी हैं। इन दोनों का कहीं मेल बैठता ही नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति का विकल्प उठता है, उसे भी अपना स्वभाव माने; वह मिथ्यादृष्टि है। उसको जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ की वाणी की खबर ही नहीं है। भगवान कहते हैं कि चेतन और अचेतन को किसी जाति का सम्बन्ध नहीं है।

'ए जड़ प्रकट गुपत तुम चेतन'- शरीर से लेकर रागादि प्रकट जड़ हैं। तू उन सबसे भिन्न चैतन्य स्वरूप है। विकल्पमात्र अचेतन है, उससे तुझे लाभ कैसे हो? अरे! यह बात सुनने को मिलती नहीं, जिन्दगी ऐसी की ऐसी चली जाती है। अरे! इसकी दया कौन करेगा? एक आसन से बैठकर तीस सामायिक करे तो भी जड़ और चेतन की भिन्नता जाने बिना उसका हित किसप्रकार से हो?

जैसे तेल और पानी भिन्न है, वैसे ही जड़ और चेतन भिन्न है। पुण्य का विकल्प भी प्रकट जड़ है; क्योंकि उसमें चैतन्य प्रकाश के ज्ञान का एक अंश भी नहीं है। जैसे प्रकाश और अंधकार का कहीं मेल नहीं बैठता। प्रकाश और अंधकार पृथक् है, वैसे ही ज्ञान और राग भिन्न है। ज्ञान और राग दोनों हैं, परन्तु दोनों एक नहीं है।

भगवान आत्मा चैतन्य सूर्य है और दया, दान, रागादि तो अचेतन हैं, तो इन चेतन और अचेतन में मेल किसप्रकार हो? दो का एक खेल नहीं हो सकता।

बड़े-बड़े महन्त नाम धरानेवाले भी मिथ्यात्व में गोते खाते हैं और स्वयं की मिथ्या

www.vitragvani.com

मान्यताओं को दुनिया को परोसते हैं। जो जड़ की क्रिया अथवा क्रिया के विकल्प को चैतन्य भगवान के साथ मिलाते हैं, वे महा मिथ्यात्व के अंधकार में पड़े हैं।

तेरा चैतन्यस्वभाव राग में आया नहीं। भाई! वह तो राग से भिन्न गुप्त है। तू तो अरूपी चैतन्य है और राग तो अचेतन है। तेरा और इसका मेल नहीं है। जैसे तेल और पानी कभी नहीं मिलते, भिन्न ही रहते हैं; क्योंकि तेल चिकनाहटवाला है, जबकि पानी स्वच्छ निर्मल है। वैसे ही भगवान चैतन्य प्रकाशी आत्मा राग से अत्यन्त भिन्न है, गुप्त है। राग तो प्रकट है, रूपी है और अचेतन है। भगवान आत्मा गुप्त, अरूपी और चेतन है; इन दोनों को तू भिन्न जान।

सम्यग्दृष्टि का विलास वर्णन

कोऊ बुद्धिवंत नर निरखै सरीर-घर,
भेदग्यानदृष्टिसौं विचारै वस्तु-वासतौ।
अतीत अनागत वरतमान मोहरस,
भीग्यौ चिदानंद लखै बंधमैं विलासतौ ।।
बंधकौ विदारि महा मोह कौ सुभाउ डारि,
आतमाकौ ध्यान करै देखै परगासतौ।
करम-कलंक-पंकरहित प्रगटरूप,
अचल अबाधित विलोकै देव सासतौ ।।13।।

अर्थः- कोई विद्वान् मनुष्य शरीररूपी घर को देखे और भेदज्ञान की दृष्टि से शरीररूपी घर में बसनेवाली आत्मवस्तु का विचार करे तो पहिले भूत, वर्तमान, भविष्यत् तीनों काल में मोह से अनुरंजित और कर्मबंध में क्रीडा करते हुए आत्मा का निश्चय करे, इसके पश्चात् मोह के बन्धन को नष्ट करे और मोही स्वभाव को छोड़कर आत्मध्यान में अनुभव का प्रकाश करे; तथा कर्म-कलंक की कीचड़ से रहित अचल, अबाधित, शाश्वत अपने आत्मदेव को प्रत्यक्ष देखे।

काव्य - 13 पर प्रवचन

अब समयसार कलश के 12 वें कलश का पद्यानुवाद रूप 13वाँ काव्य कहते हैं, जिसमें बनारसीदासजी ज्ञानी के विलास का वर्णन करते हैं-

दिव्यशक्ति का धारक देव अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति से विराजता है। भाई! तुझे उसकी खबर नहीं है।

www.vitragvani.com

जगत के जीव किसी के पास कुछ चमत्कार देखकर वहाँ तो देव आते हैं- ऐसा मानने लगते हैं; परन्तु भाई! तू तो अनादि-अनन्त शाश्वत देव है। उसके सामने तो देख!

कोई विद्वान पुरुष भेदज्ञान की दृष्टि से शरीररूपी घर और उसमें रहनेवाले चेतन को देखे तो उसे शरीर और आत्मा भिन्न ज्ञात होते हैं। शाश्वत् भगवान आत्मा का विचार करे तो पर्याय में वह मोह से रँगा हुआ दिखता है। पर की एकताबुद्धि से रंग गया है, कर्मों के बंधन में पड़ा है, परन्तु कर्म या कोई परद्रव्य उसको राग नहीं कराते- ऐसा पहले निश्चित करता है। वर्तमान में राग में रमा (एकता) करता है, वह जीव की अशुद्ध पर्याय है। वह कर्म या परद्रव्य के कारण अशुद्ध है- ऐसा नहीं है। स्वयं ही मोह में रँगा हुआ है। भूत, वर्तमान और भावी तीनों कालों में स्वयं मोह से रँगा और कर्म से बंधा है।

भगवान चिदानन्द प्रभु राग के रस में भीगा हुआ दिखता है। राग में लीनता करता है, वह आत्मा निश्चय से अशुद्ध पर्याय में है। उससें कहते हैं कि 'राणा रमतु मेल कटक आव्यो किनारे।' अब तेरे धर्म करने का काल आ गया है आतमराजा! अब तुझको यह राग की रमत नहीं शोभती, उसे छोड़ दे। अनादि से मोहकूप में पड़ा है, अब बाहर निकल जा! राग और आत्मा के बीच प्रज्ञारूपी छैनी मार! राग और आत्मा के दो टुकड़े हो जायेंगे। ऐसी भेदज्ञान की क्रिया करना, वह क्रिया है।

अज्ञानी को इस भेदज्ञान की क्रिया की सूझ नहीं पड़ती; अतः व्रत, तपादि बाह्यक्रिया करके राग का सेवन करता है और धर्म हुआ मानता है। उसे क्रिया में धर्म मनवानेवाले लुटेरे मिले हैं और स्वयं लुटता है उत्साह से। अब फरियाद किसके पास करनी?

अब यदि स्वयं ही सद्गुरु के उपदेश से समझकर मोह को छोड़े और अन्दर चैतन्य स्वभाव तरफ झुककर, ध्यान में आत्मा को विषय बनाकर अनुभव करे तो कर्मकलंक कीचड़ से रहित अचल, अबाधित, शाश्वत- ऐसे अपने आत्मदेव का प्रकाश पावे। मोहजाल में राग की और विकल्प की एकता करता था, वह अब आत्मा की ओर झुकाव करे तो राग से भिन्न आत्मा का प्रकाश अनुभव में आवे- इसका नाम समकित है और यही धर्म है।

हमें तो छोटी उम्र से ही सम्प्रदाय में पुस्तके देते थे, उसमें लिखा होता था कि हमको मानो, वह समकित और व्रत पालन करो, वह चारित्र है। अरे! वह लूटने का पंथ था। वह वीतराग का मार्ग नहीं। भाई! वीतराग का मार्ग इसके कान में पड़ा नहीं। वीतराग का मार्ग मिलना बहुत दुर्लभ है। 'कमल' भक्ति में गाता है न!

www.vitragvani.com

चेतो जीवड़ा! मानव भव दुर्लभ हो लाल..
दुर्लभ जो न आतम की बात। चेतो जीवड़ा..
दुर्लभ-दुर्लभ जैन अवतार, इसके साथ सद्गुरु छाया दुर्लभ रे लाल..
सरोवर काँठे रे मृगला तरस्या रे लाल
दोड़े हाँकी झाँझरा जलनी काज
अरे साँचा वारि (पानी) ऐने ना मले रे लाल।
ए! मनना मृगला ने पाछा बालीजे रे लाल,
जोड़ी दो आतम सरोवरे आज,
ऐने मलसे आतम सुख अमूलाँ रे लाल..।

ऐसा गीत जोड़कर लड़को ने ललकारा था। मुम्बई घाटकोपर में पाँच-छह युवा विचारक तैयार हुए हैं और छह गायक तैयार हुए हैं। उसमें यह 'कमल' तो गायक के साथ-साथ विचारक भी है।

यहाँ कहते हैं कि राग की एकता की जेल तोड़। उसका विलास छोड़ और निज भगवान आत्मा के आनन्द का विलास कर तो तुझे समकित होगा और मोक्ष के बीज उगेंगे।

गुणगुणी अभेद हैं, यह विचारने का उपदेश करते हैं:-

सुद्धनयातम आतम की,
अनुभूति विज्ञान-विभूति है सोई ।
वस्तु विचारत एक पदारथ,
नाम के भेद कहावत दोई।।
यौं सरवंग सदा लखि आपुहि,
आतम-ध्यान करै जब कोई।
मेटि असुद्ध विभावदसा तब,
सुद्ध सरूपकी प्रापति होई ।।14।।

अर्थ:- शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का अनुभव ही ज्ञानसम्पदा है, आत्मा और ज्ञान में नामभेद है वस्तुभेद नहीं है। आत्मा गुणी है ज्ञान गुण है, सो गुण और गुणी को पहिचानकर जब कोई आत्म- ध्यान करता है तब उसकी रागादि अशुद्धदशा नष्ट होकर शुद्ध अवस्था प्राप्त होती है।

www.vitragvani.com

भावार्थः- आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है, इनमें वस्तुभेद नहीं है। जैसे अग्नि का गुण उष्णता है, यदि कोई अग्नि और उष्णता को पृथक् करना चाहे तो नहीं हो सकते। उसीप्रकार ज्ञान और आत्मा का सहभावी सम्बन्ध है पर नामभेद अवश्य है कि यह गुणी है और यह उसका गुण है ।।14।।

काव्य - 14 पर प्रवचन

अब श्री नाटक समयसार का 14वाँ काव्य प्रारम्भ होता है, जो समयसार कलश 13 के पद्यानुवाद के रूप में है।

शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का अनुभव ही ज्ञान सम्पदा है। आत्मा और ज्ञान में नामभेद है, वस्तु भेद नहीं। आत्मा गुणी है, ज्ञान गुण है इसप्रकार गुणी को पहचानकर जब कोई आत्म ध्यान करता है, तब उसकी रागादि अशुद्धदशा नष्ट होकर शुद्धअवस्था प्राप्त होती है।

यहाँ गुण-गुणी अभेद हैं। यह विचारने का उपदेश किया है। यह जीवद्रव्य का स्वरूप है।

'शुद्धनयातम आतम की'- आत्मद्रव्य शुद्धनयस्वरूपी है। आत्मा शरीर, वाणी, मन से रहित है, पुण्य-पाप की स्थिति से रहित है और एक समय की पर्याय का भी जिसमें प्रवेश नहीं- ऐसा भगवान आत्मा नित्यानन्द स्वरूप ध्रुव वस्तु है। वही सम्यग्दर्शन का विषय है, ध्यान का ध्येय है। एक समय की पर्याय नहीं, किन्तु पर्यायवान वस्तु है। वही शुद्धनयस्वरूप आत्मा है।

नये मनुष्य को ऐसा लगे कि यह शुद्धनयस्वरूप आत्मा कौन होगा? भाई! यह एक आत्मपदार्थ है, अस्ति-स्वरूप वस्तु है, अनादि-अनन्त एक सदृश स्वभावी जो ध्रुव वस्तु है, उसको शुद्धनयस्वरूप आत्मा कहा है। उसकी अनुभूति होना, वही विज्ञान विभूति है, वह पर्याय है; क्योंकि अनुभव पर्याय में ही होता है और उसका विषय ध्रुव है।

जिसको धर्म करना हो, उसे चैतन्य के ध्रुवस्वरूप का अनुसरण करके अनुभव करना। वह अनुभव ही आत्मप्राप्ति अर्थात् समकितरूप धर्म है।

यहाँ वस्तु का अनुभव कहकर बाद में उसे ही ज्ञान का अनुभव कहेंगे; क्योंकि गुण और गुणी कोई भिन्न नहीं है।

'अनुभूति विज्ञान विभूति'- अर्थात् पूर्णस्वरूप शुद्ध आनन्दघन आत्मा की अनुभूति माने- ऐसे आत्मा का अनुसरण करके आनन्द का प्रकट होना, स्वसंवेदन में आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन होना; वह अनुभूति है। उसको ही समकित कहते हैं। उसके साथ विशेषपने ज्ञान-आनन्द

www.vitragvani.com

की प्राप्ति होती है, वही आत्मा की विभूति-सम्पदा है। देखो! ये धनादि आत्मा की सम्पदा नहीं हैं। राग के विकल्प भी आत्मा की सम्पदा नहीं हैं।

धर्मी ऐसा भगवान आत्मा कि जिसमें पूर्ण ज्ञान, आनन्द का ध्रुवस्वभाव है, जो एकरूप है, सदृश है, नित्य है, अचल है -ऐसे भगवान आत्मा के सन्मुख होकर उसका अनुभव करना, वह धर्म है और उससे विपरीत पुण्य-पाप राग का अनुभव करना, वह विभाव का अनुभव है- वही संसार है, वही दु:ख है, वही मिथ्यात्व है और वही निगोद में जाने की रीत है।

यहाँ तो उस संसार से छूटकर मोक्ष में जाने के लिए अनुभव की विधि कहते हैं। भगवान आत्मा ज्ञान-आनन्द का पुंज है। उसकी अनुभूति वह आत्मा की लक्ष्मी-विभूति है। राग और निमित्त के आलंबन बिना, त्रिकाली द्रव्य के आलंबन से आत्मा का प्रत्यक्ष वेदन हो, उसको स्वसंवेदन अर्थात् आत्मा की प्राप्ति हुई कहते हैं। उसको ही यहाँ आत्मा की विभूति कहा है।

ज्ञान का अंश- वह शुद्धनय; उसका विषय त्रिकाली द्रव्य- ऐसे दो भेद करने से तो विकल्प खड़ा होता है। इसलिए पाठ में 'शुद्धनयातम आतमा' कहा है; परन्तु उसके अर्थ में भेद करके समझाया है कि "शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का अनुभव ही ज्ञान सम्पदा है।" समयसार की ग्यारहवीं गाथा में भूतार्थ त्रिकाली वस्तु को ही शुद्धनय कहा है। एकरूप त्रिकाल सदृश स्वभाव ही शुद्धनय है। शुद्धनय और उसका विषय- ऐसे दो भेद उसमें नहीं है। सदा त्रिकाल परम पारिणामिक द्रव्य-स्वभाव स्वयं ही शुद्धनयस्वरूप है।

अहा! शुद्धनयस्वरूप भगवान आत्मा माने पवित्र स्वभाव का धाम- ऐसा चैतन्य प्रभु का ध्यान, वह अनुभूति है, वह पर्याय है। आत्मा के आनन्द की स्वसंवेदन दशा, वह अनुभूति है। वह दशा गुरु की सेवा या भक्ति से प्राप्त हो, वैसी नहीं है। अपना गुरु स्वयं होवे, तब ऐसी अनुभूति प्रकटती है। स्वयं ही देव और स्वयं ही गुरु है। अपना पूर्ण स्वरूप देव है और उसका साधन गुरु है।

यहाँ काव्य की दो पंक्तियों में दो बातें कर दी हैं। एक तो वस्तु शुद्धनय स्वरूप है और दूसरी उसकी अनुभूति, वह ज्ञान की विभूति-सम्पदा है। अनादि से पुण्य-पाप के राग का वेदन था, वह दु:खरूप आकुलतावाला था। वह पलट कर स्वभाव के आश्रय से जो स्वसंवेदन प्रकट होता है, वह सुखरूप आनन्द का वेदन है। वह आत्मा की विज्ञान-विभूति है।

यह धर्म की प्रथम सीढ़ी की शुरूआत की बात है। वस्तु ऐसी निरालम्ब है कि उसकी बात सुने, परन्तु अन्दर में बैठना कठिन पड़ता है। कारण कि इसका अभ्यास नहीं है। सर्वज्ञ वीतराग

www.vitragvani.com

परमदेव की वाणी में तो यह आया है कि तेरा आत्मा ही भगवान है और उसका अनुभव वह तेरी विभूति और विज्ञानघन सम्पदा है। जड़ सम्पत्ति तो तेरी सम्पदा नहीं; परन्तु व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प भी तेरी सम्पदा नहीं है। व्यवहार से निश्चय होता है -यह बात ही खोटी है। विरुद्धभाव से अविरुद्धभाव किसप्रकार हो ? व्यवहार से निश्चय विरुद्ध है और निश्चय से व्यवहार विरुद्ध है। अत: व्यवहार रत्नत्रय के विकल्परूप साधन से आत्मा की निश्चय सम्पदा नहीं प्रकटती।

लोग ऐसा मानते हैं कि पहले व्यवहार हो तो फिर निश्चय होता है। भाई ! निश्चय बिना व्यवहार कहना किसको ? पहले बिन्दी और बाद में एक- ऐसा कभी होता है ? सर्वज्ञ वीतराग देव ने तो ऐसा धर्म प्ररूपित नहीं किया है। केवली द्वारा प्ररूपित निश्चय धर्म ही शरणरूप है। पॉच-दश हजार रूपये खर्च कर देने से धर्म हो जाये- ऐसा नहीं है।

प्रश्न:- तो फिर दान में पैसे लगाये हो वे तो देना नहीं है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री:- भाई ! पैसा देना, वह आत्मा का धर्म नहीं; वैसे ही पैसे रखना, वह भी आत्मा का धर्म नहीं। जड़वस्तु को देना या रखना, वह आत्मा का कार्य नहीं है। ये पैसे मेरे है और मैं दे सकता हूँ- ऐसी एकता मानी है, वह तो मिथ्यात्व है। उसने अजीव को जीव माना है, परन्तु धर्मी को पैसा दान में देने का शुभभाव आये बिना रहता नहीं है।

'वस्तु विचारत एक पदारथ, नाम के भेद कहावत दोई'- आत्मा का अनुभव कहो या ज्ञान का अनुभव कहो-दोनो एक ही है। ज्ञान की अनुभूति और आत्मा की अनुभूति-ऐसे दो शब्द भले ही हों परन्तु वस्तु एक ही है, उसमें भेद नहीं है। आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है अत: गुणी का अनुभव और गुण का अनुभव ऐसे नामभेद है, वस्तु भेद नहीं।

श्रोता:- साहब ! हमें करना क्या ? वह कहो न ?

पूज्य गुरुदेवश्री:- यह अनुभूति करनी यही करना है। कुछ क्रिया करे, व्रत करे, यात्रा करे, मन्दिर बनवाये ये कोई तेरी धार्मिक क्रिया नहीं, वह तो शुभभाव है। और जड़ में फेरफार हो, वह जड़ की क्रिया है। तो प्रश्न होता है कि ऐसे शुभ- भाव नहीं करना न ? भाई ! करने न करने का प्रश्न ही नहीं है। ऐसे भाव होते हैं, आ जाते हैं; अत: वे करने योग्य हैं या वस्तु का स्वरूप है- ऐसा नहीं।

'यों सरवंग सदा लखि आपुहि'- स्वयं अपने से अपने ज्ञायकभाव स्वरूप निज आत्मा की पहचान करके उसका अनुभव करना, गुण और गुणी अभेद है- ऐसा अनुभव स्वयं

www.vitragvani.com

अपने से करना। उसमें व्यवहार की अपेक्षा नहीं है। आत्मा और ज्ञान सर्वांग एक स्वरूप है, सदा एकरूप है- ऐसा जानना।

'आतम ध्यान करे जब कोई'- निमित्त, राग और मन के संग की अपेक्षा छोड़कर स्वयं अपने से जब अपना अनुभव करे, तब शुद्धस्वरूप की प्राप्ति होती है। आत्मा का ध्यान करके आत्मा का अनुभव करे तब उसे जो अशुद्ध राग-द्वेषादि का अनुभव था, उसका नाश होकर शुद्धस्वरूप की प्राप्ति अर्थात् वेदन होता है। उसका नाम समकित है, वही धर्म है।

'मेटि असुद्ध विभाव दसा तब'- अर्थात् राग के समस्त विकल्पों से छूटकर, गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी राग है; वह अशुद्धता है, उसे छोड़कर अर्थात् उसका लक्ष्य छोड़कर जब स्वभाव की दृष्टि में आया, तब उसे स्वरूप की प्राप्ति होती है।

देखो! इसमें उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीन सिद्ध किये हैं। भगवान आत्मा त्रिकाल शुद्धस्वरूप, वह ध्रुव, उसका ध्यान करने से निर्मल पर्याय उत्पन्न होती है और रागादि की मलिन पर्याय का व्यय होता है। इसप्रकार 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्'- यह द्रव्य का लक्षण है।

लोग तो जीवदया में जैनधर्म मानते हैं, परन्तु जीवदया तेरी या पर की? इसका विचार किया! भगवान तेरी अपनी दया ही धर्म है। पर की दया में तो परसन्मुखता होती है, विकल्प उत्पन्न होते हैं, वह तो बंध का कारण है, धर्म नहीं। चैतन्य भगवान अपने स्वभाव अनुसार परिणमे, तब अशुद्धदशा टले और शुद्धदशा प्रकट हो वह धर्म है। यह धर्म पाने की कला और रीति है।

आत्मा गुणी है और ज्ञान उसका गुण है, उनमें प्रदेशभेद नहीं है। जैसे शक्कर है वहीं मिठास है। शक्कर और मिठास के अंश अलग-अलग नहीं हैं; वैसे ही भगवान आत्मा और ज्ञान के प्रदेश अलग-अलग नहीं है। जिस भाग में आत्मा है, उसी भाग में ज्ञान है। ज्ञान और आत्मा में कहीं भिन्नता नहीं।

जैसे अग्नि का गुण उष्णता है। तो कोई अग्नि और उष्णता को भिन्न करना चाहे तो नहीं हो सकता। अग्नि के अभाव में उष्णता और उष्णता के अभाव में अग्नि नहीं रहती; वैसे ही ज्ञान और आत्मा का सहभावी सम्बन्ध है, वह कभी भिन्न नहीं हो सकता। यहाँ यह ज्ञानगुण की बात है, पर्याय की बात नहीं। आत्मा का 'स्व' भाव ज्ञान और आत्मा स्वयं, स्वभाव और स्वभाववान दोनों का सहभावी सम्बन्ध है। जहाँ आत्मा है, वहाँ ज्ञान है और ज्ञान है वहाँ आत्मा है; गुण-गुणी अभेद है। ध्रुवस्वरूप है।

www.vitragvani.com

आत्मा और ज्ञान एक ही है, अतः आत्मा के अनुभव करने को धर्म कहो या ज्ञान का अनुभव करना कहो एक ही है। देह के रजकण या राग से भिन्न वस्तु कहो या उसका ज्ञानगुण कहो- दोनों एक ही है। नाम भेद है वस्तु भेद नहीं- इसप्रकार 13वें कलश का अर्थ हुआ।

ज्ञानियों का चिंतवन

अपनैंही गुन परजायसौं प्रवाहरूप,
परिनयौ तिहूं काल अपनै अधारसौं।
अन्तर-बाहर-परकासवान एकरस,
खिन्नता न गहै भिन्न रहै भौ-विकारसौं ।।
चेतनाके रस सरवंग भरि रह्यौ जीव,
जैसे लौंन-कांकर भरयौ है रस खारसौं।
पूरन-सुरूप अति उज्जल विग्यानघन,
मोकौं होहु प्रगट विसेस निरवारसौं ।।15।।

अर्थः- जीव पदार्थ सदैव अपने ही आधार से रहता है और अपने ही धाराप्रवाह गुण-पर्यायों में परिणमन करता है, बाह्य और अभ्यन्तर एकसा प्रकाशवान रहता है कभी कमती नहीं होता, वह संसार के विकारों से पृथक् है, उसमें चैतन्यरस ऐसा ठसाठस भर रहा है, जैसे कि नमक की डली खारेपन से भरपूर रहती है। ऐसा परिपूर्ण स्वरूप, अत्यन्त निर्विकार, विज्ञानघन आत्मा मोह के अत्यन्त क्षय से मुझे प्रगट होवे ।।15।।

काव्य - 15 पर प्रवचन

बनारसीदासजी कहते हैं कि मुझे पूर्ण आत्मा की प्राप्ति होओ।

भगवान आत्मा कैसा है? कि अपने गुण के भेद से प्रवाहरूप है। सदा अपने परिणमन स्वभाव से परिणम रहा है। पंचास्तिकाय में आता है न! '**द्रव्ययात्मलाभहेतुः परिणामः**' वैसे ही यहाँ कहते हैं कि आत्मा सदा अपने परिणमन स्वभाव से भरा है।

मार्ग बहुत सूक्ष्म है भाई! सुखी होना हो, उसके लिए यह बात है। जगत धर्म के बहाने बहुत लुटता है। मनुष्यदेह पाने के बाद भी ऐसी सत्य बात का मिलना दुर्लभ है। **"दुर्लभ मानव भव उसमें दुर्लभ आतम लाभ..।"**

भगवान आत्मा में अभेद और गुण के भेद का प्रवाह सदा बह रहा है। अर्थात् अभेद और

www.vitragvani.com

भेद दोनों सदा हैं। अपने पारिणामिकभाव के त्रिकाल आधार से सदा एकरूप है। द्रव्य आधार है और गुण आधेय है, परन्तु दोनों में भेद नहीं, अभेद है। वस्तु त्रिकाल एकरूप है।

नियमसार में आता है न! पर्याय, बाह्य तत्त्व है। संवर, निर्जरा और मोक्ष वह बाह्यतत्त्व है। एकरूप तत्त्व वह अन्तःतत्त्व है, उसकी अपेक्षा से अंशरूप दशा वह बाह्यतत्त्व है। सदृश ध्रुववस्तु और उसकी निर्मलदशा एक सरीखी प्रकाशमान रहती है। इतना भेद भी खटकता है। आत्मा आधार और उसके आधार से रहते गुण, वे सदा एकरूप प्रकाशमान हैं। जैसे नमक की डली में अकेला क्षाररस ही भरा है; वैसे ही भगवान आत्मा में चैतन्यरस लबालब भरा है। वह कभी कम नहीं होता और भव के विकार से भिन्न रहता हैं। धर्मी जीव अपने आत्मा का ऐसा विचार करता है, परन्तु मैं कर्म के सम्बन्धवाला हूँ, रागवाला हूँ, बंधवाला हूँ, मैं राग को तोड़ता हूँ- ऐसा विचार नहीं करता।

जिसमें संसार का विकार नहीं वह आत्मतत्त्व है। '**खिन्नता न गहै**'- जिसमें कोई कमीपना रहे नहीं, कमीपना हो नहीं- ऐसा ही आत्मा का स्वरूप है। भगवान आत्मा उदय भाव के विकार से त्रिकाल भिन्न रहता है। भले ही वह मानें कि मैं इस उदयभावरूप हो गया; परन्तु वह कभी उदयभावरूप होता नहीं। ज्ञायकभाव तो सदा ज्ञायकभावरूप ही रहा है। प्रवचनसार की 200वीं गाथा में कहा है कि इसने अपने को अन्यथा अध्यवसित किया है कि मैं शरीर और रागवाला हूँ- ऐसा खोटा निर्णय अज्ञानी ने खड़ा किया है, परन्तु ज्ञायकभाव कभी शरीर या रागरूप नहीं होता।

जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधे, आत्मा उस भाव से भी भिन्न है। भव का भाव वह कोई आत्मा नहीं, वह तो अनात्मा है।

यह तो नाटक समयसार है। यह बात सुनने को भी नहीं मिलती तो विचारे कब? अरे! जिन्दगी चली जाती है, मृत्यु समीप होती जाती है.. ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है। चक्रवर्ती की सम्पदा मिलना सहज है; परन्तु ऐसे चैतन्यरस के घोलन का काल मिलना अनन्तकाल में दुर्लभ है।

इस जीवद्वार में जीव की व्याख्या की है। जीव तो उसे कहते हैं कि जिसमें सर्वांग में चेतना का प्रवाह बहता है। जैसे गन्ने में सर्वांग मिठास है, शक्कर में सर्वांग मिठास है, नमक की डली सर्वांग खारी है; वैसे ही चेतन मे अनादि से सर्वांग चेतनरस भरा है। ऐसा ठसाठस चेतनरस भरा है कि अनन्तकाल तक केवलज्ञान की अनन्त पर्यायें हों, परन्तु उस रस में कमी नहीं आती, कमी

www.vitragvani.com

नहीं होती । अरे! अन्दर से उसका विश्वास तो ला! संदेह में डाँवाडोल रहेगा तो चेतन का अनुभव नहीं होगा।

भगवान आत्मा चैतन्यरस से भरपूर तत्त्व है। विकल्प का रस है, वह चैतन्यरस नहीं है। इक्कीस प्रकार के उदयभाव हैं, उनसे आत्मा खाली है। उदयभाव से शून्य और चेतनभाव से पूर्ण- ऐसा आत्मा वह आत्मा है और ऐसे आत्मा का अनुभव वह धर्म है, परन्तु ऐसा समझमें नहीं आवे तो हमें करना क्या ? ऐसा करके क्रियाकाण्ड करके अज्ञानी धर्म होने का संतोष कर लेता है, परन्तु भाई! समझ में नहीं आवे -ऐसा कैसे हो सकता है?

मुझे समझ में नहीं आता तूने ऐसा शल्य धारण कर रखा है। अपनी जाति अपने को ही समझमें न आवे! स्वयं अपने को किसलिए छुपा रखे? अपना स्वरूप अवश्य ही समझ में आवे- ऐसा है; परन्तु इसने कभी दरकार ही नहीं की।

जैसे नमक की डली और उसका क्षाररस अलग नहीं है, मात्र उनमें नाम भेद है; वैसे ही चैतन्य और उसका चेतनरस अलग नहीं है, मात्र नाम भेद है। आत्मा चैतन्यरस से भरा है। यह तेरे घर की बात चलती है। भाई! निजघर की पहचान बिना कभी धर्म नहीं हो सकता।

धर्म का धारक धर्मी कैसा और कितना है- इसकी खबर बिना दशा में धर्म कहाँ से हो? इसने बाह्य क्रियाकाण्ड में धर्म मानकर मनुष्यभव खो दिया है। वीतराग सर्वज्ञप्रभु का पंथ अर्थात् तेरे सर्वज्ञस्वभावी प्रभु का पंथ, उसमें अन्तर में जाना। तू सर्वज्ञ अर्थात् सबको जानने के स्वभाववाला है। ज्ञान के रस से भरा है।

'पूरन स्वरूप अति उज्जवल विज्ञानधन'- भगवान आत्मा कैसा है? वह परिपूर्ण स्वरूप है, अति उज्ज्वल निर्विकार है, जिसमें विकार की वासना का अभाव है, विज्ञानघन है। जैसे सर्दी में जमे हुए घी में अँगुली तो प्रवेश करती ही नहीं, परन्तु चाबी घुसाना भी मुश्किल पड़ता है; वैसे ही आत्मा ऐसा विज्ञानघन है कि उसमें दया दानादि का कोई भी विकल्प प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसा आत्मा मुझे प्रकट होओ! सर्व मलिनता के अभाव से सर्वज्ञपद को लेता हुआ मेरा आत्मा प्रकट होओ- धर्मी की ऐसी भावना होती है। धर्मी को व्यवहार आता है, वह अलग बात है; परन्तु उसको व्यवहार करने की भावना नहीं होती।

धर्मी व्यवहार को करने योग्य नहीं मानता। **'मोकौं होऊ प्रगट विसेस निरवारसौ'**- मोह के अत्यन्त क्षयपूर्वक मेरा निर्विकार आत्मा मुझको प्रगट होओ। ऐसी ही भावना धर्मी की

www.vitragvani.com

होती है। इससे विरूद्ध भावना हो, वह धर्मी की भावना नहीं, 'विसेस निरवार सौं' अर्थात् रागादि मोह का विशेषप्रकार से नाश होकर-सर्वथा नाश होकर, विज्ञानघन आत्मा जैसा है वैसा क्षायिकभावपने प्रकट होओ- ऐसी धर्मी की भावना होती है।

देखो! एक-एक काव्य में कितना भाव भर दिया है! पूरा-पूरा भर दिया है।

हम सम्प्रदाय में दो-दो हजार श्लोक दो-तीन घण्टे में कंठस्थ बोल जाते थे... रात्रि में किसी से बात नहीं करते थे, सबके साथ में बैठकर कंठस्थ किए हुये दो-दो हजार श्लोक एकसाथ बोल जाते, परन्तु आत्मा की पहिचान बिना वह क्या काम का? हमारे गुरु तो ऐसे थे कि चतुर्थकाल के साधु कहलाते, परन्तु अरे! यह बात उनके कान में भी नहीं पड़ी। मूलवस्तु के ज्ञान बिना क्रिया बहुत की, वर रहित बारात जोड़ दी।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी ऐसी भावना करता है कि मेरी दशा में सम्पूर्ण अशुद्धता मिटकर भगवान आत्मा जैसा पूर्ण निर्विकार है, वैसा मुझे प्राप्त होओ।

अब नाटक समयसार जीवद्वार का 16वाँ काव्य शुरू होता है। इस काव्य में पण्डित बनारसीदासजी ने साध्य-साधक का यह स्वरूप अथवा द्रव्य और गुण-पर्यायों की अभेदता बतायी है।

साध्य-साधक का स्वरूप व द्रव्य और गुण-पर्यायों की अभेद विवक्षा

जंह ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन,
सिद्धि समाधि साधिपद सोई।
सुद्धपयोग जोग महिमंडित,
साधक ताहि कहै सब कोई।।
यौं परतच्छ परोच्छ रूपसौं,
साधक साधि अवस्था दोई।
दुहुकौ एक ग्यान संचय करि,
सेवै सिववंछक थिर होई।।16।।

अर्थः- सम्पूर्ण कर्म-समुदाय से रहित और अविनाशी स्वभाव सहित सिद्धपद साध्य और मन, वचन, काय के योगों सहित शुद्धोपयोगरूप अवस्था साधक है। उनमें एक प्रत्यक्ष और एक परोक्ष है, ये दोनों अवस्थाएँ एक जीव की हैं, ऐसा जो ग्रहण करता है वही मोक्ष का अभिलाषी स्थिर-चित्त होता है।

www.vitragvani.com

भावार्थः- सिद्ध अवस्था साध्य है और अरहंत, साधु, श्रावक, सम्यक्त्वी आदि अवस्थाएँ साधक हैं; इनमें प्रत्यक्ष- परोक्ष का भेद है। ये सब अवस्थाएँ एक जीव की हैं ऐसा जाननेवाला ही सम्यग्दृष्टि होता है।।16।।

काव्य - 16 पर प्रवचन

सिद्धपद साध्य है और सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि साधक हैं। धर्मी को अपनी मोक्षदशा साध्य है और सम्यक्त्वादि की निर्मल निर्विकल्प दशा साधक है अर्थात् पूर्ण शुद्धता साध्य है और अपूर्ण शुद्धता साधक है; व्यवहाररत्नत्रय साधक नहीं है।

'जंह ध्रुवधर्म कर्मछय लच्छन'- यहाँ ध्रुवधर्म माने त्रिकाली द्रव्य की बात नहीं; परन्तु सिद्धदशा, वह ध्रुवधर्म है, वह साध्य है जो कि कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुई है। जहाँ कर्म और नोकर्म छूट गये हैं- ऐसा सिद्धपद वह सिद्धिपद अथवा समाधिपद है, वह धर्मी का साध्य है। अज्ञानी जीव को तो विकार साध्य है और उसका साधन मिथ्यात्वभाव है। यहाँ तो धर्मी जीव के साध्य-साधन का कथन चलता है।

सर्वज्ञ वीतराग परमदेव ने जो सिद्धपद निश्चल है, उसको ध्रुवधर्म कहा है। कुन्दकुन्दाचार्य देव ने भी श्री समयसार की पहली गाथा में सिद्धगति को ध्रुव, अचल और अनुपम कही है। उसकी यह व्याख्या है।

'मोक्ष कह्यो निज शुद्धता, ते पामे ते पंथ।
समझाव्यो संक्षेपमा, सकलमार्ग निर्ग्रन्थ।।'

आत्मसिद्धि श्रीमद् राजचंद्र।

अपनी पूर्ण शुद्धता-परिपूर्णता प्राप्त होना, वह साध्य की सिद्धि है, समाधि है। जिसमें पूर्ण समाधि हो गई- ऐसी सिद्धदशा, वह साध्य है।

'शुद्धोपयोग जोग महिमंडित'- सिद्धदशा किसप्रकार सधती है? कि शुद्धोपयोग के साधन से सिद्धदशा साध्य होती है। वह शुद्धोपयोग भले ही मन, वचन, काया के योगसहित है और आत्मा के प्रदेशों में भी कंपन है; फिर भी शुद्धोपयोग है, वह साधक है। वह शुद्धोपयोग क्या है? शुभाशुभ विकल्प रहित शुद्धात्म व्यापार, जो कि अत्यन्त निर्विकल्प वीतरागी परिणाम है, वह शुद्धोपयोग है।

www.vitragvani.com

आत्मा शुद्ध आनन्द स्वरूप शुद्धस्वभाव की मूर्ति है। उसके दर्शन, ज्ञान और चारित्र के आंशिक शुद्ध परिणाम चौथे गुणस्थान से शुरू हो जाते हैं। अज्ञानी जीव को वस्तु शुद्ध आनन्दकन्द है ऐसा भान नहीं है। इसकारण वह दया, दान, व्रत, भक्ति के शुभराग को धर्म का साधन मानता है और चौथे गुणस्थान में शुभराग ही होता है- ऐसा मानता है। परन्तु वह शुभराग धर्म नहीं है, साध्य का साधन नहीं है। सन्त-धर्मी जीव तो शुद्धोपयोग को ही साधन कहते हैं।

भगवान आत्मा वीतराग पिण्ड है। भगवान को जैसा स्वभाव पर्याय में प्रकट है, वैसा ही इस आत्मा का त्रिकाली स्वभाव है। ऐसे स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणतारूप शुद्धोपयोग, वह साधन है। शरीर की क्रिया या शुभराग साधन नहीं है; परन्तु शुद्धोपयोग साधन है।

'यों परतच्छ परोच्छ रूपसौं, साधक साधि अवस्था दोई-' आत्मा की पूर्ण अवस्था-सिद्धदशा जो कि प्रत्यक्ष है, वह साध्य है और अपूर्ण शुद्ध-अवस्था भी वेदन में तो प्रत्यक्ष आती है; परन्तु प्रत्यक्ष जनाती नहीं है; इसलिए उसे परोक्षदशा कहा है, वह साधन है। साधक को वस्तु का पूर्णस्वरूप और उसकी ज्ञान-आनन्द आदि पर्यायें प्रकट ज्ञात नहीं होतीं; अतः साधक के शुद्धोपयोग को परोक्ष कहा है।

भाई! तेरी क्या बात करनी! तू तो अखण्डानन्द प्रभु है, उसके आनन्द के स्वाद के आगे तो इन्द्र का इन्द्रासन भी सड़े हुए तिनके जैसा लगता है, तू ऐसा अतीन्द्रिय सुखसागर है। वह भी किसने कहा है? अरे! सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर ने तुझे आनन्द का सागर कहा है। यह कोई अज्ञानी या अल्पज्ञ द्वारा कही हुई बात नहीं है। ऐसे निज आत्मा की सन्मुख दृष्टि है, स्वसन्मुख ज्ञान है, अंश से लेकर विशेष-विशेष स्थिरता है; जो सिद्धदशा की साधक है, उस दशा को यहाँ परोक्ष कहा है और सिद्धदशा प्रत्यक्ष है, क्योंकि उसमे अपने असंख्य प्रदेश, अनन्तगुण और सम्पूर्ण लोकालोक प्रत्यक्ष ज्ञात होते हैं।

आत्मा छह द्रव्यों का ज्ञान करे- ऐसा है, परन्तु छह द्रव्यों में आवे; वैसा नहीं। जैसे तुम्हें छह लड़कों का ज्ञान होता है; परन्तु तुम उनमें आ नहीं जाते ।

साधकदशा और साध्यदशा ये दोनो अवस्थायें है, द्रव्य-गुण नहीं। द्रव्य और गुण तो नित्य ध्रुव है। द्रव्य माने त्रिकाली शक्ति का पिण्ड और गुण माने शक्ति। ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि शक्तियाँ हैं, स्वभाव है और द्रव्य, स्वभाववान है। साधक और साध्य यह वस्तु की अवस्था-दशा है- ऐसा वस्तु का स्वरूप है। इसके भान बिना धर्म नहीं हो सकता। अपनी

www.vitragvani.com

आत्मा के भान बिना प्रतिक्रमण और सामायिक आदि किसप्रकार हो ? धर्म की शुरूआत ही आत्मा के भान से होती है।

आगे बढ़ने पर मुनिदशा आती है। उसकी क्या बात करना ! उसकी तो तुझे खबर ही नहीं है। मुनि के तो अन्तर में तीन कषायों का नाश हुआ है और बाह्य में भी नग्न दिगम्बर दशा है, उसको भगवान ने मुनिदशा कहा है।

'दुहु कौ एक ग्यान संचय करि, सेवै सिव बंछक थिर होई' जो जीव मोक्ष का वांछक है, वह साधक और साध्य दोनों अवस्था एक जीव की ही है- ऐसा जानकर उसका सेवन करता है। अर्थात् मोक्षार्थी जीव एकपने को लक्ष्य में रखता है, दोपने का सेवन नहीं करता।

अभी बाहर में अराजकता लगती है, परन्तु इस शुभराग से धर्म होता है, पुण्य से धर्म होता है, व्यवहार से धर्म होता है ऐसी मान्यता वह आत्मा में अराजकता है। अर्थात् उसमें आत्मा की हत्या होती है। "वीतराग का धर्म तो वीतरागभाव से ही शुरू होता है।" वीतराग का धर्म वस्तु का स्वभाव है।

धर्मीजीव अपूर्णदशा और पूर्णदशा को जानता है, परन्तु सेवा तो एक शुद्धात्मा की ही करता है। स्वरूप में स्थिर होकर आत्मा की सेवा करता है, दो पर लक्ष्य नहीं रखता। ज्ञान दोनों दशाओं का होता है, परन्तु सेवा तो एक आत्मा की ही करता है। सेवा करता है माने आत्मा के शुद्धस्वरूप में एकाग्र होता है। उसको उपासना भी कहते हैं।

छठवीं गाथा में उपासना की बात आती है न ! परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर, स्वद्रव्य का लक्ष्य करके उसकी उपासना करता है, उसको ध्रुव-द्रव्य शुद्ध कहने में आता है। शुद्ध चैतन्य द्रव्य के सन्मुख ढलने से शुद्धता प्रकट हो, उसको ध्रुव (द्रव्य) शुद्ध है -ऐसा कहा जाता है। छठवीं गाथा में यह ध्रुवशुद्ध की बात है और यहाँ पूर्ण और अपूर्ण शुद्ध पर्याय के ज्ञान की बात है। ज्ञान दोनो का है, पर सेवा एक शुद्धात्मा की करता है।

'सेवे सिव वंछक थिर होई।' साध्य और साधक दोनों अवस्थायें एक जीवद्रव्य की हैं ऐसा जो ग्रहण करता है वही मोक्ष का अभिलाषी स्थिरचित्त होता है- स्वरूप में स्थिर होता है। ऐसी यह साधकदशा है।

जिसका बहाव स्वभाव की तरफ है, उसको यह सरल पड़ता है, जिसका बहाव स्वभाव की तरफ हुआ, वह तो नज़दीक आ गया; जिसका बहाव अज्ञान की तरफ है, वह तो दूर है।

www.vitragvani.com

चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द और ज्ञान का पाताल कुंआ है। जैसे ऊपर में पानी कम हो, परन्तु पाताल में से पानी के प्रवाह आया ही करते हैं, वैसे ही चैतन्य पर दृष्टि देकर अनुभव करे तो अनुभव करते-करते अनन्तकाल व्यतीत हो जाये, तथापि चैतन्य पाताल में से गुणों का माल कम नहीं होता।

भावार्थ यह है कि सिद्धअवस्था साध्य है और अरहंत, साधु, श्रावक और सम्यक्त्वी आदि अवस्थायें साधक है। देखो! सम्यक्त्वी को भी साधक कहा और अरहंत को भी साधक कहा है। जिनमें पूर्णता नहीं, उन सभी अवस्थाओं को साधक कहा है। शुद्धोपयोग है, वह साधक है- ऐसा कहा है। परन्तु शुद्धोपयोग तो निरन्तर नहीं रहता फिर भी शुद्धपरिणति है, वह शुद्धोपयोग ही है। शुद्धस्वरूप आत्मा के व्यापाररूप शुद्धपरिणति भी शुद्धोपयोग ही है। भले ही ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद छोड़कर ज्ञान एकाकार हो, वह शुद्धोपयोग है यह सत्य है, परन्तु जैसा द्रव्य-गुण है, वैसी ही उसकी परिणति है, उसको भी शुद्ध उपयोग कहा जाता है।

जैसे दूज का चन्द्र उगे या पूर्णिमा हो- ये दोनों ही अवस्थायें चन्द्रमा की हैं; वैसे ही शुद्ध ज्ञायकभाव की प्राप्ति से लेकर सिद्धदशा तक की समस्त अवस्थायें एक जीव की हैं, कोई भी दशा कर्म की अथवा कर्म से हुई नहीं है। समस्त दशायें मेरे भगवान आत्मा की एक की ही हैं। जो ऐसा जानता है, वह सम्यग्दृष्टि है।

अब 16 वें कलश के पद्यानुवादरूप 17 वें पद में द्रव्य और गुणपर्याय की भेद विवक्षा समझाते हैं-

द्रव्य और गुण-पर्यायों की भेद-विवक्षा

दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम,
समलरूप कहिये विवहार।
निहचै-दृष्टि एकरस चेतन,
भेदरहित अविचल अविकार।
सम्यकदसा प्रमान उभै नय,
निर्मल समल एक ही बार।
यौं समकाल जीवकी परिनति,
कहैं जिनेंद गहै गनधार।।17।।

www.vitragvani.com

अर्थः- व्यवहारनय से आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र - तीन गुणरूप है; यह व्यवहारनय निश्चय की अपेक्षा अभूतार्थ है, निश्चयनय से आत्मा एक चैतन्यरससम्पत्र, अभेद, नित्य और निर्विकार है। ये दोनों निश्चय और व्यवहारनय सम्यग्दृष्टि को एक ही काल में प्रमाण हैं; ऐसी एक ही समय में जीव की निर्मल समल परिणति जिनराज ने कही है और गणधर स्वामी ने धारण की है।।17।।

काव्य - 17 पर प्रवचन

सर्वज्ञ तीर्थंकर परमदेव दिव्यध्वनि में ऐसा कहते थे और गणधरदेव (उस वाणी को) झेलते थे। महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान में भी भगवान की वाणी खिर रही है और गणधरदेवादि सुन रहे हैं। उस वाणी में क्या आता है, वह कहते हैं-

आत्मा की- शुद्ध ध्रुव की श्रद्धा, ज्ञान और रमणता ये तीन भेद कहे जाते हैं, वह व्यवहार है, समल है, मेचक है अर्थात् भेद है वे तीन भेद हैं, वे निश्चय से अभूतार्थ हैं। सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र तो निश्चय है, परन्तु उनमें भेद किया; इसलिए वह अभूतार्थ हो गया- भेद हो गया। आश्रय तो अभेद का करना है। भेद का आश्रय करने योग्य नहीं, इसकारण भेद को व्यवहार और मलयुक्त कहा है। आत्मा के स्वरूप में श्रद्धा-ज्ञान अभेद हो जाये, वह तो निश्चय है। भेद का आश्रय करने से विकल्प उठता है- इसकारण भेद को समल कहा है। श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र की पर्याय (पर्याय होने से आश्रय का विषय न होने की अपेक्षा) स्वयं व्यवहार है।

आत्मा व्यवहारनय से दर्शन, ज्ञान चारित्र इन तीन गुणरूप है। वह व्यवहारनय निश्चय की अपेक्षा से अभूतार्थ है। निश्चय से आत्मा एक चैतन्यरस सम्पन्न, अभेद, नित्य और निर्विकार है। उसमें ये दर्शन, ज्ञान, चारित्र के तीन भेद करना, वह यथार्थ नहीं है; अभूतार्थ और असत्यार्थ है। जीव की पर्याय में तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र हैं; परन्तु उनके भेद पाड़ना, वह व्यवहार है। व्यवहाररत्नत्रय तो वास्तव में अपनी पर्याय में नहीं, अतः वह तो असद्भूत है।

यह मार्ग कठिन तो है, पर इसको पाना अशक्य नहीं है। मार्ग की दिशा की खबर नहीं इसलिए कठिन लगता है; परन्तु विपरीत दशा में दौड़ने लगे या रेत की चमक में जल शोधने लगे तो मिले वैसा नहीं है। रेत की चमकार में पानी नहीं होता। भाई! वहाँ कहाँ दौड़ रहा है! भजन में गाते हैं न- मनना ते मृगला ने पाछा बालजो रे लाल... दौड़ हाँफे झाँझवा जल नी काज... झाझवा माने चमक में पीने का पानी नहीं होता भाई! नहीं होता! खारी जमीन में सूर्य की किरणें

www.vitragvani.com

पड़ें तो पानी जैसा लगता है। उस दिशा में बहुत दौड़े, परन्तु पानी तो दूर, ठण्डी हवा भी नहीं मिलती; वैसे ही दौड़-दौड़कर पुण्य-पाप की क्रिया करे परन्तु उसमें से शान्ति नहीं मिलती, क्योंकि उसमें शान्ति है ही नहीं। शान्ति तो पुण्य-पाप के विकल्प रहित भगवान आत्मा में है। वहाँ तो जाता नहीं और बाहर दौड़ता है।

दौड़त-दौड़त दोड़ियो जेती मन नी दौड़।
प्रेम प्रतीत विचारो ठुकड़ी, गुरुगम ले जो जोड़।-

भगवान के ऊपर प्रेम चाहिए। विकार के प्रेम से आत्मा को शान्ति नहीं मिलती। अनादि से पर के और राग के प्रेम में बहुत दौड़ा है, परन्तु शान्ति हाथ नहीं आई। अरे! त्रिकाली की अपेक्षा दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी भेद हैं, अतः उनके आश्रय से धर्म नहीं होता।

'निहचै दृष्टि एक रस चेतन, मोहरहित अविचल अविकार' भगवान आत्मा में भेद नहीं है, आत्मा अविचल और अविकार है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद तो पर्याय में हैं, द्रव्य में तो वह सब अभेद है अतः भेद वह व्यवहार है। आत्मा निश्चय और निमित्त व्यवहार- ऐसा नहीं, आत्मा निश्चय और राग व्यवहार- ऐसा नहीं; परन्तु अभेद आत्मा निश्चय और निर्मल पर्याय के भेद, वह व्यवहार ऐसा कहा है। थोड़ा भी सत्य जैसा है, वैसा जानना पड़ेगा। गुरु समझाते हैं; परन्तु समझना तो स्वयं को पड़ेगा।

'सम्यक दसा प्रमान उभै नय निर्मल समल एक ही बार' अभेद, वह निश्चय और पर्याय का भेद पड़े वह व्यवहार। इन दोनों को एकसाथ जानना, वह प्रमाण है। उसमें लीनता, वह प्रमाण है। अखण्ड वस्तु की दृष्टि करके उसमें लीनता, वह धर्म है; परन्तु वस्तु में ऐसा भेद भी नहीं है; वह तो एकाकार अभेद है। निश्चय का आश्रय हो, व्यवहार का ज्ञान हो और द्रव्य-पर्याय दोनों का एकसाथ ज्ञान होना वह प्रमाण ज्ञान है।

47 शक्तियों में भी दृशिशक्ति, ज्ञानशक्ति आदि शक्तियाँ ली हैं। पर्याय में उनका परिणमन होना, वह व्यवहार है। राग, वह व्यवहार नहीं, राग तो असद्भूत व्यवहार में जाता है।

निर्मल अर्थात् अभेदवस्तु और समल अर्थात् भेद। इन दोनों का एक साथ ज्ञान होना, वह प्रमाणज्ञान है। **'यों समकाल जीव की परिणति'** त्रिकाल पारिणामिकभाव वह निर्मल और वर्तमान निर्मल पर्याय वह समल परिणति; इन दोनों को परिणति कहकर समझाया है। शब्द पकड़ने से काम नहीं चलता।

www.vitragvani.com

'कहै जिनेन्द्र गहै गणधार' –निर्मल और समल ऐसी जीव की दोनों परिणति को जो एकसमय में जानता है, वह प्रमाणज्ञान है। भगवान तीर्थंकर देव ने एक ही समय में जीव की ऐसी दो परिणति कही है और उसको गणधरदेव धारण करते हैं – झेलते हैं। ।

अब 17 वें कलश के पद्यरूप 18 वें काव्य में व्यवहारनय से जीव का स्वरूप बतलाते हैं-

व्यवहारनय से जीव का स्वरूप

एकरूप आतम दरब, ग्यान चरन दृग तीन।
भेदभाव परिनामसौं, विवहारै सु मलीन।।18।।

अर्थः- आत्मद्रव्य एकरूप है, उसको दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन भेदरूप कहना सो व्यवहारनय है- असत्यार्थ है।।18।।

काव्य - 18 पर प्रवचन

आत्मद्रव्य एकरूप है, आत्मवस्तु अनन्त गुणों का एक रसपिण्ड है। उसको दर्शन, ज्ञान, चारित्र के तीन भेदरूप कहना; वह व्यवहार है, असत्यार्थ है।

जेते भेद विकल्प हैं, ते ते सब विवहार।
निराबाध निरकल्प सो, निश्चयनय निरधार।।

पर्याय स्वयं अंश होने से व्यवहार है उसमें, तथा पर्याय के भेद डालना, वह तो सब व्यवहार है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र- ऐसा तीन प्रकार का व्यवहार कहा है। निर्विकल्प भगवान पूर्णानन्द प्रभू तो निराबाध- निरभेद है, वह निश्चय है- ऐसा नक्की करते हैं। भेद करके समझाना, वह व्यवहार है। यहाँ राग या निमित्तरूप व्यवहार की बात नहीं है, मात्र अभेद, वह निश्चय और उसमें भेद करना, वह व्यवहार ऐसा दोनों का यथार्थ ज्ञान करना, वह प्रमाणज्ञान है।

अब 19 वें काव्य में निश्चयनय से जीव का स्वरूप बतलाते हैं-

निश्चयनय से जीव का स्वरूप

जदपि समल विवहारसौं, पर्यय-सकति अनेक।
तदपि नियत-नय देखिये, सुद्ध निरंजन एक।।

अर्थः- यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा आत्मा अनेक गुण और पर्यायवान है तो भी निश्चयनय से देखा जाये तो एक, शुद्ध, निरंजन ही है।।19।।

www.vitragvani.com

काव्य - 19 पर प्रवचन

इस पद्य में निश्चयनय से जीव का स्वरूप बतलाया है। यद्यपि व्यवहारनय की अपेक्षा से आत्मा अनेक गुण और पर्यायोंवाला है, तथापि निश्चयनय से देखा जाये तो आत्मा एक, शुद्ध निरंजन ही है।

यहाँ 'यद्यपि' कहकर व्यवहार का गौणपना और मंदपना बतलाया है। यद्यपि आत्मा को दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि अनेक गुणों और पर्यायों से देखें तो भेदरूप व्यवहार है- ऐसा दिखता है; तथापि निश्चयनय से देखें तो आत्मा का स्वभाव तो एकरूप अभेद है। वह तो सर्व भावांतरों के नाश करने के स्वभाववाला है।

यहाँ संयोग अथवा विकल्प से आत्मा को देखने की तो बात ही नहीं है, मात्र भेद से देखें तो भेद दिखता है। अनेकपना है ऐसा दिखता है; फिर भी एकरूप अन्तर स्वभाव की दृष्टि से देखें तो आत्मा भेदरहित एकरूप शुद्धवस्तु है, भेद और व्यवहार तो अंजन है, आत्मा तो उससे रहित निरंजन है।

मार्ग ऐसा है भाई! सम्प्रदाय के साथ कहीं मेल खाये- ऐसा मार्ग नहीं है। जहाँ वस्तु स्थिति की ही खबर नहीं ऐसे सम्प्रदाय के साथ मेल कैसे बैठे? किसी को वस्तु का परिचय ही नहीं।

वस्तु में भेद करना, वह अंजन है, मेल है, मेचक है। यहाँ राग-द्वेष के मेल की बात नहीं है। वस्तु में भेद पाड़ना, वह मेल है- यह बात है। आत्मवस्तु मेलरहित है ऐसा नास्ति से कहा जाता है और अस्ति से कहो तो आत्मा 'एक' है। वही सम्यग्दर्शन का विषय है। जहाँ अभेद का लक्ष्य होता है, वहाँ भेद का लक्ष्य छूट जाता है; इसलिए अभेद को व्यवहार के नाश करने के स्वभाववाला कहते हैं।

सर्वभावांतरच्छिदे अर्थात् जो अपने एकरूप स्वभाव से भिन्न है- ऐसा व्यवहार, पर्याय, भेद आदि का आत्मा ध्वंस करनेवाला है। आत्मा तो अमेचक है।

ज्ञान का एक अंश व्यवहार को देखता है और एक अंश निश्चय को देखता है। यद्यपि व्यवहार से देखनेवाले अंश में आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनरूप दिखता है '**तदापि नियत नय देखिये**' तो आत्मा एकरूप नित्य अभेद अविनाशी है। नियतनय देखिये अर्थात् निश्चयनय को अपना देखे- ऐसा नहीं; अपितु निश्चयनय से वस्तु को देखे तो वस्तु ध्रुव है। यहाँ ध्रुव को ही निश्चयनय कह दिया है। अध्यात्म में नय और नय के विषय का भेद नहीं रहता।

www.vitragvani.com

जिसको जन्म-मरण का नाश करना हो अपनी दृष्टि में स्वभाव की सिद्धि करनी हो उसे यह सब जानना पड़ेगा। यह जाने बिना अन्य कोई उपाय नहीं है।

निश्चयनय से देखिये तो आत्मा एक, शुद्ध, निरंजन ही है। 'एक एव एकतः', वस्तुदृष्टि से वस्तु एक ही है, उसमें भेद दिखता नहीं; अभेददृष्टि में भेद नहीं दिखता नहीं। अभेद में भेद दिखे तो अभेद नहीं रहता।

बहुत बारीक बात है भाई! भगवान भगवान..राम..राम..राम नाम की माला जपने से यह कार्य हो जाये, वैसा नहीं है। अन्तर में रमता राम एकरूप है, उसकी दृष्टि करे तो आत्म साक्षात्कार हो। आत्मा..आत्मा का नाम रटने से कुछ नहीं होता, वह तो विकल्प है।

अब 19 वें कलश का पद्य 20 वाँ काव्य कहते हैं, उसमें शुद्ध निश्चयनय से जीव का स्वरूप बतलाया है।

शुद्ध निश्चयनय से जीव का स्वरूप

एक देखिये जानिये, रमि रहिये इक ठौर।
समल विमल न विचारिये, यहै सिद्धि नहि और ।।20।।

अर्थः- आत्मा को एकरूप श्रद्धान करना वा एकरूप ही जानना चाहिए, तथा एक में विश्राम लेना चाहिये, निर्मल समल का विकल्प न करना चाहिये। इसी में सर्वसिद्धि है, दूसरा उपाय नहीं है।

भावार्थः- आत्मा को निर्मल समल के विकल्प रहित एकरूप श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, एकरूप जानना सम्यक्ज्ञान है और एकरूप में ही स्थिर होना सम्यक्चारित्र है, यही मोक्ष का उपाय है ।।20।।

काव्य - 20 पर प्रवचन

एकरूप आत्मा विकल्प से नहीं जाना जा सकता, अतः यह आत्मा एक है- ऐसा नहीं, परन्तु अनेक-भेद पर से लक्ष्य छूटकर अन्तर्मुख हो अर्थात् वस्तु एकरूप ही दृष्टि में आती है 'यह एक है' और इसको मैं पकड़ता हूँ ऐसा नहीं। ऐसा हो, तब तो वस्तु एक और उसको पकड़नेवाली पर्याय इन दो का भेद पड़ जाये।

वीतराग का मार्ग ही मार्ग है, अन्य सब तो थोथा है। 'एक देखिये'- ऐसा कहा माने समस्त

www.vitragvani.com

आत्माओं को एक मानना- ऐसा नहीं कहा। आत्मा स्वयं एकरूप है ऐसा देखो। जिसमें अनन्त शक्ति और अनन्त सामर्थ्य है- ऐसा भेदरूपभाव होने पर भी उसको अभेद देखो, एकरूप श्रद्धान करो, भेद पर लक्ष्य मत रखो। **'एक देखिये जानिये रमि रहिये इक ठौर'** इसमें दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों आ गये। ध्रुव की श्रद्धा, ध्रुव का ज्ञान और ध्रुव में रमना; वह सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है।

अहो! पर तरफ लक्ष्यवाले अणुव्रत, महाव्रतादि का राग तो स्थूल राग है; परन्तु निज एकरूप ध्रुववस्तु को ज्ञान, दर्शनादि के तीन प्रकार से देखना, वह भी विकल्प का कारण है- राग है। जबतक उसके ऊपर लक्ष्य है, तबतक दृष्टि में सम्यक्ता नहीं आती। अत: यह वस्तु एक है और अनेक है, मेचक है और अमेचक है- ऐसे विकल्प नहीं रखना।

वीतराग कहते हैं कि तू मेरे सामने देखना छोड़कर तू तेरे सामने देख। तू स्वयं भगवान है। तू ऐसा मत मान कि इतनी बड़ी बात मुझे कैसे बैठे! अनन्तजीव यह बात बैठाकर (स्वीकृत कर-अनुभव कर) मुक्ति को प्राप्त हुए हैं।

आत्मा एकरूप है, उसको गुण-पर्याय के भेद से अनेकरूप देखो तो अनेकरूप है -ऐसा देखना, वह भेद है, व्यवहार है, मेचकपना है; क्योंकि उसे देखने पर विकल्प उठते हैं और यदि उसमें लाभ माने तो मिथ्यात्व होता है। अत: मैं मेचक हूँ या अमेचक हूँ, वह कोई विकल्प करने योग्य नहीं। 'अलम' बस होओ! विकल्पों से बस होओ!!

समयसार की 142वीं गाथा में आता है कि आत्मा अमेचक है अर्थात् शुद्ध है और पर्याय से मेचक है अर्थात् भेदरूप है; परन्तु उससे क्या है? ऐसे विकल्प करने से क्या हित है? कर्त्ता होकर ऐसे विकल्प करे, वह तो अज्ञान है। विकल्प करना, वह अज्ञानी का कार्य है; क्योंकि उसकी दृष्टि राग और भेद पर है, इससे विकल्प कर्त्ता है और विकल्प ही उसका कार्य है। ज्ञानी तो विकल्प का लक्ष्य छोड़कर एकरूप स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान में रमता है, वह उसकी मुक्ति का कारण है, वही मुक्ति का उपाय है, उसमें ही सर्वसिद्धि है; क्योंकि उससे ही श्रद्धा से लेकर केवलज्ञान आदि सब होता है।

एक भाई कहते हैं कि ऐसी श्रद्धा-ज्ञान न हो, वहाँ तक हमें क्या करना? वहाँ तक उसका प्रयत्न करना, समझ करनी... परन्तु मूलत: तो उसकी दृष्टि में से 'करना' छूटता नहीं है। कुछ करेंगे तो कल्याण होगा ऐसा मान रखा है न! परन्तु भाई! 'करना' वह तो 'मरना' है। विकल्प करना, वह भावमरण है। अकर्त्ता होकर आत्मा में रहना, वह जीव का जीवन है।

www.vitragvani.com

आत्मा को देखना और श्रद्धना, वह उसका जीवन है। चश्मा से देखना तो छोड़.. आँख से देखना तो छोड़..परन्तु एकसमय की पर्याय से भी पर को देखना छोड़..अन्तर में भगवान आत्मा विराजता है उसे देख! उसमें दृष्टि स्थाप! वह श्रद्धा ही सच्ची है।

'यहै सिद्धि नहिं और'- अन्तर्मुख चैतन्य के ध्रुवपने की दृष्टि और उसका अनुभव करने में ही सर्व-सिद्धि है, कारण कि उससे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और केवलज्ञान की सिद्धि होती है।

पण्डित कैलाशचन्दजी (वाराणसी) लिखते हैं कि कानजीस्वामी ने जो काम किया है, वह किसी ने नहीं किया। भाई! हमने तो कुछ नहीं किया। काम करनेवाले तो हम नहीं, परन्तु उसका विकल्प करनेवाले भी हम नहीं है। यह प्रभावना का कार्य हुआ उसमें निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराने के लिए ऐसा कहा जाता है।

अभेद का आश्रय करने से ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और मुक्ति होती है। अन्य कोई उपाय है ही नहीं। भेद और विकल्प से आत्मा को कुछ लाभ नहीं होता।

भावार्थ :- आत्मा को निर्मल, समल के विकल्परहित एकरूप श्रद्धना, वह सम्यग्दर्शन है। नवतत्त्व को जानने से सम्यग्दर्शन है ऐसा कहते हैं, परन्तु नवतत्त्व जैसे हैं, वैसे जाने; उसकी दृष्टि तो आत्मा पर ही जाती है। भेद से नवतत्त्वों की श्रद्धा करे, उसमें नया कुछ नहीं; वह तो अनादि से करता आया है। कलश टीका में कहा है कि 'नवतत्त्व का अनुभव, वह मिथ्यात्व है।'

तो प्रश्न होता है कि मोक्षमार्गप्रकाशक में तो ऐसा कहा है कि 'नवतत्त्व की श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है।' वहाँ ऐसा कहना है कि एकरूप आत्मा को जानते, अन्य तत्त्व आत्मा में नहीं है, ऐसा ज्ञान होता है उसमें नौ ही तत्त्वों का ज्ञान आ जाता है। इसकारण ज्ञान प्रधान कथन में उसे नवतत्त्व की श्रद्धा कही जाती है। एकरूप आत्मा की अस्ति का ज्ञान होने पर उसमें अजीव और आस्रवादि की पर्याय नहीं है- ऐसी नास्ति का ज्ञान भी साथ आ जाता है।

अपना जो पूर्वाग्रह बन गया हो उसे छोड़कर यह समझना बहुत कठिन है। पक्ष की गंध छोड़ना कठिन है। जैसे केरोसीन की बोतल को कितना ही साफ करो, परन्तु केरोसीन की गंध जाना मुश्किल है, अन्ततः तेजाब डालकर धोने पर गंध जाती है। वैसे ही सम्प्रदाय की दृष्टि हो, उसे छोड़कर यह दृष्टि करना कठिन काम है। पहले तो यह दृष्टि मिथ्या और यह दृष्टि सच्ची है -ऐसे भेद पड़े, तब दृष्टि फिरती है।

www.vitragvani.com

अहा! शास्त्र का ज्ञान वह कोई ज्ञान नहीं है। एकरूप अभेद आत्मा का ज्ञान, वह ज्ञान है और एकरूप आत्मा में स्थिर होना, वह चारित्र है; पंच महाव्रत के विकल्प उठते हैं, वह चारित्र नहीं, वह तो विकार है, दु:ख है, दोष है, जहर है। अभेद आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान और उसमें स्थिरता ही एक मोक्ष का उपाय है।

अब अमृतचन्द्राचार्य 20 वाँ श्लोक कहते हैं-

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया:
अपतित भिदमात्म ज्योतिरूद्गच्छदू च्छम्।
सततमनुभवामोऽनन्त चैतन्य चिह्नम्
न खलु न खलु यस्मान्यथा साध्यसिद्धि।।20।।

शुद्ध आनन्द स्वरूप भगवान आत्मा का अनुभव वह मोक्षमार्ग है। यहाँ उस अनुभव की प्रशंसा करते है। ज्ञान कैसा है? कि अनन्त है। अनन्त अर्थात् जिसकी कोई मर्यादा नहीं ऐसा एकरूप ज्ञान।

शुद्ध अनुभव की प्रशंसा

जाकै पद सोहत सुलच्छन अनंत ग्यान
विमल विकासवंत ज्योति लहलही है।
यद्यपि त्रिविधरूप विवहारमैं तथापि
एकता न तजै यौं नियत अंग कही है ।।
सो है जीव कैसीहूं जुगतिकै सदीव ताके,
ध्यान करिबैकौं मेरी मनसा उनही है।
जाते अविचल रिद्धि होत और भांति सिद्धि,
नाहीं नाहीं नाहीं यामैं धोखो नाहीं सही है।।21।।

अर्थ:- आत्मा अनंत ज्ञानरूप लक्षण से लक्षित है, उसके ज्ञान की निर्मल प्रकाशवान ज्योति जग रही है, यद्यपि वह व्यवहारनय से तीनरूप है तो भी निश्चयनय से एक ही रूप है, उसका किसी भी युक्ति से सदा ध्यान करने को मेरा चित्त उत्साहित हुआ है, इसी से मोक्ष प्राप्त होती है और कोई दूसरा तरीका कार्य सिद्ध होने का नहीं है! नहीं है!! नहीं है !!! इसमें कोई सन्देह नहीं है बिलकुल सच है ।।21।।

www.vitragvani.com

काव्य - 21 पर प्रवचन

'जाके पद'- जिसका पद ज्ञानरूप सुलक्षण से शोभता है। जिसमें स्वभाव और स्वभाववान- ऐसे भेद भी नहीं हैं, ऐसी वस्तु शोभती है। चैतन्य सूर्य जगमग-जगमग हो रहा है। अकेला चैतन्यप्रकाश लहलहा रहा है। 'चैतन्य प्रकाश' यह भी भेद से कथन है। अरे! जहाँ दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भेद भी नहीं पोसाता, वहाँ राग और निमित्त हो तो ज्ञान हो, यह कहाँ से पोसावे?

वस्तु में गुण और पर्याय तो है, फिर भी उसके भेद भी जिसको खटकते हैं, वस्तु ऐसी अभेद और एकाकार है, इससे निश्चयनय कहता है कि आत्मा कभी भी तीनरूप नहीं हुआ। जो एकरूप है, वह जीव है। भेदरूप को जीव नहीं कहना ऐसा कहते हैं।

यह तो जीवद्वार है न! जीवद्वार माने जीव के स्वरूप का कथन। जीव किसको कहना? कि जो एकरूपता को नहीं तजता, वह जीव है। जहाँ एक ऊपर नजर पड़ी, वहाँ एक वस्तु और नजर का भेद भी नहीं है। यह एकता कभी भेदरूप में नहीं आती। एकरूप आत्मा कभी व्यवहाररूप या भेदरूप या अनेकरूप हुआ ही नहीं और होता भी नहीं।

लोग बाहर की विद्वत्ता से आत्मा को अनेक प्रकार मानते हैं; परन्तु बाहर की विद्वत्ता से आत्मा समझ में आवे वैसा नहीं है। भाई! आत्मा ने कभी एकरूपता छोड़ी नहीं, वहाँ वह पुद्गल की सहायता ले, विकल्प की सहायता लेकर काम करे या विकल्प की सहायता से जाने- ऐसा कैसे बने? ऐसा बनना अशक्य है।

अहा! आत्मवस्तु एकरूपता छोड़कर दो रूप हुई नहीं। गुणी और गुण- ऐसे दो भेदरूप भी आत्मा नहीं हुआ। उसका किसी भी युक्ति से ध्यान करने के लिए मेरा चित्त उत्साही बना है। युक्ति माने अन्तर्मुख पुरुषार्थ करने के लिए मैं जागृत हुआ हूँ, मेरा झुकाव निरन्तर आत्मा की तरफ जाने के लिए तैयार हो गया है।

धर्मी की दृष्टि निरंतर एकरूप द्रव्य के ऊपर ही होती है। ऐसा धर्मी कहता है कि मेरा मन आत्मा का ध्यान करने के लिए उत्साही हुआ है। वस्तु तरफ की एकाग्रता अर्थात् ध्यान, वही वस्तु का प्रयत्न और प्रतीति है, वह निरंतर चलता है। उसको कभी भी भेद की मुख्यता नहीं हो जाती। सदैव निश्चय ही मुख्य होता है। व्यवहार किसी समय मुख्य नहीं होता। मैं आत्मा के

www.vitragvani.com

निश्चय एकरूप स्वरूप का ध्यान करने को उत्साहित हुआ हूँ। **"ध्यान करिवैं को मेरी मनसा उनही है।"**

जो भेद और व्यवहार को जीते और अभेद की दृष्टि करे, वह जैन है; क्योंकि जीव सदा ही अभेद है, जीव ने कभी भी अभेदपना नहीं छोड़ा है।

'जाते अविचल रिद्धि होत' अविचल रिद्धि माने मोक्ष। अभेद के अनुभव से मोक्ष प्राप्त होता है। **'और भाँति सिद्धि नाहीं नाहीं'**- अन्य किसी उपाय से मोक्ष-पूर्णदशा की सिद्धि नहीं होती। स्व की एकता के उत्साह से अविचल रिद्धि प्राप्त होती है। व्यवहार या भेद के लक्ष्य से सिद्धि नहीं। नहीं..नहीं..नहीं ऐसे बारंबार नहीं कहकर कथन का समर्थन किया है।

आत्मा की श्रद्धा, आत्मा का ज्ञान और आत्मा में स्थिरता- इससे ही पूर्णता की प्राप्ति है। एक के आश्रय सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं...नहीं..नहीं। इसमें धोखा अर्थात् कोई शंका नहीं है। यह बात तो एकदम सत्य है। एक आत्मा के आश्रय से ही श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र है!

अब समयसार कलश 21 के पद्यरूप 22वाँ काव्य चलता है, जिसमें कविवर बनारसीदासजी ने ज्ञाता की अवस्था कैसी होती है यह बताया है।

ज्ञाता की अवस्था

कै अपनौं पद आप संभारत,
कै गुरुके मुखकी सुनि बानी।
भेदविग्यान जग्यौ जिन्हिकै,
प्रगटी सुविवेक-कला-रसधानी ।।
भाव अनंत भए प्रतिबिंबित,
जीवन मोख दसा ठहरानी।
ते नर दर्पन ज्यौं अविकार,
रहैं थिररूप सदा सुखदानी ।।22।।

अर्थः- अपने आप स्वरूप सम्हालने से अथवा श्रीगुरु के मुखारविंद द्वारा उपदेश सुनने से जिनको भेदज्ञान जाग्रत हुआ है अर्थात् स्वपर विवेक की ज्ञान शक्ति प्रगट हुई है, उन महात्माओं को जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। उनके निर्मल दर्पणवत् स्वच्छ आत्मा में अनंत भाव झलकते हैं परन्तु उनके कुछ विकार नहीं होता। वे सदा आनंद में मस्त रहते हैं ।।22।।

www.vitragvani.com

काव्य - 22 पर प्रवचन

आत्मा का स्वभाव अतीन्द्रिय ज्ञान और आनन्द-स्वरूप है, परन्तु उसको ऐसे स्वरूप का अनादि से विस्मरण हो गया है और पुण्य-पाप भाव यह 'मैं' और इनके फल में प्राप्त होनेवाली चारगति वह मेरी है ऐसा मान लिया गया है। यह अज्ञानी का महाभ्रम अज्ञान और पाखण्ड है। अपना पद तो शुद्ध चैतन्य ज्ञानानन्द है। उस निजपद को भूल करके शरीर, लक्ष्मी, आबरू, कीर्ति वह मेरी है, शुभ-अशुभ भाव मेरे हैं -ऐसा मानकर जीव अनादि काल से अज्ञान से दु:खी है। अपने स्वरूप की हिंसा करके पर में सुख की कल्पना करता है -ऐसा सर्वज्ञ तीर्थंकर त्रिलोकनाथ परमात्मा कहते हैं।

मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ यह भक्ति पढ़कर विचार आया था कि मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ऐसा भान हो, तब वह ज्ञानानन्द स्वभावी है। मात्र ऊपर-ऊपर से ज्ञानानन्द स्वभावी माने उससे लाभ नहीं। मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ ऐसा भान कब हो ? कि जब पुण्य-पाप भावों की रुचि छोड़कर, ज्ञानानन्द प्रकट करे, तब उसके द्वारा मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ- ऐसा भान हो, उसे ही सम्यग्दृष्टि और जैन का प्रथम सोपान चढ़ना कहा जाता है। यही धर्म की प्रथम इकाई हैं। वस्तुरूप से तो आत्मा तीनों काल सिद्ध-समान है, उसको दृष्टि में लेना।

जो चीज तेरी हो, वह तुझसे जुदा कैसे हो ? चालीस लाख का मकान मेरा है- ऐसा मानता है, परन्तु वह तो परमाणुओं का है। तेरा कहाँ था ? ये करोड़पति पुत्र भी तेरे कहाँ हैं ? अन्दर में ज्ञान और आनन्द भरा है, वह तेरा है। उन्हें कहीं बाहर से लाना नहीं पड़ता, परन्तु अनादि से मिथ्यात्व की विपरीत भ्रमणा से बाहर में सुख की कल्पना करके स्वरूप का घात करता है।

यहाँ कहते हैं- अनादि से निजपद को भूला था। वह यदि अब दृष्टि को अन्तरोन्मुख करके निजस्वरूप की सँभाल करता है -स्मरण करता है। अहो ! मेरा तो यह ज्ञानानन्द स्वरूप है- ऐसे स्वरूप का अनुभव करता है; उसको सम्यग्दृष्टि, धर्मी अथवा सुख के पंथ का पथिक कहते हैं। अन्य सब पर में सुख की कल्पना करनेवाले दु:ख के पंथ में पड़े हैं; क्योंकि जैसे बालक लकड़ी को घोड़ा मानता है तो क्या उससे वह घोड़ा सवारी में काम आता है ? वैसे ही पर में सुख मानने से क्या सुख मिल जाता है ? अरे ! यह तो अज्ञान की मूर्खाई है।

भगवान कहते हैं कि भाई ! यह शरीर तो तेरा नहीं; परन्तु ये शुभाशुभभाव भी तेरे नहीं हैं। तू तो शरीर और विभाव से रहित है; परन्तु इनकी सँभाल के चक्कर में तूने कभी तेरे निजघर

www.vitragvani.com

की सँभाल नहीं की है। जो तेरे नहीं- ऐसे शरीर, लक्ष्मी आदि की सँभालने में रुक गया; परन्तु अपने निधान को तूने कभी नहीं सँभाला।

'कै अपनो पद आप सँभारत कै गुरु के मुख की सुनी वानी' किसी को भेदज्ञान अपने आप अपना स्वरूप सँभालने से होता है और किसी को श्रीगुरु का उपदेश सुनने से होता है। पूर्व के संस्कार जागृत हो जाने से स्वयं भेदज्ञान होता है, वह 'नैसर्गिक' सम्यग्दर्शन है और गुरुउपदेश के निमित्त से भेदज्ञान होता है, वह 'अधिगमज' सम्यक्त्व है। गुरु की वह वाणी कैसी होती है? कि राग और विकल्प से आत्मा को भिन्न बतावे- ऐसी गुरु की वाणी होती है। आत्मज्ञानी सच्चे संत-गुरु ऐसा कहते हैं, भाई! यह तुझे जो हिंसा, झूठ, चोरी आदि के अशुभ विकल्प हैं, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के शुभ विकल्प उठते हैं, उनसे तेरी ज्ञानानन्दज्योति प्रथक है, अत: उससे भेदज्ञान कर! तू अपने को शुभ-अशुभ दोनों प्रकार के राग से भिन्न जान।

अरे! यह सत्य बात जिसके कान में नहीं पड़े और जीव ऐसे के ऐसे बाहर की रुचि में चले जाते हैं, उनका अवतार तो कौआ जैसा है। जिसने जिनेश्वर का मार्ग सुना नहीं, उसकी विधि क्या- उसकी जिसे खबर नहीं, उसे समझ में कहाँ से आवे? उनका मनुष्यभव तो व्यर्थ चला जायेगा। इस जीव ने पूर्व में भी इसीप्रकार मनुष्य भव खोया है।

शरीर, वाणी और मन तो रूपी है और आत्मा तो अरूपी है। आत्मा शरीर का हो तो आत्मा रूपी होना चाहिए अथवा शरीर, वाणी, मन आत्मा के हों तो वे अरूपी होने चाहिए। शरीर जड़रूप रहा है और जीव तो जीव ही है। लक्ष्मी जड़ है, उसे जीव की कैसे मानें? जो देह, मन, वाणी, लक्ष्मी आदि से भेदज्ञान करके भिन्नता करते हैं वे समकिती हैं। भेदज्ञान माने दो भिन्न पदार्थों को भिन्न जानना। एक आत्मा है और दूसरे जड़ पदार्थ हैं। आत्मा ज्ञानानन्दमय है, राग-विकार दु:खरूप है; आत्मा ज्ञानमय है, रागादि अज्ञानमय भाव है। इसप्रकार भिन्न स्वरूपवाले तत्वों को भिन्न जानना, वह भेदविज्ञान है। यह जिनेश्वरदेव द्वारा समवसरण में असंख्य देवों और सौ इन्द्रों की उपस्थिति में कही बात है। 32 लाख विमान कि जिसमें एक-एक में असंख्य तो देव हैं- ऐसे देवलोक के स्वामी शकेन्द्र और ईशान इन्द्र की उपस्थिति में भगवान द्वारा फरमाई गई बात है। गुरु की वाणी हो या तीर्थंकर की वाणी हो, उसमें 'भेदज्ञान' आया है। यह तो भगवान का धर्म है। भाई! तुझे खबर नहीं है।

पर से भिन्न पड़कर अपना ज्ञान होने पर पर का ज्ञान भी यथार्थ होता है कि ये रागादि मेरी चीज नहीं है। यह ज्ञान ही भेदज्ञान है।

www.vitragvani.com

'भेद विज्ञान जग्यौ जिन्हि कैं, प्रकटी सुविवेक-कला रसधानी' अनादि से राग, पुण्य और विकल्प आदि मेरे हैं- ऐसा अभेदज्ञान-अज्ञान था। अब जिसको गुरुउपदेश से अथवा स्वयं बोध प्राप्त होने से रागादि से भेदज्ञान हुआ, जलहल चैतन्य ज्योति के नूरपूर का अनुभव हुआ, उसको सुविवेक जागृत हो गया। भेदज्ञान बिना मात्र ऊपर से माने, उसको ऐसा विवेक नहीं प्रकटता। ऊपर से अर्थात् वस्तु को देखे बिना उसका विश्वास आ गया माने तो वे सब ऊपर-ऊपर से मानते हैं। ज्ञानानन्दस्वरूप की सत्ता का स्वीकार कब हो? कि जब ज्ञानानन्दस्वरूप की सत्ता को स्पर्शे -उसके अंश का अनुभव हो- उसमें एकाकार हो; तब स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव हुआ कहलाये। इसके पूर्व मार्ग की समझ करे कि वीतराग-तीर्थंकर परमात्मा द्वारा कथित मार्ग इस प्रमाण ही है, अन्यप्रकार नहीं।

अनादि से मूढ़ अपने को पुण्य-पाप का स्वामी मानता था, उसने जाना कि मैं तो अरिहन्त और सिद्ध जैसा आत्मा हूँ, मुझसें तो उनके जैसा ज्ञान और आनन्द है। ऐसा जानकर अपने वैसे स्वरूप के सन्मुख होकर अपने ज्ञानानन्द का व्यक्तरूप अंशत: अनुभव करे, तब उसको आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, उसकी सच्ची प्रतीति हुई कही जावे। अन्यथा ज्ञानानन्द की बातें करने से ज्ञानानन्द नहीं हो जाता। राग की एकता टूटकर ज्ञानानन्दस्वरूप की एकता होने पर वह तो चैतन्यराजा हो गया। उसको चैतन्य की राजधानी मिल गई। अनादि से अपने को राग का राजा मानता था, वह तो भिखारीपना था।

संवत् 1981-82 के साल में लींबड़ी में वहाँ का राजा व्याख्यान सुनने आया। वह राजा कहे, महाराज! पैसेवालों का धर्म में कितना अधिकार है? उससे कहा, देखो! धर्म में पैसेवालों का कुछ अधिकार नहीं है। पैसा तो जड़ है और पैसा मेरा है ऐसा लक्ष्य जाता है, वह तो पाप है और कदाचित् पैसे का दानादि का भाव आवे, वह पुण्य है। उसमें कहीं धर्म नहीं।

वीतराग का मार्ग अलौकिक है भाई!

पैसा हो उससे आत्मा को क्या? पैसा मेरा है ऐसी मान्यता तो अनन्त दु:ख को देनेवाली है तथा कितने ही तो ऐसा मानते हैं कि हम कोई पैसे के लिए कारखाने नहीं चलाते, लोगों को आजीविका मिले, इसके लिए चलाते हैं। वे तो अकेले मिथ्याभिमान का सेवन करते हैं। धर्मी को ऐसा ममत्व और अभिमान नहीं होता। वह भले ही चक्रवर्ती के विशाल राज्य में हो या देवलोक का इन्द्र हो; परन्तु राज्य को, पैसे को या इन्द्रपद को अपना नहीं मानता। अरे! शुभ विकल्प को भी निज नहीं मानता।

www.vitragvani.com

जैसे चन्द्रमा में पहले दूज उगती है और फिर बढ़ते हुए पूर्णिमा होती है; वैसे ही भेदज्ञान केवलज्ञान रूपी पूर्णिमा की प्रथम कला है। ज्ञानी को ऐसी सुविवेकरूपी कला का रस प्रकट हो गया है। '**भाव अनन्त भये प्रतिबिंबित**' आत्मा निजधर्म को पाता है। राग की वृत्ति से भिन्न सम्यग्ज्ञान होने पर उसका ज्ञान निर्मल होता है। उसमें जगत के पदार्थ ज्ञात होते हैं, तथापि वह ज्ञान मलिन नहीं होता।

भरत चक्रवर्ती के 96 हजार रानियाँ थीं, 96 करोड़ सेना थी, 48 हजार पाटण थे, 72 हजार नगर थे, एक करोड़ हल थे; फिर भी वे जानते थे कि ये मेरे नहीं और मैं इनका नहीं। जहाँ मैं हूँ, वहाँ ये सब नहीं और जहाँ ये हैं, वहाँ मैं नहीं- ऐसा भेदज्ञान जिसको होता है, उसको समकिती और धर्मी कहते हैं। ऐसे जीवों को जीवनमुक्त दशा प्राप्त हो जाती है अर्थात् कि जीवता होने पर भी वह अन्दर से मुक्त है। संयोग, आयुष्य, पुण्य-पाप का राग आदि होने पर भी समकिती उनसे मुक्त है। संयोग आदि ज्ञान में ज्ञात होते हैं, परन्तु धर्मी को उनमें निजपना नहीं होता। '**जीवन मोख दसा ठहरानी**'- संयोग और राग तथा आयुष्य होने पर भी धर्मी उनसे मुक्त है।

लोगों को यह बात एल.एल.बी. पढ़ने जैसी बड़ी कठिन लगती है, परन्तु यह तो धर्म की प्रथम इकाई की बात है। एल.एल.बी. जैसी बात तो अभी दूर है।

मैं शरीर, राग और विकल्प से भिन्न हूँ- ऐसा भान होने पर धर्मी को अनन्त पदार्थ ज्ञान में ज्ञात तो होते हैं; परन्तु वे मेरे हैं- ऐसा नहीं मानता; क्योंकि ज्ञान में जानने का तो उसका स्वभाव है; परन्तु ममता करने का स्वभाव नहीं है। जैसे दर्पण में उसकी निर्मलता के कारण अग्नि, बर्फ, नारियल, कोयला आदि सभी पदार्थ झलकते हैं, इससे दर्पण कोई उठण या मैला नहीं हो जाता; वैसे ही ज्ञानरूपी दर्पण की निर्मलता के कारण अनन्त पदार्थ ज्ञान में ज्ञात होते हैं; परन्तु इससे ज्ञान कोई मैला नहीं हो जाता। '**रहे थिररूप सदा सुखदानी।**' धर्मी को शरीर में हलन-चलन की, वाणी की, मन की, राग की क्रिया में बदलाव होने पर भी धर्मी सदा स्थिररूप-सुखरूप रहता है। मैं शरीर को चलाता हूँ, मैं बोलता हूँ इत्यादि मान्यता धर्मी के नहीं होती।जिसको ऐसी बुद्धि रहती है कि मैं शरीर को चलाता हूँ, वह तो मिथ्यादृष्टि है। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ -ऐसा भान हुआ, वह जीव सदा सुखी ही रहता है, आनन्द में ही है, वह विकल्प से मुक्त है।

सम्यग्दर्शन कोई साधारण वस्तु नहीं है। सम्यग्दर्शन हुआ कि वह सुख में ही है। आबाल-गोपाल मानता है ऐसी साधारण चीज यह नहीं है। जो पुण्य-पाप के राग से भिन्न पड़ा,

www.vitragvani.com

वह सुख में ही है, दु:ख में नहीं। दु:ख तो विकार में है, विकार जीव का स्वरूप नहीं है, उससे भिन्न ज्ञानी महाआनन्द में मस्त रहता है।

इसप्रकार 22 वाँ काव्य हुआ।

अब 22वें कलश के पद्यानुवाद रूप 23वाँ काव्य कहते हैं। उसमें बनारसीदासजी भेदविज्ञानी की महिमा गाते हैं। जिसको विकल्प मात्र दु:खरूप भासित हुआ है और उससे अपने आत्मा को भिन्न जाना है- ऐसे भेदज्ञान की यह महिमा है।

भेदविज्ञान की महिमा

याही वर्तमानसमै भव्यनिकौ मिटौ मोह,
लग्यौ है अनादिकौ पग्यौ है कर्ममलसौं।
उदै करै भेदज्ञान महा रुचिकौ निधान,
उरकौ उजारौ भारौ न्यारौ दुंद-दलसौं ।।
जातैं थिर रहै अनुभौ विलास गहै फिरि,
कबहूं अपनपौ न कहै पुदगलसौं ।
यहैं करतूति यौं जुदाई करैं जगतसौं,
पावक ज्यौं भिन्न करैं कंचन उपलसौं।।23।।

अर्थ:- इस समय भव्य जीवों का अनादिकाल से लगा हुआ और कर्म मल से मिला हुआ मोह नष्ट हो जावे। इसके नष्ट हो जाने से हृदय में महा-प्रकाश करनेवाला, संशय समूह को मिटानेवाला, दृढ़ श्रद्धान की रुचि-स्वरूप भेदविज्ञान प्रगट होता है। इससे स्वरूप में विश्राम और अनुभव का आनन्द मिलता है तथा शरीरादि पुद्गल पदार्थों में कभी अहंबुद्धि नहीं रहती। यह क्रिया उन्हें संसार से ऐसे पृथक् बना देती है जिस प्रकार अग्नि स्वर्ण को किट्टिका से भिन्न कर देती है ।।23।।

काव्य - 23 पर प्रवचन

यह तो वीतराग परमेश्वर का दिया हुआ मक्खन है।

भव्यजीवों के अनादिकाल से लगा हुआ मोह इसी समय नष्ट होओ। प्रथम तो, वस्तु का स्वरूप ऐसा है, उसे ज्ञान में तो ले। मार्ग यही है, अन्य कोई मुक्ति का मार्ग नहीं ऐसा समझ में

www.vitragvani.com

ले तो फिर मार्ग पर चले। जो परलक्ष्यी समझ में भी यह बात नहीं लेता, वह आगे नहीं जा सकता।

'पग्यो है कर्ममलसौं'- अनादि से कर्म के निमित्त में अपनापना मानकर मिथ्यात्व का सेवन करता था वह, अब कर्म और मिथ्यात्व को आत्मा से भिन्न जानने से मोह नष्ट हो जाता है।

एक मुमुक्ष का पुत्र परदेश में रहता है। उसके पैसा, वैभव और बाग-बगीचे इतने हैं कि रजवाड़ा देख लो, परन्तु वह यहाँ हमारे पास आता है तो रो पड़ता है कि अरे! हम कहाँ पड़े हैं! वहाँ तो आपका नाम सुनते ही हमे रोना आ जाता है अर्थात् विरह लगता है। दूसरों को ऐसा लगे कि ओहो..! कितना वैभव है; परन्तु वह वैभव नहीं धूल है। उसमें कहीं सुख नहीं है। पूर्व पुण्योदय के कारण यह धनादि वैभव धूल दिखती है, परन्तु वह जीव की कहाँ थी? उसके प्रति मोह से तो जीव उलटे दु:खी होता है, उससे भेदज्ञान करे, राग की एकता तोड़े तो सुखी होवे।

अनादि से अज्ञानी का जो ज्ञान राग की एकता में रुका था, वह अब राग के विकल्प से भिन्न पड़ता है -ऐसे प्रथम में प्रथम समकित प्राप्त करनेवाले की बात चल रही है। मुनि और केवली की बात तो कोई अद्भुत-अलौकिक है। यहाँ तो चौथे गुणस्थान की बात है।

'उदै करे भेदज्ञान महारुचि कौ निधान' - मोह नष्ट हो जाने से हृदय में महाप्रकाश करनेवाला, संशय समूह को मिटानेवाला दृढ़ श्रद्धान की रुचिस्वरूप भेद विज्ञान प्रगट होता है। ज्ञानानन्द का दरिया महाप्रभु की रुचि हुई। रंक ऐसे राग की रुचि थी, वह गई और विशाल महानिधान स्वरूप निज आत्मा की रुचि हुई, भेदविज्ञान प्रकट हुआ, चैतन्य का प्रकाश अनुभव में आया; तब उसको समकिती कहते हैं और तभी से संशयादि दोष मिट जाते हैं। पुण्य-पाप के विकल्प के द्वंद्व से जुदा पड़ जाता है।

यह भगवान की कही बात है, सब न्याय से कहा गया है। उसकी तू तुलना कर, समझ कर तो तुझको खबर पड़े कि यही मार्ग है। जिसको जन्म-मरण के दु:ख से मुक्त होना हो, उसको ऐसा सम्यक्त्व प्रकट किये ही छुटकारा है। अन्यथा अनादि से चौरासी के अवतार में परिभ्रमण तो चालू है ही। अनन्तबार अरबपति सेठ भी हुआ और सौ बार माँगने पर ही ग्रास खाने को मिले- ऐसा भिखारी भी हुआ। यह सब तो कर्म का खेल है, यह कोई आत्मा का स्वरूप नहीं है। आत्मा का स्वरूप समझकर अनुभव करने से तो स्वरूप में विश्राम मिलता है, अनुभव का आनन्द मिलता है, पुण्य-पाप का द्वंद्व और शरीरादि पुद्गलों से अहंबुद्धि छूट जाती है।

www.vitragvani.com

'जातै थिर रहै अनुभव विलास गहै।' विकल्प से भिन्न पड़कर, स्वरूप का अनुभव करके उसमें स्थिर होकर धर्मी अनुभव का विलास करता है। अब वह फिर से कभी शरीरादि में ममत्व नहीं करता, राग को निज नहीं मानता।

यह तो 'काजल की कोठरी में रहना और पग को दाग नहीं लगने देना' -इसके जैसी बात किसी को लगती है, परन्तु ऐसा नहीं है। यह तो 'आनन्द की कोठरी में रहना और राग का लेप लगने नहीं देना' उसकी बात है। यह धर्मी हुआ, उसकी बात है; अज्ञानी की बात नहीं। अज्ञानी को तो मैं शरीर और राग की क्रिया से भिन्न हूँ यह भान नहीं है । अत: साधु होकर बहुत क्रिया करे, तब भी दु:खी ही है। अज्ञानी तो सब मरे हुए के समान है, अनन्तकाल में कभी जीवता हुआ नहीं। अष्टपाहुड़ में कहा है कि जिसे राग से भिन्न भगवान आत्मा का अनुभव नहीं, वह चलता मुरदा है, सामान्य मुर्दे को तो दूसरे उठाकर ले जाते हैं और यह चलता है, परन्तु जीवते जीव के भान बिना सब मुर्दे ही हैं। यह बात जीवद्वार के 27वें काव्य में आगे आयेगी कि जिनपद शरीर में नहीं, जिनपद चेतनहार ऐसे चेतन में है।

पुण्य-पाप का विकल्प भी जड़ है, अचेतन है; उसे धर्मी अपना नहीं मानते ।अज्ञानी ने अनन्तकाल में सब किया है, एक यह 'सम्यग्दर्शन' नहीं किया। इससे बहुत कठिन लगता है; परन्तु जिनके यह कर लिया -ऐसे धर्मी तो अनुभव का विलास करते हैं। लोग कामकाज फैलाकर खुले में कुर्सी डालकर एक साथ बैठें, गप्पें मारें और नाश्ता उड़ावें उसमें विलास मानते हैं; परन्तु उसमें सुख नहीं है। किसी के द्वारा अभिनन्दन देने में सुख मानते हैं, परन्तु आबरू में सुख कहाँ है? पूर्व के पुण्य के रजकण थे, वे आकर जल गये; उसमें तेरे हिस्से में क्या आया? पूर्व एकेन्द्रियादि में कोई शुभभाव हुए होंगे, उससे साता कर्म बँधा पड़ा था, उसका उदयकाल आने से ऐसा बनाव बना कि पाँच-पच्चीस करोड़ रुपये एकत्रित हो गये दिखते हैं; परन्तु वे तो जड़ में एकत्रित हुए हैं। तू तो चैतन्य है तुझे तो वे छूते भी नहीं। परिवार के साथ बँगले में बैठे हों, तब यह याद आता है?

जो धर्मी हुए हैं, वे अब सादि-अनन्तकाल पुद्गल को अपना नहीं मानते। पर में सुख नहीं मानते। पर में सुख मानना तो अज्ञानी की कल्पना है। वास्तव में शरीर में, पैसे में या वैभव में जीव का सुख कहाँ से हो? अज्ञानी अज्ञान से पर में सुख मानकर मिथ्यात्व का सेवन करता है और फिर दया, दानादि के शुभभाव और क्रिया करके उनसे धर्म मानता है, परन्तु वह क्रिया जीव की नहीं है। तो जीव की सच्ची क्रिया क्या है?

www.vitragvani.com

'यहै करतूति यौं जुदाई करै जगत सौ।' -जो क्रिया जीव को सम्पूर्ण जगत से भिन्न करती है, वह जीव की सच्ची धार्मिक क्रिया है। यह क्रिया धर्मी को पुण्य के विकल्प से लेकर सम्पूर्ण संसार से इसप्रकार भिन्न कर देती है। जैसे अग्नि सुवर्ण को किट्टिमा से भिन्न कर देती है। सोना खान में से पत्थर सहित निकलता है, उसको अग्नि में तपाने से वह पत्थर से भिन्न हो जाता है; वैसे ही अनादि से आत्मा पुण्य-पाप सहित दिखता था, वह भेदविज्ञान की क्रिया से पत्थर समान पुण्य-पाप के विकल्प, कर्म और शरीर से सोना जैसा भगवान आत्मा भिन्न पड़ जाता है। इस भेदविज्ञान से ही धर्म की शुरूआत होती है। पैसे से, शरीर की क्रिया से धर्म नहीं होता। पैसे से धर्म होता हो, तब तो गरीब को धर्म कहाँ से हो? परन्तु ऐसा नहीं है।

जैसे अग्नि कंचन और पत्थर को भिन्न करती है; वैसे ही ध्यानाग्नि अथवा भेदज्ञान अग्नि परसन्मुखता रूप विकल्प से स्वसन्मुखता रूप अन्तर की शान्ति को भिन्न कर देती है और स्वभाव में एकत्व को पाती है इसका नाम ही सम्यग्दर्शन है, यही भेदविज्ञान है, यही सम्यग्ज्ञान है और यही वीतरागमार्ग की शोभा है।

आत्मा को राग व पुण्य-पाप के विकल्प सहित मानना मिथ्यादृष्टि का लक्षण है और उनसे रहित आत्मा को जानना सम्यग्दृष्टि का लक्षण है। जो कोई ऐसे सम्यक्त्व बिना व्रत, दानादि क्रिया करे, उसे पुण्यबंध होता है; परन्तु धर्म नहीं होता, जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। जन्म-मरण के अन्त का उपाय तो यह एक 'भेदज्ञान' है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य के 23 वें श्लोक पर पण्डित बनारसीदास ने पद्य की रचना इस प्रकार की है-

परमार्थ की शिक्षा

बानारसी कहै भैया भव्य सुनौ मेरी सीख,
कैहूं भांति कैसैहूंकै ऐसौ काजु कीजिए।
एकहू मुहूरत मिथ्यातकौ विधुंस होइ,
ग्यानकौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए।
वाहीकौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतहूल,
यौंही भरि जनम परम रस पीजिए।
तजि भव-वासकौ विलास सविकाररूप,
अंतकरि मोह कौ अनंतकाल जीजिए ।।24।।

www.vitragvani.com

अर्थः- पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं-हे भाई भव्य! मेरा उपदेश सुनो कि किसी प्रयत्न से और कैसे ही बनकर ऐसा काम करो जिससे मात्र अंतर्मुहूर्त के लिये मिथ्यात्व का उदय न रहे, ज्ञान का अंश जाग्रत हो आत्म-स्वरूपकी पहिचान होवे। यावज्जीव उसहीका विचार, उसहीका ध्यान, उसहीकी लीलामें परमरस का पान करो और राग-द्वेषमय संसार की भटकना छोड़कर तथा मोह का नाश करके सिद्धपद प्राप्त करो।।24।।

काव्य - 24 पर प्रवचन

आचार्यदेव कहते हैं और बनारसीदासजी भी कहते हैं कि हे भव्यजीवों! मेरा उपदेश- शिक्षा एकबार सुनो कि किसी भी उपाय से और किसी भी प्रकार से ऐसा काम कर कि जिससे मात्र अन्तर्मुहूर्त के लिए मिथ्यात्व का उदय न रहे, ज्ञान का अंश जागृत हो और आत्मस्वरूप की पहिचान हो। जिन्दगी भर उसी का विचार, उसी का ध्यान, उसी की लीला में परमरस का पान करो और राग-द्वेषमय संसार का परिभ्रमण छोड़कर तथा मोह का नाश करके सिद्धपद प्राप्त करो।

यह मक्खन-सारभूत बात है! मनुष्यदेह में एक यही कार्य करने का है। अतः समस्त कोलाहल छोड़कर एक यह कर। एक अन्तर्मुहूर्त मिथ्यात्व का नाश कर और भगवान ज्ञानस्वभाव को खोजकर उसे प्रकट कर। आत्मा के अन्तरस्वरूप का अनुभव करने पर मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। अतः ज्ञानपुंज भगवान आत्मा को जगा दे। अहो, ज्ञानस्वरूप! ज्ञानस्वरूप!!

भजन मण्डली वालों ने गाया है न!

सरोवर कांठे रे मृगला तरस्या रे.....साचा वारी ऐने ना मले रे.....मनना मृगला ने पाछा बालजे रे लाल....।

मनरूपी मृग पुण्य-पाप के विकल्प में जाता है, वहाँ हैरान होता है, दुःखी होता है। उसे वहाँ से छुड़ाकर अन्तर्मुख करना। 'जोड़ी द्यो आतम सरोवरे आज; ऐने मलशे आतमसुख अमूला रे लाल.....।

यहाँ कहते हैं कि '**ज्ञान को जगाय अंस हंस खोजि लीजिए**' शब्द थोड़े हैं; परन्तु भाव समझने में विशेष पुरुषार्थ अपेक्षित है। ज्ञानसरोवर भगवान आत्मा तो ज्ञान का महान समुद्र है, अनन्त-अनन्त ज्ञानस्वभाव का सागर है। जब उसमें पुण्य-पाप के विकल्पों की भी गंध नहीं है तो शरीर, मन, वाणी आदि जड़ पदार्थ तो उसमें हो ही कैसे सकते हैं? शरीरादि का संयोग तो उसके स्वयं के कारण हुआ है, उसके कारण टिकता है और उसी के कारण छूट जायेगा।

www.vitragvani.com

उसमें चैतन्यहंस नहीं है और चैतन्यहंस में ये शरीरादि नहीं हैं और न उसमें राग ही है। अत: शरीर और रागरहित ज्ञानहंस को खोजकर उसे जगा! राग और क्रिया के विकल्प से भिन्न ज्ञानस्वभाव को वर्तमान पर्याय में पकड़कर सम्यग्ज्ञान का अंश प्रकट कर।

श्रोता:- साहेब!....परन्तु हमें व्यापारधंधा करना या यह करना..... ?

पूज्य गुरुदेवश्री:- भाई! व्यापार-धंधा करना -यह तो तेरा कार्य ही नहीं है। जीव व्यापार-धंधा कर ही नहीं सकता, मात्र संकल्प-विकल्प करके दु:खी होता है और उसके फल में चार गतियों में परिभ्रमण करना पड़ेगा, वह अलग। इसके बदले एकबार तो देख, अन्तर में मेरी वस्तु क्या है? कैसी है? कैसे प्राप्त हो? आत्मा को खोजकर उसका अंश प्रकट कर। अन्तर में तो (आत्मा) महान ज्ञान का समुद्र है। उसमें से पहले अंश तो प्रकट कर।

यह भाषा की बात नहीं है, भाव की बात है। भाई! आत्मा को जगा! आत्मा में शोध! उसमें शान्ति और आनन्द है। तेरा मनरूपी हिरण पुण्य और पाप में भटका करता है, वहाँ से वापस हटाकर उसे एकबार ज्ञानस्वभाव में ले जा न! यह एक ही कार्य तुझे करने योग्य है, शेष तो सब व्यर्थ हैं। मात्र दु:खी होने का मार्ग है।

भगवान! तेरे में तो आनन्द है और यह आनन्द ज्ञान से अविनाभावी है। जहाँ ज्ञानस्वभाव है, वहीं आनन्द है। अन्तर में उसे शोधकर चैतन्य हंस को जगा तो तुझे सम्यग्दर्शनरूप धर्म प्रकट होगा।

'याही को विचार या को ध्यान यहै कौतुहल' ज्ञानस्वरूप भगवान चैतन्य के तेज का भण्डार है, उसी का विचार कर। उसे ही ज्ञान में ध्येय बनाकर उसका ध्यान कर। बाहरी वस्तुओं का ध्यान छोड़ दे। तू स्त्री, पुत्र, परिवार में कहाँ है? तेरा उनमें विरह है अर्थात् उनमें कहीं भी तेरा जीवत्व नहीं है। अत: उनका ध्यान छोड़ दे।

बहुत से लोग प्रश्न करते हैं कि पहले क्या करना? उसका उत्तर यह है कि प्रथम ही आत्मा को ध्येय बनाकर उसका ध्यान करना। श्रद्धा-ज्ञान में अन्तर्मुख लक्ष्य होने पर ही धर्म की प्राप्ति होती है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से धर्म नहीं होता है।

अहो कितना धीरज! कितनी खोज! कितना पर से पराङ्मुखता का पुरुषार्थ! कितना अन्तर्मुख होने का प्रयत्न! इसके बिना जन्म-मरण का दु:ख नहीं मिटता..आत्मा प्राप्त नहीं होता। यह सुन्दर शरीर, युवापना और पाँच-पच्चीस लाख रुपये दिखते हैं, इनमें कहीं सुख नहीं

www.vitragvani.com

है। यह सब तो श्मशान की राख है। जो अपना नहीं है, उसको अपना माना और स्वरूप को भूल गया- इसी से दु:खी हुआ है। प्रभु! तेरा होनापना-अस्तित्व तो तेरे स्वभाव में है, उसमें से तेरा अतीन्द्रिय-आनन्द खोज ले।

विकल्प है, वह विकार है और ज्ञानस्वभाव अविकार है इन दोनों को पृथक् कर दे। जैसे हंस की चोंच दूध और पानी को पृथक् कर देती है, उसीप्रकार अपने ज्ञान द्वारा राग और चैतन्यहंस को पृथक् कर दे। यही तेरे करने योग्य एक कार्य है, यही हितरूप कार्य है; अन्य सब तो एक रहित शून्य के समान निरर्थक हैं।

पाँच-पाँच हाथ के बड़े चार-चार लड़के हों, बहुत कमाई करके लाते हों, कारखाने लगाये हों उद्योगपति कहलाता हो तो इसको ऐसा लगता है कि हम कुछ सुखी हैं; परन्तु भाई! यह तो पाप का उद्योगपति है, इसने अपनी आत्मा को खोया है।

अब आत्मा का कौतूहल तो कर कि यह ज्ञान और आनन्दमय आत्मा कौन है? (लोग) परदे में रहनेवाली रानी के देखने का कौतूहल करते हैं, तो यह पुण्य-पाप के परदे के पीछे रहे हुए आत्मा को देखने का कौतूहल तो कर! उसे देख! उसका विचार कर! उसमें ज्ञान और आनन्द है। उसके ज्ञानानन्दमय रस को पी! पागलपन छोड़ दे!.. परन्तु अरे रे! इसे अन्तर में सूझ नहीं पड़ती..बाहर की धमाधम में हैरान होकर, मरकर कहाँ चला जाता है? और मरण कब आनेवाला है- यह तो खबर नहीं है। ज्योतिषियों ने चौरासी वर्ष की आयु बतलाई हो और अड़तालीस वर्ष में मरण हो जाता है। अत: कहीं रुके बिना, सर्वप्रथम आत्मा का हित कर लेने की आवश्यकता है। रुचि की दिशा पलटे तो आत्मा की दशा पलट जाती है।

एकबार ज्ञानानन्द के परम रस को पी ले। कभी जिसका स्वाद नहीं चखा- ऐसे अतीन्द्रिय रस का पान कर।

'तजि भववास को विलास सविकाररूप' -अर्थात् भव के वास का विलास तो विकाररूप है। उस राग-द्वेषमय विकार से संसार का परिभ्रमण होता है; अत: अब उसको छोड़ और **'अंतकरि मोह कौ अनन्त काल जीजिए'** - मोह का नाश करके सिद्धपद प्राप्त करो। अनन्तकालीन सुख को प्राप्त करो। अमर हो जाओ।

इसप्रकार यहाँ समयसार के 23वें कलश के काव्यरूप 24वाँ काव्य कहा।

अब चौबीसवें कलश का 25वाँ काव्य कहते हैं-

www.vitragvani.com

तीर्थंकर भगवान के शरीरकी स्तुति

जाके देह- द्युतिसौं दसौं दिसा पवित्र भई,
जाके तेज आगैं सब तेजवंत रुके हैं।
जाकौ रूप निरखि थकित महा रूपवंत,
जाकी वपु-वाससौं सुवास और सुके हैं।।
जाकी दिव्यधुनि सुनि श्रवणकौं सुख होत।
जाके तन लच्छन अनेक आइ ढुके हैं।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन,
निहचै निरखि सुद्ध चेतनसौं चुके हैं।।25।।

अर्थ:- जिसके शरीर की आभासे दशों दिशाएँ पवित्र होती हैं जिसके तेज के आगे सब तेजवान लज्जित होते हैं, जिसका रूप देखकर महारूपवान हार मानते हैं, जिसके शरीर की सुगंध से सर्व सुगन्ध छिप जाती है, जिसकी दिव्यवाणी सुनने से कानों को सुख होता है, जिसके शरीर में अनेक शुभ लक्षण आ बसे हैं; ऐसे तीर्थंकर भगवान हैं। उनके ये गुण व्ववहारनय से कहे हैं, निश्चयनय से देखो तो शुद्ध आत्मा के गुणों से ये देहाश्रित गुण भिन्न हैं।।25।।

काव्य - 25 पर प्रवचन

अब शिष्य कहता है कि शास्त्र में तो शरीर की स्तुति के द्वारा भगवान की स्तुति की है; अत: शरीर और आत्मा एक हैं? जैसे-

'जाके देह द्युति सौं' जैसे केशर जैसी मूल्यवान वस्तु उसके योग्य डिब्बी में रहती है, थैली में नहीं भरी जाती; उसीप्रकार अनन्तगुणों की पूर्ण परिणति को प्राप्त और एक समय में तीनकाल-तीनलोक को जाननेवाले भगवान जिसमें रहते हैं वह शरीर भी कैसा होता है कि जिसके तेज से दशों दिशायें पवित्र और प्रकाशमान हो जाती हैं। जिसके तेज के समक्ष सूर्य, चन्द्र आदि का तेज भी लज्जित हो जाता है। अहो! परमात्मा के आत्मा की महिमा तो क्या कहना; परन्तु उनका शरीर भी ऐसा तेजमय और सुन्दर होता है।

'जाकौ रूप निरखी चकित महारूपवन्त' - भगवान के अंग-अंग में इतनी कोमलता, इतनी कांति, तेज और सुन्दरता होती है कि जगत के महारूपवान लोग भी चकित हो जाते हैं। इन्द्र, कामदेव आदि रूपवान पुरुष भी हार मानते हैं। इतना तो भगवान के शरीर का

www.vitragvani.com

पुण्य होता है। उसमें भूख-प्यास लगे अथवा रोग आवे- ऐसे अठारह दोष नहीं होते हैं। जो यह मानते हैं कि भगवान दवा लेते हैं, आहार लेते हैं, वे भगवान के पुण्य को भी नहीं पहचानते हैं।

जहाँ भगवान के चैतन्य में केवलज्ञान का रूप प्रकटा, वहाँ शरीररूपी डिब्बी का रूप भी परमौदारिक, परम पवित्र और सुन्दरता को धारण करता है। **'जाकी वपु-वाससौं सुवास और लुकै हैं'** -जिनके शरीर की सुगन्ध के समीप मंदार, सुपारिजात आदि फूलों की सुगंध छुप जाती है ऐसी तो सुगन्ध होती है।

'जाकी दिव्यध्वनि सुनि श्रवणकौं सुख होत' -सर्वज्ञ भगवान के हम-आप बोलते हैं, वैसी वाणी नहीं होती है। भगवान के तो ॐ ध्वनि होती है। वह ऐसी मीठी- मधुर होती है कि ऐसी वाणी जगत में अन्य किसी की नहीं होती। जो सर्वज्ञ परमेश्वर होते हैं, उनके ही ऐसी वाणी होती है। भगवान के शरीर में कमल, छत्र, ध्वजा आदि एक हजार आठ शुभलक्षण होते हैं। ये सब भगवान के शरीर के गुण व्यवहारनय से कहे हैं। निश्चयनय से देखो तो शुद्ध आत्मा के गुणों से ये देहाश्रित गुण अत्यन्त भिन्न हैं।

तीर्थंकर सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा का स्वरूप ऐसा है कि साधारण मनुष्य भी उसे जान सकता है। जो खाता-पीता है, जिसको रोगादि होते हैं, वह भगवान नहीं हो सकता है। जो भगवान के व्यवहारगुणों को भी नहीं पहचानता; वह सर्वज्ञ के निश्चय गुणों को तो पहचानता ही नहीं है।

यह 25वाँ काव्य हुआ। अब 26वें काव्य में पण्डित बनारसीदासजी क्या कहते हैं-वह देखते हैं।

जामैं बालपनौ तरुनापौ वृद्धपनौ नाहिं,
आयु-परजंत महारूप महाबल है।
विना ही जतन जाके तनमैं अनेक गुन,
अतिसै-विराजमान काया निर्मल है।।
जैसैं विनु पवन समुद्र अविचलरूप,
तैसैं जाकौ मन अरु आसन अचल है।
ऐसौ जिनराज जयवंत होउ जगतमैं,
जाकी सुभगति महा सुकृतकौ फल है।।26।।

अर्थः- जिसके बालक, तरुण और वृद्धपना नहीं है, जिनका जन्मभर अत्यन्त सुन्दर रूप और अतुल्य बल रहता है, जिनके शरीर में स्वतः स्वभाव ही अनेक गुण व अतिशय विराजते

www.vitragvani.com

हैं, तथा शरीर अत्यन्त उज्ज्वल है, जिनका मन और आसन पवन के झोकों से रहित समुद्र के समान स्थिर है, वे तीर्थंकर भगवान संसार में जयवन्त होवें, जिनकी शुभभक्ति बड़े भारी पुण्य के उदय से प्राप्त होती है।।26।।

काव्य - 26 पर प्रवचन

सर्वज्ञ परमेश्वर कैसे हैं? जिनको त्रिकाल का ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द पकट हुआ है ऐसे सर्वज्ञ भगवान का शरीर कैसा होता है वह कहते हैं। सर्वज्ञ भगवान को बालक की तरह अज्ञानपना, युवाओं की तरह मदान्धपना और वृद्धों की तरह जीर्णपना नहीं होता। उनके शरीर का रूप एक समान और अतुल बल जीवन पर्यन्त रहता है। आदिनाथ भगवान की आयु चौरासी लाख पूर्व वर्ष की थी। अत्यधिक लम्बा काल था तो भी शरीर की स्थिति में बालकपना या वृद्धावस्था नहीं दिखती थी। शरीर की स्थिति एक समान रहती है।

यह सुनकर शिष्य ऐसा कहता है कि देखो, तुम शरीर की महिमा बताकर ही भगवान की महिमा करते हो न? नहीं भाई, यह शरीर की ही महिमा है, भगवान के आत्मा की पवित्रता की बात तो कोई अलग ही है। यह तो भगवान के संयोग में रहा हुआ शरीर भी कैसा होता है, उसकी महिमा बताई है कि आयु पर्यन्त महारूप और महा बलवंत शरीर होता है।

'बिना ही जतन जाके तन मैं अनेक गुन'। जिनके शरीर में स्वत: स्वभाव से ही अनेक गुण और अतिशय विराजते हैं, मानो किसी कारीगर ने शरीर की शोभा बनाई हो ऐसी स्वाभाविक रचना है। लावण्यमय और सर्वांग सुन्दर शरीर ही ऐसा होता है कि कपड़े और गहनों के बिना भी शोभायमान होता है। उनके शरीर में चौंतीस प्रकार के तो अतिशय होते हैं। यह सब शिष्य जानता है; इसलिए पूछता है कि शरीर की महिमा से आत्मा की महिमा है? नहीं भाई! डिब्बी उत्कृष्ट हो, इससे अन्दर की केसर मूल्यवान हो -ऐसा नहीं है। उसीप्रकार शरीर की सुन्दरता से भगवान के आत्मा की महिमा नहीं है। यहाँ तो मात्र यह बता रहे हैं कि उनके शरीर की स्थिति कैसी होती है!

जैसे पवन की लहर के बिना समुद्र का पानी स्थिर होता है, उसीप्रकार मन और आसन की चंचलता से रहित भगवान का शरीर स्थिर, शान्त, गंभीर..गंभीर होता है। सामान्य बालक भी गंभीर हो तो कैसा शोभता है, तो ये तो भगवान हैं; इनकी गंभीरता की शोभा कैसी होगी! जिस मनुष्य को बहुत कषाय होती है, उसका शरीर भी कंपायमान होता रहता है, वह स्थिर नहीं बैठ

www.vitragvani.com

सकता है यह कषाय का लक्षण है। इससे विरुद्ध वीतरागता में शरीर भी शान्त और अचल दिखता है, मानो जगत को पीने बैठा हो; कुछ भी देखने का कौतूहल नहीं रहा ऐसी शरीर की स्थिति दिखती है।

'ऐसों जिनराज जयवन्त होऊ जगत मैं' –ऐसे वीतराग जिनभगवंत जगत में जयवंत हो। ऐसी प्रभु की भक्ति भी कोई महान् पुण्य का उदय होने पर ही प्राप्त होती है।

अब 27 वें पद्य (काव्य) में शिष्य को उत्तर देते हैं।

जिनराज का यथार्थ स्वरूप

जिनपद नांहि शरीरकौ, जिनपद चेतनमाँहि।
जिनवर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नांहि।।27।।

अर्थ:- यह (ऊपर कहा हुआ) जिन वर्णन नहीं है, जिन वर्णन इससे निराला है; क्योंकि जिनपद शरीर में नहीं है, चेतियता चेतनमें है।।27।।

काव्य - 27 पर प्रवचन

भगवान के शरीर का रूप, अतिशय आदि जैसे ऊपर कहे हैं, वैसे ही होते हैं; परन्तु वह कोई भगवान के आत्मा का स्वरूप नहीं है। **'जिनपद चेतन माहिं'** चैतन्य में अखण्ड आनन्द और ज्ञान का सागर उछलता है, वह कोई शरीर की लावण्यता से अथवा एक हजार आठ लक्षणों में अथवा शरीर के तेज में नहीं है। अत: जिनदेव के शरीर के वर्णन में जिन भगवान की आत्मा का वर्णन नहीं आता। पुण्य-पाप रहित वीतरागभाव प्रकट हुआ है, वह आत्मा है। तो भी इतना समझ लेना कि केवली के चाहे जैसा शरीर नहीं होता है; शरीर तो पूर्व में कहा गया, वैसा सुन्दर और परमौदारिक ही होता है। भगवान के रोग नहीं होता है। जिनको अतीन्द्रिय आनन्द का पूर्ण अनुभव हो गया है, उनको क्षुधा, तृषा अथवा रोगादिक नहीं हो सकते हैं।

'जिन वर्नन कछु और है, यह जिनवर्नन नाहिं'

शरीर के वर्णन से जिन का वर्णन कुछ अलग ही है। पुण्य-पाप के विकल्प रहित आत्मा का ऐसा वर्णन नहीं होता। शरीर की सुगंधता आदि तो मुनियों के भी होती है। आगे कहा है कि मुनिराज जीवनभर स्नान नहीं करते, दांत मंजन नहीं करते; तो भी वचन और श्वास में सुगन्ध ही निकलती है। देखो, अभी पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है तो भी शरीर में इतनी सुगन्ध है, तो क्या पूर्ण

www.vitragvani.com

वीतराग के शरीर में नहीं होगी ? मुनिराज के अन्तर में इतनी वीतरागता और आनन्द प्रकट होता है और बाहर में शरीर में भी पवित्रता और सुगन्धादि होते हैं।

इसप्रकार इस पद में कहा कि जिन पद शरीर में नहीं है। चेतयिता तो चेतन में है। जो काम-क्रोधादि को जीतता है, वह जिन है। केवलज्ञान में जो जागती ज्योति प्रगट हुई है, जिसमें एक समय में लोकालोक ज्ञात हो जाता है ऐसा प्रकाशमान है; वह आत्मा है। शरीर के तेज में आत्मा नहीं है।

अब अट्ठाईसवें पद में दृष्टान्त देकर यही बात सिद्ध करेंगे कि शरीर के वर्णन से भगवान के आत्मा का वर्णन नहीं होता। शरीर की स्थिति के और आत्मा की स्थिति के सम्बन्ध नहीं है; परन्तु आत्मा की स्थिति ऊँची हो, तब शरीर की कैसी भी स्थिति हो ऐसा नहीं होता हैं। शरीर की स्थिति भी उसके अनुकूल ही होती है।

नियमसार में कहा है कि-"ज्ञाननिधि को पाकर उसे अकेले भोगना, किसी के साथ वाद-विवाद नहीं करना।" जिसमें मन और विकल्प का संग नहीं है ऐसे असंगतत्त्व के ज्ञान और चारित्र की बात साधारण मनुष्य को नहीं बैठती, अत: विवाद हो जायेगा। इसकी अपेक्षा तू अकेला बैठकर तेरी ज्ञाननिधि को भोग!

पुद्गल और चैतन्य के भिन्न स्वभावपर दृष्टान्त

ऊंचे ऊंचे गढ़के कंगूरे यौं विराजत हैं,
मानौं नभलोक गीलिवेकौं दांत दीयौ है।
सोहै चहूँऔर उपवनकी सघनताई,
घेरा करि मानौ भूमिलोक घेरि लीयौ है।।
गहिरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई,
नीचौ करि आनन पताल जल पीयौ है।
ऐसो है नगर यामैं नृपकौ न अंग कोऊ,
यौंही चिदानंदसौं शरीर भिन्न कीयौ है।।28।।

अर्थ:- जिस नगर में बड़े-बड़े ऊँचे किले हैं जिनके कंगूरे ऐसे शोभयमान होते हैं मानो स्वर्गलोक निगल जाने के लिये दांत ही फैलाये हैं, उस नगर के चारों ओर सघन बगीचे इस प्रकार सुशोभित होते हैं मानो मध्यलोक ही घेर रक्खा है और उस नगर की ऐसी बड़ी गहरी

www.vitragvani.com

खाइयाँ हैं मानो उन्होंने नीचा मुँह करके पाताल लोक का जल पी लिया है, परन्तु उस नगर से राजा भिन्न ही है उसी प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है।

भावार्थः- आत्मा को शरीर से सर्वथा निराला गिनना चाहिये। शरीर के कथन को आत्मा का कथन नहीं समझ जाना चाहिये।।28।।

काव्य - 28 पर प्रवचन

यहाँ इस काव्य में दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करते हैं कि शरीर की स्तुति से भगवान की वास्तविक स्तुति नहीं होती है। चेतन और पुद्गल का स्वभाव ही भिन्न है; इसलिए शरीर का वर्णन वस्तुतः आत्मा का वर्णन नहीं है।

जैसे नगर में महाविशाल ऊँचे-ऊँचे किले हैं, जिन पर कंगूरे ऐसे शोभते हैं, मानो स्वर्ण को निगल जाने के लिए दाँत फैलाये हों। इसके द्वारा नगर की शोभा बताने से अन्दर (नगर में) रहनेवाले राजा की शोभा नहीं दिखती है। नगर के चारों ओर सघन बगीचे ऐसे शोभ रहे हैं, मानो मध्यलोक को ही घेर लिया है और नगर में ऐसी गहरी विशाल खाइयाँ हैं कि मानो उन्होंने नीचा मुख करके पाताल-लोक का जल पी लिया है; परन्तु इस नगर से राजा भिन्न ही है। इसीप्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है। जैसे नगर की शोभा के वर्णन से राजा की शोभा भिन्न है; उसीप्रकार भगवान के शरीर की सुन्दरता की, दिव्य-ध्वनि की, अतिशयों की जो महिमा बताई उससे भगवान के आत्मा की महिमा नहीं होती। आत्मा तो शरीर से भिन्न ही है।

आशय यह है कि आत्मा को शरीर से सर्वथा भिन्न जानना चाहिए। शरीर के रजकण की एक-एक पर्याय से आत्मा अत्यन्त भिन्न है। अतः शरीर के कथन को आत्मा का कथन नहीं समझना चाहिए।

अब 29 वें पद्य में आत्मा की निश्चय स्तुति का वर्णन करते है-

तीर्थंकर के निश्चय स्वरूप की स्तुति

जामैं लोकालोकके सुभाव प्रतिभासे सब,
जागी ग्यान सकति विमल जैसी आरसी।
दर्सन उद्योत लीयौ अंतराय अंत कीयौ,
गयौ महा मोह भयौ परम महारसी।।
संन्यासी सहज जोगी जोगसौं उदासी जामैं,

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

प्रकृति पचासी लगि रही जरि छारसी।
सोहै घट मंदिरमैं चेतन प्रगटरूप,
ऐसौ जिनराज ताहि बंदत बनारसी।।29।।

अर्थ:- जिन्हें ऐसा ज्ञान जाग्रत हुआ है कि जिसमें दर्पण के समान लोक-अलोक के भाव प्रतिबिंबित होते हैं, जिन्हें केवलदर्शन प्रगट हुआ है, जिनका अंतरायकर्म नष्ट हुआ है, जिन्हें महामोह कर्म के नष्ट होने से परम साधु व महासन्यासी अवस्था प्राप्त हुई है, जो स्वाभाविक योगों को धारण किये हैं तो भी योगों से विरक्त हैं, जिन्हें मात्र पचासी प्रकृतियां जरी जेवरी की भस्म के समान लगी हुई हैं; ऐसे तीर्थंकर देव देहरूप देवालय में स्पष्ट चैतन्यमूर्ति शोभायमान होते हैं, उन्हें पण्डित बनारसीदासजी नमस्कार करते हैं।।29।।

काव्य - 29 पर प्रवचन

देह में रहा होने पर भी आत्मा (देह से) भिन्न है। अत: यहाँ तीर्थंकर भगवान के आत्मा का स्वरूप बताकर स्तुति की है।

जिनको ऐसा ज्ञान जागृत हुआ है कि जिसमें दर्पण की तरह लोकालोक के भाव प्रतिबिम्बित होते हैं ऐसा केवलज्ञान भगवान को प्रकट हुआ है। उनका शरीर तो रोगादि रहित निर्मल है ही; परन्तु आत्मा में ज्ञान की ऐसी ज्योति प्रकट हुई है कि जिसमें कोई भी पदार्थ जानने में अवशेष नहीं रहता। जैसे स्वच्छ दर्पण में समस्त वस्तुयें स्पष्ट झलकती हैं; उसीप्रकार भगवान के ज्ञानरूपी दर्पण में सब स्पष्ट ज्ञात होता है। इसप्रकार ज्ञान से आत्मा का स्वरूप कहा है।

'दर्शन उद्योत लीयौ' -दूसरा दर्शनगुण ऐसा प्रकट हुआ है कि एक समय में तीनकाल-तीनलोक की महासत्ता का अवलोकन होता है।

'अन्तराय अन्त कीयौ' -भगवान ने अन्तराय कर्म का सर्वथा नाश करके अनन्तवीर्य प्रकट कर लिया। अब भगवान के किसीप्रकार का विघ्न नहीं है।

'गयो महामोह भयो परम महारसी' -सर्वज्ञ होने पर मोह का अंश भी नहीं रहता है। महामोह गया और परम आनन्द का महारस प्राप्त हुआ है। भगवान को आहार अथवा पानी लेने की आवश्यकता नहीं है। भगवान तो स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द का महारस पीते हैं। महामोह कर्म का नाश होने से भगवान को परमसाधु अथवा महासन्यासी अवस्था प्राप्त हो गई है। जहाँ एक भी विकल्प नहीं रहा -ऐसी अवस्था को परमात्मा अथवा अरिहन्त और जिनराज कहा जाता है।

www.vitragvani.com

'सहजयोगी' –जिन्होंने स्वाभाविक योग धारण किया है तो भी जो योगों से विरक्त है। अभी अरिहन्त भगवान सिद्ध नहीं हुए, वहाँ तक योग का कंपन है; तो भी भगवान उदास हैं।

'प्रकृति पचासी लागि रहि जरि छारसी' –अरिहन्त भगवान के ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय ये चार घातिकर्मों की प्रकृति का तो नाश हो गया है; परन्तु आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघाति कर्मों की प्रकृतियाँ नाश नहीं हुई हैं। ये सब जली हुई रस्सी की राख के समान लग रही है। जैसे जली हुई रस्सी बाँधने के काम नहीं आती है; उसीप्रकार ये प्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी होने पर भी भगवान को कुछ नुकसान नहीं कर सकती। श्रीमद्जी ने भी 'अपूर्व अवसर' में इन कर्मों की बात ली है कि ये जली हुई रस्सीवत है।

'सो है घट मन्दिर में चेतन प्रकटरूप' –अरिहन्त भगवान के शरीर होने पर भी शरीर से अत्यन्त पृथक् आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त आनन्द और अनन्तवीर्य से प्रकटरूप शोभायमान है।

'एसौ जिनराज ताहिं वन्दत बनारसी' –'वीतराग' यह कोई सम्प्रदाय की वस्तु नहीं है, वस्तु का स्वभाव है। जिन्होंने अज्ञान और राग-द्वेष का अभाव करके सर्वज्ञ और वीतराग दशा प्रकट की है ऐसे अरिहन्तदेव को मैं नमस्कार करता हूँ –ऐसा बनारसीदासजी कहते हैं।

आठ कर्मों की कुल एक सौ अड़तालीस प्रकृतियाँ हैं। उनमें से अरहन्त-केवली भगवान के अभी पिच्चासी कर्म प्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी हैं। उनमें एक तो असाता वेदनीय है; परन्तु वह मात्र सत्ता में पड़ी है, उसके उदय से रोगादि होवें ऐसा सर्वज्ञ को नहीं होता है। जो देवगति की प्रकृति है वह भी जली हुई रस्सी के समान पड़ी होती है। औदारिकादि पाँच शरीरों की प्रकृति होती है। पाँच बंधन की प्रकृति होती है। पाँच संघात और छह संस्थान की प्रकृति होती है। अरहन्त के आकार तो एक समचतुरस्र संस्थान का ही होता है; परन्तु सत्ता में अन्य प्रकृतियां भी पड़ी होती हैं। तीन अंग-उपांग की प्रकृतियां होती हैं। छह संहनन में से अरिहन्त के उदय तो एक वज्र वृषभनाराच संहनन का ही होता है, अन्य पाँच प्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी होती हैं। यह सब सर्वज्ञ से प्रत्यक्ष सिद्ध हुई बात है। सर्वज्ञ के सिवाय ऐसी बात कहीं नहीं होती। 'जली रस्सीवत्' प्रकृतियाँ पड़ी हैं- ऐसा कहा है। यह भी दिगम्बर की शैली है।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण की भी सभी प्रकृतियाँ भगवान की सत्ता में पड़ी होती हैं। देवगति

www.vitragvani.com

की आनुपूर्वी प्रकृति भी सत्ता में होती है। अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छवास आदि की प्रकृतियाँ भी होती है। प्रशस्त और अप्रशस्त विहायोगति अर्थात् चलने की गति की प्रकृति भी सत्ता में होती है। शरीर पर्याप्त होने पर भी सत्ता में अपर्याप्तक प्रकृति भी पड़ी होती है। प्रत्येक शरीर, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग प्रकृति भी केवली के सत्ता में होती है। यद्यपि दुर्भग प्रकृति का उदय तो पाँचवे गुणस्थान से ही नहीं होता; परन्तु प्रकृति सत्ता में पड़ी होती है।

यह सब जानकारी करनी पड़ती होगी ? हाँ, सर्वज्ञ कैसे होते हैं, उनका स्वरूप तो यथार्थ जानना चाहिए न! स्वरूप परिज्ञान बिना तो जिस-तिस को सर्वज्ञ मान लेगा। जो तीनकाल-तीनलोक को जानते हैं, बाह्य से सुन्दर शरीर है; तो भी सत्ता में ऐसी प्रकृतियाँ पड़ी है यह जानना चाहिए।

दुर्भाग, अनादेय और अयश:कीर्ति इन तीन प्रकृतियाँ का उदय तो पाँचवे गुणस्थान से ही नहीं होता; परन्तु ये सत्ता में केवली भगवान के तेरहवें गुणस्थान तक पड़ी होती है; परन्तु ये कुछ कार्य नहीं करती।

सुस्वर, दुस्वर, अनादेय, अयश:कीर्ति और निर्माण प्रकृति सत्ता में पड़ी है। गोत्र की उच्च और नीच दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ केवली के सत्ता में पड़ी हैं। वेदनीय की साता और असाता दोनों प्रकृतियाँ केवली के सत्ता में होती है। मनुष्यगति, मनुष्य आयु, पंचेन्द्रिय जाति, प्रायोग्यानुपूर्व, त्रस, बादर, पर्याप्तक, सुभग, आदेय, यश:कीर्ति और तीर्थंकर प्रकृत्ति इसप्रकार कुल मिलाकर पिच्चासी प्रकृतियाँ प्रत्येक केवली के सत्ता में पड़ी होती हैं। किसी केवली के हो और किसी केवली के नहीं हो ऐसा नहीं होता है; प्रत्येक के होती ही है। यदि इन प्रकृतियों का अभाव हो जाए, तब तो वे शरीररहित सिद्ध हो जाते हैं। जहाँ तक अरिहन्तदशा है, वहाँ तक जली हुई रस्सी के समान ये कर्म प्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी हैं। भगवान के आत्मा को इनसे कुछ भी नुकसान नहीं होता है।

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि ऐसे जिनराज को मैं वंदन करता हूँ। "णमो अरिहंताणं" अर्थात् जिनको अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञानादि चार गुण प्रकट हुए हैं, चार कर्मों का नाश हुआ है और चार अघाति कर्मों की पिच्चासी प्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी हैं -ऐसे अरिहन्तदेव को पहिचानकर वंदन करता हूँ।

अब 27वें कलश का 30वां काव्य है, जिसमें कवि निश्चय और व्यवहारनय की अपेक्षा से शरीर और जिनवर में भेद बताते हैं-

www.vitragvani.com

निश्चय और व्यवहारनय की अपेक्षा शरीर और जिनवरका भेद

तन चेतन विवहार एकसे,
निहचै भिन्न भिन्न हैं दोइ।
तनकी थुति विवहार जीवथुति,
नियतदृष्टि मिथ्या थुतिसोइ।।
जिन सो जीव जीव सो जिनवर,
तन जिन एक न मानै कोइ।
ता कारन तनकी संस्तुतिसौं,
जिनवरकी संस्तुति नहि होइ।।30।।

अर्थः- व्यवहारनय से शरीर और आत्मा की एकता है, परन्तु निश्चयनयमें दोनों जुदे-जुदे हैं। व्यवहारनय में शरीर की स्तुति जीव की स्तुति गिनी जाती है परन्तु निश्चयनय की दृष्टि से वह स्तुति मिथ्या है। निश्चयनय में जो जिनराज है वही जीव है और जो जीव है वही जिनराज है, यह नय शरीर और आत्मा को एक नहीं मानता इस कारण निश्चयनय से शरीर की स्तुति जिनराज की स्तुति नहीं हो सकती।।30।।

काव्य - 30 पर प्रवचन

चैतन्य भगवान आनन्द का सागर है और शरीर के रजकण तो उससे अत्यन्त भिन्न है। 'अध्यात्म तरंगिणी' में आया है कि मात्र लोक व्यवहार से शरीर और आत्मा को एक कहा जाता है, वस्तुतः वे एक नहीं हैं। कोई मूढ़ जीव ऐसा मानते हैं कि शरीर के सहारे के बिना तो विचार भी नहीं हो सकता। जैसा स्वयं को रुचता है, वैसा मान लेते हैं; परन्तु सत्य क्या है यह समझने की दरकार भी नहीं करते हैं। आत्मा ज्ञानानन्द से भरा है और शरीर तो जड़ता से भरा है। दोनों अत्यन्त भिन्न-भिन्न हैं। अतः शरीर के बखान-गुणगान करने से आत्मा की स्तुति नहीं होती है। मात्र लौकिक व्यवहार से ही उसको जीव की स्तुति कहा जाता है। वस्तुतः तो विकल्प सहित की स्तुति भी वास्तविक स्तुति नहीं है। सर्वज्ञ परमेश्वर की तरफ का विकल्प है, वह भी व्यवहार स्तुति है, सच्ची स्तुति नहीं है। निश्चय से देखो तो व्यवहार झूठा है।

'जिन सो जीव जीव सो जिनवर'। अकेला वीतरागी गोला वह जिन है, वही जीव है। वह शरीर और रागरूपी काया से भिन्न है। राग भी काया है, जीव नहीं। शरीर की स्तुति

www.vitragvani.com

से आत्मा की स्तुति नहीं होती। जीव सो जिनवर है और जिनवर जीव है। अत: व्यवहार से की गई स्तुति निश्चय से झूठी है। व्यवहारनय अन्यथा कहता है।

अरे! जिसको अरिहन्त के स्वरूप का पता नहीं, उसे तो आत्मा की भी खबर ही नहीं है; क्योंकि जैसा अरहन्त ने प्रकट किया है, वैसा ही यह आत्मा है। शरीर तो आत्मा है ही नहीं; परन्तु राग भी आत्मा नहीं है। शरीर और राग से रहित अकेला वीतरागी बिम्ब वह आत्मा है। अत: शरीर की स्तुति से जिनवर की स्तुति नहीं होती है।

अब अट्ठाईसवें कलश का 31 वाँ काव्य कहते हैं। उसमें पण्डित बनारसीदासजी वस्तुस्वरूप की प्राप्ति में गुप्त लक्ष्मी का दृष्टान्त देकर समझाते हैं। कवि ने कैसे सरस पद्य बनाये हैं!

वस्तु स्वरूप की प्राप्ति मे गुप्त लक्ष्मीका दृष्टान्त

ज्यौं चिरकाल गड़ी वसुधामहि,
भूरि महानिधि अंतर गूझी।
कोउ उखारि धरै महि ऊपरि,
जे दृगवंत तिन्हैं सब सूझी।।
त्यौं यह आतमकी अनुभूति,
पड़ी जड़भाउ अनादि अरूझी।
नै जुगतागम साधि कही गुरु,
लच्छन-वेदि विचच्छन बूझी।।31।।

अर्थ:- जिस प्रकार बहुत समय से पृथ्वी के अंदर गड़े हुए बहुतसे धन को उखाड़कर कोई बाहर रख देवे तो नेत्रवानों को वह सब दिखने लगता है उसी प्रकार अनादि काल से अज्ञानभाव में दबी हुई आत्मज्ञान की सम्पदा को श्रीगुरुने नय, युक्ति और आगम से सिद्ध कर समझाया है, उसे विद्वान लोग लक्षण से पहिचानकर ग्रहण कहते हैं।

विशेष:- इस छन्दमें 'दृगवंत' पद दिया है, सो जिस प्रकार बाहर निकाला हुआ धन भी नेत्रवालों को ही दिखता है- अंधोंको नहीं दिखता, उसी प्रकार श्रीगुरु द्वारा बताया हुआ तत्त्वज्ञान अंतर्दृष्टि भव्यों को ही प्राप्त होता है, दीर्घ संसारी और अभव्यों की बुद्धि में नहीं आता।।31।।

www.vitragvani.com

काव्य - 31 पर प्रवचन

यह तो दृष्टान्त दिया है कि करोड़ो-अरबों की लक्ष्मी दबी हुई थी। उसे कोई बाहर निकालकर रख दे तो आँखवाले हों वे उसे देख सकते हैं, अंधे हों तो नहीं देख सकते। अभी लोगों को पैसे की ममता बहुत बढ़ गई है। करोड़ तो गिनती में कम पड़ते हैं। दस-बीस करोड़ अथवा अरबों रुपये चाहिए। इसको तो मात्र गिनती करनी है। आत्मा को पैसे का कहाँ काम है? यहाँ तो दूसरा कहना है कि कोई दबे हुए धन को बाहर निकालकर रखे तो नेत्रवान उसको देख सकते हैं। उसीप्रकार अनादिकाल से अज्ञान में दबी हुई आत्मज्ञान की सम्पत्ति को ज्ञानी गुरु स्वयं अनुभव करके अन्य को भी नय, युक्ति और आगम से सिद्ध करके बताते हैं कि शरीर, कर्म और राग की एकता में आत्मा की सम्पत्ति दब गई है, तो वह (शिष्य) शरीर, कर्म और राग की एकताबुद्धि तोड़कर आत्मा का अनुभव करके अपनी अनन्त सम्पत्ति को देखने लगता है, अनुभव करता है। ऐसा अनुभव हमनें किया था, तुम भी करो। तब वह आत्मा की दृष्टि करता है। उसको आत्मा की सम्पत्ति का अनुभव होता है।

जो आत्मा के स्वभाव को अनुसरकर आत्मा का निर्विकल्प अनुभव करता है, उसने आत्मा की सम्पत्ति नजरों से देख ली है। मेरा आत्मा सत्चिदानन्द पूर्ण प्रभु है ऐसा उसकी दृष्टि में आ जाता हैं। **'जे दृगवंत तिन्हैं सब सूझी'** अर्थात् दृष्टिवंत जीव आत्मा को देख लेता है।

श्रीगुरु किसप्रकार लक्ष्मी बताते हैं? कि प्रभु! तेरा स्वभाव तो अनन्त आनन्द और केवलज्ञान का धाम है। राग तो तेरा स्वरूप नहीं; परन्तु अल्पज्ञपना भी तेरा स्वरूप नहीं है ऐसा निश्चयनय की युक्ति द्वारा गुरु बताते हैं कि देख! तेरा आत्मा ऐसा है। उसकी अनुभूति ही ज्ञान है। गुरु को स्वयं को 'यह मेरा आत्मा पूर्णानन्द का नाथ है' ऐसी सूझ पड़ी है; अत: दूसरों को समझाते हैं कि देखो! इसप्रकार चैतन्य लक्ष्मी प्राप्त होने योग्य है। तब जो स्वयं समझे उसको वस्तु प्राप्त होती है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि जो स्वाश्रय द्वारा वीतरागी भगवान आत्मा का अनुभव करता है, वह दिगम्बर है, पण्डित है। रजकण और राग के अंश से रहित अपनी ईश्वरीय सत्ता स्वयं ही है। स्वयं पूर्णज्ञान, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शान्ति आदि अनन्त शक्तियों का संग्रहालय है। उसके बदले अज्ञानी पैसे, कपड़े और मकान आदि का संग्रह करके उससे अपनी महानता मानने लगा है; परन्तु इन सबसे निवृत्त होकर अपने निवृत्ति घर (चैतन्यस्वभाव) में देखे तो

www.vitragvani.com

अनुभूति से आत्मा ज्ञात होने योग्य है। अन्य व्यवहार विकल्पों से दया-दान-भक्ति से आत्मा ज्ञात होने योग्य नहीं है।

यह एक ही मार्ग है। सर्वज्ञ-वीतराग त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थंकर एक ही स्वर में यह मार्ग कह गये हैं। तेरा आत्मा अन्दर में विराजमान है, उसके सामने देख! उसका अनुभव कर तो तुझे आत्मा की लक्ष्मी प्रतीति में आयेगी। तू अपने सन्मुख दृष्टि न करे तो लक्ष्मी होने पर भी उसकी प्रतीति और अनुभव नहीं होगा।

"सहजे समुद्र उल्लस्यो, मही मोती तणाता जाए।
भाग्यवान कर वापरे, एनी मूठी मोतीए भराये"

उसीप्रकार यहाँ कहते हैं कि बहुत समय से दबी हुई लक्ष्मी को निकालकर कोई बाहर रखे तो आँखवाला हो वह उसको देख लेता है। उसीप्रकार श्रीगुरु आत्मा की लक्ष्मी को खुल्ला (प्रसिद्ध) करते हैं कि भाई! तू तो पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द, स्वच्छता, वीतरागता का नाथ है। तू अपूर्ण, रागवाला और शरीरवाला नहीं है। अतः वैसा अपने को मत मान! तू अपने को अनन्त-अनन्त आनन्द का नाथ जान; इसप्रकार जो गुरु की वाणी सुनकर सावधान होता है अर्थात् जिसकी आँख खुल जाती है, जो स्वभाव का लक्ष्य करता है, उसको चैतन्य की सम्पत्ति दिख जाती है।

श्रीगुरु ने नय, युक्ति और आगम से सिद्ध करके समझाया है कि आत्मा एक वस्तु है, उसमें पूर्ण ज्ञान और आनन्द है। वह एकरूप है इसलिए पूर्ण है- ऐसी निज वस्तु की दृष्टि करने से तुझे आत्मा की लक्ष्मी प्राप्त होगी। यह आगम में भगवान ने भी कहा है, युक्ति से भी यह बात सिद्ध होती है और निश्चयनय भी ऐसा ही जानता है।

दुःखी -थके हुए, सुख के लिए तरसते जीव सुख के लिए परपदार्थ और पुण्य-पाप के विकल्प में आत्मा को खोजने जाते हैं; परन्तु श्रीगुरु कहते हैं कि वहाँ आत्मा नहीं मिलेगा। बापू! मृग भले ही दौड़े; परन्तु मृगमरीचिका में उसको जल नहीं मिलेगा। उसीप्रकार कुगुरु तुझे जो मार्ग बताते हैं, वहाँ आत्मा नहीं मिलेगा। प्रभु तू लुट जायेगा। भाई! उसमें तेरी लक्ष्मी खो जाती है। यहाँ तो श्रीगुरु आगम, युक्ति और नय से समझाते हैं, उसे विचक्षण जीव लक्षण से पहिचानकर तत्त्व को ग्रहण कर लेता है।

विचक्षण किसे कहना ? कि जिसको चैतन्य में दृष्टि होती है और अनुभव कर लेता है वह

www.vitragvani.com

विचक्षण अर्थात् चतुर है। अन्यथा जगत में जो चतुर गिने जाते हैं, वह तो संसार के परिभ्रमण में गहरे उतरनेवाले हैं। जैसे मृगमरीचिका में वास्तविक पानी नहीं मिलता; उसीप्रकार पुण्य-पाप के क्रियाकाण्ड और राग में आत्मा नहीं मिलता। प्रभु! ये तो मृगमरीचिका (रेतीली चमक) का पानी है। तू अनन्तकाल से ऐसे ही ठगाया है और जहाँ समझने का अवसर आया, वहाँ 'जैसे लक्ष्मी तिलक करने आवे और राजा मुँह फेर ले', उसप्रकार तू मुँह मत फेर। ऐसी तत्त्व की सत्य बात अनन्तकाल में भी मिलना मुश्किल है। बापू! श्रीगुरु नय से समझाते हैं। भाई! व्यवहार तो झूठा है। रागादि विकल्प वह व्यवहार है। तेरा परमेश्वर स्वरूप ही सत्य है यह नय से सिद्ध किया, युक्ति से कहते हैं कि वस्तु होती है वह पूर्ण ही होती है और आगम भी निश्चय से वस्तु को शुद्ध ही बताता है।

'लच्छन-वेदि विलच्छन बूझी' -लक्षण उसे कहते हैं जो लक्ष्य को पहुँचे- प्रसिद्ध करे। ऐसे लक्षण को जाननेवाले विचक्षण भव्यजीव लक्ष्य तक पहुँच जाते हैं।

विशेष:- 'दृगवंत' पद से यह कहना है कि विद्यमान ऋद्धि भी अंधे को नजर नहीं आती, आँखवाले को ही दिखती है। उसीप्रकार श्रीगुरु द्वारा बताने में आया हुआ तत्त्वज्ञान अन्तर्दृष्टि भव्यों को ही प्राप्त होता है। बहिर्दृष्टि छोड़कर ज्ञानानन्दधाम में झुकाव होने पर अन्तर्दृष्टि से अन्तर लक्ष्मी का भान होता है। बहिर्दृष्टिपूर्वक बालव्रत और बालतप करनेवाले को अन्तरात्मा का भान नहीं होता।

यह सोनगढ़ की बात नहीं है बापू! यह तो वीतराग की बात है। इसके अतिरिक्त अन्य तुझे विपरीत रास्ते ले जाते हैं। भाई! उपवास के नाम पर तूने लंघन तो बहुत किये। अब शुद्ध ज्ञानानन्द के दरिया के पास जाकर उसमें वास कर तो वास्तविक उपवास होगा, अन्यथा राग में रहना तो अपवास-आठोवास है।

सम्प्रदाय में एक दृष्टान्त आता था कि शिकारी हिरण को शिकार के लिये एक तरफ दौड़ा ले जा रहा था, वहाँ कोई दयालु हिरण को बचाने के लिए दूसरी दिशा में बुलाता है; परन्तु हिरण शंका करके वहाँ नहीं जाता। देखो, शंका करने योग्य है वहाँ शंका नहीं करता और शंका करने योग्य नहीं वहाँ शंका करके शिकारी के द्वारा पकड़ा जाता है। उसीप्रकार विपरीत मार्ग में दौड़ते हुए जीवों को श्रीगुरू सत्य मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं- भाई! तेरी वस्तु ऐसी है कि उसकी प्राप्ति के लिये तुझे किसी की आवश्यकता नहीं है। अरे! हमारी भी आवश्यकता नहीं है। तू अपने से ही पूर्ण है।

www.vitragvani.com

श्रोता:- यहाँ तो नय, प्रमाण, युक्ति आदि की अपेक्षा बतायी है न.. ?

पूज्य गुरुदेवश्री:- इन नय, प्रमाण द्वारा यह बताया है कि तू तेरा आश्रय ले, अन्य का आश्रय छोड़! गुरु तो ऐसा कहते हैं कि हमारे सामने देखने से भी आत्मा ज्ञात नहीं होगा।

जो दीर्घ संसारी है अर्थात् जिसको अनन्त काल तक संसार परिभ्रमण करना शेष है, उसको परिभ्रमण से रहित ऐसा स्वाभाव दृष्टि में नहीं आता। अभव्य को भी यह सत्य समझ में नहीं आता। अभव्य तो लायक ही नहीं है; परन्तु भव्य को भी मिथ्यात्व के कारण दीर्घ संसार है। अहो! जिनवर समान जीव की दृष्टि और संभाल नहीं करनेवाला जीव दीर्घ संसार में भ्रमण करता है। उसकी बुद्धि में सत्य ख्याल में नहीं आता।

अरे! हथेली पर रखे आँवले की तरह श्रीगुरु वस्तु का स्वरूप बताते हैं तो ऐसा ज्ञान किसको नहीं होगा? क्यों नहीं होगा? दीर्घ संसारी है, उसकी बात अलग है। वरना लायक जीवों को तो उसका ज्ञान हुए बिना नहीं रहता -होता ही है।

आगे 29 वें कलश का 32 वाँ पद्य कहते हैं उसमें मक्खन परोसते हैं।

भेदविज्ञान की प्राप्ति में धोबी के वस्त्र का दृष्टान्त

जैसै कोऊ जन गयौ धोबीकै सदन तिन,
पहिर्‌यौ परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है।
धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र,
चीन्हैं पहिचानत ही त्यागभाव लह्यौ है।।
तैसैंही अनादि पुदगलसौं संजोगी जीव,
संगके ममत्वसौं विभाव तामैं बह्यौ है।
भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब,
न्यारौ परभावसौं स्वभाव निज गह्यौ है।।32।।

अर्थ:- जैसे कोई मनुष्य धोबी के घर जावे और दूसरे का कपड़ा पहिनकर अपना मानने लगे, परन्तु उस वस्त्र का मालिक देखकर कहे कि यह तो मेरा कपड़ा है, तो वह मनुष्य अपने वस्त्र का चिह्न देखकर त्यागबुद्धि करता है; उसीप्रकार यह कर्मसंयोगी जीव परिग्रह के ममत्व से विभाव में रहता है, अर्थात् शरीर आदि को अपना मानता है परन्तु भेदविज्ञान होने पर जब निज-पर का विवेक हो जाता है तो रागादि भावों से भिन्न अपने निज स्वभाव को ग्रहण करता है।।32।।

www.vitragvani.com

काव्य - 32 पर प्रवचन

देखो, जीव कर्मों के कारण विभाव में नहीं आया है; परन्तु परसंग की ममता अथवा कर्म की ममता के कारण जीव विभाव में आया है ऐसा कहा है। अब उसको भेदज्ञान कराने के लिए यहाँ धोबी का दृष्टान्त देकर समझाया है।

जीव किसको कहना ? कि जो शरीर, कर्म और राग के विकल्प से रहित और अनन्त ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है वह जीव है। व्यवहार से जीव को 563 भेदवाला कहा जाता है, वह जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है। जीव तो ज्ञान से पूरा, आनन्द से पूरा, स्वच्छता से पूरा इसप्रकार अनन्त गुणों से पूरा शक्तियों का महासागर है। अनन्त शक्तियों का एकरूप सत्व वह जीव है। उसकी दृष्टि होने पर ही इसे ऐसा जीव ज्ञात होता है और तभी उसने जीव को माना कहा जाता है।

जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से वस्त्र लाकर उसे पहिनकर सो रहा है। वहाँ दूसरा व्यक्ति आया और उसने कहा कि भाई ! यह वस्त्र भूल से तेरे पास आया है, परन्तु यह वस्त्र तो मेरा है। तब वह (सोया हुआ) मनुष्य वस्त्र को उसके लक्षण द्वारा पहिचानकर जानता है कि यह वस्त्र मेरा नहीं है। वहीं उसकी दृष्टि में से वस्त्र का त्याग हो जाता है। अभी वस्त्र पहिने हुए है, तो भी दृष्टि में से त्याग हो गया। उसीप्रकार आत्मा भूलवश संयोग और राग में एकता मानकर बैठा था, सो वह किसप्रकार लक्षण द्वारा जानकर भिन्न पड़ जाता है यह बात अब कहेंगे।

यहाँ नाटक समयसार का जीवद्वार अधिकार चल रहा है। जीव कैसा है कि जिसको मानने से और अनुभव करने से समकितरूपी प्रथम धर्म की शुरुआत होती है उसकी यहाँ व्याख्या की है। यहाँ धोबी के दृष्टान्त द्वारा भेदविज्ञान की प्राप्ति कैसे हो- यह बताया गया है।

जैसे कोई मनुष्य धोबी के घर जाकर अन्य का वस्त्र अपना समझकर उसे लाकर ओढ़कर सो गया; परन्तु उस वस्त्र का मालिक आकर कहता है कि यह वस्त्र तो मेरा है, वह मनुष्य अपने वस्त्र का चिह्न देखकर त्याग बुद्धि करता है। अभी वस्त्र को स्वयं ने ओड़ रखा है; परन्तु दृष्टि में त्याग बुद्धि हो गई है कि यह वस्त्र मेरा नहीं है। उसीप्रकार यह ज्ञान और आनन्द स्वभावी आत्मा कर्म के संयोग से जो पुण्य-पाप के विकल्प होते हैं और बाहर में स्त्री, पुत्र, मित्रादिक का संयोग होता है। उसे अपना मान बैठा; परन्तु जब भेदविज्ञान होने पर स्व-पर का विवेक हो जाता है, तब रागादि भावों से भिन्न अपने निज स्वभाव का ग्रहण करता है।

भगवान परमेश्वर तीर्थंकर परमदेव कहते हैं कि भाई ! तुझे तेरे लक्षण का पता नहीं है। तू

www.vitragvani.com

तो ज्ञान और आनन्द के लक्षण से लक्षित तत्त्व है। शरीर, वाणी, मन, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि सब तो पर तत्त्व हैं। वह तो कर्म के संयोग से अन्तर और बाह्य में आयी हुई उपाधि है। एक तो अघातिकर्म हैं उसके निमित्त से बाहर में शरीर, स्त्री, पुत्रादि के संयोग की उपाधि मिली है और दूसरे जो घाति कर्म हैं, उनके निमित्त से पुण्य-पाप और ज्ञान-दर्शनादि की हीन-अवस्था हुई है, वह अन्दर की उपाधि है। ये जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है। यह तो विभाव है। जीव ने इसे अपना मान लिया है। जैसे पहले मनुष्य ने दूसरे के वस्त्र को अपना मानकर ओड़ लिया था, उसीप्रकार जीव ने विभाव को स्वभाव मान लिया है। उससे गुरु कहते हैं कि भाई! तुझे अपने स्वरूप का पता नहीं है। तू तो ज्ञानस्वरूपी आत्मा है। ये जो कर्म के संयोग से अन्तर में पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं वह तू नहीं है। वह तो उपाधि है और बाह्य में शरीरादि का संयोग है, वह तू नहीं है। शरीर शरीररूप होकर रहा है, वह कोई तुझरूप नहीं हुआ है। तुझे धनादिक लक्ष्मी बहुत प्रिय लगती है; परन्तु वह तो जड़रूप होकर रही है। वह कोई तुझरूप नहीं है और न तू उस रूप होकर रहा है। ऐसा होने पर भी तूने इन विभावों और संयोगों को निज मानकर अनन्त अवतार किये हैं।

तूने चौरासी लाख योनियों में अनन्त अवतार धारण किये हैं और दु:खी हुआ है। यह सब भगवान के ज्ञान में ज्ञात होता है। भगवान की वाणी में तेरे हित की बात आती है। तू शरीरादि संयोग और पुण्य-पापरूप संयोगीभाव को तेरे अपने मानता है; परन्तु वे तेरे नहीं हैं। उनसे भेद विज्ञान होने पर तुझे मालूम पड़ेगा कि अहो! मैं तो चिद्घन हूँ, मेरा स्वरूप मेरे से अलग नहीं हो सकता। शरीर, वाणी, मन और पुण्य-पाप तो जगत की वस्तुऐं हैं। मैंने उन्हें अपना माना था, यही मिथ्यात्व और अनन्त संसार का मूल था ऐसा तुझे ज्ञात होगा।

भगवान की वाणी में ऐसा आया कि तेरा स्वरूप तो शुद्ध ज्ञानघन है। अन्तर में देख, तो तेरा स्वरूप पुण्य-पाप के राग से रहित है। जो तेरा नहीं है, उसे तूने अपना माना है और तेरे अपने असलीस्वरूप को भूल गया है- इसी से भवभ्रमण हुआ है। शरीर तो जड़ है और जड़ होकर ही रहा है और प्रत्यक्ष दिखता है कि शरीर तो जलकर राख हो जाता है। जीव तो चला जाता है; परन्तु शरीर निरोगी होते और पाँच-पचास करोड़ रुपये संयोग में हों तो इसको ऐसा लगता है कि 'मैं कुछ हूँ'; परन्तु भाई! यह तो जड़ है। ये कहाँ अरूपी चेतन हुए हैं? शरीर और धनादि तेरे जैसे अरूपी और चेतन हो जाएँ तो तेरे कहलायें; परन्तु ऐसा तो होता नहीं है।

श्रोता:- हमारी तिजोरी में आये, इसलिए हमारे ही कहलाते हैं न?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री:- अरे! यह तिजोरी भी कहाँ तेरी है? तेरी तिजोरी तो यह है कि जिसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त स्वच्छता आदि अनन्त-अनन्त गुणों का वैभव भरा है। निज स्वरूप ही तेरा निज निधान है।

शरीर, वाणी, मन आदि तो जड़ है, जड़ होकर रहे हैं और जड़रूप ही रहनेवाले हैं। ये तो जीव के हैं नहीं; परन्तु कर्म-संयोग के लक्ष्य से हो रहे वे दोनों भाव (पुण्य-पापभाव) भी उपाधि है, मेल है; तेरा निजभाव नहीं है। दया पालूँ, व्रत पालूँ, भक्ति करूँ तो मुझे धर्म हो जायेगा ऐसा मानने से कोई शुभभाव से धर्म नहीं हो जाता; परन्तु अरे रे! 'सच्चा पानी इसको नहीं मिलता रे लाल..' वन में हिरण चमकीली रेत को सच्चा पानी की कल्पना करके पीने जाता है, परन्तु उसको सच्चा पानी नहीं मिलता है; उसीप्रकार अज्ञानी प्राणी, मेरे पास पैसा हो तो दान हो और दान हो तो लाभ (धर्म) हो- ऐसा मानकर धर्म की आशा में दौड़ता जाता है; परन्तु उसमें से उसको धर्म अथवा सुख नहीं मिलता है।

यहाँ तो कहते हैं कि असंख्यप्रदेशी तेरा क्षेत्र और अनन्तज्ञान-दर्शनादि तेरे भाव को पहिचानकर उसकी प्रतीति और अनुभव नहीं करे वहाँ तक चौरासी के अवतार में तेरा परिभ्रमण नहीं मिटेगा। जो ज्ञानानन्द स्वभाव की दृष्टि करके विकार को दृष्टि में से छोड़ देता है वह धर्मी है, वह सुखी है, वह लक्ष्मीवान है, उसके चौरासी के अवतार का अन्त आता है। अन्यथा तो सब दु:खी-दु:खी और हैरान हैं, भले ही वे करोड़पति हैं; तो भी भिखारी हैं, दु:खी हैं, विचारे हैं। अरे! करोड़ ऐसे जड़ के पति हैं; अत: जड़ हैं।

शुभ और अशुभ राग भी कषाय है, अग्नि है; तेरा स्वरूप नहीं है। भले ही दया, दान, व्रत, भक्ति का मंद राग हो; परन्तु है तो कषाय न..। इसलिए स्वयं कषाय की अग्नि में जल रहा है और उसे निज मान रहा है। पागलपन का माप नहीं है।

पुण्य-पाप के भाव, उनके फलरूप कर्मबंधन और उसके फलरूप प्राप्त संयोग यह कोई मेरी वस्तु नहीं है। मेरा और इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा स्वभाव तो राग, कर्म और संयोग से निराला है। इसप्रकार जो अन्तर में स्वभाव को ग्रहण करता है और रागादि की दृष्टि में से छोड़ता है; उसको धर्मी कहते हैं, ज्ञानी कहते हैं अथवा शुद्ध चैतन्य लक्ष्मी का स्वामी कहते हैं।

भगवान सर्वज्ञदेव सौ इन्द्रों की सभा में ऐसा फरमाते थे, वही मुनि और संत यहाँ फरमाते हैं।

www.vitragvani.com

निजात्मा का सत्य स्वरूप

कहै विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं।
अपने रससौं भर्यो आपनी टेक हौं।।
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है।
सुद्ध चेतना सिंधु हमारौ रूप है।।33।।

अर्थः- ज्ञानी पुरुष ऐसा विचार करता है कि मैं सदैव अकेला हूँ, अपने ज्ञान-दर्शन रस से भरपूर अपने ही आश्रय हूँ। भ्रमजाल का कूप मोह-कर्म मेरा स्वरूप नहीं है! नहीं है!! मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्यसिंधु है।।33।।

काव्य - 33 पर प्रवचन

सुखी तो उसको कहते हैं कि जिसने दु:ख के पंथ को विस्मृत किया है। पुण्य-पाप के विकल्पों का पंथ तो दु:ख का पंथ है। बाहर में तो संयोग हैं, वे कोई प्रतिकूल नहीं हैं। अन्तर में शुभाशुभभाव होता है वही प्रतिकूल और दु:खरूप है। जिसने उसको दृष्टि में से भुला दिया है और स्वभाव का ग्रहण किया है ऐसे ज्ञानी पुरुष यह विचार करते हैं कि मैं सदैव अकेला हूँ। अपने ज्ञान-दर्शनरस से भरपूर अपने ही आधार से हूँ। भवजाल का कुआँ ऐसा मोह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो शुद्ध चैतन्यसिन्धु है।

मैं तो राग से लेकर सम्पूर्ण दुनिया का जानने-देखनेवाला हूँ। उसमें से कोई वस्तु मेरी है ऐसा माननेवाला मैं नहीं। मेरे में ज्ञान-दर्शन और आनन्द का रस भरा है, वह मेरा सहारा है आश्रय है, राग और पुण्य वह मेरा सहारा अथवा आश्रय नहीं है।

भगवान ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के 96 करोड़ सैनिक और 96 हजार रानियाँ थी; परन्तु वे स्वयं ज्ञानी थे, इसलिए जानते थे कि ये कोई मेरे नहीं हैं और मैं इनका नहीं हूँ। मैं हूँ वहाँ ये नहीं और इनमें मैं नहीं- ऐसे ज्ञान को भेदज्ञान कहते हैं और ऐसे ज्ञानी को धर्मी कहते हैं। अन्य जो राग की क्रिया करके धर्म होना मानते हैं, वे तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं।

जिसका स्वभाव ज्ञान, दर्शन और आनन्द है उसमें अपूर्णता और विपरीतता कैसे हो ? जो स्वभाव से परिपूर्ण निजस्वरूप को मानता है उसी ने जीव को माना और अनुभव प्राप्त किया कहलाता है। (भाई!) सम्यग्दर्शन का विषयभूत तत्त्व अपूर्ण नहीं होता।

अशुभराग से तो धर्म नहीं होता; परन्तु शुभराग से भी धर्म नहीं होता। शुभराग से

www.vitragvani.com

धर्म मानना तो भ्रमकूप है। कोई बहुत पाप करता हो, उससे बचकर कुछ दया, दान का शुभभाव करे; वहाँ दुनियाँ उसमें धर्म मानने-मनाने लगती है; परन्तु शुभराग में धर्म मानना तो महाभ्रम है। भाई! तेरा भगवान तो आनन्द का कुआँ है। तुझको तो तेरा आश्रय है। तुझे परचीज का आश्रय नहीं हो सकता।

'भ्रमजाल रूप कूप मोहकर्म मेरा स्वरूप नहीं है' -इसमें क्या कहना है? कि ज्ञानानन्द स्वरूप की दृष्टि होने पर धर्मात्मा को शुभराग की एकता भ्रम के कूप समान लगती है। शुभभाव मेरा है, इसमे मुझे लाभ होगा ऐसी शुभभाव में एकत्व बुद्धि है वह तो भ्रमजाल का कुआँ है, तो अशुभ राग की तो बात ही क्या? जो धनादि प्राप्ति की आशा से अन्य को पूजता है, वह तो महाभ्रम में पड़ा है; परन्तु प्रशस्तराग में धर्म मानता है, वह भी भ्रमकूप में पड़ा है ऐसा यहाँ कहा है। हमारा लक्ष्य तो भगवान में है, भक्ति में कहाँ कषाय है? ऐसा कहकर जो अकेले शुभराग में जुड़ गया है, वह अपने को चूक गया है, भ्रम के कुएँ में पड़ा है।

जिन्दगी बीती जा रही है भाई! आयुष्य पूर्ण होने पर यह शरीर तेरे रखने से नहीं रहेगा। किससमय देह छूटेगी यह सब निश्चित ही है। तू प्रत्येक समय मुत्यु के समीप जा रहा है, उसके पूर्व ही अपने स्वरूप को संभाल ले भाई! जो अपने स्वरूप के समीप जाता है, उसको राग का समीपपना भी नहीं रहता -राग भी उसे अपना भासित नहीं होता, तो शरीर तो अपना कैसे भासित हो?

एक तरफ मोह से उत्पन्न हुए शुमाशुभ विकारी परिणाम हैं और एक तरफ ज्ञानानन्द का निधान है; अब तुझे जहाँ जाना हो, वहाँ जा! राग से धर्म मानेगा तो वह भ्रमकूप है उसमें डूबकर मर जायेगा और आत्मा, जो कि ज्ञान और आनन्द का कंद है, उसमें एकत्व करेगा तो अमर हो जायेगा; क्योंकि वही तेरा निजस्वरूप है।

'सुद्ध चेतना सिन्धु हमारो रूप है' -अर्थात् मैं तो चैतन्य समुद्र हूँ। मेरे चैतन्य समुद्र में रागादि विकल्प नहीं हैं। भजन में भाई ने लिखा है न...

ज्यों लाख पीपल की घातक बने रे लाल,
त्यों आस्रव इस जीव के जणाय,
जुदे-जुदा अनादि से जाणजो रे लाल..।

'खो' अर्थात् लाख। जैसे पीपल के वृक्ष में लाख हो, वह लाख पीपल का घात करती हैं; उसीप्रकार शुभाशुभ आस्रव जीव का घात करते हैं जीव को नये आस्रव का कारण हैं, धर्म के

www.vitragvani.com

कारण नहीं। जैसे मृगी का वेग आता है जाता है; उसीप्रकार आस्रव आते हैं और जाते हैं; परन्तु वे जीव से भिन्न ही हैं। यह बात समयसार की 74 वीं गाथा में आती है, उसका प्रवचन यहाँ सुनकर (उन भाई ने) यह भजन बनाया है।

मानव भव जग में दुर्लभ रे लाल,
दुर्लभ दुर्लभ जैन अवतार,
इसके साथ ही सद्गुरुछाया दुर्लभ रे लाल...।

सत्य बात सुनने को मिलना भी महादुर्लभ है। करोड़ों-अरबों रुपये और राज्यादि प्राप्त होना सहज है, परन्तु सच्ची बात कान में पड़ना भी बहुत दुर्लभ है।

सरोवर किनारे हिरण प्यासे रे लाल...
दोड़े-हाँफे चमकीले जल के काज-
इसे सच्चा जल जग में ना मिले रे लाल

मृग दौड़-दौड़कर मरे, तो भी उन्हें चमक में कहीं जल नहीं मिलता। उसीप्रकार पुण्य-पाप भाव और उसके फल रेत की चमक में दिखनेवाले पानी की तरह हैं; उसमें कहीं ज्ञानानन्द का जल नहीं मिलता। मूर्ख अज्ञानी प्राणी व्यर्थ ही उनमें धर्म मानकर दौड़ता है।

इस मन मृग को वापिस मोड़ना रे लाल,
जोड़ दो आत्मसरोवर से आज;
इसे मिलेगा आत्मसुख अनमोल रे लाल।

पर में और पुण्य में सुख की कल्पना करनेवाले मन को वहाँ से वापिस मोड़कर आत्मसरोवर में जोड़ दो तो अमूल्य ऐसा आत्मसुख अवश्य मिलेगा।

धर्मी को प्रशस्तराग नहीं आता ऐसा नहीं है। राग तो आता है; परन्तु उससे मुझे धर्म अथवा सुख होगा ऐसा भ्रम धर्मी को नहीं होता। अशुभ से बचने के लिए शुभ का ऐसा काल हो तो शुभराग आता है; परन्तु वह कषाय की अग्नि है, धर्म नहीं।

जगत को यह सत्य सुनना दुर्लभ हो गया है। जूनागढ़ की यात्रा या शिखरजी की यात्रा करो, पर है वह शुभभाव।

मुमुक्षुः- आपने भी हमें यात्रा तो कराई हैं?

पूज्य गुरुदेवश्रीः- यही कहा है कि शुभभाव तो होता है; परन्तु वह दुःखरूप है-हेय है;

www.vitragvani.com

तो भी आये बिना रहता भी नहीं है। जहाँ तक वीतराग न हो, वहाँ तक अशुभ से बचने के लिये ऐसी शुभ की स्थिति होती है; परन्तु वह हेय है।

अन्दर से ऐसे माप निकालना अनन्तकाल में भी दुर्लभ है। स्वयं आनन्द का सरोवर ही है; परन्तु उसकी दृष्टि नहीं करता और विकल्परूपी चमक में सुख का पानी लेने के लिए दौड़ा है। भाई! वहाँ शान्ति और सुख नहीं मिलेगा।

जो 'यह शुभराग मेरा है, मैं अशुभ से बचा हूँ' ऐसा मानता है, उसको मिथ्यात्व तो पड़ा ही है। यही महापाप है। इस पाप से तो बचा नहीं है। शुभराग से लाभ होता है ऐसा माना है यही महामिथ्यात्व का पाप है; इसकी तो अज्ञानी को खबर ही नहीं है। भाई! वीतराग की बातें कठिन हैं। वीतराग कहते हैं कि मेरी बात सुनने बैठा है, परन्तु यह विकल्प है ऐसा ध्यान रखना; विकल्प में फँस मत जाना।

बापू! तू प्रकाश का पिण्ड है। तेरे में शुभाशुभ का कण भी नहीं शोभता है। धर्मी-विचक्षण-समकिती ऐसा जानता है कि मैं तो जाननस्वभाव का समुद्र हूँ। उसमें से जानना. .जानना..जानना..निकला ही करता है, कम नहीं होता। मेरे स्वभाव में से राग और पुण्य नहीं निकलता।

जो विशाल पंचकल्याणक करे, करोड़ों रुपये खर्च करे, गजरथ निकाले और यह सब मैंने किया ऐसा मानता है, वह तो जड़ का स्वामी हुआ। उसको मिथ्यात्व का महापाप लगता है; क्योंकि वह सब तो जड़ की और राग की क्रिया है, जीव का स्वरूप नहीं हैं। धर्मी जीव की दृष्टि तो ज्ञानानन्द समुद्र (आत्मा) पर ही होती है। धर्मात्मा जीव जानता है कि शुद्ध चेतनासिन्धु ज्ञान का समुद्र ही मेरा रूप है, राग मेरा रूप नहीं है।

अब 31 वें कलश पर रचा गया 34 वाँ पद्य लेते हैं, जिसमें बनारसीदासजी ने यह वर्णन किया है कि तत्त्वज्ञान होने पर जीव की दशा कैसी होती है।

तत्त्वज्ञान होने पर जीव की अवस्था का वर्णन

तत्त्वकी प्रतीतिसौं लख्यौ है निजपरगुन,
दृग ज्ञान चरन त्रिविधि परिनयौ है।
विसद विवेक आयौ आछौ विसराम पायौ।
आपुहीमैं आपनौ सहारौ सोधि लयौ है।।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

कहत बनारसी गहत पुरुषारथकौं,
सहज सुभावसौं विभाव मिटि गयो है।
पत्राके पकायें जैसैं कंचन विमल होत,
तैसैं सुद्ध चेतन प्रकास रूप भयो है।।34।।

अर्थः- तत्त्वश्रद्धान होने से निज-पर गुण की पहिचान हुई जिससे अपने निज गुण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र में परिणमन किया है, निर्मल भेदविज्ञान होने से उत्तम विश्राम मिला और अपने स्वरूप में ही अपना सहायक खोज लिया। पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि इस प्रयत्न से स्वयं ही विभाव परिणमन नष्ट हो गया और शुद्ध आत्मा ऐसा प्रकाशवान हुआ जैसे रसायनमें स्वर्ण के पत्र पकाने से वह उज्ज्वल हो जाता है।।34।।

काव्य - 34 पर प्रवचन

तत्त्वज्ञान अर्थात् 'मैं तो त्रिकाल ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ, पुण्य-पाप के विकल्प और उनके फल में कहीं मैं नहीं हूँ।' आत्मा जैसा पूर्ण है, वैसा ज्ञान में लेकर प्रतीति की, वह सच्ची प्रतीति है। वह प्रतीति होने पर स्व और पर की सच्ची पहिचान होती है। 'शुद्ध आनन्द कंद वह मैं और पुण्य-पाप के विकल्प, वे पर विभाव हैं, मेरे नहीं'- इसप्रकार उनसे भिन्नता का भान होता है। इसलिए ऐसे भेदज्ञानी जीव को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में परिणमन होता है और निर्मल भेदविज्ञान होने से उसको स्वरूप में ही विश्राम मिल गया और उसने स्वरूप में ही अपना सहायक खोज लिया है।

सम्यग्दर्शन होने पर स्वानुभव में ज्ञान और स्थिरता का अंश साथ ही होता है। वस्तु के परिपूर्ण तत्त्व की श्रद्धा में समस्त अंश साथ ही होते हैं। समकिती को अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में स्वरूपाचरण चारित्र भी होता है।

धर्मी को **'दृग ज्ञान चरण त्रिविधि परिनयौ है'** -दृग अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान अर्थात् स्व का ज्ञान और चरण अर्थात् स्वरूप में रमणता ये तीनों गुण एक साथ परिणमित हुए हैं।

बहुत लोगों के बीच ऐसी बात की हो तो शुष्क लगती है, उन्हें लगता है कि व्यवहार को उड़ाते हैं; परन्तु उनको सच्चे निश्चय और व्यवहार के स्वरूप का पता ही कहाँ है? लोग तो यात्रा करने जायें, वहाँ सवेरे जल्दी उठकर, पहाड़ पर चढ़कर, दर्शन करके नीचे उतरने से बहुत थकान हो जाने से गर्म पानी से नहाने आदि की व्यवस्था में पड़ जाते हैं। क्या यही यात्रा करना

www.vitragvani.com

कहलाती है? धर्मी को भी शुभरागरूप व्यवहार आता है; परन्तु वह जानता है कि स्वरूप में से च्युत होकर यह भाव आया है। यह मेरा निज भाव नहीं, उदय भाव है, संसार है।

'विसद विवेक आयौ' -शुभाशुभ राग में रहता था, उसमें से हटकर स्वरूप की दृष्टि होने पर धर्मी को अन्तर में निर्मल आत्मा में विश्राम मिला है। अनादि से पुण्य-पाप के विभाव भावों में विश्राम नहीं था। अब विशद विवेक जागृत होने पर विश्राम-धाम मिला है। उसमें ऐसा विश्राम मिला कि अनादि की थकान उतर गई है।

अज्ञानी जीव पैसा कमाकर फिर शान्ति से रहूँगा और जिन्दगी की थकान उतारूँगा ऐसी आशा रखते हैं, वह खोटी है। पैसा खर्च करने से धर्म नहीं होता और स्वभाव की दृष्टि बिना थकान नहीं उतरती- यह समझ लेना। जब तक मिथ्या-विपरीत दृष्टि का अभाव नहीं होगा, वहाँ तक निगोद मिलेगा; मोक्ष नहीं मिलेगा।

हाँ, यात्रा, पूजा, भक्ति के भाव नहीं होते ऐसा नहीं है; शुभभाव तो होता है; परन्तु जो उससे धर्म मानेगा उसको महामिथ्यात्व का पाप साथ ही लगता ही है।

जीवों को पैसा कमाने में बहुत रस है। पाँच मिलते हों तो पचास और पचास मिलते हों तो सौ प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं; परन्तु भाई!

'हुनर करे हजार भाग्य बिन मिले न कौड़ी'

अर्थात् पैसे की प्राप्ति में पुरुषार्थ बिलकुल काम नहीं आता। पूर्व के पुण्य के रजकण जलते हैं तब वर्तमान में धनादिक प्राप्त होते हैं। अत: यह तो पूर्व पुण्य के अनुसार मिलते हैं। पुरुषार्थ तो एक अपने आत्मा के कार्य में काम आता है। इसमें पुरुषार्थ कर न..।

भाई! यह तो वीतराग का मार्ग है। इसमें किसी की चतुराई नहीं चलती। एक व्यक्ति ने प्रश्न किया था कि महाराज! इस धर्म में पैसेवालों का कोई नम्बर है या नहीं? कहा, बिलकुल नहीं। मैं पैसेवाला हूँ यह मान्यता ही अज्ञानी का भ्रम है। क्या आत्मा जड़-पैसेवाला हो सकता है?

कोई कहे कि गुरु तो हाथ पकड़कर ले जायेंगे न? यह बात भी मिथ्या है। (कहावत है कि) ब्राह्मण शादी करा दे, पर कोई घर चला दे? उसीप्रकार गुरु तो मार्ग समझाते हैं; परन्तु समझना तो स्वयं का काम है न! जो समझता है, वह मार्ग पर चलकर तिर सकता है।

भाई! तूने अनन्तकाल इसीप्रकार मिथ्यात्व के दु:ख में व्यतीत किया है। अरे! इस आँधी में तिनका कहाँ जाकर पड़ेगा -यह निश्चित नहीं है। उसीप्रकार तेरे अवतार कहाँ होंगे यह

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

तू नहीं जानता! पुण्य-पाप के भाव को अपना मानकर पड़ा है तो नरक निगोद में चला जायेगा। भाई! तुझे भवभ्रमण का दु:ख नहीं लगता? तूने ऐसे दु:ख भोगे हैं कि तूने भोगे और भगवान जानते हैं। वाणी से नहीं कहे जा सकें- इतने दु:ख तूने भोगे हैं; परन्तु तू उनको भूल गया है और यहाँ जरासी अनुकूलता मिली, उसमें तू "मैं चौड़ा और बाजार सकड़ा" हो गया है; परन्तु भाई! चैतन्यसूर्य की परीक्षा में पास हुए बिना तू नापास (फैल) ही है यह समझ लेना।

जीव अपने स्वभाव को भूलकर पुण्य-पाप की श्रद्धा, उनका ज्ञान और उनमें स्थिरता करता है, वह संसार भ्रमण का कारण है। उससे भिन्न होकर प्रथम तो सत्य तत्त्व का श्रवण करे, उसे लक्ष्य मे ले और फिर अन्दर में गहरा उतरे तो उसको श्रद्धा होती है कि-अहो! मैं तो राग से भिन्न चैतन्यतत्व हूँ। ऐसे चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता का परिणमन हो, सुख का वेदन आवे तब वह जीव धर्मी और सुख के पंथ में चढ़ा हुआ जीव कहलाता है। उसको ऐसा निर्मल विवेक प्रगट हो गया है कि अपना विश्राम स्वयं ही प्राप्त कर लिया और अपना सहायक अपने में ही खोज लिया है। उसको अब किसी विकल्प अथवा निमित्त के सहारे की अपेक्षा नहीं है।

पण्डित बनारसीदासजी ने शास्त्र का सार निकालकर रख दिया है। बनारसीदासजी गृहस्थ तो थे, पर साथ ही श्रृंगारी और लंपटी भी थे; परन्तु बाद में धर्मी हो गये थे। तत्पश्चात् इन काव्यों की रचना की है। अहो! **'आपुहि में आपनौ सहारौ सौधि लयौ है'** -अभी तो जिसको समझ का ही ठिकाना नहीं हो; धारणा भी यथार्थ नहीं हुई हो वह अपना सहारा अपने में नहीं खोज सकता । धर्मी ने तो अपना सहारा अपने में खोज लिया है। उसने विभाव की ओर का पुरुषार्थ छोड़कर स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ किया, वहाँ विभाव तो सब सहज ही भिन्न पड़ गये। जैसे अनाज में से कंकर निकाल देते हैं; उसीप्रकार धर्मी विभावरूपी कंकरों को अपने चैतन्य में से निकाल देता है। ऐसा भेदज्ञान, वह धर्म की पहली शुरुआत-पहली सीढ़ी है। इसके बिना व्रत, तप आदि सब बिना एक के शून्य समान हैं।

देखो, यहाँ कहते हैं कि अनादि का अन-अभ्यास है इसलिए यह समझना थोड़ा कठिन लगता है; परन्तु समझने योग्य बात यही है। सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकरदेव ने आत्मा को जैसा देखा है- ऐसे आत्मा की प्रतीति कैसी होती है वह यहाँ कहते हैं।

'तत्त्व की प्रतीतिसौं लख्यो है निजपरगुन।' तत्त्व की प्रतीति होने पर स्व और पर के गुण की पहिचान हो जाती है कि मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु हूँ और पुण्य-पाप के भाव राग है वह विकार है; मेरा स्वरूप नहीं। जड़ तो आत्मा से अत्यन्त भिन्न परवस्तु है। उसे निज मानना

www.vitragvani.com

तो महामिथ्यात्व की विपरीत मान्यता है ही; परन्तु धनादि लक्ष्मी का राग और लक्ष्मी को दान में देने का राग भी आत्मा को दु:खरूप है।

श्रोता:- तो फिर लक्ष्मी को समुद्र में फेंक देना या संग्रह करना?

पूज्य गुरुदेवश्री:- लक्ष्मी के ऊपर तेरा अधिकार ही नहीं है। लक्ष्मी तो जड़ है। जड़वस्तु को निज मानना और उसकी क्रिया मैं कर सकता हूँ ऐसा मानना ही महाभ्रम है। तूने भगवान सर्वज्ञदेव का कहा हुआ वस्तुस्वरूप सुना ही नहीं है। प्रभु! मनुष्य देह तो मिला, परन्तु इसे व्यर्थ गंवा दिया है।

तत्त्व की प्रतीति होने पर ज्ञानी निज और पर के गुणों को भिन्न जानता है। शरीर, वाणी, मन, लक्ष्मी आदि तो भिन्न है ही; परन्तु शुभ-अशुभ भाव भी पर हैं ऐसा ज्ञानी जानता है। भेदज्ञानी जानता है कि आस्रवतत्त्व और जीवतत्त्व भिन्न है।

'दृग ज्ञान चरण त्रिविध परिनयौ है।' मैं शुद्ध ज्ञानानन्द हूँ ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और उसमें परिणमनरूप चारित्र -इन तीनों दशारूप आत्मा परिणमता है। आत्मा कभी शरीर, मकान और धनादिरूप नहीं परिणमता है। विकल्प उठता है, वह भी वास्तव में परतत्त्व है। आत्मा तो शुद्धज्ञान और आनन्द की मूर्ति है। अशुभराग तो आत्मा से भिन्न है ही; परन्तु शुभराग भी विकल्प है; राग है, वासना है; आत्मा का स्वरूप नहीं है। इसलिए मेरे से राग भिन्न है। राग मेरा है ऐसी मान्यता दु:खरूप है। जैसे जिस बर्तन में कस्तूरी रखी हो और पश्चात् उस कस्तूरी को निकाल लेने पर भी बर्तन में गंध आती है; उसीप्रकार राग मेरा है यह मान्यता दुर्गन्ध रूप है। मेरे में राग है ही नहीं।

प्रभु! तेरी चीज में विकल्प उठे, वह भी दु:खरूप है। अशुभराग तो दु:खरूप है ही; परन्तु आत्मा का भान होने पर समकिती को शुभराग भी दु:खरूप लगता है, परतत्त्व लगता है। मेरा तत्त्व तो शुद्धज्ञान और आनन्दरूप है ऐसे भान बिना समस्त ज्ञान व्यर्थ है।

'विसद विवेक आयौ आछौ विश्राम पायौ।' जहाँ तक शुभाशुभभावों में मिठास थी, वहाँ तक दु:ख था, भ्रम था, अविवेक था। अब जहाँ उस जीव ने निर्मल भेद-विज्ञान प्रकट किया, वहाँ उसको अपने आनन्दधाम में विश्राम मिला। अनादिकालीन दु:ख से मुक्त हुआ, भ्रम दूर हुआ।

वीतरागी सनातन जैनधर्म में धर्म की प्रभावना के हेतु से दानादि करे, वह पुण्य का कारण है; अन्यथा अन्यमत में दानादि करे, वह तो उल्टा मिथ्यात्व का पोषक है।

www.vitragvani.com

'आपुहि मैं आपनौं सहारौ सोधि लियौ है।' –अन्दर में आत्मा चैतन्य के नूर के पूर से भरा है। उसे शोधकर ज्ञानी ने अपने में सहारा प्राप्त कर लिया है। अपने में अपना सहारा ले लेना वह धर्म और शान्ति है। इसके अतिरिक्त शुभाशुभ भाव, प्रतिक्रमण, सामायिक और प्रौषध कर लेने से धर्म नहीं हो जाता।

परमात्मा कहते हैं कि तू अमृत का सागर है। परमात्मा कहें या संत कहें या ज्ञानी कहें, सब एक ही है। आत्मा परमात्मस्वरूप ही है, इसका जिसको पता नहीं है, वही बाहर में समृद्धि और सहारा खोजने जाता है। वस्तुतः अपना सहारा स्वयं ही है, बाहर में कोई अपना सहारा नहीं है।

'कहत बनारसी गहत पुरुषार्थ कौ, सहज सुभाव सौ विभाव मिटि गयौ है।' –निजस्वभाव की सन्मुखता का पुरुषार्थ ग्रहण करने से विभाव तो सहज ही नष्ट हो गया है।

ऐसा मार्ग इसको कैसे समझ में आवे? पाँच-पच्चीस हजार रुपये दान में खर्च किये हों तो ऐसा होता है कि इतना तो मुझको धर्म होगा न? धूल भी धर्म नहीं होगा भाई! तुझे पता नहीं है। बेभान होकर तू संसार में परिभ्रमण कर रहा है और दुःखी हो रहा है। अब इस दुःख से छूटकर स्वभाव का पुरुषार्थ कर तो विभाव अपने आप मिट जायेगा।

'पन्ना के पकाये जैसे कंचन विमल होत, तैसें सुद्ध चेतन प्रकास रूप भयौं है।' –जैसे सोने के पतले पन्नों को अग्नि में पकाने से सोना एकदम शुद्ध हो जाता है; उसीप्रकार राग से भिन्न पड़ने के लिए ध्यानाग्नि से आत्मा को पकाने से राग एकदम भिन्न पड़ जाता है और आत्मा अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। यह वीतराग का मार्ग है। राग से धर्म मनावे, वह वीतराग का मार्ग नहीं, बापू! वह तो अजैन है।

अब 32 वें श्लोक पर रचा गया 35 वाँ पद्य है। इसमें बनारसीदासजी नटी का दृष्टान्त देकर वस्तुस्वरूप की प्राप्ति का कथन करते हैं।

वस्तुस्वभाव की प्राप्ति में नटी का दृष्टान्त

जैसैं कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकैं।
दुहूँ ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभाके लोग देखैं दृष्टि धरिकैं।।
तैसैं ग्यान सागर मिथ्याति ग्रंथि भेदि करि,

www.vitragvani.com

उमग्यौ प्रगट रह्यौ तिहूं लोक भरिकैं।
ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगत जीव,
सुद्धता संभारै जग जालसौं निसरिकैं।।35।।

अर्थः- जिस प्रकार नटी रात्रि में वस्त्राभूषणों से सजकर नाट्यशाला में परदे की ओट में आ खड़ी होती है तो किसी को दिखाई नहीं देती, परन्तु जब दोनों ओर के शमादान ठीक करके पर्दा हटाया जाता है तो सभा की सब मंडली को साफ दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञान का समुद्र आत्मा जो मिथ्यात्व के परदे में ढँक रहा था सो प्रगट हुआ जो त्रैलोक्य का ज्ञायक होवेगा। श्रीगुरु कहते हैं कि हे जगवासी जीवो! ऐसा उपदेश सुनकर तुम्हें जगज्जाल से निकलकर अपनी शुद्धता सम्हालना चाहिये।।35।।

काव्य - 35 पर प्रवचन

देखो, इस शास्त्र में कितनी बार सिन्धु शब्द आता है। भगवान आत्मा ज्ञान का सिन्धु है। जो उसको रागवाला और पामर मानता है, वह भ्रम से भ्रमता है। (मूल श्लोक में सिन्धुः शब्द आता है।)

जैसे नटी रात्रि में वस्त्राभूषण से सुसज्जित होकर नाट्यशाला में परदे के पीछे आकर खड़ी रहती है, तब तो किसी को दिखायी नहीं देती है; परन्तु जब दोनों तरफ के दीपक जलाकर परदा हटा लिया जाता है तो सभासदों को स्पष्ट दिखती है। उसीप्रकार ज्ञान का समुद्र आत्मा जो मिथ्यात्व के परदे में ढक रहा था, शुभराग की एकता के परदे में आत्मा दिखता नहीं था वह जहाँ अन्तर्मुखदृष्टि द्वारा ज्ञान में प्रकाशित हुआ तो यह तो तीनलोक का ज्ञायक है ऐसा ज्ञात होता है।

शुभ और अशुभराग में एकत्वबुद्धि वह मिथ्यात्व की ग्रंथी है। अब इस ज्ञान को राग से भिन्न करना यह धर्म की क्रिया है। चैतन्य सागर में अनन्त अपरिमित ज्ञान और आनन्द भरा है-ऐसे आत्मा के सन्मुख दृष्टि करने से राग की एकता की गांठ गल जाती है-मिथ्यात्व का नाश हो जाता है। अनादि से राग और एकसमय की अवस्था में ही 'मैं पना' मान लिया था, इससे सम्पूर्ण अनन्त शक्तिस्वरूप वस्तु ढक रही थी। मैं तो रागी हूँ, द्वेषी हूँ, अल्पज्ञ हूँ, पामर हूँ ऐसी दृष्टि होने से चैतन्य महासत्ता इसके ज्ञान में ढक गयी थी। धर्म के नाम से भी शुभराग में धर्म बुद्धि होती थी। इससे वस्तु की वास्तविक समृद्धि तो ढक रही थी, खबर ही नहीं थी। इसलिए-

www.vitragvani.com

'मुनिव्रतधार अनन्तबार ग्रीवक उपजायो।
यै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो ।।'

अनन्तबार नग्न होकर पंचमहाव्रतादि, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये; परन्तु धर्म नहीं हुआ। राग से भिन्न नहीं पड़ा और स्वभाव सन्मुख दृष्टि नहीं की, इसलिए धर्म नहीं हुआ। स्वभाव की एकता करने से राग की एकता टूट जाती है; परन्तु यह काम इसने कभी नहीं किया।

महँगा लगे, चाहे सस्ता लगे; परन्तु धर्म की रीति तो यही है। भाई! हलुआ बनाना होवे तो आटे को घी में सेकने के बाद ही शक्कर का पानी उसमें डालें तो हलुआ बनता है; परन्तु यदि यह विधि महँगी लगे और सस्ता करने के लिये पहले पानी में आटा डालकर फिर घी डाले तो हलुआ नहीं बनेगा और घी, आटा व शक्कर तीनों व्यर्थ जायेंगे। उसीप्रकार राग से भिन्न आत्मा की श्रद्धा करने में अनन्त पुरुषार्थ है। उससे धर्म होता है। यह महँगा (कठिन) लगता है तो क्रियायें करके धर्म प्रकट करना चाहेगा तो धर्म तो होगा ही नहीं; उलटे चार गतियों में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

दुनिया में तो सब स्वार्थ के पुतले हैं। मरण के समय पिता पाँच लाख रुपये दान में देने को कहने लगे तो पुत्र कहेगा पिताजी! अभी पैसे को याद नहीं करते; धर्म सँभालो। महाराज भी कहते थे कि पैसे से धर्म नहीं होता। पिता श्वास निकल रही हो तो बोल नहीं सकता; परन्तु मन में तो समझता है कि यह लड़का स्वार्थवश महाराज के उपदेश का भी विपरीत अर्थ करता है। पूर्वकृत पुण्य के जलने से यह करोड़ो रुपयों की सम्पदा प्राप्त हुई है तो मेरे हिस्से की सम्पदा तो दान में दूँ? ऐसा उसका भाव होवे तो भाव का पुण्य उसको बँधता ही है; परन्तु उससे धर्म नहीं होता, जन्म-मरण का अभाव नहीं होता। सभी पैसेवालों की प्रायः ऐसी ही दशा होती है। अतः पहले से ही ममता घटाना।

'उमग्यो प्रकट रह्यो तिहूँ लोक भरिके।' -अहा! जिसको सम्यग्ज्ञान हुआ, वह तीनलोक का ज्ञाता हो गया, किसी का कर्त्ता-भोक्ता नहीं रहा। भगवान! ऐसी तेरी सत्ता है। पुण्य-पाप के विकल्प -यह तेरी सत्ता नहीं, तेरी सत्ता में नहीं, तेरी चीज नहीं। अर्द्धलोक के स्वामी ऐसे इन्द्रों की सभा में भगवान द्वारा कही हुई यह बात है। आचार्य कुन्दकुन्द भी यह वाणी सुनने के लिए वहाँ भगवान के पास गये थे और अपने लिए यह माल लाये हैं। कुन्दकुन्दाचार्य तो गाथा लिख गये हैं, परन्तु इसके बाद अमृतचन्दाचार्य ने टीका लिखी। पण्डित राजमल जी

www.vitragvani.com

ने उसका भी विशेष अर्थ किया और बनारसीदासजी ने पद्य में उसका विस्तार किया है। अहो! संत कितना माल देकर गये हैं।

आत्मा 'उमग्यौ' अर्थात् अन्तर्मुख दृष्टि द्वारा आत्मा चैतन्य स्वभाव से उछलता है। ज्ञाता-दृष्टा होकर स्व-पर का जाननेवाला हो जाता है। राग होने पर भी उसका कर्त्ता नहीं होता, जाननेवाला रहता है। ऐसा धर्मात्मा राज्य में होने पर भी स्त्री, लश्कर, सम्पत्ति और उनके प्रति होनेवाले राग का जाननेवाला रहता है, किसी का कर्त्ता अथवा किसी को अपना माननेवाला नहीं बनता है। अहो! अनादि से जो ज्ञान मिथ्यात्व के परदे में ढक गया था वह अब सम्यक्त्व होने पर ज्ञान का समुद्र खुल्ला हो गया। फिर तो वह आत्मा तीनकाल-तीनलोक का ज्ञायक हो जायेगा। ज्ञानसमुद्र सम्पूर्ण रूप से उछल जायेगा।

अनादि से ज्ञानसमुद्र आत्मा राग में ढक गया था, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर राग से भिन्न पड़कर अपरिमित ज्ञान और अपरिमित आनन्द खुल्ला (प्रकट) हो गया। अब वह किसी पर को अपना नहीं मानता, किसी का कर्त्ता नहीं होता- ऐसी दशा का नाम सम्यक्दशा है। यह चौथे गुणस्थान की दशा है। आगे बढ़कर तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रकट होता है, तब आत्मा तीनकाल तीनलोक को जानने लगता है। सर्वप्रथम ऐसी (सम्यक्त्वरूप) दशा के बिना चारित्र और केवलज्ञान प्रकट नहीं होता है। स्व-पर का भेदविज्ञान करके स्व में स्थिर होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है।

'ऐसौ उपदेश सुनि चाहिए जगतजीव, सुद्धता संभारै जग जाल सौं निसरिकै।'

-हे जगत के जीवों! ऐसा उपदेश सुनकर तुम्हें जगत के जाल में से निकलकर अपनी शुद्धता की संभाल करना चाहिए। अनादिकाल से स्वयं को स्वयं की शुद्धता का विस्मरण था और अशुद्धता का स्मरण था। मैं दया पालूँ, व्रत पालूँ, क्रिया करूँ -यह मेरा स्वरूप है ऐसा मानता था। जो शरीर प्राप्त हो उसमें 'मैं पना' मानता था। उससे श्रीगुरु कहते हैं कि यह उलटा अभ्यास छोड़ दे और अपनी शुद्धता को सँभाल ले। मैं तो शुद्ध चैतन्यघन ज्ञायक हूँ इसप्रकार निजनिधि को सँभाल ले और मिथ्याविकल्पों के जगजाल से छूट जा।

जो अशुद्धता से छूटकर शुद्धता को सँभालता है उसको धर्मी अथवा सम्यग्दृष्टि कहा जाता है।

जीवों को इस मार्ग पर आना बहुत कठिन है। मनरूपी हिरन को वापिस मोड़ना रे लाल...। खारी जमीन में पानी का आभास होगा; परन्तु पानी नहीं मिलेगा -प्यास नहीं मिटेगी। उसीप्रकार पुण्य-पाप में आत्मा का आभास होता है; परन्तु उनमें आत्मा की शान्ति नहीं मिलती। इसलिए वहाँ से मन को वापिस मोड़ना।

www.vitragvani.com

पण्डित बनारसीदासजी ने बहुत सरस पद्य बनाये हैं। जगत को जाल की उपमा दी है। विकल्प के जाल से छूटकर निजघर में आ जा प्रभु! तुझे करने योग्य यह एक ही कार्य है। यही तेरी सत् क्रिया है।

सम्प्रदायवालों को तो ऐसा लगता है कि ऐसा धर्म कहाँ से निकाला? परन्तु कहीं से निकाला नहीं है। जो था, वही बाहर आया है। क्या हो? हिरण मार्ग भूल गया है, उसे सच्चा मार्ग बतानेवाला मिलने पर भी शंका होती है। अपने मानते हैं यही सत्य है -ऐसा सीख लें; फिर यह विपरीत बात समझूँगा। परन्तु भाई! यही वास्तविक बात है।

श्रीगुरु कहते हैं -जगजाल की नास्ति कर और शुद्धता को सँभाल ले बस! इसने ही शुद्धता संभाली कही जाती है-यह अनेकान्त है। अशुद्धता से भी धर्म होता है और शुद्धता से भी धर्म होता है-यह अनेकान्त नहीं हैं; यह तो फूदड़ीवाद है।

पुण्य होवे तो यह सत्य बात सुनने को मिल जाती है; परन्तु इसकी 'हाँ' करने में अनन्त पुरुषार्थ अपेक्षित है।

इस रंगभूमि का पूर्वरंग अथवा उत्थानिका समाप्त हुई। अब प्रथम अधिकार का सार कहते हैं।

प्रथम अधिकार का सार

आत्मपदार्थ शुद्ध, बुद्ध, निर्विकल्प, देहातीत, चिच्चमत्कार, विज्ञान-घन, आनंदकंद, परमदेव, सिद्ध सदृश है। जैसा वह अनादि है वैसा अनंत भी है अर्थात् न कभी उत्पत्र हुआ है और न कभी नष्ट ही होगा। यद्यपि वह अपने स्वरूप से स्वच्छ है परन्तु संसारी दशा में जब से वह है तभी से अर्थात् अनादिकाल से शरीर से संबद्ध और कर्मकालिमा से मलिन है। जिस प्रकार कि सोना धाऊ की दशा में कर्दभ सहित रहता है परन्तु भट्टी में पकाने से शुद्ध सोना अलग हो जाता है और किट्टिमा पृथक् हो जाती है उसीप्रकार सम्यक्तप मुख्यतया शुक्लध्यान की अग्नि के द्वारा जीवात्मा शुद्ध हो जाता है और कर्मकालिमा पृथक् हो जाती है। जिस प्रकार जौहरी लोग कर्दम मिले हुए सोने को परखकर सोने के दाम देते-लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानी लोग अनित्य और मलभरे शरीर में पूर्णज्ञान और पूर्ण आनंदमय परमात्मा का अनुभव करते हैं।

जब कपड़े पर मेल जम जाता है तब मलिन कहाता है, लोग उससे ग्लानि करते हैं और

www.vitragvani.com

निरुपयोगी बतलाते हैं, परन्तु विवेकदृष्टि से विचारा जावे तो कपड़ा अपने स्वरूप से स्वच्छ है साबुन पानी का निमित्त चाहिये। बस! मेल सहित वस्त्र के समान कर्दम सहित आत्मा को मलिन कहना व्यवहारनय का विषय है, और मेल से निराले स्वच्छ वस्त्र के समान आत्मा को कर्मकालिमा से जुदा ही गिनना निश्चयनय का विषय है। अभिप्राय यह है कि, जीवपर वास्तव में कर्मकालिमा लगती नहीं है कपड़े के मेल के समान वह शरीर आदि से बँधा हुआ है, भेदविज्ञानरूप साबुन और समतारसरूप जल द्वारा वह स्वच्छ हो सकता है। तात्पर्य यह कि जीव को देह से भिन्न शुद्ध बुद्ध जाननेवाला निश्चयनय है और शरीर से तन्मय, राग-द्वेष-मोह से मलिन कर्म के आधीन करनेवाला व्यवहारनय है। सो प्रथम अवस्था में इस नयज्ञान के द्वारा जीव की शुद्ध और अशुद्ध परिणति को समझकर अपने शुद्ध स्वरूप में लीन होना चाहिये इसीका नाम अनुभव है। अनुभव प्राप्त होने के अनंतर फिर नयों का विकल्प भी नहीं रहता इसलिये कहना होगा कि नय प्रथम अवस्था में साधक हैं और आत्मा का स्वरूप समझे पीछे नयों का काम नहीं है।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं, जीव के गुण चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, आदि हैं। द्रव्य की हालत को पर्याय कहते हैं, जीव की पर्यायें नर, नारक, देव, पशु, आदि हैं। गुण और पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता और गुण-पर्याय बिना द्रव्य के नहीं होते, इसलिये द्रव्य और गुण-पर्यायों में अव्यतिरिक्त भाव है। जब पर्याय को गौण और द्रव्य को मुख्य करके कथन किया जाता है तब नय द्रव्यार्थिक कहलाता है और जब पर्याय को मुख्य तथा द्रव्य को गौण करके कथन किया जाता है तब नय पर्यायार्थिक कहलाता है। द्रव्य सामान्य होता है और पर्याय विशेष होता है, इसलिये द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के विषय में सामान्य-विशेष का अन्तर रहता है। जीव का स्वरूप निश्चयनय से ऐसा है, व्यवहारनय से ऐसा है, द्रव्यार्थिकनय से ऐसा है, पर्यायार्थिकनय से ऐसा हैं, अथवा नयों के भेद शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय, उपचरित व्यवहारनय इत्यादि विकल्प चित्त में अनेक तरंगें उत्पन्न करते हैं, इससे चित्त को विश्राम नहीं मिल सकता, इसलिये कहना होगा कि नय के कल्लोल अनुभव में बाधक हैं परन्तु पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानने और स्वभाव-विभाव के परखने में सहायक अवश्य हैं। इसलिये नय, निक्षेप और प्रमाण से अथवा जैसे बने तैसे आत्मस्वरूप की पहिचान करके सदैव उसके विचार तथा चिंतवन में लगे रहना चाहिये।

www.vitragvani.com

प्रथम अधिकार के सार पर प्रवचन

आत्मपदार्थ शुद्ध-बुद्ध-निर्विकल्प, देहातीत चित्चमत्कार, विज्ञानघन, आनंदकंद, परमदेव सिद्धसमान है। आत्मा पुण्य-पाप के विकल्प से रहित 'शुद्ध' है। आत्मा ज्ञान का समुद्र है, अत: 'बुद्ध' है। श्रीमद्जी कहते हैं न-

शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम ।
दूजा कहना कीतना, कर विचार तो पाम ।।

भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है, निर्विकल्प अर्थात् अभेद है अखण्ड आनन्दमूर्ति है। आत्मा देह से रहित-देहातीत है। एकसमय में तीनकाल-तीनलोक को जाने ऐसा चित् चमत्कार स्वरूप है। कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि इस लकड़ी में कुछ जादू है, जो महाराज (कानजीस्वामी) के पास जाता है वह पैसेवाला हो जाता है; अत: कुछ चमत्कार है..भाई! यह चमत्कार नहीं, यहाँ तो आत्मा स्वयं चमत्कारिक वस्तु है, एक समय में सबको जाने; परन्तु कहीं राग या द्वेष नहीं होते -यह चमत्कार है।

आत्मा 'विज्ञानघन' है, क्योंकि आत्मा ज्ञान का घन है। इससे उसमें देह, मन, वाणी, कर्म अथवा रागादि किसी का प्रवेश नहीं हो सकता है। जब राग आत्मा का स्पर्श भी नहीं करता तो राग से धर्म होवे -यह बात ही कहाँ रही?

आत्मा 'आनन्दकंद' है। जैसे शक्करकंद मिठास का पिण्ड है, उसीप्रकार आत्मा आनन्द का पिण्ड है। आत्मा ज्ञान का तो पिण्ड है; अतीन्द्रिय आनन्द का भी पिण्ड है। उसमें पुण्य-पाप के विकल्प का प्रवेश नहीं है। ऐसा आत्मा जिसको सुनने में भी नहीं आया वह कब सुने, कब समझे और कब उसमें स्थिर हो!

आत्मा 'परमदेव' है। दिव्य शक्तियाँ अनन्तज्ञान, अनन्त आनन्द, आनन्द शान्ति आदि दिव्यशक्तियों का धारक देव है। अरे! देव नहीं, पर परमदेव है ऐसा कहते हैं। आत्मा सिद्ध समान है। णमोकार मंत्र के अन्तिम पद में 'णमो लोए सव्व' पद आता है, वह पद पाँचों में ही लागू पड़ता है। इसलिए 'णमो लोए सव्व सिद्धाणं' में समस्त सिद्धों को आदर्शरूप में रखा। सिद्ध में जो कुछ है, वह सब मेरे में है और सिद्ध में जो नहीं है, वह मेरे में नहीं है ऐसा समझ ले; क्योंकि तू सिद्धसमान है।

www.vitragvani.com

अन्तरदृष्टि द्वारा ऐसे सिद्धसमान आत्मा को समझना, भेदज्ञान करना और अनुभव करने का नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

यह आत्मा जैसा है, वैसा अन्तर में अनुभव होने का नाम सम्यग्दर्शन है। आत्मपदार्थ त्रिकाल शुद्ध है। पर्याय में अशुद्धता है, वह आत्मा नहीं, वह तो अनात्मा है।

आत्मा शुद्ध है और आत्मा बुद्ध है अर्थात् ज्ञान का सूर्य है चैतन्यपुंज है। जब ऐसा आत्मा नजर में आता है, तब आत्मा को जानना कहलाता है। आत्मा जानने में आवे, वैसा ही है; क्योंकि इसका स्वरूप 'प्रत्यक्षज्ञाता' है। जिसमें शरीर नहीं, मन नहीं, वाणी नहीं, कर्म नहीं, पुण्य-पाप के विकल्प नहीं ऐसा ज्ञानसागर आत्मा बुद्ध है। पुण्य-पाप के राग के पीछे जो चैतन्यसूर्य रहा हुआ है, वह आत्मा है।

यह आत्मा विकल्परहित निर्विकल्प है, इसमें अनन्तगुण के भेद नहीं ऐसा यह अभेद है। गुण-गुणी का भेद है, वह व्यवहारनय का विषय है, परन्तु वह अभूतार्थ है-सत्यार्थ नहीं। जैसे भेद है, वह जीवस्वरूप नहीं है, उसी प्रकार एक समय की पर्याय भी जीवस्वरूप नहीं है। एक समय का व्यवहार है, वह त्रिकाल की अपेक्षा झूठा है।

जैसे निर्मलता रे स्फटिक की, त्यौं ही जीव स्वभाव..स्फटिकमणि एकदम निर्मल होती है; परन्तु वह जड़ है और आत्मा तो निर्मल चैतन्य है तो भी स्वयं रंक होकर रुलता है -पामर होकर परिभ्रमण करता है, परन्तु इसको अपनी निर्मलता का विश्वास नहीं है।

श्री जिनवीर ने रे धर्म प्रकाशिया, प्रबल कषाय अभाव रे...सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा श्री वीर जिन ने कहा है कि प्रभु! तेरा स्वरूप तो अभेद देह से रहित है। उसकी दृष्टि कर तो तुझको सम्यग्दर्शन होगा। पर की अपेक्षा रखकर सम्यग्दर्शन करना चाहेगा तो नहीं होगा। भगवान! तू पंगु नहीं है कि तुझे लकड़ी के आधार से चलना पड़े और विकल्प-व्यवहार के आधार से तेरा भान हो ऐसा तू नहीं है।

जिनेन्द्र देव कहते हैं ऐसा आत्मा स्वयं स्वरूप से जिनेन्द्रदेव है। आत्मा देहातीत है, शरीर के रजकणों से अत्यन्त भिन्न है, पुद्गल के रजकणों से निर्मित शरीर यह कोई तेरी वस्तु नहीं है। तू तो चित्चमत्कार है। अपने में रहकर सम्पूर्ण जगत को क्षण में जान लेने की तुझमें सामर्थ्य है।

भगवान आत्मा विज्ञानघन है। जैसे पुराने जमाने में देशी घी ऐसा होता था कि सर्दी में उसमें अंगुली तो प्रवेश नहीं कर सकती, पर चम्मच डाले तो वह भी मुड़ जाती थी -ऐसा घन घी होता था। उसीप्रकार यह आत्मा ऐसा ज्ञान का घन है कि इसमें पुण्य पाप के विकल्प भी प्रवेश नहीं

www.vitragvani.com

कर सकते। शरीर और कर्म का तो आत्मा में प्रवेश है ही नहीं; परन्तु जिससे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, उस भाव का भी आत्मा में प्रवेश नहीं है, आत्मा ऐसा विज्ञानघन है, उसको जानना पड़ेगा।

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कंद है। उस अतीन्द्रिय आनन्द को पीते पार आवे ऐसा नहीं है। अज्ञानी बाहर में सुख के लिए झपट्टे मार रहा है। पैसे में से, स्त्री में से, इज्जत-प्रतिष्ठा में से सुख लेना चाहता है-वहाँ आनन्द लेने निकला है; परन्तु तू भूल गया है भाई! जहाँ आनन्द है ही नहीं वहाँ से आनन्द किसप्रकार मिलेगा? तू अपने में देख न! तू तो आनन्द का कंद है।

आत्मा परमदेव है। जिसकी एक-एक शक्ति दिव्य है, ऐसी अनन्तशक्तियों का स्वामी वह आत्मा परमदेव है। उसकी उपासना कर! तू तो देव का देव है। **जहाँ वीतराग देव को मानना, यह भी विकल्प है, वहाँ लोग पद्मावती आदि देवियों को मानते हैं -यह जैन का लक्षण नहीं है, यह तो गृहीत मिथ्यात्व का लक्षण है।** बहुत से लोग अम्बाजी को मानते हैं -यह भी जैन का लक्षण नहीं है। भाई, तू तो देव का देव है तो अन्य देव तो तेरे सिर पर हो ही नहीं सकते। तू तो अनन्त चैतन्य चमत्कारी शक्तियों का स्वामी है। जिसमें स्वभाव से ही अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, उसका क्या कहना? जिसकी एक शक्ति की बेहदता.. अनन्तता..दिव्यता का पार नहीं, उसका स्वामी ऐसा आत्मा परमदेव है। उसका अनुभव करना सम्यग्दर्शन है।

आत्मा सिद्धसमान है। **'सिद्धसमान सदा पद मेरो'** -अनादि से जीव का स्वरूप सिद्धसमान अनन्त अनन्त महिमावंत है परन्तु इसकी नजर में आया नहीं है; किन्तु नजर में नहीं आने से कोई वस्तु का स्वरूप हो, वह मिट नहीं जाता। भगवान ने जीव का स्वरूप ऐसा देखा है और जैसा देखा है, वैसा कहा है।

प्रभु! तू अविनाशी भगवान है। अनादि से है और अनन्तकाल तक ऐसा ही रहनेवाला है; परन्तु तुझको अपने घर के वैभव का पता नहीं है। तेरे घर में अनन्त चैतन्य रत्न भरे हैं। सर्वज्ञ परमेश्वरदेव कहते हैं कि भाई! तू ऐसे स्वरूप से स्वच्छ है, अनन्त महिमावंत है; परन्तु तुझे तेरी खबर नहीं। जहाँ तुझे जाना है, वहाँ तो तू जाता नहीं और दया, दान व्रत, तप आदि के विकल्प मेरे हैं, मुझे हितकारी हैं ऐसा मानकर रुक रहा है। स्वयं अपने को एक समय की दशा जितना मानता है, उसमें सम्पूर्ण वस्तु का अनुभव रह जाता है।

www.vitragvani.com

आत्मा वस्तु स्वभाव से शुद्ध होने पर भी जब से वह है, तभी से अर्थात् अनादिकाल से वह शरीर से बँधा हुआ है, क्योंकि उसकी भूल भी अनादि से है; इसलिए आत्मा अनादि से कर्म कालिमा से मलिन है। अशुद्ध निश्चयनय से पुण्य-पाप के भाव से मलिन है और असद्भूत व्यवहारनय से कर्म से आत्मा मलिन है ऐसा कहने में आता है।

जैसे खान के भीतर सुवर्ण मिट्टी से सहित रहता है; परन्तु वस्तुतः सोना मिट्टी से अत्यन्त भिन्न है इस कारण भट्टी में तपाने से शुद्ध सोना मिट्टी से अलग हो जाता है। उसीप्रकार वस्तुतः भगवान आत्मा शुद्ध है, अनन्त शक्तिमय है। जहाँ ऐसा माहात्म्य आता है और उपयोग अन्तर्मुख होता है, वहाँ मिथ्यात्व का नाश हो जाता है और राग-द्वेष का नाश हो जाता है। ऐसा स्वरूप होने पर भी अज्ञानी को उसकी खबर नहीं है।

श्रोता:- यह खबर पड़ने के बाद क्या करना ? व्यवहार करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री:- यह खबर पड़ने पर उसमें स्थिरता करना है, अन्य कुछ करने का नहीं है। व्यवहार का विकल्प आयेगा, वह जाना हुआ प्रयोजनवान है; आदर करने योग्य प्रयोजनवान नहीं है, करने के लिए प्रयोजनवान नहीं है।

यह बात तो जिसको स्वभाव की जागृति में वीर्य काम करता है, उसको असर करनेवाली है। अपने बल बिना तो जैसे निर्बल पशु को रस्सी डालकर खड़ा करने पर भी उलटा पड़े और पछाड़ लगे, उसके जैसा होता है।

यहाँ तो अन्तिम भूमिका की बात ली है। अतः सम्यक् तप कहने पर भी शुक्लध्यान की अग्नि द्वारा जीवात्मा शुद्ध हो जाता है और कर्म कालिमा दूर हो जाती है ऐसा कहा है। परन्तु शुक्लध्यान की अग्नि से पहले धर्मध्यानरूपी अग्नि में पुण्य-पाप भिन्न पड़ जाते हैं। अभी वे सत्ता में रहते हैं; परन्तु ज्ञानी उनको 'मेरेपने' रूप से नहीं भोगता है। तत्पश्चात् स्वरूप में ध्यानावली लगाने पर अस्थिरता का भी नाश होकर अकेला शुद्ध आत्मा रह जाता है और कर्म कालिमा भिन्न हो जाती है।

जिसप्रकार जवेरी कालिमायुक्त सोने को पहिचानकर सोने की कीमत लेता-देता है, उसीप्रकार ज्ञानी अनित्य और मल से भरे हुए शरीर में पूर्णज्ञान और पूर्ण आनन्दमय परमात्मा का अनुभव करते हैं। पहले के जमाने में लाखवाले गहने होते थे, उनका तौल करने के लिए रसायन युक्त पानी में रखकर तौलते थे, जिससे सोने का वजन आता था, लाख का वजन नहीं

www.vitragvani.com

आता था; उसीप्रकार ज्ञानी सम्यग्ज्ञान द्वारा आत्मा को पहिचानते हैं, उसमें पुण्य-पाप होने पर भी उन्हें गिनती में नहीं लेते। ज्ञानी को पुण्य-पाप की महिमा नहीं आती, उन्हें तो मात्र चैतन्यस्वभाव की ही महिमा आती है।

ज्ञानी जानते हैं कि यह शरीर तो अनित्य और मल से भरा हुआ है, पुण्य-पाप के भाव भी अनित्य और मलिन हैं। ज्ञानी उनका अनुभव नहीं करते हैं। ज्ञानी तो शुद्ध चैतन्य का ही अनुभव करते हैं, व्यवहार का अनुभव नहीं करते हैं। ज्ञानी अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय आनन्द से पूर्ण भरे हुए आत्मा का अनुभव करते हैं, शरीर अथवा राग का अनुभव नहीं करते हैं। दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा आदि शुभक्रिया भी मेरी नहीं हैं, मुझे तो मेरे ध्यान में ज्ञानानन्द का अनुभवना वह मेरी क्रिया है- ऐसा ज्ञानी जानते हैं।

जिसको परमेश्वर के मार्ग में जाना हो, उसको सर्वप्रथम 'निर्णय' का दरवाजा खटखटाना पड़ेगा। 'आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्द महाप्रभु है' -ऐसा पहले निर्णय में लेना पड़ेगा, फिर अनुभव होगा।

श्रोता:- स्व की उपलब्धि तो प्रसिद्ध है। निरंतर स्वयं तो है ही?

पूज्य गुरुदेवश्री:- हाँ, आत्मा तो है; पर किसको? कि जो उसका सेवन करे उसके लिए आत्मा है। ज्ञान की सेवा करे, उसके लिए आत्मा है। जो राग का सेवन करता है, उसको आत्मा का अनुभव नहीं है। ज्ञानस्वरूप आत्मा निरंतर होने पर भी जिसको उसकी दृष्टि नहीं है, जिसकी दशा नहीं बदली है, उसको एक समय मात्र भी आत्मा की उपलब्धि नहीं है। ज्ञान का अनुभव होवे अपनी दशा में आत्मा जैसा है, वैसा अनुभव में आवे- उसको आत्मा की उपलब्धि है। मात्र बातों से कोई आत्मा की उपलब्धि नहीं है।

यह 'प्रश्ननारद' (एक भाई) प्रश्न पूछने के लिए प्रख्यात है और पुराण में जो नारद आता है वह कुसंप (विवाद) कराने के लिए प्रख्यात है। रामचन्दजी के द्वारा सीताजी को वन में छोड़ देने के पश्चात् दो पुत्रों का जन्म हुआ। वे बड़े हुए, तब नारद ही उन्हें बताता है कि यह राम-लक्ष्मण तुम्हारे पिता और काका हैं। उन्होंने तुम्हारी माता को त्याग दिया था। यह सुनकर लव-कुश पिता के साथ युद्ध करने को तैयार होते हैं। युद्ध प्रारम्भ होता है और राम-लक्ष्मण के तीर व्यर्थ जाते हैं। तब उनको शंका होती है कि क्या कोई दूसरे बलभद्र और नारायण पैदा हुए हैं? तब नारद लड़ाई बंद कराता है और पिता-पुत्रों का मिलन होता है। (नारद पर से यह प्रसंग

www.vitragvani.com

याद आ गया।) जब लक्ष्मण की मृत्यु होती है और राम उसके शव को लेकर घूमते हैं उससमय लव-कुश को वैराग्य हो जाता है और वे पिता के समीप जाकर आज्ञा माँगते हैं कि पिताजी! हमको आज्ञा दो! हमारा अवतार आनन्दकंद में रमने के लिए है। अहा! धन्य अवतार! धन्य वह दशा!! यह मनुष्यभव आत्मा की जीत के लिए है। इसे अन्य किसी विषय में बरबाद करने योग्य नहीं है।

यहाँ पण्डित बनारसीदासजी दृष्टान्त देते हैं कि जब कपड़े पर मेल जम जाता है तब कपड़ा मलिन कहलाता है, लोग उससे ग्लानि करते हैं और उसे निरुपयोगी बताते हैं; परन्तु विवेक दृष्टि से देखा जाये तो कपड़ा अपने स्वरूप से स्वच्छ है, मेल तो कपड़े से भिन्न वस्तु है। इस कारण साबुन और पानी का निमित्त मिलते ही मेल कपड़े से भिन्न पड़ जाता है। यदि वह कपड़े के साथ तन्मय होवे तो भिन्न नहीं पड़ सकता। भिन्न था, इसलिए भिन्न पड़ जाता है।

कपड़े की तरह कर्म और राग से सहित आत्मा को मलिन कहना व्यवहारनय का विषय है। आत्मा को मेल वाला मानना और उसकी ग्लानि करना और उसको निरुपयोगी मानना अज्ञान है। मलिनता है उसे जानना अवश्य; परन्तु उसको आत्मा से तन्मय नहीं मानना। आत्मा उससे भिन्न है और भिन्न पड़ सकता है।

श्रोता:- व्यवहार का ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान है न?

पूज्य गुरुदेवश्री:- शुद्ध स्वभाव के ज्ञान बिना अकेले व्यवहार का ज्ञान वह अज्ञान है। आत्मा का अनुभव होने के पश्चात् उसके ज्ञान को सम्यक् कहा जाता है। निश्चय शुद्ध ज्ञानानन्द स्वभाव का ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञानी पर्याय में रही हुई मलिनता को व्यवहार से जानते हैं। उससे मैं मलिन हो गया हूँ ऐसा वे नहीं मानते हैं।

अरे! यह चैतन्य बादशाह पामर होकर पड़ा है। मुझे बीड़ी के बिना नहीं चलता...मुझे गर्म-गर्म रोटी के बिना नहीं चलता... अमृत की डकार लेनेवाला आत्मा दुर्गन्ध की डकार में पड़ा है, यह इसकी मूढ़ता है। अहो! आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसका संग छोड़कर यह स्त्री का संग खड़ा किया है। भाई! तेरे स्वरूप में यह संग नहीं है। संग का राग भी तेरे स्वरूप में नहीं है।

राग और कर्म की मलिनता होने पर भी मेरा प्रभु उससे भिन्न है ऐसा देखना, वह निश्चयनय का विषय है। मैं राग से भिन्न हूँ ऐसा परलक्ष्यी ज्ञान होवे, वह भी मूलवस्तु नहीं है; परन्तु स्व के लक्ष्यपूर्वक, स्व के आश्रयपूर्वक जो ज्ञान होता है और जिसमें आनन्द आता है, वह मूलवस्तु है।

www.vitragvani.com

अभिप्राय यह है कि वास्तव में जीव को कर्म कालिमा लगती ही नहीं। जैसे मेल वास्तव में वस्त्र के भीतर प्रवेश नहीं कर गया, ऊपर ही है; उसीप्रकार ऊपर से-संयोग में जीव शरीर और कर्म से बँधा है। वह बंधन भेदज्ञानरूपी साबुन और समरसरूपी नीर-जल से भिन्न पड़ जाता है। आत्मा को राग और पुण्य-पाप से भिन्न जानने पर जो समता प्रगट होती है उससे आत्मा का मेल धुल जाता है यह वास्तविक सामायिक है। इसके भान बिना कितनी ही क्रिया, व्रत, तप, जप करे; तो भी वे सब एक बिना की शून्य समान निष्फल हैं।

जिसको चेतना चक्रवर्ती महाराज का ज्ञान नहीं है, राग से भेदज्ञान नहीं है और भेदज्ञान के द्वारा जिसको समतारूपी शान्ति प्रकट नहीं हुई है वह रागादि मेल से भिन्न नहीं पड़ सकता है।

तात्पर्य यह है कि जीव को देह से भिन्न शुद्ध-बुद्ध जाननेवाला निश्चयनय है और शरीर से अभिन्न, राग-द्वेष-मोह से मलिन, कर्म के आधीन कहनेवाला व्यवहारनय है। यह बात अन्य को समझाना ज्ञान नहीं है, वह तो मात्र विकल्प है। अन्दर में ज्ञानानन्द स्वभाव सन्मुख झुकाव होकर जो ज्ञानानन्द प्रकट होता है, वह सच्चा ज्ञान और आनन्द है। आनन्दसहित ज्ञान होता है, उसे ही निश्चयनय कहते हैं।

प्रथम दशा में इस नय ज्ञान द्वारा जीव की शुद्ध और अशुद्ध परिणति को समझकर अपने शुद्ध स्वरूप में लीन होने का नाम अनुभव है, इसी का नाम धर्म है। छहकाय की दया पालना, कंदमूल न खाना, रात्रि भोजन नहीं करना ऐसे विकल्प होते हैं; परन्तु वे धर्म नहीं है। छहकाय के जीव जीवें या मरें, वे अपने कारण जीते-मरते हैं। इस जीव के कारण अन्य जीव का जीवन अथवा मरण नहीं होता। फिर भी मैं उन्हें जिलाता हूँ- यह मान्यता भ्रमरूप है। तत्त्वों की भिन्नता और अनेकता का पता नहीं होने से ऐसा भ्रम होता है। अनेक तत्त्व अनेकपने स्वयं के कारण से रहते हैं, अन्य तत्त्व उनको रखे अथवा मारे ऐसा तत्त्व का स्वरूप ही नहीं है। अज्ञानी जीव मात्र मैं दूसरों को जिलाता हूँ अथवा मारता हूँ- ऐसा अभिप्राय करता है।

पर्याय में राग की अशुद्धता है, उसका ज्ञान करके फिर उससे हटकर शुद्ध चैतन्य भगवान के स्वभाव का अनुभव करना ही तात्पर्य-प्रयोजन है, यह सार है। यही जीव को जानने का सार है, परन्तु यह सुना ही नहीं हो, उसको नया लगता है। सम्प्रदाय में तो लोगों ने प्रौषध करो-अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करो, कंदमूल मत खाओ, छह पर्व में ब्रह्मचर्य पालन करो वह धर्म है-ऐसा सुना है, इसलिये यह धर्म की व्याख्या नई लगती है।

अनुभव होने के पश्चात् तो नयों का विकल्प भी नहीं रहता है। यह पर्याय अशुद्ध है और

www.vitragvani.com

मैं त्रिकाल शुद्ध हूँ-ऐसा भेदरूप विकल्प भी अनुभव में नहीं रहता। अरे! जहाँ विकल्प का भी आश्रय नहीं है वहाँ अन्य किसका आश्रय होगा? तीनलोक के नाथ तीर्थंकर देव फरमाते हैं कि तुझे तेरी शरण है, तू स्वयं ही वीतरागमूर्ति है, तेरा पुरुषार्थ तेरे हाथ में है; कोई अन्य तुझे पुरुषार्थ करा नहीं देगा।

श्रोता:- श्रीमद्जी ने कहा है न कि तुझे सम्यक्त्व होने के पश्चात् पन्द्रह भव में मोक्ष न होवे तो मेरे पास से लेना?

पूज्य गुरुदेवश्री:- इसका अर्थ यह है कि ऐसी दशा होने के पश्चात् पन्द्रह भव में मोक्ष होता ही है; नहीं होवे ऐसा बनता ही नहीं, यह वहाँ कहने का आशय है।

आत्मा में अनन्त गुण किसप्रकार हैं, उनकी अवस्था क्या है, वह कैसे प्राप्त हो यह सब जानने के लिए प्रथम अवस्था में (नय) साधक है-जरूरी है। वस्तु को सिद्ध करने के लिए नय के विकल्प होते हैं; परन्तु जहाँ अनुभव होता है, वहाँ नय के विकल्प कोई काम नहीं करते। अनुभव में किसी नय का काम नहीं है।

तुमको तुम्हारे व्यापार में कितने पैसे की आमदनी हुई, कितना खर्च हुआ, कितना लाभ हुआ यह सब पता होता है; परन्तु तुम्हारे निजघर में क्या-क्या भरा है यह पता नहीं है। आत्मा अनन्त गुणों का समुद्र है। उसमें ज्ञान-दर्शन, वीतरागता आदि अनन्त गुण हैं।

इस भगवान आत्मा को पहिचानना है न! तो इसके द्रव्य-गुण-पर्याय का ज्ञान करना पड़ेगा। द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप समझे बिना ऊपर-ऊपर से आत्मा-आत्मा करने से आत्मा की पहिचान नहीं होती है। स्वभाव क्या है, विभाव क्या है, रत्नत्रय क्या है- यह सब समझना पड़ेगा।

सम्प्रदाय में संवत् 1976 के साल में एक प्रश्न हुआ था कि 'सामायिक' है, वह द्रव्य है, गुण है या पर्याय है? तो कहते थे हमारे गुरु ने ऐसा सिखाया नहीं है। गुरु के ऊपर दोष डाल दिया।

यहाँ कहते हैं कि गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं। जीवद्रव्य में ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि अनन्त गुण हैं। जैसे शक्कर में मीठापन, सफेदाई आदि है; वैसे ही आत्मा में ज्ञान, दर्शन, स्वच्छत्व, विभुत्व आदि अनन्त गुण हैं और उनकी अवस्था, वह उनकी पर्याय है। वस्तु के द्रव्य-गुण-पर्याय को पहिचाने बिना कितनी ही क्रिया करे; परन्तु उससे क्या लाभ होगा? अत: वस्तु के स्वरूप को

www.vitragvani.com

भलीभाँति समझना चाहिए। जैसे सोने मे पीलापन, चिकनापन, वजन आदि गुण हैं; वैसे ही आत्मा में चैतन्य, सुख, वीर्य इत्यादि गुण हैं और वस्तु की हालत को पर्याय कहते हैं।

जीव की पर्याय कौनसी? कि जीव की नर, नारक, तिर्यञ्च, देव आदि तथा राग-द्वेष, जानना-देखना आदि ये जीव की पर्यायें हैं। पर्याय को हालत, दशा और अवस्था भी कहते हैं। गुण वस्तु की त्रिकाली शक्ति है और पर्याय वस्तु की वर्तमान अवस्था है। ऐसे गुण और पर्याय के बिना वस्तु नहीं होती और वस्तु अर्थात् द्रव्य के बिना गुण और पर्याय नहीं होते। द्रव्य और गुण त्रिकाल रहते हैं और पर्याय एकसमय की होती है। द्रव्य-गुण और पर्याय एक-दूसरे के बिना नहीं होते हैं। अतः द्रव्य और गुणपर्यायों में अव्यतिरिक्त भाव है। जैसे सोना एक वस्तु है। उसमें पीलापन, चिकनापन आदि गुण और हार, कुंडल, कड़ा इत्यादि पर्यायें सोने से भिन्न नहीं है। उसीप्रकार जीव एक वस्तु है। उसमें त्रिकाली ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि गुण हैं और उसकी अवस्था में अपने स्वरूप का भान न होवे तो पुण्य-पाप व शरीरादि को अपना मानता है। यह जीव की विभावदशा-विभावपर्याय है और अपने स्वरूप का भान होवे तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि पर्याय प्रकट होती है, वह जीव की स्वभाव पर्याय है। वह गुण नहीं है, किन्तु पर्याय है।

जब पर्याय को गौण करके द्रव्य को मुख्य करके कथन किया जाता है, तब उसको द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। उसमें मुख्यरूप से द्रव्य का ज्ञान कराया जाता है, उस ज्ञान में द्रव्य का प्रयोजन मुख्य होता है। अरे! इसने कभी द्रव्य को समझने का प्रयत्न नहीं किया है, परिभ्रमण के भाव किये हैं।

मुमुक्षुः- आत्मा समझानेवाले गुरु नहीं मिले तो कहाँ से करे?

पूज्य गुरुदेवश्रीः- स्वयं ने समझने का प्रयत्न नहीं किया, इसलिए गुरु नहीं मिले ऐसा कहा जाता है। वैसे तो जीव अनन्तबार तीर्थंकर के पास जाकर आया है; परन्तु यदि स्वयं नहीं समझे तो दूसरा किसप्रकार समझा देगा? क्योंकि अपनी अवस्था का परिवर्तन तो स्वयं करे तो होता है, उसे गुरु नहीं कर सकते। गुरु के मिलने पर भी अपना उपयोग जहाँ तहाँ भटकता होवे तो तत्त्व हाथ में कैसे आयेगा? समझे बिना सुनते रहने से भी अपना हित नहीं होता है।

'नियमसार' में आता है कि जो सहज परम-पारिणामिक भाव से रहा हुआ है वह द्रव्य है। अनादि-अनन्त नित्य ध्रुववस्तु को परम पारिणामिक भाव कहा है और उसकी निर्मल अवस्था

www.vitragvani.com

वह पर्याय है, वह जीव का धर्म है। उसका तो पता नहीं हो और गर्म पानी पीना, उपवास करना, चोबिहार करना, कंदमूल न खाना इत्यादि को धर्म मान लेता है। बापू! तुझको धर्म के स्वरूप का पता ही नहीं है।

पारिणामिकभाव में स्थित अर्थात् द्रव्य में रहे हुए ज्ञानादि गुण वह वस्तु का स्वभाव है। ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य ये चार अनन्त चतुष्टय उस द्रव्य में रहे हुए स्वभाव अनन्त चतुष्टय गुण है। उन्हें एकरूप गिनो तो शुद्धज्ञान चेतना परिणाम वह जीव का गुण है। यह सब समझने के लिए 'आत्मधर्म' मँगाना चाहिये। एक भाई से पूछा था कि 'आत्मधर्म' मँगाते हो? तो उसने कहा कि नहीं, यह सब तो मुझको आता है। अरे भाई! विकल्प क्या, जड़ क्या, जीव क्या है। यह जाननहार (तत्व) कैसा है -यह सब समझने के लिए 'आत्मधर्म' है, उसका तुझको पता नहीं है।

त्रिकाल वस्तु वह सहज पारिणामिकभाव है और उसमें रहनेवाले गुण उसकी त्रिकाली शक्तियाँ हैं। द्रव्य-गुण ध्रुव है। द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुण के बिना द्रव्य नहीं होता है। त्रिकाली द्रव्यस्वभाव को मुख्य करना और पर्याय को गौण करना वह द्रव्यार्थिकनय है। त्रिकाली ज्ञायकभाव वह द्रव्य है, वह कारण परमात्मा है, वह कारण नियम है और उस कारण द्रव्य का आश्रय लेकर होने वाली निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अवस्था कार्य पर्याय है वह नियमसार है। वह पर्याय द्रव्य के बिना नहीं होती और द्रव्य गुण और पर्याय के बिना नहीं होता।

इतनी स्पष्ट बात होने पर भी (जीव) कहता है कि मुझे सूक्ष्म बात समझ में नहीं आती। अरे! संसार में तो डेड अक्ल होकर चक्रवर्ती ब्याज निकालते हो। यह तो संसार परिभ्रमण का भाव है। भगवान आत्मा का स्वभाव तो चारगति का अभाव करने का है। धर्म में प्रधान ऐसे सर्वज्ञदेव चारगति का अभाव करनेवाले चक्रवर्ती हैं। आत्मवस्तु तो त्रिकाल चार गति के अभाव करने के स्वभाववाली ही है; परन्तु उसकी अवस्था में धर्म अथवा अधर्मरूप भाव होते हैं। अवस्था और गुण के बिना वस्तु नहीं होती और वस्तु के बिना गुण-पर्याय नहीं होते।

गुणी के बिना गुण नहीं होते और गुण के बिना गुणी नहीं होता और वह अपनी वर्तमान दशा से सहित ही होता है। पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होती। मुख्यरूप से द्रव्य का ज्ञान किया जावे, तब पर्यायें गौण रखी जाती हैं। द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष है। सामान्य में भेद नहीं होते, विशेष में भेद होते हैं। वस्तु

www.vitragvani.com

सामान्य-विशेषस्वरूप है। यद्यपि पुद्गल भी वस्तु है; परन्तु यह 'जीवद्वार' है- इसकारण यहाँ पुद्गल की बात नहीं है, जीवद्रव्य का ही कथन है।

पुद्गल का छोटे से छोटा अणु, वह परमाणु है। वही पुद्गल द्रव्य है। उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि गुण हैं और ठंडी, गर्म इत्यादि उसकी पर्यायें हैं। वे पर्यायें और गुण परमाणु द्रव्य के बिना नहीं होती हैं और परमाणु द्रव्य बिना गुण-पर्याय के नहीं होता है। जो त्रिकाल एकरूप सदृश..सदृश रहे, वह सामान्य है और उसकी अवस्थायें बदलती हैं विसदृश होती हैं, इसलिए उसको विशेष कहते हैं।

यह वस्तुस्वरूप समझाकर कहने का प्रयोजन ऐसा है कि पर के कारण तेरी पर्याय होती है- ऐसा नहीं है और तेरे कारण पर की पर्याय होती है- ऐसा भी नहीं है।

कोई मनुष्य कहता है कि मुझे धर्म करना है तो उसमें इतनी बात सिद्ध होती है कि-

(1) उसकी दशा में धर्म नहीं है।

(2) उसकी दशा में अधर्म है।

(3) अधर्म का अभाव करके धर्मदशा प्रकट करना है,

इसलिए वह पर्याय है; क्योंकि मिटना और होना पर्याय का स्वरूप है। गुण में मिटना अथवा होनापना नहीं होता है। गुण तो कायम रहते हैं। उनमें उत्पाद-विनाश नहीं होता है।

जीव 'सामान्य' वह द्रव्य है और 'विशेष' वह उसकी दशा है। जीव का विशेष स्त्री-पुत्र-धनादिक नहीं है। इसलिए संयोग में स्त्री, पुत्र, धनादिक हों, वे तेरे कारण नहीं हैं, वे उनके अपने कारण से हैं। तू उनसे भिन्न वस्तु है और तेरा विशेष तेरे में होता है, पर में तेरा विशेष नहीं होता है।

यह भाषा तो बहुत सादी है। भाव भले ही कठिन है, पर भाषा सादी है।

श्रोता:- भाव तो बहुत कठिन है।

पूज्य गुरुदेवश्री:- इसने कभी समझपूर्वक सुना नहीं है, ऊपर-ऊपर से सुनता है। इसलिए भाव कठिन लगते हैं। इसको ऐसा लगता है कि अपना कुछ दया, दान, त्यागादि विशेष कार्य करें तो धर्म हो; परन्तु भाई! यह तेरा विशेष कार्य नहीं है। तेरी दशा में विशेषता लाना -यह तेरा विशेष कार्य है।

www.vitragvani.com

द्रव्य और पर्याय में अन्तर यह है कि द्रव्य त्रिकाल एकरूप रहता है और पर्याय हमेशा पलटती रहती है। इसलिए द्रव्य सामान्य है और पर्याय विशेष है। द्रव्य सदृश रहता है इसलिए कोई पर्याय सदृश रहे ऐसा नहीं है और पर्याय बदलती है, इसलिए द्रव्य भी बदलता है ऐसा नहीं है। द्रव्य का विशेष, यह उसकी दशा है और दशा का सामान्य यह उसका द्रव्य है। अन्य कोई द्रव्य उसका सामान्य नहीं है। पण्डित बुद्धिलालजी ने अच्छा स्पष्टीकरण किया है। द्रव्य और पर्याय में अन्तर है। जीवद्रव्य सामान्य है और उसकी विशेष अवस्था में फेर है। दोनों का स्वरूप एक नहीं है। दोनों मे सामान्य-विशेष का अन्तर पड़ता है।

अब कहते हैं कि समझने के लिए नय से पहले सब समझना; परन्तु उसी के विकल्पों में रहने से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है। जीव का स्वरूप निश्चयनय से ध्रुवद्रव्य सामान्य है और व्यवहारनय से पर्यायरूप और भेदरूप है। नयों के शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय, सद्भूत व्यवहारनय, असद्भूत व्यवहारनय इत्यादि बहुत भेदों से वस्तुस्वरूप का विचार होता है; परन्तु उनके विकल्प चित्त में तरंग पैदा करते हैं। विकल्पों में रुकने से आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है।

द्रव्यार्थिकनय से वस्तु नित्य है, पर्यायार्थिकनय से अनित्य है, भेदरूप है। यह सब जैसा है, वैसा बराबर समझना; परन्तु इसके विकल्पों के राग में रुकने से तो आत्मा की प्राप्ति नहीं होती है। व्यवहाररत्नत्रय से तो आत्मा की प्राप्ति नहीं होती; परन्तु नय के ऐसे विकल्पों से भी आत्मा प्राप्त नहीं होता है।

शुद्ध निश्चयनय से देखो तो आत्मा त्रिकाल ज्ञायक एक भाव है और अशुद्धनय से देखो तो विकार आत्मा में होता है। अपने में होता है, इसलिए निश्चय है; परन्तु विकार है, इसलिए उस नय को अशुद्ध निश्चयनय कहा है। गुण और गुणी का भेद डालना, वह सद्भूत व्यवहार है। जैसे कि 'आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि गुण हैं।' गुणों का भेद डालकर वस्तु का कथन करना सद्भूत व्यवहार है और 'आत्मा में पुण्य-पाप रागादि हैं' -यह असद्भूत व्यवहार का कथन है। प्रथम भूमिका में इस जाति के विकल्प आते हैं; परन्तु ये विकल्प मन में अनेक तरंगें पैदा करते हैं, इसकारण मन को विश्राम नहीं मिलता है। इसीलिए कहा है कि नय के कल्लौल अनुभव में बाधक हैं। विकल्प के आश्रय से आत्मा का अनुभव नहीं होता है।

जहाँतक, वस्तु पूर्ण है...पर्याय में अशुद्धि है..इत्यादि विकल्प रहते हैं, वहाँतक वस्तु की प्राप्ति नहीं होती है। विकल्पों में डाँवाडोल चलता है। वहाँ तक चित्त को विश्राम नहीं मिलता

www.vitragvani.com

है। प्रथम ऐसा जाने कि त्रिकाल नित्यानंद शुद्ध प्रभु शुद्ध निश्चय का विषय है और पर्याय अशुद्ध निश्चयनय का विषय है ऐसा प्रथम जाने; परन्तु ऐसे भेद जानने में ही रुक जाए तो सम्यग्दर्शन नहीं होता है। वस्तु स्वयं पूर्णानन्द की मूर्ति है, उस तरफ झुकाव होने पर विकल्पों का आश्रय नहीं रहता और स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन हो जाता है।

देखो, ज्ञान के अंशों के भेद में रुकने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता, तो बाहर के दया, दान, व्रत, भक्ति से धर्म हो यह कैसे संभव है? यह तो अत्यन्त विपरीत बात है। भाई! वीतराग का मार्ग कोई अलग ही है। इस मार्ग को तूने सुना नहीं और खोटे मार्ग को सच्चा मार्ग मानकर चला है। भाई! तुझे पता नहीं है, तू भ्रम में खड़ा है।

'अनुभव चिंतामणि रतन, अनुभव है रसकूप ।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्ष स्वरूप ।।'

शुद्ध चैतन्यमूर्ति भगवान का अन्तर्मुख होकर अनुभव करना है, वहाँ नय के विकल्पों में रुकना बाधक है। नयों के विकल्प अनुभव में विघ्नकारक है।

सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा का वास्तविक स्वरूप कैसा कहा है यह जानने के लिए प्रथम भूमिका में नय के विचार होते हैं और वह स्वभाव-विभाव को भिन्न पहिचानने में सहायक भी है; परन्तु उन्हीं के विचारों में रुका रहे तो अभेद वस्तु का अनुभव नहीं होता। अतः नय के कल्लोलों को बाधक कहा है। जैसे बाजार में मिठाई लेने जाते हैं तो पहले भाव पूछते हैं, तोल वगैरह बराबर है या नहीं -यह देखते हैं इत्यादि सब होता है; परन्तु जब मिठाई खाने बैठते हैं, तब ये कोई विचार नहीं करते, मिठाई का ही स्वाद लेते हैं।

भगवान! तेरी महिमा का पार नहीं है, परन्तु तुझको उसकी सुध नहीं पड़ती है।

मिठाई लेने जाए वहाँ सीधा खाने लगे तो व्यापारी खाने देगा? पहले भाव तो पूछ और कितनी लेनी है, यह कह तो थोड़ासा दूँ फिर खा-ऐसा कहेगा। उसीप्रकार पहले सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित वस्तुस्वरूप ज्ञान में ले और समझे कि जो अज्ञानी कहते हैं वह स्वरूप मिथ्या है। वीतराग सर्वज्ञदेव कहते हैं, वही स्वरूप सत्य है ऐसा पहले विचारसहित निर्णय करे; फिर अनुभव हो, उसमें वस्तु का स्वाद आवे, तब विकल्प नहीं रहते।

स्वानुभूति में नय और निक्षेप नहीं होते। 'उदयति नयश्री' नय अर्थात् वस्तु के एक-एक धर्म को बतानेवाला ज्ञान का अंश, प्रमाण अर्थात् सम्पूर्ण वस्तु को बतानेवाला ज्ञान और निक्षेप

www.vitragvani.com

अर्थात् जानने योग्य चीज कि जो नामरूप, स्थापनारूप, द्रव्यरूप और भावरूप है। इन तीनों (प्रमाण-नय-निक्षेप) से पहले ज्ञान में वस्तु का स्वरूप जानना चाहिए।

जैसे अंधकार में भी गुड़ खाये तो मीठा ही लगता है, परन्तु अँधेरे में गुड़ की जगह गोबर आ जाये तो मीठा कैसे लगेगा ? उसीप्रकार पहले वीतराग द्वारा कथित तत्व जैसा है, वैसा बराबर समझा होगा तो अनुभव में भी ऐसा ही आयेगा; परन्तु पहले समझने में ही भूल होगी तो वस्तु का अनुभव नहीं होगा। इसलिए सर्वप्रथम भगवान द्वारा कथित द्रव्य-गुण-पर्याय और अज्ञानी द्वारा कथित द्रव्य-गुण-पर्याय तथा धर्म के स्वरूप में क्या अन्तर है -यह समझकर यथार्थस्वरूप को ग्रहण करना चाहिए। कारण कि आत्मा की बातें तो एक नास्तिक के अलावा सभी करते हैं; परन्तु सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कहे गये अनन्त जीव और उसका वास्तविक स्वरूप अन्यत्र कहीं नहीं है। उस स्वरूप को यथार्थरूप से समझकर हमेशा उसके विचार और चिन्तवन में लगे रहना चाहिए।

जो 'मुझे तो यह निश्चय-व्यवहार आदि सब आता है' -ऐसा मानता है उसको ज्ञान का अजीर्ण हो गया है। 'आता है' तो तब कहलाये कि जब अखण्ड निर्विकल्प आत्मा का ज्ञान हो।

अरे ! जीव अनादिकाल से निजनिधान के भान बिना दु:खी हो रहा है। सर्वज्ञ कथित वस्तु के भान बिना सम्प्रदाय के बाड़े में रहनेवाले भी प्यासे ही चले जाते हैं। सरोवर किनारे हिरण प्यासे रे लाल...जैन के बाड़े में रहने पर भी प्यासे चले जाते हैं। दौड़े, हाँफे चमकीले जल के काज...विकल्प की जाल यह चमकीली रेत में पानी मानने जैसा है। भाई ! उससे प्यास नहीं बुझेगी। इसलिए प्रथम नय-निक्षेप और प्रमाण से द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप समझकर आत्मा के अन्दर जाना-अनुभव करना।

आहा..हा ! जब आत्मा की धुन लगे, तब झुकाव बारम्बार आत्मा की तरफ ही रहा करता है। अन्तर में आत्मा की ऐसी धुन लगे, तब आत्मा का अनुभव और सम्यग्दर्शन होता है। ऐसी बात है बापू !

इस प्रकार यह जीवद्वार पूर्ण हुआ।

2

अजीवद्वार

अजीव अधिकार वर्णन करने की प्रतिज्ञा

जीव तत्त्व अधिकार यह, कह्यौ प्रगट समुझाय।
अब अधिकार अजीवकौ, सुनहु चतुर चित्त लाय।।1।।

अर्थः- यह पहिला अधिकार जीवतत्त्व का समझाकर कहा, अब अजीवतत्त्व का अधिकार कहते हैं, हे विद्वानो! उसे मन लगाकर सुनो ।।1।।

काव्य - 1 पर प्रवचन

अब अजीव अधिकार के वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं-

बनारसीदासजी कहते हैं कि जीव का अधिकार प्रकट समझाकर कहा। अब अजीव तत्त्व का अधिकार कहते हैं। उसको हे विद्वानो! अर्थात् चतुर पुरुषो! मन लगाकर सुनो।

मंगलाचरण-भेदविज्ञान द्वारा प्राप्त पूर्णज्ञान की वंदना

परम प्रतीति उपजाय गनधरकीसी,
अंतर अनादिकी विभावता विदारी है।
भेदग्यान दृष्टिसौं विवेककी सकति साधि,
चेतन अचेतनकी दसा निरवारी है ।।
करमकौ नासकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिएमैं हरखि निज उद्धता सँभारी है।
अंतराय नास भयौ सुद्ध परकास थयौ,
ग्यान कौ विलास ताकौं वंदना हमारी है ।।2।।

अर्थः- गणधर स्वामी जैसा दृढ़ श्रद्धान उत्पन्न करके, अनादि काल से लगे हुए अन्तरंग का मिथ्यात्व नष्ट किया और भेदज्ञान की दृष्टि से ज्ञान की शक्ति सिद्ध करके जीव-अजीव का निर्णय किया, पश्चात् अनुभव का अभ्यास करके कर्मों को नष्ट किया तथा हृदय में हर्षित

www.vitragvani.com

होकर अपनी उत्कृष्टता को सम्हाला, जिससे अंतरायकर्म नष्ट हुआ और शुद्ध आत्मा का प्रकाश अर्थात् पूर्णज्ञान का आनंद प्रगट हुआ। उसको मेरा नमस्कार है।।2।।

काव्य - 2 पर प्रवचन

अब मंगलाचरण में भेद विज्ञान द्वारा प्राप्त पूर्ण ज्ञान को वंदन करते हैं-

'**परम प्रतीति उपजाय गणधर कीसी**' -अनन्त गुणधाम-अनन्तगुण विश्राम आत्मा के सन्मुख होकर और विकल्प से विमुख होकर जिसने सम्यक्त्व प्राप्त किया है वह भी कैसा है? कि गणधर जैसा अगाढ़ सम्यक्त्व, कि जिसमें अजीव से भिन्न जीवस्वभाव के सन्मुख होकर परम प्रतीति-दृढ़ श्रद्धान किया है। भगवान कहते हैं, इसलिए आत्मा ऐसा है -ऐसी प्रतीति नहीं, परन्तु स्वसंवेदन से आत्मा के अनुभवपूर्वक प्रतीति उत्पन्न हुई और अनादिकाल से लगा हुआ अन्तर का मिथ्यात्व नष्ट किया है। '**अंतर अनादि की विभावता विदारी है**' में मिथ्यात्व को विभाव कहा है। श्रीमद् में भी आता है न-

'कोटि वर्ष का स्वप्न भी, जाग्रत होत समाय ।
त्यौं विभाव अनादि का, ज्ञान होत दूर थाय ।।'

इस पद में भी मिथ्यात्व के अर्थ में विभाव शब्द का प्रयोग किया है। अनादि से पर और पुण्य-पापभाव मेरे हैं और वे मुझे लाभदायक हैं ऐसा जो मिथ्यात्वभाव था; उसको अन्तर आत्मदृष्टि द्वारा विदार दिया है, व्यय किया है और सम्यक् श्रद्धा उत्पन्न की है। ध्रुव तो त्रिकाली ज्ञायकभाव है। जिसको निरंतर उसका आश्रय वर्तता है, उसको समकिती, ज्ञानी अथवा धर्मी कहते हैं।

तीर्थंकर के वजीर ऐसे गणधर जैसी दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न करके, अनादिकाल से लगा हुआ मोह-अन्तरंग मिथ्यात्व नष्ट किया है और भेदज्ञान की शक्ति को सिद्ध करके जीव-अजीव का निर्णय किया है। अतीन्द्रिय आनन्दस्वभाव वह जीव और पुण्य-पापभाव वह अजीव तत्व है। इन दोनों को भिन्न पाड़कर, गणधर जैसी परम प्रतीति उपजाकर '**अन्तर अनादि की विभावना विदारी है**' -अनादि का जो मोह, उससे स्वयं भिन्न पड़कर स्वरूप का अनुभव करता है। अनादि से विभाव में एकता बुद्धि थी, वह तोड़ दी-नष्ट कर दी है।

देखो, यही करने का है। अजीव से अपने जीव को भिन्न प्रतीति में लेकर अनादि का मोह नष्ट करना है; क्योंकि अपना स्वभाव सुखरूप है और अजीव, ऐसे जो पुण्य-पाप भाव वे

www.vitragvani.com

दु:खरूप हैं, आकुलता है; इसलिए उनसे भेदज्ञान करने योग्य है। मैं तो आनन्द और ज्ञानस्वरूप हूँ। यह बात कोई अलौकिक और अपूर्व है। निज स्वभाव की दृष्टिपूर्वक अजीवरूप पर और राग से भिन्न अपने को भिन्न पाड़कर **'भेदज्ञान दृष्टि सौं विवेक की सकति साधि'** -चैतन्य का अनुभव करना। इस अनुभव का बारम्बार अभ्यास करने से कर्मों का नाश होता है। अज्ञानपूर्वक उपवास आदि के कष्ट करने से कर्मों का नाश नहीं होता है।

अन्तर में चैतन्य के दलरूप भगवान आत्मा विद्यमान है; परन्तु इसको अपना पूर्ण स्वरूप विश्वास में नहीं आता है। अनादि से राग-द्वेष-मोह और अल्पज्ञपने के जोर में इसकी दृष्टि पूर्णस्वरूप भगवान आत्मा पर नहीं जाती।

'हिए मैं हरखि निज उद्धता सँभारी हैं, उद्धता अर्थात् उत्कृष्ट, सर्वोत्कृष्ट जो ज्ञानानन्द स्वभाव, उसका अनुभव करके, हृदय में हर्षित होकर अपनी उत्कृष्टता सँभाली, जिससे अन्तरायरूप कर्म नाश हुआ और शुद्धात्मा का प्रकाश अर्थात् पूर्ण ज्ञान और आनन्द प्रगट हुआ है। जो स्वरूप की प्राप्ति में विघ्नरूप था -ऐसा राग नष्ट होने पर शुद्धज्ञान का प्रकाश हुआ। जगमग ज्योतिस्वरूप चैतन्य भगवान जागृत हुआ। जहाँ आनन्द सहित ज्ञान की शुद्धता प्रकट हुई। ऐसे ज्ञान को मेरा नमस्कार हो। जो अपनी ज्ञान की ऋद्धि और स्मृद्धि से उछला और दशा में पूर्ण ज्ञानानन्द प्रकट हुआ, उस ज्ञान के विकास को मेरा वंदन है।

अज्ञानी को प्रौषध और प्रतिक्रमण करना सरल लगता है; परन्तु यह बात समझना कठिन हो गई है। प्रतिक्रमण माने विभाव से पराङ्मुख होकर स्वभाव में ठहरना; परन्तु अभी स्वयं जागृत हुए बिना विभाव से वापिस कैसे मुड़े? वस्तुत: प्रकटरूप परमात्मा और शक्तिरूप निजात्मा में कोई अन्तर नहीं है। यह बात सर्वप्रथम समझने योग्य है।

यह तो अजीव अधिकार है न..! पुण्य-पाप के अजीवभाव से भिन्न पड़कर स्वभाव की शरण लेता है वहाँ अन्दर से ज्ञान का विलास प्रकट होता है। जहाँ तक यह अजीवरूप पुण्य-पाप के विलास में था, वहाँ तक इसको दु:ख का वेदन होता था। उनसे भिन्न पड़कर जैसा स्वयं है, वैसा अनुभव करने पर आनन्दित होकर आनन्द का अनुभव करता है। कोई ऐसा कहता है कि बहुत उपवासादि कष्ट सहन करे, पानी की बूँद भी नहीं पिये, धूप में बैठे; उसको अधिक धर्म होता है; परन्तु ऐसा नहीं होता है। कष्ट सहने में आकुलता है, उससे धर्म और आनन्द कैसे हो सकता है? धर्म तो आनन्दपूर्वक होता है, उसमें दु:ख नहीं होता है। अजीव-रागादि से भिन्न

www.vitragvani.com

पड़कर आत्मा का अनुभव करते-करते राग का अत्यन्त अभाव होकर अकेली चैतन्यज्योति जागृत हो जाती है, उसको पूर्ण ज्ञानानन्दरूप धर्म प्रकट हुआ -ऐसे पूर्ण ज्ञानी परमात्मा को मैं वंदन करता हूँ- आदर करता हूँ।

श्रीगुरु की पारमार्थिक शिक्षा

भैया जगवासी तू उदासी व्है कैं जगतसौं,
एक छ महीना उपदेस मेरौ मानु रे।
और संकलप विकलपके विकार तजि,
बैठिकैं एकंत मन एक ठौरु आनु रे।।
तेरौ घट सर तामैं तूही है कमल ताकौ,
तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे।
प्रापति न व्है है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही व्है है प्रापति सरूप यौंही जानु रे ।।3।।

अर्थः- हे भाई संसारी जीव! तू संसार से विरक्त होकर एक छह महिने के लिये मेरी सीख मान, और एकान्त स्थान में बैठकर राग-द्वेष की तरंगें छोड़ के चित्त को एकाग्र कर, तेरे हृदयरूप सरोवर में तू ही कमल बन और तू ही भौंरा बनकर अपनी स्वभाव की सुगंध ले। जो तू यह सोचे कि इससे कुछ नहीं मिलेगा, सो नियम से स्वरूप की प्राप्ति होगी; आत्मसिद्धि का यही उपाय है ।।3।।

विशेष- यह पिंडस्थ ध्यान है। अपने चित्तरूप सरोवर में सहस्त्र दल का कमल कल्पित करके प्राणायाम किया जाता है जिससे ध्यान स्थिर होता और ज्ञानगुण प्रगट होता है ।।3।।

काव्य - 3 पर प्रवचन

अब इस दूसरे कलश में (तीसरे काव्य में) श्रीगुरु पारमार्थिक शिक्षा देते हैं-

'भैया!' -ऐसा सम्बोधन करके बनारसीदासजी लिखते हैं कि जगवासी अर्थात् राग और संसार में रहा हुआ है उससे उदास होकर एक छह माह मेरा उपदेश मान! छह माह अन्तर में घर्षण कर! जैसे बादाम का तेल निकालना हो तो उसको एक धारा लसोटना (घिसना) चाहिए। दो-चार बार घिसकर अन्य कार्य करने लग जाये तो ऐसे तेल नहीं निकलता। उसीप्रकार आत्मा की अनुभूति करना हो तो एकबार छह माह तक आत्मा के लक्ष्य को घिस। वैसे तो सम्यग्दर्शन

www.vitragvani.com

अन्तर्मुहूर्त में भी हो जाता है और न होवे तो अनन्तकाल बीतने पर भी नहीं होता; परन्तु यहाँ तो मध्यम बात करके इसको धैर्य दिलाया है। इसे कठोर न लगे इसप्रकार बात की है। यह अलग-अलग आठ प्रकार से कोई अध्यवसान में आत्मा मानता है, कोई राग में आत्मा मानता है इत्यादि प्रकार से आत्मा के स्वरूप की मिथ्याकल्पना करता है- इस बात की गाथा के बाद का यह श्लोक है।

एक आत्मा का अनुभव कर! इसके सिवाय समस्त संकल्प-विकल्पों को छोड़ दे। मैं दूसरों को समझा दूँ, दुनिया के काम कर दूँ- ऐसे समस्त संकल्प-विकल्प छोड़ दे। जो विकल्प है वहीं संसार है, उन्हें तो छोड़े नहीं और स्त्री-पुत्रादिक को छोड़े, उससे कोई संसार नहीं छूटता। जिसको पंचमहाव्रत के परिणामों के साथ एकताबुद्धि है, वह पक्का संसारी है। प्रवचनसार में कहा है कि जिसको आस्रव और अजीव में एकत्व है, वह पक्का संसारी है। आस्रव माने पुण्य-पाप के विकल्प और अजीव माने इस शरीर में जिसको एकताबुद्धि है, वह स्त्री-पुत्रादिक को छोड़ आया होवे तो भी संसारी है।

देखो तो सही! कितनी सुख-सुविधायें छोड़कर आया है, गर्म-गर्म भोजन करता, अनेकप्रकार की अनुकूलता मिलती, वह सब त्यागकर आया तो भी संसारी? हाँ! वह संसारी ही है; क्योंकि वह स्वयं जिसको छोड़कर आया -ऐसा मानता है, वे सब तो अपने से छूटे हुए भिन्न ही थे; यह तो मात्र अभिमान करता है कि 'मैंने छोड़ा।' इसको उनमें जो एकत्वबुद्धि है, वह संसार है। राग के उदय भाव की एकता वह संसार है। मैं उससे पृथक् हूँ भाषा में ऐसा कहना सरल है; परन्तु अन्दर से विरक्त होने में बहुत पुरुषार्थ चाहिए।

संकल्प-विकल्प विकार को तजकर, एकान्त में बैठकर मन को एक आत्मा की ओर ला! एक आत्मा ही आनन्दस्वरूप है उसमें मन को जोड़! रमेशभाई ने (भजन में) लिखा है न!

मनरूप हिरण को वापिस मोड़ना रे लाल...
इसे जोड़ दो आतम सरोवर में आज;
तुझे मिलेगा आतमसुख अनमोल रे लाल...।

व्याख्यान में आई हुयी बात भजन में उतार दी है। देशी रास के राग में जोड़ दिया है, अत: गाना भी सरल पड़ता है।

संकल्प-विकल्प से लेकर सम्पूर्ण दुनिया तुझसे भिन्न है और तू उससे भिन्न है। तू तो आनन्द-सरोवर है। **'तेरो घट सर तामैं तू ही है कमल ताकौ तूही मधुकर व्है सुवास**

www.vitragvani.com

पहिचानु रे।' तू स्वयं चैतन्य सरोवर है। उसमें तू ही कमल है और तू ही भंवरा होकर उसकी सुगन्ध ले। अनादि से तूने संकल्प-विकल्परूप जहरीले भावों की सुगन्ध ली है, उसको छोड़कर अब चैतन्य-कमल की सुगन्ध ले और उसी में लीन हो जा! तू तो आनन्द का नंदनवन है ऐसे स्वभाव की सुगन्ध ले। (आत्मा) शुद्ध ज्ञानघन सरोवर है, उसमें एकाकार होना; वह कमल है, उसकी सुगन्ध लेना सो धर्म है। जो चैतन्य-सरोवर को छोड़कर पुण्य-पाप के मृगजल में पानी पीने दौड़ता है, उसको सच्चे ज्ञान का पानी नहीं मिलेगा।

अरे! यह पुण्य-पाप के संकल्प-विकल्प के आड़ में अपने भगवान को देखने के लिए निवृत्त ही नहीं होता। उससे कहते हैं..

मनरूपी हिरण को वापिस मोड़ना रे लाल...जोड़ दो आतम सरोवर में आज, इसे मिलेगा आतमसुख अनमोल रे लाल..।

भगवान! तू तो अतीन्द्रिय आनन्द से भरा हुआ सरोवर है, उसमें से पानी पी और पुण्य-पाप के विकल्परूप मृगजल के लिए दौड़ना बंद कर; क्योंकि उनमें तुझे आत्मा की शान्तिरूप जल नहीं मिलेगा।

देखो, यह बोर्डिंग आदि के पैसे उगाहने के विकल्प मृगजल है- ऐसा कहा है। यदि इस मनुष्यभव में अपनी वस्तु को समझने का प्रयत्न नहीं किया तो सब धूल-धाणी (व्यर्थ) है।

'**तेरो घट सर..**' अहा..! बाल-गोपाल सबके शरीर के भीतर अमृत सरोवर है। यह जो शरीर दिखता है, वह तो मृतक कलेवर है; भगवान आत्मा इसमें मूर्छित होने से दु:खी है। स्वयं अमृतस्वरूप होने पर भी मृतक (शरीर) में मूर्छित होने से दु:ख का वेदन है। भाई! तू ही सरोवर है और तू ही कमल है। इस कमल के खिलने में कारण भी तू ही है। तू ही इस कमल की सुगन्ध ले, वह तुझे सुख का कारण है। तूने पुण्य-पाप के विकल्प की वासना तो अनन्तबार की है, वह कोई नई नहीं है।

अब कहते हैं कि-'**भैया जगवासी तू उदासी व्हैं कै जगत सौं, एक छः महीना उपदेश मेरो मान रे**' -तूने अनन्तकाल में बहुत होली की है। अब एक छह महीना मेरा उपदेश मानकर सच्ची दीवाली कर।

'**प्रापति न व्हैं है कछु ऐसौ तू विचारतु है**' -तू ऐसा विचारना छोड़ दे कि यह

www.vitragvani.com

आत्मवस्तु मुझे प्राप्त नहीं होगी। क्या तेरी वस्तु तेरे से भिन्न रहे? तू सावधान होकर अन्दर में जायेगा तो अवश्य तेरी वस्तु तुझे मिल जायेगी। शुभ-अशुभभाव में तेरी प्राप्ति नहीं है। उनसे रहित स्वभाव में तेरी प्राप्ति है। इसलिए शुभाशुभभाव के बिना (मुझे) मेरी प्राप्ति कैसे हो यह मानना छोड़ दे। तू उनसे रहित ही है।

लोगों को ऐसा लगता है कि यह किस प्रकार का धर्म है। पैसा खर्च करो..दान करो.. व्रत पालो..कॉलेज बनाओ..दवाखाना बनाओ..चंदा करो तो धर्म का लाभ हो- ऐसा वे मानते हैं; परन्तु भाई! धर्म का स्वरूप ऐसा नहीं है। आत्मा का धर्म आत्मा में होता है। राग से आत्मा को धर्म अथवा सुख नहीं होता है।

बहुत थोड़े शब्दों में गंभीर भाव भरे हैं। भगवान आत्मा अन्दर में सत् चिदानन्द स्वरूप शाश्वत वस्तु है...उसमें आनन्द और शान्ति आदि की शक्ति पड़ी है वह कैसे प्राप्त नहीं हो? जरूर प्राप्त होती ही है। इसलिए प्राप्त नहीं होती ऐसा विचार मत कर, स्वरूप की प्राप्ति नियम से होगी ही ।

'मैं मुझे प्राप्त होऊँगा या नहीं' ऐसा तुझको क्या हुआ है भाई! ऐसी शंका मत कर! 'मैं नहीं' ऐसा कहता है, वह किसके अस्तित्व में खड़ा रहकर कहता है? 'मैं नहीं' ऐसा निर्णय (ज्ञान) करनेवाला ही तू है। चैतन्य की भूमि ही तू है और तुझको तेरी प्राप्ति भी तेरे से ही होती है। उसकी कला तो सहज है, परन्तु तूने उस कला को सुना नहीं है और कदाचित् सुना हो तो भी लक्ष्य में नहीं लिया है। साधु हुआ, बाबा हुआ, फकीर हुआ, मरण तुल्य कष्ट सहन किये, सूख गया। नंगे पैर चले, लौंच करे, प्यासा रहे; परन्तु भाई! यह वस्तु ही अलग है, उसका भान नहीं किया। यह तेरी वस्तु तो सहज आनन्द की मूर्ति है।

अपना सहज स्वभाव आनन्दमय है, वह दु:खरूप नहीं है, अजीवरूप नहीं है, विकल्परूप नहीं है। इसलिये तू उसको अजीव से भिन्न जानकर आनंदसरोवर में खिले हुए कमल की सुगन्ध भँवरा होकर ले। स्वभाव में ध्रुव आनन्द विद्यमान है, उसकी सुवास ले। जिसकी बाहर में बहुत इज्जत हो उसकी सुवास (ख्याति) अच्छी है ऐसा कहा जाता है; परन्तु वह सुवास नहीं है। पागल जैसे संसार की रुचिवाले मनुष्य तेरी महिमा करे और अभिनंदन दे, उसमें तेरी सुवास नहीं है। भाई! तेरी सुवास और अच्छापना कोई अलग ही है।

यहाँ तो यह कहना चाहते हैं कि पुण्य-पाप भाव में सुख नहीं है; क्योंकि वे अजीवभाव हैं; वे जागती चैतन्यज्योति के भाव नहीं हैं। जैसे शरीर भिन्न है; उसीप्रकार वे भाव भी, उनमें चैतन्य

www.vitragvani.com

की जागृति नहीं होने से, तेरे स्वरूप से भिन्न है। शरीर और विकल्प से भिन्न चैतन्यस्वरूप की दृष्टि हो और स्वरूप प्राप्त न हो ऐसा नहीं होता। स्वरूप प्राप्त होता ही है। इसलिए प्राप्त होगा या नहीं -यह शंका छोड़ देना।

'सही व्हैं है प्रापति सरूप यौही जानु रे' -नियम से स्वरूप की प्राप्ति होगी ही यह विश्वास रखना। यही आत्मसिद्धि का उपाय है। तूने अनादि से दया, दान, व्रत, भक्ति को आत्मसिद्धि का उपाय माना है, वह उपाय नहीं है।

यह पिण्डस्थ ध्यान की बात है। पिण्ड अर्थात् शरीर, उसमें रहनेवाले आत्मा का ध्यान करना मुक्ति का उपाय है। जो थोड़े से गुणगान होने पर वहाँ प्रसन्न होकर अच्छापना मानकर फूल जाता है, उसको यह बात कैसे जँचेगी ? पाँच-पच्चीस हजार रुपये हों और खर्च करे तथा मृत्यु के समय बिना किसी से सेवा कराये मर जाए तो लोग बखान (महिमा) करते हैं कि इसने तो जीना भी जाना और मरना भी जाना। भाई ! यह जीवन नहीं है। जीवन जीना उसको कहा जाता है कि जिसने आत्मा के चैतन्य आनन्द से जीवन जिया हो; वस्तुतः उसी का जीवन सफल है। पुत्र हो, धन हो, मकान हो, प्रतिष्ठा हो इसमें जीवन की सफलता नहीं है, इसमें तो आकुलता है।

अहो ! चैतन्य भगवान एक वस्तु है, इसलिए उसमें अनन्त-अनन्त गुण अथवा शक्तियाँ हैं। समयसार में 47 शक्तियाँ कही हैं। आत्मा ऐसी-ऐसी अनन्त शक्तियों का सरोवर है। उसकी दृष्टिरूप कमल खिलने पर जो शुद्धता की सुवास प्रकट होती है उसका स्वाद तू ले।

पहले भगवान आत्मा को जगा। भगवान को जगाये बिना कितनी भी क्रिया कर वे खोटी हैं। यहाँ पाठ में भगवान को जगाने के लिए छह महीना कहा है, वह सामान्य कथन है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। 48 मिनिट में सम्यक्त्व हो जाता है और देरी लगे तो अनन्तकाल में भी होता है; परन्तु शिष्य को मार्ग में लगाने की दृष्टि से जघन्य और उत्कृष्ट काल न बताकर छह महीने के लिए प्रेरणा की है। छह महीने एकान्त स्थान में बैठकर राग-द्वेष की तरंगें छोड़कर चित्त को एकाग्र कर। यथार्थ पुरुषार्थ करेगा तो आत्मा अवश्य प्राप्त होगा। जैसी लगन संसार में लगायी है, वैसी आत्मा में लगन लगा। आत्मा की ही धुन..धुन., आनन्दस्वरूप के शोध की धुन लगा। अविरलधारा से ऐसी धुन छह महीने रहेगी तो तुझको आत्मा का भान हुए बिना नहीं रहेगा।

छह माह का समय सामान्य रीति से कहा है। वैसे तो अन्तर्मुहूर्त में कार्य हो जाता है। राग

www.vitragvani.com

और पुण्य पर दृष्टि है, उसको छोड़कर अर्न्तदृष्टि करने पर समयांतर में -एक समय में आत्मा का भान हो जाता है; परन्तु उसकी गतिविधि की रीति आनी चाहिए।

पिण्डस्थध्यान संस्थानविचय ध्यान का भेद है। पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत इसप्रकार चार प्रकार का संस्थान विचय ध्यान होता है। शरीर में स्थित आत्मा का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान, पाँचपद में स्थित पंचपरमेष्ठी का ध्यान पदस्थ ध्यान, रूपी शरीर में स्थित अरूपी आत्मा का ध्यान रूपस्थ ध्यान और शरीररहित आत्मा का ध्यान करना रूपातीत ध्यान कहलाता है।

आगे तीसरे कलश के चौथे पद्य में जीव-अजीव का लक्षण कहते हैं-

जीव और पुद्गल का लक्षण

चेतनवंत अनंत गुन, सहित सु आतमराम।
याते अनमिल और सब, पुद्गल के परिनाम ।।4।।

अर्थ:- जीव द्रव्य, चैतन्यमूर्ति और अनंतगुणसम्पन्न है, इससे भिन्न और सब पुद्गल की परिणति है।

भावार्थ:- चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि आत्मा के अनंत गुण हैं और आत्मगुणों के सिवाय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण वा शब्द, प्रकाश, धूप, चांदनी, छाया, अंधकार, शरीर, भाषा, मन, श्वासोच्छ्वास तथा काम, क्रोध, लोभ, माया आदि जो कुछ इन्द्रिय और मन गोचर हैं वे सब पौद्गलिक हैं ।।4।।

काव्य - 4 पर प्रवचन

जीवद्रव्य चैतन्यमूर्ति है, अनन्तगुण सम्पन्न है। इससे भिन्न-अनमेल अन्य समस्त पुद्गल की परिणति है। शरीर, वाणी और मन तो जीव से अनमेल पुद्गल के ही भाव हैं; परन्तु ज्ञाता स्वभाव के सामने तो दया, दानादि के परिणाम भी अनमेल भाव हैं। इस कारण यहाँ तो शुभाशुभ समस्त भावों को पुद्गल के परिणाम कह दिया है। ज्ञान की ज्योतिरूप वस्तु ही आत्मा है। इसके सिवाय व्रत-अव्रत के विकल्प उत्पन्न हो या शुभाशुभराग हो, वह पुद्गल का परिणाम है, तेरा परिणाम नहीं।

जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है, वह भाव पुद्गल का परिणाम है- ऐसा कहते हैं। सोलहकारण भावना का विकल्प राग है और राग है, वह पुद्गल है; क्योंकि राग से पुद्गल बँधता है और पुद्गल से प्राप्त संयोग भी पुद्गल है। उसमें कहीं चैतन्य की गंध नहीं है। आत्मा के समीप जाकर आनन्द और शान्ति का वेदन करे तो उपवास कहलाता है, अन्य

www.vitragvani.com

तो सब अपवास है। कदाचित राग की मन्दता के साथ हो तो भी पुण्यभाव है, शुभभाव है। वह आत्मा का स्ववशपना नहीं है, परवशपना है। अत: वह उपवास नहीं है, माठो वास है।

सम्प्रदाय में दीक्षा लेने के पहले शोभायात्रा निकालते हैं; परन्तु भाई! अभी तो दीक्षा क्या है इसका ही तुझको पता नहीं है। प्रत्येक प्रकार के पुण्य-पाप के विकल्प से आत्मा को भिन्न करके स्वरूप में स्थिरता, वह प्रथम सम्यग्दर्शन धर्म है। तत्पश्चात् स्वरूप के आनन्द में रमना, वह दीक्षारूप धर्म है।

'यातैं अनमिल और सब, पुद्गल के परिनाम।' -जितने विकल्प और रागादिरूप भाव होते हैं, वे आत्मा के स्वभाव से अनमेल भाव हैं, इसलिए उनको जीव नहीं कहकर अजीव पुद्गल कहते हैं। चैतन्य के ज्ञान-दर्शन-आनंद के अतिरिक्त समस्त विकाररूप भाव चैतन्य से अनमेल होने से पुद्गल हैं।

अहा..! सर्वज्ञ वीतराग देव और वीतरागी संतों के अलावा किसी की ताकत नहीं है कि राग को पुद्गल कह सके। महाव्रत के परिणाम को भी जड़-पुद्गल कौन कह सकता है? अनन्त गुण सम्पन्न आत्मा से भिन्न जो कोई परिणति है, वह पुद्गल की परिणति है। अनन्त गुणस्वरूप आत्मा में एकाकार होकर श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता प्रगट होती है; वह आत्मा का परिणाम है, वही आत्मा का धर्म है, अन्य दूसरा कोई धर्म नहीं है। यह वीतरागी संतों की पुकार है।

भावार्थ:- चैतन्य, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि आत्मा के अनन्त गुण हैं और आत्मा के गुणों के सिवाय स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द, प्रकाश, धूप, चाँदनी, छाया, अंधकार, शरीर, भाषा, मन, श्वाच्छोश्वास तथा काम, क्रोध, लोभ, माया आदि जो कुछ इन्द्रिय और मनगोचर है वह सब पौद्गलिक हैं।

भगवान आत्मा अनन्त गुणस्वरूप है। चैतन्य, ज्ञान-दर्शनादि आत्मा के गुण हैं; परन्तु जो ये स्पर्श, रसादि तथा भाषा, मन, स्वाच्छोश्वास आदि होते हैं वे आत्मा के गुण नहीं है। यह सब तो जड़ की अवस्था है। इसलिये जड़ ही है। जीव का उसमें कुछ नहीं है। श्वास की क्रिया करना भी आत्मा के अधिकार की बात नहीं है। अजीव में जीव की सत्ता बिलकुल नहीं हैं।

जीव अधिकार में जीव में क्या-क्या है -यह बताया और यहाँ अजीव अधिकार में यह बताते हैं कि जीव में क्या-क्या नहीं है। जीवतत्त्व सबसे भिन्न है। उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

www.vitragvani.com

शरीर का अस्तित्व जीव से भिन्न है। शरीर, भाषा, मन आदि सब अजीव है। अजीव के अस्तित्व में जीव का अस्तित्व नहीं है और जीव के अस्तित्व में अजीव का अस्तित्व नहीं है। जीव के अस्तित्व में तो ज्ञान-दर्शनादि अनन्त गुण विद्यमान हैं।

जब प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व भिन्न ही है वहाँ कौन किसका करे ? शरीर, मन, वाणी को तो आत्मा नहीं करता; परन्तु क्रोध, मान, माया, लोभादिक परिणाम भी इन्द्रिय और मनगोचर होने से पौद्गालिक हैं। आत्मा उनको नहीं करता है। आत्मा में तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द भरा हुआ है, आत्मा में क्रोध, मानादि के परिणाम भरे हुए नहीं हैं। आत्मा में भाषा, मन आदि का परिणमन होने योग्य नहीं है।

प्रश्नः- क्रोध, मानादि परिणाम तो जीव में होते हैं न.. ?

पूज्य गुरुदेवश्रीः- प्रश्न बराबर है। जीव की पर्याय में क्रोध, मानादि के भाव होते हैं; परन्तु जीव द्रव्य में अथवा जीवद्रव्य के गुणों में नहीं होते। जीव की पर्याय में अज्ञान के कारण ऐसी अशुद्धदशा होती है; परन्तु वह जीव का स्वभाव नहीं है। जीव का परिणमन तो जानने-देखनेरूप हो -ऐसा जीव का स्वभाव है। राग-द्वेषरूप होने का जीव का स्वभाव नहीं है। पर्यायबुद्धि में अज्ञानभाव से विकार करता है, वह चैतन्य की अशुद्धदशा है; स्वभाव नहीं। स्वभाव का अनादर करके हुआ भाव है। इसलिए जीव स्वभाव की दृष्टि से देखें तो वह जीव का कार्य नहीं है।

शरीर, वाणी, मन और विकल्प इस चैतन्य स्वभाव को स्पर्श नहीं करते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभादि परिणाम अचेतन हैं, पौद्गालिक हैं, मन औद इन्द्रियगम्य हैं। उन्होंने चैतन्य-समुद्र को स्पर्श नहीं किया है।

जो चैतन्य के चैतन्यभाव को दृष्टि में ले और अन्य सर्व अचेतन भावों को दृष्टि में से छोड़ दे, उसी ने चैतन्य को माना कहा जाता है, उसे ही आत्मज्ञान हुआ कहा जाता है।

अब चौथे कलश का पाँचवा काव्य आता है जिसमें कवि आत्मज्ञान का परिणाम बताते हैं-

आत्मज्ञान का परिणाम

जब चेतन सँभारि निज पौरुष,
निरखै निज दृगसौं निज मर्म।

www.vitragvani.com

तब सुखरूप विमल अविनासिक,
जानै जगत सिरोमनि धर्म ।।
अनुभौ करै सुद्ध चेतनकौ,
रमै स्वभाव वमै सब कर्म।
इहि विधि सधै मुकतिकौ मारग,
अरु समीप आवै सिव सर्म ।।5।।

अर्थः- जब आत्मा अपनी शक्ति को सम्हालता है और ज्ञाननेत्रों से अपने असली स्वभाव को परखता है तब वह आत्मा का स्वभाव आनंदरूप, निर्मल, नित्य और लोक का शिरोमणि जानता है, तथा शुद्ध चैतन्य का अनुभव करके अपने स्वभाव में लीन होकर सम्पूर्ण कर्मदल को दूर करता है। इस प्रयत्न से मोक्षमार्ग सिद्ध होता है और निराकुलता का आनंद निकट आता है ।।5।।

काव्य - 5 पर प्रवचन

अहा! बहुत मक्खन जैसी सूक्ष्म बात है।

'**जब चेतन सँभारि निज पौरुष**' अज्ञानी अनादि से शरीर, इन्द्रिय, मन, वाणी आदि को ही सँभालता था कि 'यह मैं हूँ, -यह तो अज्ञान था। जब आत्मा अपने पुरुषार्थ से अपने ज्ञानस्वभाव, दर्शनस्वभाव, आनन्दस्वभाव को सँभाल लेता है, तब वह ज्ञानी होता है। धर्म की कला ही कोई अलग है, परन्तु लोगों के पास तो विपरीत प्रकार से बतायी हुई है।

अपने वीर्य (पुरुषार्थ) को अपनी तरफ झुकाने पर स्वभाव का सँभालना होता है, स्वभाव की यादगिरी होती है। वर्तमान ज्ञान की दशा को स्वभाव सन्मुख झुकाना ही पुरुषार्थ है।

'**निरखै निज दृग सौं निज मर्म।**' -अपने ज्ञाननेत्र से अपने असली स्वरूप को पहिचानता है। कब? कि जब उस असली ज्ञानानन्द स्वभाव के सन्मुख होकर स्वभाव को याद करता है, तब उस असली स्वभाव को परख लेता है। बाहर से व्रत, तपादि जड़ की क्रिया करने से आत्मा नहीं पहिचाना जाता है। जीव अज्ञानदशा में शरीर की ऐसी क्रिया करके 'मैं धर्म सँभालता हूँ'- ऐसा मानता था। वह अब निज नेत्र द्वारा स्वयं को निहारने से धर्म का असली स्वरूप उसकी दृष्टि में आता है।

शुभ उपयोग को तो अचेतन कहा है और उसी को व्यवहार से निश्चय का साधन कहा है। वस्तुतः बात तो यह है कि अपना स्वभाव ही अपना साधन होता है, तब उसकी भूमिका में

www.vitragvani.com

शुभोपयोग कैसा और कितनी जाति का होता है –यह बतलाने के लिए उसको साधन की उपमा देकर (उपचार से साधन) कहा जाता है।

'तब सुखरूप विमल अविनासिक, जानै जगत सिरोमनि धर्म' –धर्मी अपने स्वभाव-सन्मुखता के पुरुषार्थ से अन्तर में निरखते ही सुखरूप, विमल और अविनाशी स्वरूप को देखता है।

मैं तो अतीन्द्रिय आनन्द और सुखरूप हूँ। मेरा सुख निर्मल और अविनाशी है- ऐसा धर्मी अनुभव करता है। अज्ञानदशा में विकल्प में चैतन्यपने का भास होता था कि 'यह विकल्प है, वही आत्मा हैं' वह भास अब नहीं रहता है। धर्मी को जड़ और चेतन की भिन्नता भासित होने पर आत्मा का स्वभाव ध्रुव, निर्मल और आनन्दरूप ज्ञात होता है। तभी उसको धर्मी कहते हैं।

धर्मी को आत्मा का अनुभव होने पर ऐसा ज्ञात होता है कि आत्मा का स्वभाव तो जगत का शिरोमणि है। दया, दानादि के विकल्प से तो आत्मा का धर्म भिन्न है। विकल्परूप व्यवहार को तो यहाँ अचेतन कह दिया है। जो स्वयं अचेतन है वह चैतन्य में क्या मदद करेगा? इसको अचेतन में चेतनपने की बुद्धि से ही चौरासी के अवतार में परिभ्रमण करना पड़ा है। अहो! संसार में परिभ्रमता हुआ जीव कैसे-कैसे दु:ख पाता है। जन्म के दु:ख, जरा के दु:ख, मरण के दु:ख, रोग के दु:ख...दु:ख का जहाँ पार नहीं- ऐसे क्लेश से जो भिन्न है उस स्वभाव को सँभालते ही इसको ज्ञान और सुख का अनुभव होता है। वह अपने को लोक का शिरोमणि जानता है।

'अनुभौ करे शुद्ध चेतन कौ' –एकबार आत्मा का अनुभव होने के पश्चात् उसको कायम टिका रखना ही करने का है, यही धरने का है। आगरा में एक पण्डित ने कहा था कि तुम्हारे तो करना-धरना कुछ है नहीं...। अरे भाई! राग के विकल्प से आत्मा को भिन्न करना और भिन्न धार रखना –यह करना धरना नहीं है क्या? इसको तो विकल्प करना ही करने योग्य कार्य लगता है। इसने अनन्तकाल से आत्मा की बात को ज्ञान में नहीं लिया है इस कारण कठिन हो गई हैं।

'रमै स्वभाव वमै सब कर्म' –अपने निजानन्द में रमे तो कर्म और राग-द्वेष को वमे। मार्ग तो ऐसा है; परन्तु जीव मिथ्यामार्ग में ठगा गये हैं; क्योंकि वहाँ सोने का वर्क लगाकर पत्थर परोसा गया है, चाँदी का वर्क लगाकर चूहे की विष्टा परोसी गई है। वह ऊपर से तो गौल-गौल सुन्दर दिखती है, अत: अच्छी लगती है; परन्तु खाने पर पता पड़ता है कि यह तो विष्टा है। उसीप्रकार अन्य मतों ने विकार पर क्रिया का रंग चढ़ाकर धर्म परोसा है। उसको गहराई से

www.vitragvani.com

समझने पर ख्याल में आता है कि यह तो जड़-विकार है। धर्म तो उसको कहते हैं कि जिसमें जितना रमे, उतना कर्मों का नाश होता जाये। कर्मों का नाश क्रियाकाण्ड करने से नहीं होता है।

'इह विधि सधै मुक्ति कौ मारग' स्वभाव सन्मुख होकर स्वभाव का अनुभव करने से और उसमें रमने से मुक्ति का मार्ग सधता है और कर्मों का नाश होता है।

अहो! आत्मा तो सिद्धगिरि है। आत्मा तो अनंत सिद्ध दशाओं का संग्रहालय है। जो आत्मा की सिद्धगिरि पर जाये वह सुखी होता है; अन्यथा सिद्धगिरि की यात्रा करने से सिद्धि होवे -ऐसा नहीं है। जिनदेव तनमन्दिर में है। शरीररूपी मन्दिर में आत्मारूपी देव विराजमान है, इसलिए वही तीर्थ है। निजतीर्थ को नहीं जाने और बाहर के तीर्थों में भटका करे, तो उससे आत्मा का कल्याण नहीं होता है। आत्मा का भान होने के पश्चात् तीर्थयात्रा का विकल्प आवे, वह अलग बात है; परन्तु वास्तविक सिद्धगिरि ऐसी आत्मा के भान बिना सच्ची यात्रा नहीं होती है। भगवान आत्मा के निर्विकल्प स्वभाव पर आरूढ़ होना ही सच्ची यात्रा है।

'अरूसमीप आवै सिव सर्म' -शिव अर्थात् मोक्ष और शर्म अर्थात् सुख। जीव अन्तर स्वभाव सन्मुखता से निकट काल में मुक्ति प्राप्त करता है। देखो! निकट काल में मुक्ति होती है ऐसा कहा है, तो क्रमबद्ध कहाँ रहा ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है; उसका उत्तर यह है कि जो आत्मा के सन्मुख होता है, उसका मुक्ति जाने का काल अल्प ही होता है। उसको अल्पकाल में ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। आनन्द की उर्भियाँ आती हैं।

'जो-जो देखी वीतराग ने, सो-सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुँ नहीं होसी, काहें होत अधीरा रे।

जिसकी प्रतीति में वीतराग और सर्वज्ञदशा आती है वही यह बात मान सकता है। मात्र शब्दों में अथवा धारणा में लेने से बात मानी नहीं कही जाती। जिनकी दशा में वीतरागता और सर्वज्ञता प्रकटी है, वे यह सब जानते हैं; परन्तु इस बात का निश्चय इस जीव को कब आता है? कि जब यह ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होता है, तभी यह बात इसकी श्रद्धा में बैठती है।

अब पाँचवें श्लोक का छठवाँ काव्य कहते हैं :-

जड़-चेतन की भिन्नता

वरनादिक रागादि यह, रूप हमारौ नांहि।
एक ब्रह्म नहि दूसरौ, दीसै अनुभव मांहि ।।6।।

www.vitragvani.com

अर्थः- शरीर सम्बन्धी रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि वा राग-द्वेष आदि विभाव सब अचेतन हैं, ये हमारे स्वरूप नहीं हैं; आत्मअनुभव में एक ब्रह्म के सिवाय अन्य कुछ नहीं भासता।।

काव्य - 6 पर प्रवचन

अरे! अभी तो ऐसे स्वरूप की बात भी घिस गई है -रही नहीं है। अरे! अनुभव के बिना भव का अंत नहीं आयेगा। प्रभु! अनुभव के बिना क्रिया करे और लोग महिमा करके चढ़ा दें -इसमें तेरा हित नहीं है। भाई! यह तुझको शरण नहीं होगा।

वर्णादि अर्थात् शरीर सम्बन्धी वर्ण, रस, गंध, स्पर्श आदि सब जड़ हैं और रागादि सर्वविभाव भी अचेतन हैं। भले ही वह आत्मा की पर्याय में होता है; परन्तु वह विभाव है, इसलिए आत्मा का भाव नहीं है। निश्चय से वह आत्मा की पर्याय नहीं है, पुद्गल की पर्याय है। यह बात किसके लिए है? कि जिसको राग और आत्मा भिन्न भासित हुए हैं, उसको राग, यह पुद्गल की पर्याय है। अभी जिसको राग से आत्मा की भिन्नता भासित नहीं हुई है, उसको 'राग तो पुद्गल है और मोह नाचो तो भले नाचो' यह बात नहीं होती है; क्योंकि अभी तो उसकी दृष्टि ही राग पर पड़ी है, राग से भिन्न नहीं पड़ा, तो नाचनेवाला भिन्न पड़े बिना नाच को भिन्न कहाँ से जानेगा?

जैसे घर में करोड़ रुपये हों और इकलौता पुत्र हो, उसका विवाह किया और छह महीने बाद पता पड़े कि उसके तो कैन्सर है, मरण के किनारे आ गया है। तो उस घर में कैसी उदासी छा जाती है? लग्न में दस लाख खर्च करके बरोठी (प्रीतिभोज) किया हो, बहू पाँच लाख का दहेज लायी हो, विवाह के पूर्व कितने प्रेम से लड्डू खिलाये हों; परन्तु उसका एक अंशमात्र भी उत्साह अब दिखता है? अकेली उदासी..उदासी के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं दिखता। उसीप्रकार आत्मा में राग-द्वेषादि तो मर गये हैं, अर्थात् उनमें कुछ सार नहीं हैं ऐसा जानते ही उदासी छा जाती है। पहले अज्ञान की उदासी थी और (अब) उसमें वैराग्य की उदासी आ जाती है। भगवान आत्मा के अपने पंथ में चढ़ने पर उसको सम्पूर्ण दुनिया से वैराग्य..वैराग्य..उदासी छा जाती है।

वर्णादि और राग-द्वेषादि सब अचेतन हैं। भगवान आत्मा की प्रतीति आने पर यह सब अचेतन भासित होता है। व्यवहार रत्नत्रय भी अचेतन है, भगवान की भक्ति का राग भी अचेतन

www.vitragvani.com

है। बापा! तेरा मार्ग निराला है भाई! अरे! शास्त्र का पठन-ज्ञान भी विकल्प और परलक्ष्यी होने से जड़ है। उससे आत्मा की प्राप्ति होना माननेवाले मूर्ख हैं। योगीन्दुदेव ने कहा है कि- 'शास्त्र पाठी भी मूर्ख है, जो निजतत्त्व अजान..। (योगसार) परलक्ष्यी ज्ञान यदि वास्तविक ज्ञान होवे तो उसके साथ आनन्द होना चाहिए। उसमें आत्मा का आनन्द नहीं है; अतः वह वस्तुतः जड़ है।

'एक ब्रह्म नहीं दूसरो, दीसे अनुभव माहिं' -आत्मा के अनुभव में अकेला ब्रह्मानन्द स्वरूप आत्मा ही अनुभवगोचर होता है, उसमें अन्य किसी का अनुभव नहीं है। वहाँ व्यवहार का अनुभव भी नहीं है।

लोगों को ऐसा लगता है कि पहले ही से ऐसी ऊँची बात करते हैं; परन्तु जैसे पहले बालक को चलना सिखाने के लिए 'चालनगाड़ी' देते हैं, -ऐसी व्यवहार की 'चालनगाड़ी' तो हमको दो! भाई! आत्मा का अनुभव करना 'चालनगाड़ी' देते हैं, यही प्रथम धर्म है। भगवान आत्मा के सन्मुख होकर अनुभव करनेवाले ने ही पहला पैर धरा है, वही चलते-चलते आगे बढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा।

'परमार्थवचनिका' में कहा है न जीवों को आगम पद्धति का व्यवहार तो दिखता है, सुगम लगता है; परन्तु अध्यात्म का तो व्यवहार भी सूक्ष्म पड़ता है -कठिन लगता है। अर्थात् शरीर और राग की क्रियायें सहज लगती है; परन्तु वे उपाय नहीं है।

'एक ब्रह्म नहिं दूसरों' अर्थात् स्वयं एक ब्रह्म है। सभी आत्माएँ एक होकर एक ब्रह्म है- ऐसा नहीं है। ज्ञान के सूर्य आनन्द के सागर पर दृष्टि पड़ने पर जो अनुभव होता है, उसमें अकेला आत्मा ही होता है, अन्य चीज़ नहीं होती- ऐसा कहना है। यह अनुभव ही धर्म है।

कितने ही कहते हैं कि सोनगढ़वालो ने धर्म को बहुत कठिन कर दिया है; परन्तु भाई! धर्म का स्वरूप यह एक ही है। समकित का एक ही प्रकार है, उसे मँहगा कहो या सस्ता, वह तो जैसे है वैसे है। व्यवहार समकित वह कोई समकित नहीं है।

जिसने धर्म के स्वरूप की बात भी नहीं सुनी हो, विचार भी नहीं किया हो, उसको ऐसे महा-महिमावंत पदार्थ की बात कैसे बैठे? जैसे पालीताणा में ये बड़े-बड़े मन्दिर बने हैं, इनके दस-दस मन के पत्थर नीचे से ऊपर चढ़ाये हों, तब बने न! अब यह बात चींटी को कैसे बैठे? उसीप्रकार जिसका हृदय छोटा है, उसको आत्मा के अनन्त-अनन्त गुणों की शक्ति की बात नहीं बैठती। अहो! आत्मा में अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञानादि गुणों का भण्डार है। जिसके ज्ञान

www.vitragvani.com

की हद नहीं है -ऐसे स्वभाव वाला तत्त्व (आत्मा) है। वह एक ही दृष्टि में आने पर उसको (दृष्टिवंत को) आत्मा के धर्म का भान होता है।

अब आगे के पद्य में जीव और देह की भिन्नता के लिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं-

देह और जीव की भिन्नता पर दृष्टान्त

खांडो कहिये कनककौ, कनक-म्यान-संयोग।
न्यारौ निरखत म्यानसौं, लोह कहैं सब लोग ।।7।।

अर्थः- सोने के म्यान में रखी हुई लोहे की तलवार सोने की कही जाती हैं; परन्तु जब वह लोहे की तलवार सोने के म्यान से अलग की जाती है तब लोग उसे लोहे की ही कहते हैं।

भावार्थः- शरीर और आत्मा एकक्षेत्रावगाह स्थित हैं। सो संसारी जीव भेदविज्ञान के अभाव से शरीर ही को आत्मा समझ जाते हैं। परन्तु जब भेदविज्ञान में उनकी पहिचान की जाती है तब चित्चमत्कार आत्मा जुदा भासने लगता है और शरीर में आत्माबुद्धि हट जाती है ।।7।।

काव्य - 7 पर प्रवचन

सोने की म्यान में रखी हुई लोहे की तलवार को सोने की कहा जाता है; परन्तु जब वह लोहे की तलवार सोने की म्यान में से भिन्न की जाती है, तब लोग उसको लोहे की ही कहते हैं।

म्यान और तलवार अत्यन्त भिन्न है। इसलिए म्यान सोने की होने से कहीं तलवार सोने की नहीं हो जाती है। उसीप्रकार देह और आत्मा अत्यन्त भिन्न है; इसलिए देह जड़ होने से कहीं आत्मा जड़ नहीं हो जाता है।

श्रीमद् राजचन्द्रजी 'आत्मसिद्धि' में कहते हैं-

'भासित देहाभ्यास से, आतम देह-समान ।
पर वे दोनों भिन्न हैं, ज्यौंकि असि और म्यान ।।

जैसे तलवार और म्यान भिन्न है; उसीप्रकार देह और आत्मा भिन्न है- ऐसा कहा है उसमें देह के साथ राग-द्वेष के विकल्प भी ले लेना। प्रत्येक विकल्प को कार्माण शरीर में गिन लेना। उनसे भी आत्मा भिन्न है।

दृष्टान्त सिद्धान्त समझने के लिये होता है। दृष्टान्त समझने के लिये दृष्टान्त नहीं है। जैसे तलवार म्यान में होने से तलवार की म्यान कहीं जाती है; परन्तु वे दोनों एक नहीं, किन्तु भिन्न

www.vitragvani.com

वस्तुयें हैं; उसी प्रकार आत्मा देह के भीतर होने से देहवाला और विकल्प वाला कहा जाता है; परन्तु आत्मा देह और विकल्प से भिन्न वस्तु है।

देह का कितना भी पालन-पोषण करे; परन्तु स्वयं देह से भिन्न है; इसीकारण तो स्वयं इस देह को छोड़कर चला जाता है। जैसे देह साथ नहीं जाती, उसीप्रकार पुण्य-पाप के विकल्प भी साथ नहीं जाते हैं। विकल्प पलट जाते हैं, क्योंकि वे आत्मा नहीं है।

शरीर और आत्मा एक क्षेत्रावगाहरूप से रहते हैं, इससे संसारी जीव भेदविज्ञान के अभाव से शरीर को ही आत्मा समझ लेता है। मैं शरीर हूँ और राग, पुण्य-पाप, कर्म, व्यवहार आदि मेरा ही है- ऐसा समझता है; परन्तु जब भेदविज्ञान से आत्मा की पहिचान की जाती है तब चित्-चमत्कार आत्मा भिन्न भासित होने लगता है- इसी का नाम धर्म है। राग और शरीर में से आत्म बुद्धि दूर होकर आत्मा में आत्मबुद्धि होवे-चैतन्य भगवान सबसे भिन्न भासने लगे तब सच्चा आत्मदर्शन और आत्मज्ञान कहा जाता है।।7।।

अब इस नाटक समयसार के अजीवद्वार के 7 वें कलश का 8 वाँ पद्य इस प्रकार है :-

जीव और पुद्गल की भिन्नता

वरनादिक पुद्गल-दसा, धरै जीव बहु रूप।
वस्तु विचारत करमसौं, भिन्न एक चिद्रूप।।8।।

अर्थः- रूप, रस आदि पुद्गल के गुण हैं, इनके निमित्त से जीव अनेक रूप धारण करता है। परन्तु यदि वस्तुस्वरूप का विचार किया जावे तो वह कर्म से बिलकुल भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है।

भावार्थः- अनंत संसार संसरण करता हुआ जीव, नर नारक आदि जो अनेक पर्यायें प्राप्त करता है वे सब पुद्गलमय हैं और कर्मजनित हैं, यदि वस्तुस्वभाव विचारा जावे तो वे जीव की नहीं हैं, जीव तो शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, देहातीत और चैतन्यमूर्ति है ।।8।।

काव्य - 8 पर प्रवचन

जैसा पूर्व काव्य में कहा था कि म्यान सोने की होने से तलवार को भी सोने की कहा जाता है; परन्तु तलवार तो लोहे की है; उसीप्रकार रूप, रंग, गंध आदि पुद्गल की दशाओं को व्यवहार से जीव की कहा जाता है; परन्तु वास्तव में तो वह पुद्गल की दशायें हैं। आत्मा को शरीरादि जड़वाला कहना अथवा पुण्य-पाप आदि के विकल्पवाला कहना अथवा गुणस्थान मार्गणास्थान

www.vitragvani.com

आदि वाला कहना मात्र व्यवहार है। व्यवहार से पुद्गल की दशाओं को जीव की दशा कहा जाता है।

'**धरै जीव बहुरूप।**' वस्तुतः अजीव में जीव नहीं हैं और जीव में अजीव नहीं है। पुण्य-पाप के शुभ-अशुभ भाव भी वस्तुतः तो पुद्गल के लक्ष्य से उत्पन्न हुआ पुद्गल है, जीव नहीं। राग-द्वेष आदि के कारण जीव की दशा में मेल (मलिनता) दिखता है वह भी जीव का स्वभाव नहीं है, इसलिए उसको आत्मा नहीं कहते हैं। तो भी व्यवहार से आत्मा को भेदवाला, रागवाला और शरीरवाला कहा जाता है। इससे जीव अनेक रूप धरता है यह भी कहा जाता है।

'**वस्तु विचारत करम सौं**' -भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा फरमाते हैं। उस स्वरूप को देखने पर आत्मा पुद्गल के भावों से अत्यत्न भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है। विज्ञानघन आत्मा कर्म से और कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए विकारों से, कर्म के निमित्त से अवस्था में पड़नेवाले भेदों से तथा कर्म के निमित्त से प्राप्त संयोगों से अत्यन्त भिन्न है।

कलश में तो इतना अधिक ज़ोर है कि '**निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य**'। एक विज्ञानघन चैतन्य के सिवाय समस्त भेद एक पुद्गल के जानो। भेद में, राग में और निमित्त में आत्मा की बिलकुल अपेक्षा नहीं है।

भाई! वास्तविक आत्मा किसको कहना और किसको जानने से सम्यग्दर्शन, ज्ञान होता है -इसकी खबर बिना कभी धर्म नहीं हो सकता है। धर्म के नाम पर भूल करके तू अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। अपनी भूल के कारण ही परिभ्रमण नहीं मिटता है। विज्ञानघन एक चिद्रूप से (भिन्न) सब अन्य है इस बात का इसको पता नहीं है। आत्मा सबसे भिन्न एक विज्ञानघन चैतन्य है, उसकी दृष्टि करने से धर्म होता है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग की क्रिया तो पुद्गल है। उससे धर्म नहीं होता है।

श्रोताः- राग को पुद्गल क्यों कहते हो यही समझ में नहीं आता?

पूज्य गुरुदेवश्रीः- राग है वह वर्ण, गंधवाला पुद्गल नहीं, किन्तु राग एकरूप चैतन्यस्वरूप से भिन्न है, इसलिए उसको अचेतन अर्थात् पुद्गल कहते हैं। यहाँ तो एकरूप चैतन्य वह जीव और अन्य सब अजीव हैं- ऐसे दो ही भेद किये हैं।

www.vitragvani.com

अजीव भी एक वस्तु है। अजीव अर्थात् कुछ है ही नहीं ऐसा नहीं है। 'ब्रह्म सत् जगत मिथ्या' जैसे बात नहीं है। ब्रह्म भी है और जगत भी है; परन्तु ब्रह्म में जगत नहीं और जगत में ब्रह्म नहीं है- ऐसा कहना है।

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव समवसरण में विराजते हों और उनकी भक्ति का भाव आवे, उसको भगवान कहते हैं कि पुद्गल का भाव है, तेरा स्वभाव भाव नहीं। जो तेरा भाव हो, वह तुझसे भिन्न नहीं पड़ सकता और जो भिन्न पड़ जाये, वह तेरा भाव नहीं है। जैसे आत्मा राग और पर की अपेक्षा रहित स्वतः सिद्ध तत्त्व है, वैसे ही राग-द्वेष आदि के भाव आत्मा की अपेक्षा रहित अकेले पुद्गल के भाव हैं। उनको किसी पर की अपेक्षा नहीं है।

'निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य' -शरीर, कर्म और पुण्य-पाप, दया, दान आदि के भाव तथा गुणस्थानादि भेदों को चैतन्य स्वभाव की बिलकुल अपेक्षा नहीं है। वे आत्मा की अपेक्षा बिना अकेले पुद्गल से हुए भाव हैं। अरे! जैन धर्म में जन्मे होने पर भी (सम्प्रदाय के) बाड़े में रहे हुए जीवों को यह तत्त्व सुनने को नहीं मिलता और छहकाय की दया पालने में, व्रतादि करने में धर्म मानने में उनकी जिन्दगी चली जाती है। जीव ने वास्तविक तत्त्व के भान बिना अनन्तकाल में अनन्त क्रिया की है; परन्तु वस्तु हाथ में नहीं आयी है, उसीतरह यह जिन्दगी भी तत्त्व की दृष्टि बिना चली जाती है।

प्रभु! तेरी चीज़ विज्ञानघन है। इसलिए उसमें शरीर, कर्म, राग और भेद का प्रवेश नहीं है। अरे! किन्तु यह बात इसको कैसे जँचे? एक शुभभाव हो जाए, कुछ व्रतादि हो जाए वहाँ तो मैंने बहुत किया ऐसा लगता है; ऐसी स्थिति में यह विज्ञानघन की बात कैसे जँचे? जो रंक होकर फिरता है उसको राजापने की बात कैसे जँचे? दो चार उपवास करे वहाँ मैंने धर्म किया -ऐसा मानता है; परन्तु अज्ञानरूपी पीड़ा इसकी क्रिया को व्यर्थ कर देता है, उसका इसको भान नहीं है।

वर्ण, रस, गंधादि गुण, शरीर, कर्म, दया, दानादि राग और गुणस्थानादि भेद विज्ञानघन चैतन्य से अन्य हैं और उनको चैतन्य की अपेक्षा भी नहीं है। विज्ञानघन चैतन्य की अपेक्षा बिना अकेले पुद्गल से हुए हैं। संसार का उदयभाव तो पुद्गल है। भाई! वह तेरी चीज़ नहीं है। जिस भाव से बंधन होता है वह भाव जीवस्वभाव कैसे हो सकता है? जीवभाव से बंधन नहीं होता। जीव के त्रिकाल स्वभाव की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से होनेवाले समस्त भाव स्वयं ही पुद्गल हैं।

अहो! अपना विज्ञानघन स्वभाव ऐसा है। जीव उससे दूर-दूर भागकर आत्मा को प्राप्त

www.vitragvani.com

करना चाहता है; परन्तु इसप्रकार से आत्मा प्राप्त नहीं होता है। जहाँ आत्मा है ही नहीं वहाँ से कैसे प्राप्त होगा? जिसको आत्मा कैसा है? यह भी पता नहीं है, वह आत्मा को कैसे खोजेगा?

यह अजीव अधिकार है। इसलिए अजीव और अजीव के लक्ष्य से हुए भाव ये सब अजीव हैं ऐसा सिद्ध किया है। सम्प्रदायवालों को वीतरागमार्ग का पता नहीं है और वीतराग को पेड़ी (दुकान) लगाकर बैठते हैं; क्योंकि बड़े के नाम बिना हुंडी नहीं चलती है।

जो विज्ञान का घन है उसमें सब जीव स्वरूप है और जो भेदरूप है, वह सब पुद्गलस्वरूप है। भगवान आत्मा ज्ञान का रसकंद है। गुणस्थान भेद, राग, दया, दान, व्यवहाररत्नत्रय आदि भाव विज्ञानघन से भिन्न हैं, इसलिए वे सम्यग्दर्शन का विषय नहीं है। जैसे 'घी' का घड़ा कहा जाता है; परन्तु घड़ा तो मिट्टी का है; उसीप्रकार व्यवहार रत्नत्रय के भावों को जीव का कहा जाता है; परन्तु ये जीव के नहीं है।

समयसार की एक भी पंक्ति अथवा एक भी गाथा समझना बहुत सूक्ष्म है। इसमें तो तुझे याद किया है। कोई ऐसा कहता है कि हमने तो (समयसार को) मात्र पन्द्रह दिनों में पढ़ लिया; वह मात्र शब्द पढ़ गया है, भाव नहीं समझा है। एक-एक पंक्ति में कितने भाव भरे हैं। उसको मैंने संक्षेप में समझ लिया है यह बात झूठ है। संक्षेप में समझना उसको कहते हैं कि मैं अभेद वस्तु हूँ और शरीर, कर्म, राग, भेदादि मुझसे भिन्न हैं, इतना अन्दर से समझ जाये। इतना भी समझे बिना मुझे संक्षेप से समझमें आता है यह मानना ठीक नहीं है। 80 के साल में (विक्रम संवत् 1980 में) यह संक्षेपरुचि की चर्चा हुई थी। लोगों को पाँच-छह महीने तक व्याख्यान सुनकर लगा कि यह तो कोई दूसरी बात करते हैं। तब यह नहीं माननेवाले-सुननेवाले एक भाई ऐसा कहते थे कि 'देखो, भाई! यह सम्प्रदाय मिला है इसकी श्रद्धा करना यह सम्यग्दर्शन है। अब व्रत, तपादि लेनेरूप चारित्र है, वह अभी अपने को नहीं है, अपने को तो संक्षेप रुचि है'. ..अरे! क्या हो? संक्षेप रुचि किसको कहते हैं -इसका भी पता नहीं है अत: ऐसा बोलते हैं। अज्ञान का स्वरूप ही ऐसा है, इसमें व्यक्ति का दोष नहीं है। मृग की तरह संकल्प-विकल्प में दौड़-दौड़ा करते हैं।

दौड़त दौड़त दौड़ियो जेती मन की दौड़।
प्रेम प्रतीत विचारो टुकड़ीपण गुरुगम लेजो रे जोड़ ।।

गुरु तुझको अन्तर में चैतन्य बताते हैं वह तू है। क्रिया की दौड़ में दौड़कर सूख जाये, तो

www.vitragvani.com

भी क्रिया से आत्मा मिले –ऐसा नहीं है। सब विकल्प भी पुद्गल हैं, उनसे भी चैतन्य की प्राप्ति नहीं होती है।

'वस्तु विचारत कर्म सौं भिन्न एक चिद्रूप' शब्द तो एक 'कर्म' डाला है; परन्तु कर्म में राग, शरीर और भेदादि सब आ जाता है। भगवान आत्मा तो एकरूप चैतन्यरस विज्ञानघन है। उसे ही त्रिलोकनाथ (भगवान सर्वज्ञदेव) आत्मा कहते हैं। ऐसे विज्ञानघन की दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन होता है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से तीन काल में सम्यग्दर्शन नहीं होता है और सम्यग्दर्शन के बिना व्रत और तप तो मूर्खतापूर्ण बालव्रत और बालतप हैं।

'निर्माण मेंकस्य हि पुद्गलस्य –ऐसा कहकर एक पुद्गल से ही हुआ, यह कार्य है –यह कहना है। उसमें जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच में से किसी की अपेक्षा नहीं है। 'एकस्य हि' कहकर जोर बताया है। संसार की दशा, यह पुद्गल की दशा है, जीव की दशा नहीं। एकरूप विज्ञानघन ही सत्य जीव है, अन्य सब विकल्प और भेद एक पुद्गल ही है। भगवान की भक्ति और देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धा का राग भी इसमें (पुद्गल में) आ जाता है। 'विज्ञानघन–स्ततो–दन्य 'कहकर विज्ञानघन आत्मा से अन्य जो कुछ है, वह पुद्गल है।

पुद्गल के निमित्त से जीव अनेक रूप धारण करता है –पर्याय में अनेक रूप धारता है; परन्तु वस्तुस्वरूप का विचार करो तो वह कर्म से अत्यन्त भिन्न एक चैतन्यमूर्ति है। परन्तु (जीव) वस्तु का विचार नहीं करता और पुद्गल को अपना मानकर बैठा है, इससे दु:खी होता है। जैसे बड़ के वृक्ष पर बैठा हुआ बंदर बड़ को अपना मानता है इसकारण बड़ से खिरकर गिरनेवाले एक–एक पत्ते को देखकर दु:खी होता है, उसको लगता है कि मानो मेरा कुछ कम होता है। उसीप्रकार अज्ञानी को थोड़ा धन जाने पर दु:ख होता है, रोग आने पर दु:ख होता है। इसप्रकार उसको पुद्गल में अनेकप्रकार से एकत्व मानने के कारण दु:ख होता है।

एक दृष्टान्त भी आता है कि बंदर की परछाई नीचे पड़ती थी, उस पर सिंह ने आकर झपट्टा मारा, वहाँ बंदर को ऐसा लगा कि सिंह ने मुझे पकड़ा है। इसकारण वह घबड़ाकर नीचे गिर गया। उसीप्रकार शरीर, मन, वाणी तो परछाई के समान हैं, उनको अपना माननेवाला मूर्ख संसाररूपी सिंह के मुख में पड़ता है।

भगवान! तेरे में भेद भी नहीं है; अब तुझे किसको रोना है? किस वस्तु के जाने पर क्लेश करना है?

भावार्थ यह है कि अनन्त संसार में संसरण करता जीव नर, नारकादि जो अनेक पर्यायें

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

प्राप्त करता है, वे सब पुद्गलमय हैं। चारों ही गतियों में जो कोई शरीर धारण करता है, वे सब पुद्गल हैं। यह स्त्री है और यह पुरुष है ये सब तो जड़ के भेद हैं, आत्मा के भेद नहीं; तथापि शरीर के जीर्ण होने पर मैं जीर्ण हो गया ऐसा मानकर दु:खी होता है। यह सब अवस्था तो पुद्गल है और कर्मजनित है; कर्म के निमित्त से हुआ उपाधिभाव है। यदि वस्तुस्वरूप का विचार किया जाये तो यह जीव की दशा नहीं है। जीव तो शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, देहातीत और चैतन्यमूर्ति है। कब ? अभी ही जीव तो शुद्ध, बुद्ध, देहातीत निर्विकार चैतन्यमूर्ति है; परन्तु इसने कभी विचार करने का अवसर ही नहीं लिया। संसार के भ्रमजाल में पड़ा है। वहाँ से छूटता है तो व्रत, तपादि करके साधु हो जाता है; परन्तु यह तो उल माथी चूल मा पड्यो ...अपने विज्ञान स्वरूप को लक्ष्य में नहीं लिया, इसलिए कहते हैं कि अब उसके लिए अवसर ले (समय निकाल) ! वस्तुस्वरूप के भान बिना सम्यग्दर्शन नहीं होगा और सम्यग्दर्शन के बिना धर्म का प्रारम्भ ही नहीं होता है।

अब आठवें कलश के नौवें पद में जीव की भिन्नता का दूसरा दृष्टान्त देते हैं-

देह और जीव की भिन्नतापर दूसरा दृष्टान्त

ज्यौं घट कहिये घीवकौ, घटकौ रूप न घीव।
त्यौं वरनादिक नामसौं, जड़ता लहै न जीव ।।9।।

अर्थ:- जिस प्रकार घी के संयोग से मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहते हैं परन्तु घड़ा घी रूप नहीं हो जाता, उसी प्रकार शरीर के सम्बन्ध से जीव छोटा, बड़ा, काला, गोरा आदि अनेक नाम पाता है परन्तु वह शरीर के समान अचेतन नहीं हो जाता।

भावार्थ:- शरीर अचेतन है और जीव का उसके साथ अनंत काल से सम्बन्ध है तो भी जीव शरीर के सम्बन्ध से कभी अचेतन नहीं होता, सदा चेतन ही रहता है ।।9।।

काव्य - 9 पर प्रवचन

जैसे मिट्टी के घड़े में घी भरा हो तो उसको घी का घड़ा कहा जाता है; परन्तु वह घड़ा घी का बना हुआ नहीं है। घड़ा तो मिट्टी का ही है। घड़ा घी रूप हो नहीं जाता, मिट्टी रूप ही रहता है। उसीप्रकार शरीर के सम्बन्ध से जीव छोटा, बड़ा, काला, सफेद इत्यादि अनेक नाम पाता है; परन्तु वह शरीर की तरह अजीव नहीं हो जाता। जीव को रागी, द्वेषी, मोही कहा जाता है; पुण्यवंत अथवा पापी कहा जाता है; पूर्व में बोया है, वह काटता है- ऐसा भी कहा जाता है; परन्तु भगवान आत्मा रागी-द्वेषी-मोही पुण्यवंत अथवा पापी नहीं हो जाता। पुण्य-पाप के भाव

www.vitragvani.com

विकाररूप होकर रहते हैं, वे जीव के नहीं हो जाते है। जैसे जड़, जड़ होकर रहा है, उसीप्रकार विकार विकार का होकर रहा है, जीव विकारी नहीं हो जाता है।

जैसे बंदर पहले बोर की मुट्ठी भरकर फिर कहता है कि मेरा हाथ घड़े में से नहीं निकलता; परन्तु निकले कैसे? मुट्ठी छोड़ दे तो तू छूटा हुआ ही है। उसीप्रकार स्वयं शरीर, वाणी, मन और पुण्य-पाप ये मेरे हैं -ऐसा मानकर बैठा है। इनको मान्यता में से (दृष्टि में से) छोड़ दे तो तू छूटा हुआ ही है। पुत्र पिता का नहीं है और पिता पुत्र का नहीं है। इसका यह पुत्र 'घी के घड़े' की तरह कहा जाता है; परन्तु आत्मा राग का पिता भी नहीं है, तो पुत्र का पिता तो कैसे हो? यदि पुद्गल का स्वामी जीव हो, तब तो जीव जड़ हो जाए।

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि अपना जैनधर्म तो यह कहता है कि कंदमूल मत खाओ, रात्रिभोजन मत करो, दया पालो तो तुम्हारा धर्म हो गया, इसलिए अपन तो इतना करते हैं...भाई! कंदमूल मत खाओ, रात्रि भोजन मत करो इत्यादि भाव बराबर हैं; परन्तु उनमें धर्म नहीं है। आत्मा का धर्म आत्मा में होता है, आत्मा के बाहर आत्मा का धर्म नहीं होता है।

कितने ही ऐसा मानते हैं कि भगवान की भक्ति में तन्मय हो जाओ तो धर्म होता है। भाई! भगवान की भक्ति आवे उससे इनकार नहीं है; परन्तु भक्ति तो राग है। राग से धर्म किसप्रकार होगा? राग तो पुद्गल है अचेतन है; आत्मा का स्वभाव नहीं है। कोई 'भगवान की प्रतिमा में से पानी झरता है' ऐसा मानकर बहुत महिमा करता है; परन्तु पत्थर में से पानी कैसे झरेगा? कदाचित् कोई देव ऐसा करता हो, तो भी पानी तो जड़ है; उसकी क्या महिमा? वह कोई चैतन्य की जाति नहीं है। भक्ति का भाव भी राग है। वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

व्यवहार से घड़े को घी का घड़ा कहा जाता है, शीशी को दवा की शीशी कही जाती है, तलवार को सोने की कही जाती है; परन्तु तलवार सोने की हो नहीं जाती है। उसीप्रकार जीव को दयावाला कहा जाता है, शरीरवाला कहा जाता है, पुण्यवाला कहा जाता है -ये सब निमित्त के कथन हैं; परन्तु आत्मा शरीररूप, पुण्यरूप, दयारूप हो नहीं जाता। तो क्या व्यवहार है ही नही? है न! वस्तु रूप से है; परन्तु एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है। घी भी है और घड़ा भी है; परन्तु घड़ा घी का नहीं है। उसीप्रकार जीव भी है और राग भी है; परन्तु जीव रागी नहीं है। आत्मा वास्तव में व्यवहार से मुक्त है।

'त्यौं वरनादिक नाम सौं जड़ता लहै न जीव।' भले ही व्यवहार से रागवाला जीव,

www.vitragvani.com

शरीरवाला जीव, पुण्यवाला जीव ऐसे अनेक नाम पड़ते हैं; परन्तु जीव इन रूप नहीं होता। जीव तो व्यवहार से मुक्त ही है। इसीलिए शास्त्र में कहा है कि समकिती व्यवहार से मुक्त है। वह चौथे गुणस्थान से ही (व्यवहार से) मुक्त ही है, उसमें व्यवहार नहीं है। कषाय की मंदता है, वह जड़ है, चैतन्य नहीं। वास्तव में मिथ्यादृष्टि को तो कषाय की मंदता भी नहीं है। ज्ञानी को ही कषाय की मंदता होती है; परन्तु वह ज्ञानमय भाव नहीं होने से अचेतन है, जीव का भाव नहीं।

भावार्थ यह है कि शरीर अचेतन है और जीव का उसके साथ अनन्तकाल से सम्बन्ध है; तथापि जीव शरीर के सम्बन्ध से कभी अचेतन नहीं हो जाता, सदा चेतनरूप ही रहता है। जीव में जड़ की गंध भी प्रवेश नहीं पाती। पुण्य-पाप की गंध आती है; वह पुद्गल की है, जीव की नहीं। आत्मा शरीररूप नहीं होता, इतना ही नहीं, आत्मा पुण्य-पापरूप भी नहीं होता -ऐसा समझना चाहिए।

अब नौवें कलश के दसवें पद्य में आत्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप बताते हैं। शरीर और कर्म जीव नहीं है, राग जीव नहीं है और भेद जीव नहीं हैं तो जीव कौन है? उसका उत्तर देते हैं-

आत्मा का प्रत्यक्ष स्वरूप

निराबाध चेतन अलख, जानै सहज स्वकीव।
अचल अनादि अनंत नित, प्रगट जगतमैं जीव ।।10।।

अर्थः- जीव पदार्थ निराबाध, चैतन्य, अरूपी, स्वाभाविक ज्ञाता, अचल, अनादि- अनंत और नित्य है सो संसार में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

भावार्थः- जीव साता-असाता की बाधा से रहित है इससे निराबाध है, सदा चेतता रहता है इससे चेतन है, इन्द्रियगोचर नहीं इससे अलख है, अपने स्वभाव को आप ही जानता है इससे स्वकीय है, अपने ज्ञानस्वभाव से नहीं चिगता इससे अचल है, आदि रहित है इससे अनादि है, अनंत गुण सहित है इससे अनंत है, कभी नाश नहीं होता इससे नित्य है ।।10।।

काव्य - 10 पर प्रवचन

आत्मा ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञात हो वैसा है। आत्मा दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम से ज्ञात नहीं होता, किन्तु स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। जीव कैसा है? जीव पदार्थ निराबाध, चैतन्य, अरूपी, स्वाभाविक ज्ञाता, अचल, अनादि-अनन्त और नित्य है वह संसार में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

www.vitragvani.com

भावार्थ यह है कि जीव साता-असाता की बाधा से रहित है इसलिए निराबाध है। साता और असाता में कारण बनें वैसे शरीर के परमाणु जीव में नहीं हैं। तथा साता-असाता का विकल्प भी जीव में नहीं है। इसलिए आत्मा निराबाध है। आत्मा तो आनन्द की मूर्ति है। कोई उसको पीड़ा नहीं कर सकता है। पर में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना है, वह राग है, दु:ख है; जीव नहीं।

पाँच-पच्चीस लाख रुपये मिले हों, बाग-बगीचे बनाये हों, उसमें सायंकाल के समय श्रीखण्ड-पुरी बनाकर सब खाने बैठे हों, सिर पर द्राक्ष के झूमर झूलते हों, सोने की कुर्सी पर बैठा हो- यह सब सातावेदनीय का फल है। इसमें जीव नहीं है। इसमें सुख की कल्पना करता है, वह भी जीव नहीं है। इसमें मुझे आनन्द आता है- ऐसी कल्पना दु:ख है, सुख नहीं और पुण्य भी नहीं। इनमें अपना अस्तित्व मानना -यह भ्रम का भूत (मिथ्यात्व) है।

साता के उदय से प्राप्त सामग्री भी जड़ और उसमें सुख की कल्पना होती है, वह भी जड़ है। वह तू नहीं है। तू तो आनन्द मूर्ति आत्मा है। साता की तरह ही असाता के उदय से प्राप्त सामग्री भी जड़ है और उसमें दु:ख की कल्पना होती है, वह भी जड़ है। वह तू नहीं है। सातवें नरक का संयोग होता है, वह जड़ की सामग्री है और उसमें अरुचिता होती है, दु:ख होता है, वह भी तेरी जाति नहीं है। भाई! तू तो निराबाध चैतन्य है। तू सामग्री से तो भिन्न है ही; परन्तु आकुलता से भी तेरा स्वरूप भिन्न है।

सुन्दर और कोमल शरीर मिला हो, स्त्री भी ऐसी ही सुन्दर हो और पुत्र-पुत्रादिक भी ऐसे ही हों तो इसको ऐसा होता है कि 'मैं चौड़ा और बाजार सकड़ा' -यह सब मोह का भूत है। मैं चौदह वर्ष की उम्र में पहली बार पालेज गया, तब घर के बाजू में बहुत-सी स्त्रियां इकट्ठी होकर रास लेती थीं, तो कहा कि यह क्या है? तब किसी ने जवाब दिया कि यह तो चुड़ैल है। वहाँ छोटे बालकों को नहीं जाना चाहिए। वहाँ जाएँ और यदि उसकी बात में 'हाँ' हो जाए तो अपने को चुड़ैल लग जाती है और खून चूस लेती है। सो ऐसा हुआ या कल्पना थी? फिर तो दुकान के काम पर लगने पर पता पड़ा कि वह कोई चुड़ैल नहीं थी। मात्र स्त्रियाँ रास लेती थीं। परन्तु यहाँ तो अज्ञानी को यह भ्रम की चुड़ैल लग गई है। जो राग, द्वेष, शरीर, संयोगादि को देखकर अपने मानता है, उसको भ्रम की चुड़ैल लग गई है, उसकी शान्ति समाप्त हो जाती है।

भगवान! तू तो निराबाध है, तेरे में पुण्य-पाप की गंध नहीं है। ऐसे निराबाध आत्मा को

www.vitragvani.com

पहिचानकर उसकी श्रद्धा करना धर्म है। आत्मा चैतन्यस्वरूप है, इसलिए सदा चेतता है- सदा जागृत है। नींद के समय भी आत्मा जागृत है। मुझे मीठी नींद आ गई -ऐसा चैतन्य के बिना कौन जाने?

आत्मा इन्द्रियगोचर नहीं है, इसलिए 'अलख' है। आत्मा विकल्प से गम्य नहीं है। अतीन्द्रिय महाप्रभु आत्मा खण्ड-खण्ड और जड़ इन्द्रियों द्वारा कैसे ज्ञात हो? नहीं ज्ञात होता। आत्मा स्वयं ही अपने ज्ञान से अपने को जाने वैसा है। अपने स्वभाव को जानने के लिए इसको पर की अपेक्षा नहीं है। आत्मा सहज स्वकीय है। अन्तर में ऐसे स्वरूपवान आत्मा को पहिचानकर उसकी श्रद्धा-दृष्टि और ध्यान करना ही आत्मज्ञान है और वही धर्म है।

नोट- इससे आगे नाटक समयसार पर पूज्य गुरुदेवश्री का प्रवचन क्रमांक 35 अनुपलब्ध है; अत: मात्र काव्य व अर्थ दिया जा रहा है।

अब अजीव अधिकार का अन्तिम कलश और अन्तिम पद्य है। इसमें भेद-विज्ञान का परिणाम बताते हैं।

अनुभव विधान

रूप-रसवंत मूरतीक एक पुद्गल,
रूप बिनु औरु यौं अजीव दर्व दुधा है।
चारि हैं अमूरतीक जीव भी अमूरतीक,
याहितैं अमूरतीक-वस्तु-ध्यान मुधा है ।।
औरसौं न कबहूं प्रगट आप आपुहीसौं,
ऐसौ थिर चेतन-सुभाउ सुद्ध सुधा है।
चेतन कौ अनुभौ अराधैं जग तेई जीव,
जिन्हकौं अखंड रस चाखिवेकी छुधा है ।।11।।

अर्थ:- पुद्गलद्रव्य वर्ण रस आदि सहित मूर्तीक है, शेष धर्म, अधर्म आदि चार अजीवद्रव्य अमूर्तीक हैं, इस प्रकार अजीवद्रव्य मूर्तीक और अमूर्तीक दो भेद रूप है; जीव भी अमूर्तीक है इसलिये अमूर्तीक वस्तु का ध्यान करना व्यर्थ है। आत्मा स्वयंसिद्ध, स्थिर, चैतन्यस्वभावी, ज्ञानामृत-स्वरूप है, इस संसार में जिन्हें परिपूर्ण अमृतरस का स्वाद लेने की अभिलाषा है वे ऐसे ही आत्मा का अनुभव करते हैं।

भावार्थ:- लोक में छह द्रव्य हैं, उनमें एक जीव और पाँच अजीव हैं, अजीव द्रव्य मूर्तीक

www.vitragvani.com

और अमूर्तीक के भेद से दो प्रकार के हैं, पुद्गल मूर्तीक है और धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार अमूर्तीक हैं। जीव भी अमूर्तीक है जब कि जीव के सिवाय अन्य भी अमूर्तीक हैं तो अमूर्तीक का ध्यान करने से जीव का ध्यान नहीं हो सकता, अत: अमूर्तीक का ध्यान करना अज्ञानता है, जिन्हें स्वात्मरस आस्वादन करने की अभिलाषा है उन्हें मात्र अमूर्तीकता का ध्यान न करके शुद्ध चैतन्य, नित्य, स्थिर और ज्ञान स्वभावी आत्मा का ध्यान करना चाहिये।।11।।

मूढ़ स्वभाव वर्णन

चेतन जीव अजीव अचेतन,
लच्छन-भेद उभै पद न्यारे।
सम्यक्दृष्टि-उदोत विचच्छन,
भिन्न लखै लखिकैं निरवारे ।।
जे जगमांहि अनादि अखंडित,
मोह महामदके मतवारे।
ते जड़ चेतन एक कहैं,
तिन्हकी फिरि टेक टरै नहि टारे।।12।।

अर्थ:- जीव चैतन्य है, अजीव जड़ हैं; इस प्रकार लक्षण भेद से दोनों प्रकार के पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं। विद्वान लोग सम्यग्दर्शन के प्रकाश से उन्हें जुदे-जुदे देखते और निश्चय करते हैं, परन्तु संसार में जो मनुष्य अनादि काल से दुर्निवार मोह की तीक्ष्ण मदिरा से उन्मत्त हो रहे हैं वे जीव और जड़ को एक ही कहते हैं; उनकी यह कुटेक टालने से भी नहीं टलती है।

भावार्थ:- कोई एक ब्रह्म ही ब्रह्म बतलाते हैं, कोई जीव को अंगुष्ठ प्रमाण कोई तंदुल प्रमाण और कोई मूर्तीक कहते हैं, सो इस पद्य में उन सबकी अज्ञानता बतलाई है ।।12।।

ज्ञाता विलास

या घटमैं भ्रमरूप अनादि,
विसाल महा अविवेक अखारौ।
तामहि और स्वरूप न दीसत,
पुग्गल नृत्य करै अति भारौ ।।
फेरत भेख दिखावत कौतुक,

www.vitragvani.com

सौंजि लियैं वरनादि पसारौ।
मोहसौं भिन्न जुदौ जड़सौं,
चिनमूरति नाटक देखनहारौ ।।13।।

अर्थः- इस हृदय में अनादि काल से मिथ्यात्वरूप महा अज्ञान की विस्तृत नाट्यशाला है, उसमें और कोई शुद्ध स्वरूप नहीं दिखता केवल एक पुद्गल ही बड़ा भारी नाच कर रहा है, वह अनेक रूप पलटता है और रूप आदि विस्तार करके नाना कौतुक दिखाता है; परन्तु मोह और जड़ से निराला सम्यग्दृष्टि आत्मा उस नाटक का मात्र देखनेवाला है (हर्ष-विषाद नहीं करता)।।13।।

भेदविज्ञान का परिणाम

जैसैं करवत एक काठ बीच खंड करै,
जैसैं राजहंस निरवारै दूध जलकौं।
तैसैं भेदग्यान निज भेदक-सकतिसेती,
भिन्न-भिन्न करै चिदानंद पुद्गलकौं ।।
अवधिकौं धावै मनपर्यैकी अवस्था पावै,
उमगिकै आवै परमावधिके थलकौं।
याही भांति पूरन सरूप कौ उदोत धरै,
करै प्रतिबिंबित पदारथ सकलकौं ।।14।।

अर्थः- जिस प्रकार आरा काष्ठ के दो खण्ड कर देता है, अथवा जिस प्रकार राजहंस क्षीर-नीर का पृथक्करण कर देता है उसी प्रकार भेदविज्ञान अपनी भेदक-शक्ति से जीव और पुद्गल को जुदा-जुदा करता है। पश्चात् यह भेदविज्ञान उन्नति करते करते अवधिज्ञान मनः पर्ययज्ञान और परमावधि ज्ञान की अवस्था को प्राप्त होता है और इस रीति से वृद्धि करके पूर्ण स्वरूप का प्रकाश अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप हो जाता है जिसमें लोक-अलोक के सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं ।।14।।

काव्य - 14 पर प्रवचन

जैसे आरा एक लकड़ी पर चलाने से उसके दो टुकड़े हो जाते हैं। उसीप्रकार भेदविज्ञान आरा (करवत) के समान है। वह आत्मा को शरीर, कर्म, राग आदि से भिन्न कर देता है। जैसे राजहंस की चोंच में दूध और पानी भिन्न हो जाते हैं; उसीप्रकार भेद-विज्ञान की भेदक शक्ति

www.vitragvani.com

से जीव और पुद्गल भिन्न हो जाते हैं। जहाँ तक भेदज्ञान नहीं है, वहाँ तक अज्ञानी शरीर, वाणी, मन, कर्म आदि मेरे हैं ऐसा मानकर पापदृष्टि का सेवन करता है। उसको पता ही नहीं है कि शरीर और आत्मा भिन्न चीज है।

अनादि से यह शरीर, वाणी, पुण्य और पाप मेरे हैं तथा शुभ-अशुभभाव होते हैं वे भी मेरे हैं ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। वह पापदृष्टिवाला पापी प्राणी है। वह चौरासी के अवतार में भटकनेवाला है। जो अपने ज्ञायकस्वभाव को भूलकर शुभाशुभ भावों को करता है, वह अधर्म का सेवन करता है। अधर्म, वह पाप है। उसको अपना मानकर अज्ञानी प्राणी चौरासी लाख योनियों की घाणी में पिल रहा है।

मूढ़ लोग तो ऐसा मानते हैं कि पैसेवाले सुखी हैं, आबरूवाले सुखी हैं, सुन्दर स्त्री-पुत्रादिवाला सुखी है। क्या यह बात सत्य है? नहीं यह सत्य नहीं है। यह तो उसकी मूढ़ता है। भगवान! तू अपने को भूलकर पर को निज मानकर सुख मान रहा है; परन्तु यह तेरी महान भूल है। तू विचार कर कि मैं किसको निज मानता हूँ? और वास्तव में कौन मेरा है? गुरु तुझको तेरा स्वरूप बताते हैं वह समझ! जिसमें चैतन्यप्रकाश है और जिसमें अतीन्द्रिय आनन्द की मोहर-छाप है, वह तेरा स्वरूप है।

यह अजीव अधिकार है न! यहाँ शरीर, वाणी, मन तो अजीव है ही; परन्तु जिनमें चैतन्यप्रकाश नहीं हैं ऐसे परिणाम भी अजीव है। पाप तो अचेतन है; परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति के पुण्य परिणाम भी चैतन्यप्रकाश से रहित होने से अचेतन है। अज्ञानी को मानना कठिन पड़े ऐसी बात है। भाई! तेरे किये भाव ही तुझे नुकसान करते हैं। इनसें भिन्न पड़ जा!

धर्मी तो जानता है कि शरीर, कर्म, आदि तो मेरे से भिन्न हैं ही; परन्तु जो पुण्य-पाप की वृत्तियाँ हैं, वे भी मेरे से भिन्न अचेतन हैं। मेरा धर्म कोई अलग ही है। राग का एक कण भी मेल है। मेरी वस्तु उससे भिन्न है। जैसे हंस की चोंच में ऐसी खटाई है कि दूध में से पानी भिन्न पड़ जाता है। उसीप्रकार धर्मी की भेदज्ञान दृष्टि में से रागादिभाव भिन्न पड़ जाते हैं। इसीलिए धर्मी को दु:ख के मार्ग से निवृत्त और सुख के मार्ग में प्रवृत्त कहा जाता है।

ये करोड़पति कहलाते हैं, ये तो सब दु:खी हैं। करोड़ रुपये तो जड़ हैं, तो जड़ का पति तो जड़ ही होगा न! हम इज्जतवाले, हम पैसावाले, हम कुटुम्बवाले ये तेरे कितने 'वाले' हैं। हाम दाम और ठाम वाले -ये तीनों जड़ हैं। दाम अर्थात् पैसा, वह जड़ है, ठाम अर्थात् मकान, वह

www.vitragvani.com

जड़ है और हाम अर्थात् हिम्मत, वह भी राग में रही हुई हिम्मत है। इसलिये जड़ है। भेदविज्ञान इन सबको अपनी भेदक शक्ति से भिन्न कर देता है।

भाई! यह तो अन्तर की, धीरज की बातें हैं। यह कोई 'उतावल से आम पकें' वैसा नहीं है। प्रभु! यह तेरे घर की बात है। तेरे घर में क्या है और क्या नहीं, उसकी बात परमात्मा तुझको बतलाते हैं। तू इसको बराबर झेलना, व्यर्थ मत जाने देना। तूने राग, लक्ष्मी और शरीरादि को निज मानकर मिथ्यात्व का सेवन तो अनन्तबार किया है। अब एकबार जो अनन्तकाल में नहीं किया -ऐसा 'भेद-ज्ञान' का कार्य कर! प्रभु..! भेद-विज्ञान क्या कार्य करता है? कि भेद-विज्ञान अपनी भेदक शक्ति से राग और ज्ञान को भिन्न करता है।

प्रभु! तुम जाणग रीती, सहू जग देखता हो लाल..
निज सत्ता ये शुद्ध सहूने पेखता हो लाल..

प्रभु! आप प्रत्येक आत्मा को पुण्य-पाप, राग, शरीर रहित शुद्ध देखते हों। भगवान जैसा देखते हैं, वैसा जिसको देखना आता है, उसको भेदज्ञानी अथवा धर्मी कहते हैं। पाँच-पच्चीस हजार रुपये दान में देने से धर्म नहीं होता है। उसमें भी दानराशि में इसका नाम आवे, तब इसको चैन पड़े; परन्तु उस नाम में तू कहाँ घुस गया है? परन्तु मूर्खों के गाँव कोई अलग होते हैं? नाम देखकर इसको शान्ति होती है।

भाई! तू पैसे में नहीं और तेरे में पैसा नहीं है। राग में तू नहीं है और तेरे में राग नहीं है। इसलिए नाम से, पैसे से अथवा राग से अपना अस्तित्व मत मान! तू अपनी भेदज्ञान शक्ति से जीव और पुद्गल को भिन्न कर दे। 'पुद्गल' शब्द में राग भी साथ समझ लेना चाहिए। दया, दान, व्रत, भक्ति, करुणा, परोपकार आदि का विकल्प है, वह जड़ है। वह ज्ञान नहीं, अचेतन है। आत्मा की जाति से उसकी जाति भिन्न है। शरीर, वाणी और मन तो जड़-धूल है, आत्मा की वस्तु नही और न आत्मा के होकर रहते है। इसीप्रकार पुण्य-पाप का विकल्प भी आत्मा का होकर नहीं रहा है। वह भी आत्मा से भिन्न चीज है।

अनादि से शरीर और विकार को आत्मा का ही मानता था -यह तो इसका अज्ञान का नाटक था। त्यागी हुआ तो भी इसने अन्दर से राग की एकता नहीं मिटायी। तो वह त्यागी नहीं, बल्कि मिथ्यादृष्टि-भोगी है।

जिसको एकबार ज्ञाता-दृष्टा आनन्दकंद प्रभु की दृष्टि हुई, पुद्गल से भिन्न पड़ गया,

www.vitragvani.com

भेदविज्ञान हुआ, वह अब उसकी उन्नति करते-करते अन्तर में एकाग्रता बढ़ाते हुए अशुद्धता घटाकर अन्तर में शुद्धता बढ़ाते-बढ़ाते केवलज्ञान तक पहुँच जाता है। प्रथम मति-श्रुतज्ञान तो सम्यक् हुए हैं; शरीर, वाणी, मन, राग आदि से भिन्न पड़ा भेदज्ञान ही सम्यक् मति-श्रुतज्ञान है। तत्पश्चात् आगे बढ़ते हुए अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और परमावधिज्ञान की दशा भी प्राप्त करता है।

लोगों को ऐसा लगता है कि यह किसप्रकार का धर्म है? जैनधर्म में तो कंदमूल नहीं खाना, सचित्त (हरितकाय) वस्तु नहीं खाना, रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग करना भूमि देखकर चलना, दया पालना, सत्य बोलना यह धर्म है ऐसा सुना है। परन्तु भाई! यह धर्म नहीं है। यह भगवान के घर की बात नहीं है। भगवान तो ऐसा कहते हैं कि इन विकल्पों से भी भिन्न होकर अन्दर में जा! विकल्प है वह राग है, जहर है, दु:ख है। वह तेरी वस्तु नहीं है। उनसे भिन्न पड़ तो प्रथम भेदज्ञान होगा। तत्पश्चात् क्रम-क्रम से अन्तर में एकाग्रता बढ़ने से अवधिज्ञान होता है कि जिस ज्ञान द्वारा असंख्य चौबीसी के जड़-चैतन्य के भावों को अपने में जानने की शक्ति प्रकट होती है।

भेदज्ञान होने से पश्चात् (धर्मीजीव) मुनि होता है। मुनि माने -जो आत्मा के आनन्द में रमे, शरीर और राग की क्रिया से भिन्न पड़कर स्वरूप की उग्र आनन्द दशा मे वर्तने लगे (वह मुनि है।) उनके बाह्य में वस्त्रादि छूट जाते हैं, नग्नदशा हो जाती है और अन्तर की आनन्ददशा बढ़ती जाती है -ऐसी मुनिदशा में किसी को मन:पर्ययज्ञान प्रकट हो जाता है। उसमें मुनि अन्य के मन की बात जान लेते हैं। मुनि को परमावधिज्ञान भी प्रकट होता है। परम अवधि अर्थात् जिसमें अन्य के असंख्यात भावों का ज्ञान कर सकते है।

आत्मा ही ज्ञान सरोवर है यह बात पूर्व में आ गयी है। ज्ञानसरोवर में (आत्मा) स्वयं ही कमल है और स्वयं ही उसकी सुगंध लेता है। कैसा है वह आनन्द? कि जो चक्रवर्ती के राज्य में नहीं है, इन्द्र के इन्द्रपद में नहीं है, अर्थात् जगत में कहीं नहीं है -ऐसे अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव मुनि अपने आत्मा में करते हैं। उसके सामने इन्द्र, चक्रवर्ती का आनन्द तो जहर है। उससे भिन्न पड़कर तू भी अपने अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव कर! ऐसा संत फरमाते हैं। तीसरे काव्य में आ गया है कि-

'तेरो घट सर तामैं तू ही है कमल ताकौं
तू ही मधुकर व्हैं सुवास पहिचानु रे..।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

तेरे देहरूपी घट में प्रभु विराजमान है, परन्तु अरे! जिसको इच्छा बिना चले नहीं, राग बिना चले नहीं, शरीर और उसकी अनुकूलता बिना चले नहीं- ऐसे भिखारी को यह परमात्मपद की बात कैसे जँचे?

भाई! तेरे आत्म-सरोवर में अतीन्द्रिय आनन्द का कमल खिला है, इसलिए भँवरा होकर तू ही तेरी सुवास (सुगंध) ले। प्रथम में प्रथम यह करने योग्य है। अन्य कुछ प्रथम करने योग्य लगता है, तो यह तेरा अज्ञान है। अपने चैतन्य सरोवर में स्वयं ही कमल है और स्वयं ही उसकी सुवास लेनेवाला है। यह सुवास लेते-लेते ही आगे बढ़कर केवलज्ञान प्राप्त होता है।

जैसे आकाश में पहले चन्द्रमा की दूज उगती है; फिर तीज, चौथ, पंचम होते-होते पूर्णिमा हो जाती है। उसी प्रकार प्रथम रागादि से भिन्न पड़कर आत्मा में मति-श्रुतज्ञान की कला खिलना वह दूज है। आत्मा में ऐसी तो अनन्त चैतन्य कला विद्यमान है। आत्मा में अनन्त-अनन्त केवलज्ञान की कला भरी है। अन्दर में नजर डाले तो भगवान आत्मा अनन्त कला सहित विराजमान है। राग से भेदज्ञान करके ऐसे निज भगवान की सुवास ले, वह प्रथम धर्म (सम्यग्दर्शन) है। बाकी सब तो एक के बिना की शून्य है। समझ में आया?

कहते हैं कि फिर यह भेदविज्ञान उन्नति करते-करते पूर्णस्वरूप के प्रकाशरूप अर्थात् केवलज्ञान स्वरूप हो जाता है। जैसे दूज उगी थी, वह बढ़कर पूर्णिमा हो जाती उसीप्रकार भेद-विज्ञान बढ़ते-बढ़ते अन्त में केवलज्ञानरूप पूर्णता को पाता है। जिसमें लोक-अलोक के समस्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। ज्ञानसागर भगवान आत्मा की कली अज्ञान दशा में संकुचित थी, उसको भेद-विज्ञान द्वारा शरीर और राग को भिन्न पाड़ने पर सम्यग्ज्ञान की प्रथम कला-भेदज्ञान कला प्रकट होती है। फिर तो अवधि, मनःपर्यय, परमावधि आदि कला भी खिलती है और इस मार्ग से पूर्ण केवलज्ञान कला भी खिलती है।

कल एक भाई थे वे कहते थे कि पूरी जिन्दगी चली गयी, किन्तु यह बात कभी सुनी नहीं थी।..ऐसा कहते हुए उनकी आँख में आंसू आ गये....पूरी जिन्दगी राग की क्रिया में धर्म मानकर जिन्दगी गँवा दी।

एक मुमुक्षुः- बात सत्य है। किसी को धर्मी की सच्ची क्रिया का पता नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्रीः- बात सच्ची है, परन्तु क्या हो?

अब इस अजीव अधिकार का सार कहते हैं-

www.vitragvani.com

द्वितीय अधिकार का सार

मोक्षमार्ग में मुख्य अभिप्राय केवलज्ञान आदि गुण सम्पन्न आत्मा का स्वरूप समझाने का है। परन्तु जिस प्रकार सोने की परख समझाने के लिये सोने के सिवाय पीतल आदि का स्वरूप समझाना अथवा हीरा की परख समझाने के लिये हीरा के सिवाय कांच की पहिचान बताना आवश्यक है, उसी प्रकार जीव पदार्थ का स्वरूप दृढ़ करने के लिये श्रीगुरु ने अजीव पदार्थ का वर्णन किया है। अजीव तत्त्व जीव तत्त्व से सर्वथा विभिन्न है अर्थात् जीव का लक्षण चेतन और अजीव का लक्षण अचेतन है। यह अचेतन पदार्थ पुद्गल, नभ, धर्म, अधर्म, काल के नाम से पाँच प्रकार है। उनमें से पीछे के चार अरूपी और पहिला पुद्गल रूपी अर्थात् इन्द्रियगोचर है। पुद्गल द्रव्य स्पर्श, रस, गंध, वर्णवंत है। यह जीव द्रव्य के चिह्नों से सर्वथा प्रतिकूल है, जीव सचेतन है तो पुद्गल रूपी है, जीव अखंड है तो पुद्गल सखंड है। मुख्यतया जीव को संसार संसरण करने में यही पुद्गल निमित्त कारण है, इन्ही पुद्गलोंमय शरीर से वह संबद्ध है, इन्हीं पुद्गलमय कर्मों से वह सर्वात्म प्रदेशों में जकड़ा हुआ है, इन्हीं पुद्गलों के निमित्त से उसकी अनंत शक्तियाँ ढँक रहीं हैं, पुद्गलों के निमित्त से उसमें विभाव उत्पन्न होते हैं, अज्ञान के उदय में वह इन्हीं पुद्गलों से राग-द्वेष करता है, व इन्हीं पुद्गलों मे इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है, अगर पुद्गल न होते तो आत्मा में अन्य वस्तु का सम्बन्ध नहीं होता न उसमें विकार व राग द्वेष होता न संसार संसरण होता, संसार में जितना नाटक है सब पुद्गल जनित है।

तुम शरीर में कहीं चिऊंटी से दबाओं तो तुम्हे बोध होगा कि हमें दबाया है -हमें दु:ख का बोध हुआ है। बस, यह जानने की शक्ति रखनेवाला जीव है वही तुम हो, चैतन्य हो, नित्य हो, आत्मा हो। आत्मा के सिवाय एक और पदार्थ जिसे तुमने चिऊंटी से दबाया है वह नरमसा कुछ मैला कालासा कुछ खारासा कुछ सुगंध-दुर्गंधवान सा प्रतीत होता है उसे शरीर कहते हैं। यह शरीर जड़ है, अचेतन है, नाशवान है, पर पदार्थ है, आत्मस्वभाव से भिन्न है। इस शरीर से अहंबुद्धि करना अर्थात् शरीर और शरीर के संबंधी धन, स्त्री, पुत्रादि को अपने मानना मिथ्याज्ञान है। लक्षण भेद के द्वारा निज आत्मा को स्व और आत्मा के सिवाय सब चेतन-अचेतन पदार्थों को पर जानना ही भेदविज्ञान है, इसी का नाम प्रज्ञा है। जिस प्रकार राजहंस दूध और पानी को पृथक्-पृथक् कर देता है उसी प्रकार विवेक द्वारा जीव व पुद्गल का पृथक्करण करना पुद्गलों से अहंबुद्धि व राग-द्वेष हटाकर निजस्वरूप में लीन होना चाहिये और "तेरौ घट सर तामैं तूंही है कमल ताकौ, तूंही मधुकर है स्ववास पहचान रे।" वाली शिक्षा का हमेशा अभ्यास करना चाहिये।

www.vitragvani.com

द्वितीय अधिकार के सार पर प्रवचन

मोक्षमार्ग में अर्थात् भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर के मार्ग में मुख्य अभिप्राय केवलज्ञानादि गुण सम्पन्न आत्मा का स्वरूप समझाने का है। आत्मा अनन्त ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न है। वह पुण्य-पाप के राग से सम्पन्न नहीं है। शुद्धज्ञान, शुद्ध दर्शन, शुद्ध आनन्द आदि अनन्त पवित्रता के पिण्ड से भगवान आत्मा भरा हुआ है। ऐसे आत्मस्वभाव का अनुभव करने से मोक्षमार्ग का प्रारंभ होता है; परन्तु राग की क्रिया करने से धर्म-मोक्षमार्ग होता है ऐसा नहीं है, यह समझाने का हेतु है।

जैसे सुवर्ण की पहिचान कराने के लिए सोने के अलावा पीतल आदि का स्वरूप बतलाना आवश्यक है कि जो कसरदार है, वह सोना है, पीतल और अन्य वस्तु हल्की होती है। सोने का टुकड़ा छोटा होने पर भी वजनी होता है, इससे सोना अन्य धातुओं से पृथक् पड़ जाता है (जाना जा सकता है।) उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा कसदार (वजनी) सोने जैसा है और पुण्य-पाप के विकल्प तो पीतल जैसे हैं तथा शरीर, मन, वाणी तो काँच के टुकड़े जैसे हैं। इसप्रकार उनकी पहिचान होवे तो सोने के कंद समान आनन्दनाथ (भगवान आत्मा) को (रागादि-शरीरादि से) भिन्न पाड़ा (किया) जा सकता है।

इसीप्रकार जैसे हीरे की परख करने के लिये हीरे और काँच के टुकड़े का स्वरूप पहिचानना पड़ता है, तभी काँच के टुकड़े से भिन्न हीरे को परखा जा सकता है। उसीप्रकार श्रीगुरु जीव पदार्थ को पहिचानने के लिए जीवपदार्थ के अलावा अजीव पदार्थ का स्वरूप भी बतलाते हैं कि जिसके द्वारा आत्मा को दृढ़रूप से अजीव से भिन्न करके अनुभव किया जा सके। यह सोना है और यह पीतल आदि इससे भिन्न है, यह हीरा है और यह काँच का टुकड़ा आदि हीरा से भिन्न है। उसी प्रकार यह चैतन्य हीरा है और शरीर तथा रागादि चैतन्य से भिन्न है ऐसा दृढ़ भेदज्ञान कराने के लिए यहाँ श्रीगुरु ने अजीव का स्वरूप भी समझाया है।

अजीवतत्त्व जीवतत्त्व से सर्वथा भिन्न है। जीव का लक्षण तो चेतन है और अजीव का लक्षण अचेतन है। देह, मन, वाणी और पुण्य-पाप में अचेतन लक्षण है। उनमें चेतन लक्षण नहीं है। इसलिए वे जीव नहीं है। शुभराग है वह भी स्वयं अपने को नहीं जानता और चैतन्य को भी नहीं जानता, इसलिये उसको भी अचेतन कहा गया है। शुभराग पर के द्वारा ज्ञात होता है, वह स्वयं नहीं जानता अपितु चैतन्य के द्वारा वह ज्ञात होता है। राग में अपने को जानने की भी ताकत

www.vitragvani.com

नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग स्वयं को नहीं जानता, तो उसके द्वारा चैतन्य तो कहाँ से जाना जा सकेगा? राग को जानना दूसरे के द्वारा होता है। अर्थात् रागरहित चैतन्य द्वारा राग ज्ञात हो-ऐसी चीज है। इसलिए राग को अचेतन अथवा अजीव कहते हैं।

एकबार संवत् 1963 में शरीर की सत्रह वर्ष की उम्र में बड़ौदा जाना हुआ था। वहाँ एक 'भूलभूलैया' है, जिसमें से बाहर निकलने का रास्ता बताने के लिए एक व्यक्ति को खड़ा रखना पड़ता है। ऐसा भूलभूलैया का रास्ता है कि बाहर निकलने की सूझ ही नहीं पड़ती। उसीप्रकार उपवास करने से धर्म होता है, दया से धर्म होता है, दान से धर्म होता है ऐसी अनेक क्रियाओं से धर्म माननेरूप मिथ्यात्व की भूलभूलैया ऐसी है कि उसमें से कैसे बाहर निकलना, वह अज्ञानी को नहीं सूझता। उसको श्रीगुरु छूटने का मार्ग बताते हैं कि 'शरीर, विकल्प और राग यह कोई मेरा स्वरूप नहीं है' इसप्रकार इनसे पृथक् हो तो बाहर निकल सकेगा, अन्य कोई उपाय नहीं है।

'सरोवर किनारे रे हिरण प्यासा रे..अरे रे! सच्चा पानी उसको नहीं मिलता रे लाल...पुण्य की क्रिया में ज्ञान का पानी नहीं मिलता भाई..। मृगजल में जल नहीं मिलता। अनादि से इसके पीछे दौड़-दौड़कर मर रहा है। अब मन के हिरण को वापिस मोड़ना रे...पुण्य-पाप की क्रिया में आसक्त मन को वापस मोड़ बापा! वहाँ पानी नहीं, भाई! वहाँ धर्म नहीं। राग की क्रिया को जाननेवाला ज्ञान राग से भिन्न है। वह ज्ञान ही तेरा स्वरूप है, उसे पहिचान तो धर्म होगा। राग में तेरा चेतन का लक्षण नहीं है, इसलिए उसको अपने से भिन्न जान।

'चेतता नर सदा सुखी है' -ऐसा कहा जाता है न! राग से और पुण्य से भिन्न पड़ता आत्मा सदा सुखी है। लोगों ने शब्दों तो बराबर रखे है कि 'चेतता अर्थात् जागता नर सदा सुखी', परन्तु भाव को नहीं समझते हैं। जीव और पुद्गल को भिन्न पाड़नेवाला चेतता नर है। पुद्गलरूपी है और जीव अरूपी है। पुद्गल खण्ड-खण्ड सहित है और जीव तो अखण्ड है। (आत्मा) चैतन्यमूर्ति अरूपी अखण्ड अभेद कतली है। प्रत्येक आत्मा ऐसा अखण्ड और अरूपी है। सब होकर एक आत्मा नहीं है।

पुद्गल की तरह पुण्य-पाप भी सखंड है। क्षण में गलते हैं और क्षण में मिलते हैं ऐसे ये भाव भी भावपुद्गल हैं। मुख्यरूप से जीव को संसार परिभ्रमण में पुद्गल ही निमित्त कारण है। उपादान तो जीव का अपना है परन्तु जीव पुद्गल का लक्ष्य करके 'यह मेरा है' ऐसा मानता है यह इसको संसार-परिभ्रमण का कारण होता है। वह पर की चीज को अपने से खता लेता है

www.vitragvani.com

-मान लेता है, इसलिए उसके फल में संसार में घूमना पड़ता है। जैसे विवाह के अवसर पर दूसरों के यहाँ से पहिनने के लिए मोती का हार लाये हों उसको अपनी सम्पत्ति में गिन लें तो ? वह चोर ही है, दंड का पात्र है। उसीप्रकार जो पुद्गल को निज मानता है, वह चोर है, उसको संसार की जेल मिलती है।

विवाह के अवसर पर सोने का कड़ा आदि पहिनने को स्त्रिया ले जाती है न! हमारे घर में ही मेरी दीक्षा के पश्चात् छोटे भाई का विवाह था। तो सोने का कड़ा पहिनने को लाए होंगे और वह चोरी हो गया। अब लोग तो सोने की चोरी होने को अपशुकन मानते हैं और बनाव ऐसा बना कि दो वर्ष पश्चात् भाई मर गया। इसलिए लोगों को बहम पड़ जाता है; परन्तु तेरा चैतन्य का सोना लुट रहा है -यह महा अपशुकन है। आनन्द का नाथ चैतन्य भगवान राग और पुण्य को निज मानकर चोर हो रहा है।

मोक्ष अधिकार में आता है कि पर को वस्तु की निज माननेवाला चोर है। दया, दान, व्रतादि के विकल्पों को निज माननेवाला चोर है। शास्त्र में अनेक उपमायें, दृष्टान्त, सिद्धान्त देकर जीव को जगाने का प्रयत्न किया है; परन्तु यह जगे तो हो न! जो मोह की निद्रा में.. ऐसी गहरी नींद में सोया हो, वह कैसे जागे ?

जैसे खाट (पलंग) पर सोया हुआ मनुष्य (पलंग के) उन आठ पायों से पृथक् है। उसीप्रकार आत्मा आठ कर्म और पुण्य-पाप से पृथक् है। जीव तो अन्दर में निराला सत् चिदानन्द प्रभु है; परन्तु अज्ञानी उसको नहीं जानता हुआ 'जीव संयोग में पुद्गलमय शरीर से बँधा है और आत्मकर्मों से सर्वात्मप्रदेशों में जकड़ा हुआ है इसकारण मानो मैं शरीर और कर्म से बँध गया हूँ,' ऐसा मानता है; परन्तु वस्तु कभी बँधती नहीं है। तू तो मात्र भावबंध से बँधा है। तेरी वस्तु तो अबद्धस्पृष्ट है।

अनन्त शक्ति का नाथ आत्मा पुद्गल को बहुमान देने गया, वहां स्वयं ही लुट गया। उसको पुद्गल की महिमा आती है, उसमें अपनी शक्ति ढ़क जाती है- लुट जाती है। स्वयं ही अपने हाथ से लुटायी है और प्रसन्न होता है। इसको पुद्गल के निमित्त से ही विभाव उत्पन्न होता है। पुण्य-पाप यह विभाव है, यह कोई स्वभाव नहीं है और स्वभाव से उत्पन्न भी नहीं हुए हैं। (जीव) जब कर्म के निमित्त का संग करता है, तभी विभाव उत्पन्न होता है। जैसे जब अग्नि लोहे का संग करती है, तभी उस पर घन की चोटें पड़ती हैं, अकेली अग्नि को कोई घन नहीं

www.vitragvani.com

मारता है। उसीप्रकार अकेले जीव को कोई दु:खी नहीं करता है; परन्तु जीव पुण्य-पाप की वृत्तियों में जुड़ता है, तब उसको चार गति के दु:ख की चोट पड़ती है।

अज्ञान के उदय में अज्ञानी इस कर्मरूप पुद्गल के निमित्त से राग-द्वेष करता है अथवा इन पुद्गलों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना करता है। शरीर, स्त्री, प्रतिष्ठा इत्यादि को अनुकूल देखकर (मानकर) उनमें इष्ट की कल्पना करता है और प्रतिकूल देखकर अनिष्ट की कल्पना करता है- यह इसकी मूढ़ता है। वस्तुत: वे सब संयोग तो ज्ञेय हैं, ठीक अठीक नहीं। कोई इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं। जड़ की अवस्था उसके होने के काल में जैसी होनी हो वैसी होती है। तू उसमें कहाँ घुस गया है अथवा वे कहाँ तेरे में आ गये हैं?

यदि पुद्गल नहीं होता अर्थात् जीव की दृष्टि उस पर नहीं होती, उसमें जीव का जुड़ान नहीं होता तो आत्मा में अन्य वस्तु का सम्बन्ध नहीं होता, उसमें विकार अथवा राग-द्वेष नहीं होता। संसार में जितना नाटक है, वह सब पुद्गल जनित है। पुद्गल नाचता है तो नाचे..मेरा भगवान तो आनन्दस्वरूप है, वह पुद्गल के नाटक में नहीं आता है।

यह कहकर मूल तो 'ज्ञाता-दृष्टा' होने को कहा है। 13 वें पद्य में अन्तिम लाइन में आया था कि 'सम्यग्दृष्टि आत्मा नाटक को मात्र देखनेवाला है।' राग हो उसको भी जाननेवाला है, उसको वह निज नहीं मानता है। द्वेष हो, उसको भी जाननेवाला है, उसको वह निज नहीं मानता है। शरीर सुन्दर हो तो भी जानता है, निज नहीं मानता है और कुरूप शरीर हो तो भी सम्यग्दृष्टि तो मात्र जाननेवाला है। वह किसी को अपना नहीं मानता है। इसप्रकार जो 'जानने-देखनेवाला' रहता है, वह धर्मी है। उसका गमन मुक्ति की ओर है। अन्य जो पर को निज मानता है, उसका गमन तो नरक और निगोद की तरफ है।

शरीर और रागादि आत्मा से भिन्न हैं ऐसा अनुभव करना ही धर्म है।

तुम शरीर को कही से दबाओगे तो तुम्हें ज्ञात होगा कि अपने को दबाया गया हैं, अपने को दु:ख का ज्ञान होता है। बस, यह जानने की शक्ति रखनेवाला जीव है, वही तुम हो। तुम चैतन्य हो, नित्य हो, आत्मा हो। जो जाननेवाला है, वही जीव है। यह जीव नित्य और चैतन्यमय है। इसप्रकार यहाँ आत्म की सिद्धि की।

अब पुद्गल द्रव्य की सिद्धि करते हैं-

आत्मा के सिवाय एक अन्य पदार्थ, जिसको तुमने चिवटी से दबाया है; वह नरम जैसा, कुछ मेला-काले जैसा, खारे जैसा, कुछ सुगन्ध-दुर्गन्धवाला ज्ञात होता है उसको शरीर कहते है। कि जो कि पुद्गल है, जड़ है, अचेतन है, नाशवान है और जीव से पृथक परपदार्थ है।

www.vitragvani.com

इसमें नरम जैसा कहकर शरीर का स्पर्श, कुछ मेला-काला कहकर रंग, खारा रस और सुगन्ध-दुर्गन्ध द्वारा गंध गुण बताया है। यह मात्रा भाषा नहीं, वस्तु का स्वरूप है उसे समझाने का हेतु है। जो कुछ भी है, उसे जाननेवाला जीव है और उसके अतिरिक्त स्पर्श, रसादिवाला पदार्थ है वह शरीर है जो कि जड़ है-अचेतन है, नाशवान और पर है। जीव और शरीर का स्वभाव परस्पर विरुद्ध है। आत्मा चेतन है तो शरीर जड़ है। आत्मा नित्य है तो शरीर अनित्य है-नाशवान है। आत्मा स्व है तो शरीर परपदार्थ है।

इसप्रकार आत्मपदार्थ से शरीर भिन्न है। दोनों के पद अर्थात् भाव न्यारे-न्यारे हैं। तो भी अज्ञानीजीव शरीर से कैसा एकमेक हुआ है कि कोई चिवटी से दबावे तो मानो मैं ही दब रहा हूँ ऐसा इसको लगता है। वस्तुतः जीव दबता नहीं है; परन्तु शरीर को दबने से उसे अरुचिकर होता है। उसका जाननेवाला है, वह आत्मा है। शरीर में कुछ होने पर अरुचि अथवा दुःख होता है; वह आत्मा नहीं, किन्तु उनको जाननेवाला है वह आत्मा है। कारण कि ज्ञानस्वरूपी है वह आत्मा है-ऐसा सिद्ध करना है। दुःख है वह आत्मा का स्वरूप नहीं है।

शरीर में बुखार आवे वहाँ मानता है कि मुझे बुखार आया; परन्तु तुझे कहाँ बुखार आया है? तुझको तो बुखार का ज्ञान हुआ है। वस्तुतः तो पुण्य-पाप भी (आत्मा से) भिन्न वस्तु है। उनको जाननेवाला है, वह चैतन्य आत्मा है। पुण्य-पाप के भाव भी जीव के नहीं है; क्योंकि उनमें जानपने का भाव नहीं है। जिसमें जानने का भाव-गुण हो वह आत्मा है।

यह शरीर जड़ है। इसमें अहंबुद्धि करना अर्थात् शरीर सम्बन्धी धन, स्त्री, पुत्रादिक को अपना मानना मिथ्याज्ञान है, मिथ्यादर्शन है। लक्षण भेद द्वारा निज आत्मा को स्व और आत्मा के सिवाय समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों को पर जानना ही भेद-विज्ञान है। राग, शरीर, लक्ष्मी आदि अचेतन और स्त्री, पुत्रादिक का आत्मा चेतन होने पर भी मेरे आत्मा से भिन्न है और भिन्न होकर ही रहा है -ऐसा जानकर राग से भिन्न पड़कर अपने आत्मा में अपनेपने का अनुभव करने का नाम आत्मा का ज्ञान और धर्म कहा जाता है।

लौकिक में बाँझ और अविवाहितों की कोई कीमत नहीं होती, पुत्रादिवालों की ही कीमत होती है कि जिनके पुत्रादिक हैं, उनका ही नाम दुनिया में रहेगा, पुत्र कुल की परम्परा रखेंगे इत्यादि। परन्तु भाई! तेरी आत्मा में स्त्री-पुत्रादिक कुछ है ही नहीं, इसलिए उनसे तेरा नाम रहेगा -यह मान्यता ही झूठ है। जो अपनी वस्तु नहीं है, उसको अपनी मानना तो मूढ़ता और महापाप है।

www.vitragvani.com

भाई! यह अलग ही प्रकार का नाटक है। यहाँ कोई भी परद्रव्य तेरा नहीं है। अपनी चैतन्य ज्योति समस्त चेतन-अचेतन पदार्थों से भिन्न है- ऐसा अनुभव करना ही प्रज्ञा है, उसी का नाम भेद-विज्ञान है; अन्य सब तो कुबुद्धि है।

जिसप्रकार राजहंस दूध और पानी को भिन्न-भिन्न कर देता है, उसीप्रकार विवेक द्वारा जीव और अजीव को भिन्न-भिन्न करना। पुद्गलों में से अहंबुद्धि अथवा राग-द्वेष हटाकर निजस्वरूप में लीन होना चाहिए। '**तेरो घट सर तामैं, तू ही कमल ताकौ, तू ही मधुकर है सुवास पहचान रे..**' -एक पद्य में आया था। उसीप्रकार तू चैतन्य-हंस है। हंस का भोजन अनाज के दाने नहीं होता, वह तो मोती ही चुगता है। उसीप्रकार इस चैतन्य-हंस को पुण्य-पाप और हर्ष-शोक का भोजन नहीं होता। तेरा भोजन तो ज्ञान और आनन्द ही है- ऐसा यहाँ कहते हैं।

तेरे घट में तू ही कमल है और तू ही मधुकर है। इसलिए तू ही अपनी स्व-वास को पहिचान ले। तेरे में अतीन्द्रिय आनन्द की सुगन्ध है। यह पुण्य-पाप और हर्ष-शोक की वास तो सब कुवास है, वह आत्मा की सुवास नहीं है। इसलिए भेदज्ञान करके आत्मा की वास का अनुभव कर ले। आत्मा सबसे पृथक् है। पृथक् हैं ऐसा कहना अलग बात है, (परन्तु) वस्तुतः पृथक् आत्मा का अनुभव करना ही वास्तविक पृथक्पना है। इसलिए हमेशा इस शिक्षा का अभ्यास करना चाहिए। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दरस का सागर है, उसमें स्थिर होकर राग और विकल्प से पृथक् आत्मा के अनुभव करने का नाम भेद-विज्ञान है, उसका अभ्यास हमेशा करना चाहिए।

इसप्रकार यह अजीव अधिकार पूर्ण हुआ। अब कर्त्ता-कर्म-क्रिया अधिकार आयेगा। यह अधिकार सूक्ष्म है।

3

कर्त्ता कर्म क्रियाद्वार

यह अजीव अधिकारकौ, प्रगट बखानौ मर्म।
अब सुनु जीव अजीवके, करता किरिया कर्म।।1।।

अर्थः- यह अजीव अधिकार का रहस्य स्पष्ट वर्णन किया, अब जीव-अजीव के कर्त्ता क्रिया कर्म को सुनो।।1।।

काव्य - 1 पर प्रवचन

यह अजीव-अधिकार के रहस्य का स्पष्ट वर्णन किया। अब जीव-अजीव के कर्त्ता, क्रिया और कर्म सुनों। जीव- अजीव की लक्षण द्वारा भिन्नता तो बताई। अब जीव की क्रिया, उसका कर्त्ता और उसका कार्य क्या है -यह बताते हैं। जड़ की और राग की क्रिया जीव की नहीं है और ज्ञान की क्रिया अजीव की नहीं है -यह सब इसमें आयेगा।।1।।

अब कहते हैं कि भेदविज्ञान में जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है, निज स्वभाव का कर्त्ता है।

प्रथम अग्यानी जीव कहै मैं सदीव एक,
दूसरौ न और मैं ही करता करमकौ।
अंतर-विवेक आयौ आपा-पर-भेद पायौ,
भयौ बोध गयौ मिटि भारत भरमकौ।
भासे छहौं दरबके गुन परजाय सब,
नासे दुख लख्यौ मुख पूरन परमकौ।
करमकौ करतार मान्यौ पुद्गल पिंड,
आप करतार भयौ आतम धरमकौ ।।2।।

अर्थः- जीव पहले अज्ञान की दशा में कहता था कि मैं सदैव अकेला ही कर्म का कर्त्ता हूँ दूसरा कोई नहीं है; परन्तु जब अंतरंग में विवेक हुआ और स्वपर का भेद समझा तब

www.vitragvani.com

सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ, भारी भूल मिट गई, छहों द्रव्य, गुण, पर्याय सहित ज्ञात होने लगे, सब दुख नष्ट हो गये और पूर्ण परमात्मा का स्वरूप दिखने लगा, पुद्गल पिंड को कर्म का कर्त्ता माना, आप स्वभाव का कर्त्ता हुआ।

भावार्थः- सम्यग्ज्ञान होने पर जीव अपने को स्वभाव का कर्त्ता और कर्म का अकर्त्ता जानने लगता है ।।2।। पुनः

काव्य - 2 पर प्रवचन

अज्ञानी कहता है कि शरीर, राग और आत्मा सब एक ही है। शरीर और आत्मा भिन्न नहीं है, राग और आत्मा भिन्न नहीं है। इसलिए जड़ कर्म का कर्त्ता भी मैं हूँ और पुण्य-पाप भाव का कर्त्ता भी मैं ही हूँ। स्वयं को जिसका कर्त्ता माना है, उसमें एकता तो पहले से मानी ही होती है; क्योंकि एकत्व माने बिना अपने को कर्त्ता नहीं माना जा सकता है।

संस्कृत श्लोक में भी 'एक कर्त्ता' शब्द है, उसका अर्थ यह है कि ज्ञानानन्द स्वरूप मैं हूँ, पुण्य-पाप स्वरूप भी मैं हूँ, कर्म और शरीररूप भी मैं हूँ - सब एक ही है -ऐसा मिथ्यादृष्टि भ्रम से मानता है। इसकारण वह मैं दया, दान, व्रतादि के विकल्प का कर्त्ता हूँ -ऐसा मानता है। राग की और आत्मा की क्रिया भिन्न है -ऐसा जो नहीं जानता, (वह) राग की क्रिया का कर्त्ता मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं- ऐसा मानता है।

दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प उत्पन्न होते हैं, उनका कर्त्ता 'मैं ही हूँ', क्योंकि राग और मैं एक ही हैं। जो एक हो, वही उसका कर्त्ता होता है। मैं अन्य का कर्त्ता नहीं होता; परन्तु राग और आत्मा एक ही है, इसलिए मैं ही राग का कर्ता हूँ इसप्रकार अज्ञानी अज्ञानभाव से राग का कर्त्ता होता है। उसको पता नहीं है कि विकल्प मेरी जाति का नहीं है, वह तो कुजात है; उसका कार्य मेरा नहीं है। अज्ञानी दो तत्त्वों को एक मानता है; परन्तु दो तत्त्व एक नहीं होते। दुकान, ऑफिस, घर या कारखानो के माल का कर्त्ता तो मैं नहीं, परन्तु राग की क्रिया का कर्त्ता भी मैं नहीं हूँ- ऐसा यहाँ कहना है।

जहाँतक दृष्टि राग और विकल्प पर पड़ी है, वहाँतक अज्ञानी राग और आत्मा तथा कर्म को एक ही मानता है। जो मेरा है, उसका कार्य भी मेरा ही होगा न! ऐसा अज्ञानी मानता है। देखो, महाव्रतरूप विकल्प का कार्य मेरा है- ऐसा माननेवाला अज्ञानी है, यह बात इसमें आ जाती है। ज्ञानस्वरूप प्रभु में वृत्ति का उत्थान हो, वह इसकी जाति नहीं है प्रभु! जो अपना कार्य हो, वह अपने से भिन्न नहीं पड़ सकता।

www.vitragvani.com

मेरी प्रतिष्ठा -मेरी आबरू बनाये रखूँ- ऐसा अज्ञानी को होता है वह किसलिए? कि वह आबरू को अपना कार्य मानता है। इसकारण मिथ्यादृष्टि को उसे बनाये रखने की वृत्ति होती है। जिसकी दो भावों में एकपने की मान्यता है, वही 'मैं उसको करता हूँ' ऐसा मानता है।

'**अंतर विवेक आयौ**' अरे! मैं तो ज्ञायकस्वरूप आत्मा हूँ- ऐसा विवेक आया। वह किसको आता है? कि जो धैर्यवान होकर आत्मा और पर का भेद जानता है, उसको ऐसा विवेक प्रकट होता है। उसे स्व और पर भिन्न ज्ञात होते हैं। उसको सम्यक् बोध प्रकट होता है। इसलिए कहा है कि '**धर्म विवेक से नीपजे, जो करिये तो थाय।**' राग के विकल्प से भिन्न पड़कर चैतन्य में एकाग्र होने पर स्व-पर का भेदज्ञान हो जाता है कि मैं तो राग से भिन्न चैतन्य हूँ, राग का कार्य मेरा नहीं है।

आत्मा वीतरागस्वरूप चैतन्य है और राग है, वह तो मेल है- विकार है- ऐसा दोनों के बीच भेद जानने पर बोध प्रकट होता है- भेदज्ञान होता है, वहाँ महाभूल मिट जाती है। भ्रमणा की भूल महाभूल है, उसका नाश होता है। प्रभु! आत्मा ज्ञानसूर्य है और राग तो मलिन है। इन्हें भिन्न करने में बहुत पुरुषार्थ है। यह कोई कायर का काम नहीं है। अपना वीर्य जो कि राग में एकता मानकर पड़ा था, वहाँ अब विवेक आया कि मैं तो आनन्दस्वरूप जलहल चैतन्यज्योत हूँ, यह राग मैं नही हूँ। जहाँ ऐसा भेदज्ञान हुआ, वहाँ '**मिटि भारत भरम कौ**' भ्रमणा का महाभार उतर जाता है -मिट जाता है। इसलिए सर्वप्रथम यह भार उतारने का कार्य करने योग्य है।

जो बाहर की वस्तु लेना चाहता है, बाहर से बड़प्पन लेना चाहता है, उसका अर्थ ही यह है कि वह बाहर की चीज को और अपने को एक मानता है। यह प्रत्यक्ष उसके लक्षणों से ख्याल में आता है, वह तो अज्ञानी है। अब जिसको आत्मा और रागादि की भिन्नता का बोध हुआ, उसके सिर से भ्रम का महाभार उतर जाता है। राग से आत्मा का ज्ञान भिन्न है -ऐसा ज्ञान प्रकट होता है और ध्रुववस्तु तो त्रिकाल जैसी है वैसी पड़ी ही है।

लोग इस मूल बात को ग्रहण नहीं करते, इसलिए भ्रमणा में दौड़ पड़ते हैं। अपनी चैतन्यबाजी तो ज्ञान और आनन्द में है, राग में आत्मा नहीं है। जिसमें अपना अस्तित्व नहीं है, उससे पृथक् होकर जिसमें अपना अस्तित्व है, उसको पकड़े तो वहाँ भ्रम मिट जाता है। अनादि का भ्रम लगा था, वह मिट जाता है। सम्यक्बोध प्रकट होता है कि छहों द्रव्य भिन्न हैं और उनके गुण-पर्याय भी भिन्न-भिन्न हैं। सबके गुण-पर्याय सब में हैं। परमाणु द्रव्य है, स्पर्श-रस-गंधादि

www.vitragvani.com

उसके गुण हैं और चलना बोलना आदि उसकी अवस्था है। उसीप्रकार जीव एक द्रव्य है; उसके ज्ञान, दर्शन, सुखादि गुण हैं और ज्ञान-दर्शनादि की निर्मल अवस्था, वह जीव की पर्याय है। इसप्रकार जीव और पुद्गल अत्यन्त भिन्न दो द्रव्य हैं।

लोगों में भेदज्ञानरूप धर्म की बात सुनना भी कठिन पड़े- ऐसा स्थिति है। दया पालो, व्रत करो, तप करो- यही धर्म है- ऐसा वे मान बैठे हैं। इतने मनुष्यों को मांस छुड़ाया, इतने मनुष्य सामायिक करके बैठे, इतने दिन धर्म में व्यतीत किये- इसप्रकार राग के कार्यों को ही धर्म मानते हैं। वे अंधकार में प्रकाश माननेवाले अज्ञानी हैं।

पर से और राग से भिन्न भगवान आत्मा ज्ञान में आये बिना भ्रम नहीं मिटता। भ्रम मिटे तो दिखे कि छहों द्रव्य अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। शरीर शरीर का काम करता है, कर्म कर्म के कारण बँधते हैं और छूटते हैं तथा जीव अपने ज्ञान स्वभाव को करता है। ऐसा कर्त्ता-कर्म का स्वरूप है। कर्त्ता-कर्म की इतनी स्पष्टता समयसार जैसी अन्यत्र कहीं नहीं आती।

'नासे दुःख लख्यौ मुख पूरन परम कौ'-भेदज्ञान होने पर अपने पूर्ण परमात्मा का मुख देखने को मिला और दुःख तो सब नष्ट हो गये। आनन्द- घन चैतन्य को परखा, उसमें पूर्ण परमात्मा का स्वरूप दिखने लगा, वहाँ समस्त अज्ञानजनित दुःख मिट गये।

'करम कौ करतार मान्यौ पुद्गल पिंड'- मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। जब ऐसा विवेक जगा, तब वस्तुतः कर्म का कर्त्ता पुद्गल है, राग का आचरण भी जड़ का है, मेरा नहीं। मैं तो अपने स्वभाव का कर्त्ता हूँ- ऐसा ज्ञानी जानने लगता है।

अज्ञानी तो व्रत पाले, दया करे, आहार को छोड़े; परन्तु वह वस्तु के स्वरूप को और उसकी क्रिया को नहीं जानता। भगवान आत्मा देह की क्रिया के करने या छोड़ने से रहित है, यह तो अज्ञानी जानता नहीं और क्रिया का भार सिर पर लेकर घूमता है और ऊपर से वाद-विवाद करता है; परन्तु विवेक जागृत नहीं करता है।

'आप करतार भयौ आतमधरम कौ'- ऐसा कहा, उसमें यह बात भी आ गई कि ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं होता। ज्ञानी अपने आत्मा के धरम को अर्थात् कार्य को करता है; परन्तु राग को अथवा देह की क्रिया को नहीं करता है। धर्मी अपने ज्ञान-दर्शन, आनन्द का कर्त्ता होता है, यह धर्म है और यही विवेक ज्ञान है।

लोग संसार की पढ़ाई में समय गँवाते हैं, परन्तु इस अन्तर के- भेदज्ञान के अभ्यास के

www.vitragvani.com

लिए समय नहीं निकालते। स्त्री-पुत्रादि के लिए और मान-प्रतिष्ठा के लिये मजदूरी कर-करके मर जाते हैं; परन्तु आत्मा के अभ्यास के लिए तो समय नहीं मिलता और यों ही भव हार जाते हैं। जो अपनी वस्तु नहीं है उसके लिए तो जीवन लगा देता है और अपने कार्य के लिए इसको समय नहीं है।

जो भेदज्ञान का अभ्यास करके अपने ज्ञानानन्द का कर्त्ता होता है, वह धर्म का कर्त्ता है। ऐसा धर्मी जीव अपने को स्वभाव का कर्त्ता और कर्म का अकर्त्ता जानने लगता है।

जाही समै जीव देहबुद्धि कौ विकार तजै,
वेदत सरूप निज भेदत भरमकौं।
महा परचंड मति मंडन अखंड रस,
अनुभौ अभ्यासि परगासत परमकौं ।
ताही समै घटमैं न रहै विपरीत भाव,
जैसैं तम नासै भानु प्रगटि धरमकौं।
ऐसी दसा आवै जब साधक कहावै तब,
करता ह्वै कैसे करै पुग्गल करमकौ ।।3।।

अर्थः- जब जीव शरीर से अहंबुद्धि का विकार छोड़ देता है और मिथ्यामति नष्ट करके निजस्वरूप का स्वाद लेता है तथा अत्यन्त तेज बुद्धि को सुशोभित करनेवाले पूर्ण रस भरे अनुभव के अभ्यास से परमात्मा का प्रकाश करता है तब सूर्य के उदय से नष्ट हुए अंधकार के समान कर्म के कर्त्तापने का विपरीत भाव हृदय में नहीं रहता। ऐसी दशा प्राप्त होने पर वह आत्म-स्वभाव का साधक होता है। तब पौद्गलिक कर्मों को कर्त्ता होकर कैसे करेगा? अर्थात् नहीं करेगा ।।3।।

काव्य - 3 पर प्रवचन

'**जाहीं समै जीव देहबुद्धि कौ विकार तजैं**, - जब जीव देह और विकार मैं हूँ- ऐसी बुद्धि को तजता है -ऐसा कहा है; कर्म घटे अथवा कर्म का अभाव होवे तो ऐसा विवेक आता है -ऐसा नहीं है; परन्तु जब जीव पुरुषार्थ से देहबुद्धि को तजता है, तब उसको सम्यक् विवेक प्रकट होता है, भ्रम का नाश होता है और अपना आनन्दस्वरूप प्रत्यक्ष वेदन में आता है। इसका नाम भेदज्ञान और इसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। अनादि से पुण्य-पाप का वेदन है, वह भ्रम का अर्थात् मिथ्यात्व का वेदन है। जीव को अज्ञान में भी स्त्री के शरीर का, दाल, भात, सब्जी का

www.vitragvani.com

अथवा मकान का वेदन नहीं है। इसको वेदन तो हर्ष-शोक और राग-द्वेष के परिणाम का है, परद्रव्य का वेदन नहीं।

जीव ने अनन्तकाल में नरक-निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक विकार का ही वेदन किया है, संयोग का नहीं। शुभाशुभ विकारीभाव का ही वेदन किया है। पुण्य-पापभाव का कर्त्ता होता है और उन्हें ही भोगता है। भाव का ही वेदन है, वस्तु का वेदन नहीं। जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक का वेदन है, वह अज्ञान वेदन है। आत्मा स्वयं निर्विकार स्वरूप है, उसका तो अज्ञानी को पता ही नहीं है।

जब आत्मा ज्ञानी होता है, तब '**वेदत सरूप निज, भैदत भरम कौ**' -अपने आनन्दस्वरूप का वेदन करता है, अनुभव करता है और राग का वेदन मेरा है- ऐसी भ्रमणा का नाश होता है। यह धर्म की कला और यही धर्म की रीति है।

'**महापरचंडमति**' अत्यन्त तीव्र बुद्धि को सुशोभित करनेवाले पूर्ण रस से भरे अनुभव के अभ्यास से परमात्मा का प्रकाश करता है। तब सूर्य के उदय से नष्ट हुए अंधकार के समान कर्म के कर्त्तापने का विपरीतभाव हृदय में नहीं रहता। मति और श्रुतज्ञान स्वसन्मुख होकर अनुभव होने पर मति-श्रुतज्ञान का प्रचंड तेज प्रकट होने से राग की एकता का अंधकार मिट जाता है और जो अखण्ड अतीन्द्रिय आनन्द का रस है, उसको वेदन करता हुआ मतिज्ञान अनुभव के अभ्यास द्वारा परम स्वभाव का प्रकाश करता है। मैं परमात्मा हूँ ऐसा प्रकाश होता है। '**अनुभव अभ्यासि परगासत परम कौ**' जो अनादिकाल से स्वरूप के अस्तित्व के भान बिना राग और विकल्प के अस्तित्व को ही अपना कर्त्तव्य मानता हुआ अंधकार में पड़ा था। वह अब मति-श्रुतज्ञान के तेज के बल से अपने अनुभव के अभ्यास के द्वारा परमात्मा की शक्ति का प्रकाश सुशोभित करता है।

कितनी सरल भाषा में मूल बात कर दी है। शुद्ध विज्ञानघन ऐसे परम स्वरूप को राग से भिन्न होकर प्रकाशित करता है। राग से भिन्न होकर अपने परम स्वरूप का अनुभव करना ही सम्यग्ज्ञान और विवेक है।

'**ताहि समै घट मैं न रहै विपरीतभाव**'- जब विकल्प से भिन्न अपने परमात्म स्वरूप का भान होता है, उसी समय विपरीत भाव अर्थात् राग की एकता बुद्धि अपने भाव में नहीं रहती। जैसे सूर्योदय होने पर अंधकार नष्ट हो जाता है; उसीप्रकार अनुभव के अभ्यास द्वारा ज्ञानसूर्य का उदय होने पर कर्म के कर्त्तापने का विपरीतभाव हृदय में नहीं रहता है, नष्ट हो जाता है।

www.vitragvani.com

जिससमय राग और कर्म की बुद्धि का नाश होकर आत्मस्वभाव की बुद्धि होती है, वहाँ राग की एकता का भ्रम नहीं रहता है। प्रत्येक गाथा में भिन्न-भिन्न भाषा में भिन्न-भिन्न भाव की स्पष्टता है। साधारण लोगों को सब एक जैसा लगता है; परन्तु एक नहीं है, अनेकप्रकार की स्पष्टता है।

'ऐसी दशा आवै जब साधक कहावै तब' आत्मा साधक कब कहलाता है? कि जब ऊपर कही, वैसी दशा प्रकट होती है; तब वह आत्मा का साधक कहलाता है। चौथे गुणस्थान से ही साधक कहलाता है। राग की एकता तोड़कर स्वभाव की एकता को साधता हुआ परमात्मा को साधता हुआ साधक पौद्गलिक कर्मों को किसप्रकार करे?

धर्मी जीव पुद्गल को और राग को कैसे करे? सूर्योदय हो, वहाँ अंधकार कैसे रहे? उसीप्रकार चैतन्यप्रकाश के तेज की क्रिया को करता हुआ धर्मी राग की एकता के अंधकार को कैसे रखे?

जो अनादि से विकार का साधक था, वह अब आत्मस्वभाव का साधक हुआ; उसी का नाम धर्म है। इस मार्ग जाने की यह विधि है- ऐसा पहले समझे तो उसको अन्तर्मुख होने का प्रयोग करने का अवसर आता है; परन्तु यदि समझ ही मिथ्या होवे तो अन्तर में उतरने का - आत्मानुभव का सच्चा प्रयत्न होता ही नहीं है।

देखो न! 'पहले व्यवहार होता है, फिर निश्चय होता है' ऐसा उल्टा प्रचार (अभी) चलता है.....जैसे सोना और पत्थर साथ में है, उसमें से सोना भिन्न होता है, वह स्वयं से होता है; पत्थर साधक नहीं है। उसीप्रकार राग से ज्ञान नहीं होता। राग तो अंधकार है। अंधकार में बैठने से उजाला नहीं होता। राग से धर्म का साधन नहीं होता। शास्त्रों में व्यवहार से राग को वीतरागता का साधन कहा है; परन्तु व्यवहार तो अन्यथा कथन करता है। वस्तुतः राग वीतरागता का कारण नहीं है। पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में एकदम स्पष्ट किया है कि 'व्यवहार है अवश्य; परन्तु उसकी श्रद्धा करना योग्य नहीं है।'

भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। उसमें विकल्प-मात्र का अभाव है- ऐसा जिसको भान होता है, वह ज्ञानी पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता होकर किसप्रकार करे? तथा राग का कर्त्ता होकर राग को किसप्रकार करे? वह तो अपनी ज्ञान की क्रिया को करता है, आनन्द की क्रिया को करता है; परन्तु राग की क्रिया को कैसे करे? (नहीं करता)

यहाँ कहते हैं कि व्यवहार करते-करते निश्चय होगा- ऐसा मानना रहने देना। जब तू

www.vitragvani.com

व्यवहार का कर्त्तापना छोड़ेगा, तब तुझको साधकपना प्रकट होगा। व्यवहार साधन है और निश्चय उसका साध्य है- यह कथनमात्र कहा जाता है, वास्तव में ऐसा नहीं है। राग से आत्मा की शुद्धि बढ़ती ही नहीं, स्वभाव का आश्रय करते-करते शुद्धि बढ़ती है। छठवें गुणस्थान की शुद्धि सातवें गुणस्थान की शुद्धि का कारण है; परन्तु ऐसा लम्बा कथन नहीं करके छठवें में शुद्धि के साथ रहनेवाला राग किस जाति का होता है? वह बताकर उसे ही सातवें की शुद्धि का कारण कह दिया है; परन्तु वस्तुतः तो शुद्धि ही शुद्धि का कारण होती है।।3।।

आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है, मात्र ज्ञातादृष्टा है।

जगमैं अनादिकौ अग्यानी कहै मेरौ कर्म,
करता मैं याकौ किरियाकौ प्रतिपाखी है।
अंतर सुमति भासी जोगसौं भयौ उदासी,
ममता मिटाइ परजाइ बुद्धि नाखी है ।
निरभै सुभाव लीनौ अनुभौ के रस भीनौ,
कीनौ विवहारदृष्टि निहचैमैं राखी है।
भरम की डोरी तोरी धरमकौ भयौ धोरी,
परमसौं प्रीत जोरी करमकौ साखी है ।।4।।

अर्थः- संसार में अनादि काल का यह अज्ञानी जीव कहता है कि कर्म मेरा है, मैं इसका कर्त्ता हूँ और यह मेरा किया हुआ है। परन्तु जब अंतरंग में सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ तब मन वचन के योगों से विरक्त हुआ, परपदार्थों से ममत्व हट गया, परजाय से अहंबुद्धि छूट गई, निःशंक निजस्वभाव ग्रहण किया, अनुभव में मग्न हुआ, व्यवहार में है तो भी निश्चयपर श्रद्धा हुई, मिथ्यात्व का बन्धन टूट गया, आत्मधर्म का धारक हुआ, मुक्ति से मुहब्बत लगाई और कर्म का मात्र ज्ञाता-दृष्टा हुआ, कर्त्ता नहीं रहा।।4।।

काव्य - 4 पर प्रवचन

अब कहते हैं कि आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं, मात्र ज्ञाता-दृष्टा है।

जिसको वस्तु के स्वभाव का भान नहीं है, ज्ञान और आनन्द का धाम भगवान आत्मा जिसकी दृष्टि में नहीं आया है, उसको 'मैं ज्ञायक हूँ' -ऐसा तो भासता ही नहीं -इसकारण पुण्य-पाप के विकल्प ही भासते हैं और मैं उनका कर्त्ता हूँ, वह मेरे कार्य हैं ऐसा मानता है।

www.vitragvani.com

'जग में अनादि को अज्ञानी कहै मेरौ कर्म'- इसका अर्थ यह है कि ज्ञान-दर्शन-आनन्दस्वभाव में दृष्टि नहीं होने से विभाव पुण्य पाप के विकल्प- यही मैं और यही मेरा कार्य, ऐसा अज्ञानी म'नता है। मेरे अस्तित्व में विकार होता है, इसलिए विकार ही मेरा कार्य है - ऐसा वह मानता है।

'करता मैं याकौ किरिया कौ प्रतिपाखी है' वर्तमान में जो पुण्य-पाप के विकल्प होते हैं, अज्ञानी को उनका ही भास है। उसको अपना मूलस्वरूप तो भासित नहीं होता, इसलिए वह अपने को इस पुण्य-पाप की क्रिया का ही कर्त्ता मानता है, उसको क्रिया का ही पक्षपात हैं। मैं चैतन्यमूर्ति हूँ -ऐसा पक्ष नहीं है। अनादि से जीव की यह दशा है। निगोद से लेकर नौंवे ग्रैवेयक तक जानेवाले द्रव्यलिंगी साधु को क्रिया का पक्षपात है, परन्तु मैं चैतन्यमूर्ति हूँ -ऐसा पक्षपात नहीं है।

जीव को अनादि से ज्ञान के पिण्ड और आनन्द के धाम (भगवान आत्मा) की दृष्टि तो है ही नहीं, पर्यायबुद्धि है; इसलिए जो प्रकट अंश है, उतना ही मैं हूँ -ऐसा अज्ञानी मानता है। मैं तो विकल्प से रहित वस्तु हूँ -ऐसी अन्तर्मुख दृष्टि तो हुई नहीं; इसकारण पर्याय में ही अहंबुद्धि धारण करके बैठा है। जो विकार की परिणति वर्त रही है, उसका मैं कर्त्ता हूँ और वह मेरा कार्य है -ऐसा ही उसको भासित होता है। उसे तो व्यवहार से धर्म होता है, पुण्य से पवित्रता होती है -ऐसा पक्ष बँध गया है।

चैतन्यमूर्ति महाप्रभु तो आनन्द और ज्ञान का सागर होने पर भी अनादि से अज्ञानी को उसकी रसिकता छूट गई है और राग की रसिकता हो गई है। इसका स्वभाव तो वीतराग स्वभाव अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है; परन्तु उसके सन्मुख दृष्टि नहीं करके राग की दृष्टि की है। इसकारण जहाँ हो, वहाँ 'यह कार्य मैंने किया है'-ऐसी कर्त्ताबुद्धि करता है। यह पुस्तक मैंने बनाई है -ऐसा करके उसका कर्त्ता होता है। जो विकल्प उठता है; उसकी सँभाल में उसका पक्षपात हो जाता है।

प्रथम दो पंक्तियों में अनादि के अज्ञानी के पक्षपात की सिद्धि की है। अब कहते हैं-**'अंतर सुमति भासी'**..जिसको अन्तर में सम्यग्ज्ञान का उदय हुआ है कि अरे! मैं तो पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप वस्तु हूँ, विकल्प और राग तो मेल-मलिनता है। वे मेरी वस्तु नहीं हैं- ऐसा जानने पर अब वह जोग से उदास हुआ है। अर्थात् मन-वचन-काया के योगों से विरक्त हुआ है, राग से उदास हुआ है और उसने स्वभाव के आसन में दृष्टि लगाई है।

www.vitragvani.com

यह मार्ग कोई अलग है बापू! यह कोई कल्पित बात नहीं है। भाषा संक्षिप्त, परन्तु भाव बहुत गहरे-ऊँचे हैं।

अन्तर में चैतन्यसूर्य का उदय होने पर अन्तर में समता होती है और राग की ममता मिट जाती है। यह विकल्प मेरा है -ऐसी बुद्धि छूट जाती है। स्वयं विकल्प से उदास हो जाता है। द्रव्यबुद्धि होने पर पर्यायबुद्धि छूट जाती है।

'निरभै सुभाव लीनौ' अर्थात् नि:शंक गुण प्रकट हुआ। मूल श्लोक में-पाठ में 'अभय' शब्द है, उसका अर्थ निर्भय किया है। ज्ञानी को स्वभाव की नि:शंकता के कारण अब कोई भय नहीं रहा है।

भगवान आत्मा मन-वचन-काय की क्रिया से तो पहले ही भिन्न है, विकल्प से पार है- ऐसी दृष्टि नहीं करे, वहाँतक मिथ्यादृष्टि पुण्य की क्रिया कर-करके मर जाये तो भी वह निगोद के पंथ में है।

श्रोता:- पुण्य की क्रिया करे, फिर भी निगोद में चला जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री:- पुण्य की क्रिया राग है और स्वभाव तो परम पवित्र है, उसके साथ राग को मिलाता है, यह मिथ्यात्व है। यह मिथ्यात्व ही निगोद का बीज है। जो, 'राग की क्रिया मेरी है' ऐसा पक्षपात करता है, वह मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्व का फल निगोद है।

श्रोता:- बहुत क्रिया करने पर भी खाली ही रहता है?

पूज्य गुरुदेवश्री:- अज्ञान में सब खाली ही है। स्वप्न में मिठाई खायें, परन्तु पेट तो खाली ही रहता है इसकी तरह है। एक लकड़हारे को बहुत भूख लगी थी और स्वप्न में गर्म-गर्म मिठाई खाई, परन्तु जहाँ जगा कि वहाँ तो पेट खाली ही था; उसीप्रकार अज्ञान में बहुत राग की क्रिया करे, उसको लगता है कि मेरा दु:ख मिटता है और शान्ति होती है- ऐसा मिथ्याभ्रम होता है; परन्तु जहाँ ज्ञान में जागृत होकर देखता है तो वहाँ ख्याल आता है कि अरे! यह राग की क्रिया मेरी नहीं है, इससे मेरी अशान्ति नहीं मिटेगी। मैं राग की क्रिया से पार हूँ।

'अनुभौ रस भीनौ'- नि:शंक निज स्वभाव को ग्रहण करने पर अनुभव में मग्न हो जाता है। राग से भिन्न स्वभाव को देखते ही उसके ज्ञानानन्द रस में मग्न हो जाता है। **'कीनौ विवहार दृष्टि निहचे मैं राखी है'**- अर्थात् जहाँतक पूर्ण वीतराग न हो, वहाँतक ज्ञानी को विकल्प होते हैं, वह व्यवहार है- यह होता है; परन्तु उसने दृष्टि निश्चय में स्थापित की हुई है, श्रद्धा तो निश्चय

www.vitragvani.com

की है। व्यवहार में होने पर भी दृष्टि निश्चय स्वभाव में गई है। शुभभाव है तो भी दृष्टि निश्चय स्वभाव पर गई है, वह ज्ञानी है। मेरे स्वभाव में अशुभ और शुभ दोनों भाव नहीं है, मैं तो शुद्धस्वभावी हूँ- ऐसी निश्चय दृष्टि ज्ञानी को सदा वर्त रही है। इसकारण शुभाशुभभाव होने पर भी 'वे मेरे हैं'- ऐसी दृष्टि ज्ञानी को नहीं होती है।

'भरम की डोरी तोरी' अर्थात् ज्ञानी ने भ्रम-मिथ्यात्व की डोरी को तोड़ दिया है। इसकारण ज्ञानी को मिथ्यात्व कर्म का बंधन भी नहीं होता है। **'धरम कौ भयौ धोरी'**- ज्ञानी आत्मा के धर्म का धारक हुआ है। जैसे जोतने योग्य बैल माल को धरकर आगे ले जाता है; उसीप्रकार धर्म के धोरी ज्ञानी अपने धर्म को धरकर आगे बढ़ते हैं। जो रागरहित निर्मल श्रद्धा -ज्ञान को धारण करते हैं, वे धर्म के धारक धर्मी हैं।

'परम सौं प्रीति जोरी'- परम अर्थात् परमात्मा, (ज्ञानी को) अपने परमात्म स्वभाव की प्रीति हुई है। मुक्ति की लगन लगी है और कर्म की प्रीति टूट गई है। इसकारण वे उत्पन्न होनेवाले रागादि विकल्पों के साक्षी हैं, कर्त्ता नहीं। धर्मी रागादिक को अपने नहीं मानते हैं। उनको तो मुक्ति की प्रीति लगी है। पुण्य-पाप होते हैं; परन्तु वे उसके साक्षी हैं, कर्त्ता नहीं; वे ज्ञानी हैं।

एक-एक श्लोक देखो तो सही! समुद्र भरा है। इसे समझना ही एकमात्र करने योग्य कार्य है, अन्य सब तो पाप के पोटले हैं।

जैसे कन्या की सगाई होते ही कैसा अभिप्राय पलट जाता है कि यह पिता का घर है, मेरा नहीं; जिसके साथ विवाह निश्चित हुआ है, वह वर और घर मेरा है। सगाई दो वर्ष रहे, वहाँ तक रहती पिता के घर में ही है- बाहर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है; परन्तु मन में तो पति और उसका घर ही अपना है- ऐसा घोलन है। उसीप्रकार धर्मी की सगाई स्वभाव के साथ हो गई है- इसकारण वह राग में खड़ा होने पर भी उसको राग में एकत्व नहीं होता, उसको तो स्वभाव का ही घूटन-घोलन है। वह पुण्य-पाप का स्वामी नहीं होता, वह तो अपने चैतन्य स्वभाव का ही स्वामी होकर रहता है। राग के अभाव होने में समय लगता है वहाँतक राग रहता है; परन्तु दृष्टि तो चैतन्य स्वभाव पर ही स्थापित रहती है।

इसप्रकार, दृष्टि फिरने-बदलने पर संयोग तो ज्यों के त्यों होने पर भी परिवार, धनादि किसी में भी 'मेरापना' नहीं होता। जो मेरा है, वह मुझसे भिन्न नहीं पड़ सकता। मेरा तो ज्ञानस्वभाव है, वही मेरा है, अन्य कोई मेरा नहीं है।

www.vitragvani.com

भेदविज्ञानी जीव लोगों को कर्म का कर्त्ता दिखता है पर वह वास्तव में अकर्त्ता है:-

जैसो जो दरब ताके तैसो गुन परजाय,
ताहीसौं मिलत पै मिलै न काहु आनसौं।
जीव वस्तु चेतन करम जड़ जातिभेद,
अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कानसौं ।।
ऐसौ सुविवेक जाकै हिरदै प्रगट भयौ,
ताकौ भ्रम गयौ ज्यौं तिमिर भागै भानसौं।
सोई जीव करमकौ करता सौ दीसै पै,
अकरता कह्यौ है सुद्धताके परमानसौं ।।5।।

अर्थ:- जो द्रव्य जैसा है उसके वैसे ही गुण-पर्याय होते हैं और वे उसी से मिलते हैं अन्य किसी से नहीं मिलते। चैतन्य जीव और जड़ कर्म में जातिभेद है सो इनका नितम्ब और कान के समान अमिलाप है, ऐसा सम्यग्ज्ञान जिसके हृदय में जाग्रत होता है उसका मिथ्यात्व, सूर्य के उदय में अन्धकार के समान दूर हो जाता है। वह लोगों को कर्म का कर्त्ता दिखता है परन्तु राग-द्वेष आदि रहित शुद्ध होने से उसे आगम में अकर्त्ता कहा है ।।5।।

काव्य - 5 पर प्रवचन

अब कहते हैं कि लोगों को भेदविज्ञानी जीव कर्म का कर्त्ता दिखता है (परन्तु वह वास्तव में अकर्त्ता है। ज्ञानी भी सबके साथ रहता होवे, खाता होवे, पीता होवे, व्यापार करता होवे; परन्तु अन्दर में सबसे निराला रहता है, वह किसी को नहीं दिखता। इसकारण अज्ञानी को धर्मी कर्म के कर्त्ता दिखते हैं; परन्तु वे वास्तव में कर्त्ता नहीं है।

यहाँ मोती और कान की अर्थात् कान और उसमें पहने हुए बुकिया (गहने) की भिन्नता बताकर दो द्रव्यों की भिन्नता बताई है। बहिनें गहने पहनती हैं न! कल सेठ का पत्र आया है, उसमें लिखा है कि 'घर में माँ साब अकेले थे और चोर आकर पचास-साठ हजार के गहने ले गये, किन्तु माताजी ने आपके वचनानुसार शान्ति और समाधान रखा है। जो वस्तु जहाँ जाने की है, जैसे रहने की है, वैसे रहती है- ऐसा जानकर आकुलता और आर्तध्यान नहीं किया है। जड़ के परमाणु किसी के रखने से रहें ऐसा नहीं है। वे जहाँ जानेवाले हैं, वहाँ जायेंगे; उनमें फेरफार

www.vitragvani.com

करने में कोई समर्थ नहीं है। इतना भरोसा तो प्रत्येक मुमुक्षु को होना चाहिए। इतना भी भरोसा नहीं होवे तो आर्त्तध्यान करके पाप बाँधेगा; परन्तु (पर) वस्तु में कोई फेरफार नहीं होगा।

दृष्टि में पर के प्रति ममत्व होने से इसको दु:ख होता है कि अरे रे! मेरी वस्तु चली जाती है; परन्तु भाई! वह तेरी थी ही नहीं। तू दृष्टि में से पर का ममत्व छोड़ दे तो तुझको दु:ख नहीं होगा। तू तो ज्ञान और आनन्द का घर है। कोई उसमें से कुछ नहीं लूट सकता है। अन्य परवस्तु तो रहना हो तो रहती है और जाना हो तो जाती है। उसको रखने के लिए तीनकाल में कोई समर्थ नहीं है।

'जीव वस्तु चेतन करम जड़ जातिभेद, जैसे कान के साथ लोंग (कान का गहना) पहना हो, वह लटकता हो, परन्तु उसका मोती और कान एक नहीं हो जाते। भिन्न वस्तुयें भिन्न ही रहती हैं। उसीप्रकार जीव और कर्म की जाति भिन्न है, वह कभी एक नहीं होती। **'ऐसो सुविवेक जाकै हिरदे प्रकट भयौ,'** जो द्रव्य जैसा है, वैसे ही उसके गुण-पर्याय होते हैं। वे गुण-पर्याय अन्य द्रव्य में नहीं मिलते। भगवान आत्मा एक जीवद्रव्य है, ज्ञान और आनन्द उसके गुण हैं और वैसी ही निर्मल दशा वह उसकी पर्याय है। मलिन पर्याय, वह उसकी पर्याय नहीं है। रागादि की मलिन पर्याय और पुण्य-पाप की क्रिया, वह आत्मा की क्रिया नहीं है।- ऐसा विवेक जिसको प्रकट होता है, उसका मिथ्याअंधकार शीघ्र नष्ट हो जाता है।

जो द्रव्य के गुण और पर्याय होते हैं, उनका मेल उसी द्रव्य से खाता है, अन्य द्रव्य के साथ उनका मेल नहीं खाता। भगवान आत्मा जानने-देखने के गुणवाला द्रव्य है, तो उसकी पर्याय जानने-देखने रूप हो वही उसकी पर्याय है। पुण्य-पाप के रागवाली पर्याय के साथ उसका मेल नहीं खाता। जैसे कान और मोती नहीं मिलते हैं; उसीप्रकार आत्मा की निर्मल पर्याय और मलिनरूप रागादि पर्याय- दोनों मिलती नहीं हैं। दोनों की जाति में अन्तर है। शरीर की जाति तो अलग है ही; परन्तु राग की पर्याय के साथ भी आत्मा की निर्मल पर्याय का मेल नहीं खाता है।

भगवान आत्मा तो जानने-देखनेवाला चेतन है और पुण्य-पाप कर्म तो अचेतन हैं, वे आत्मा की जाति के नहीं हैं। अहो! पण्डित बनारसीदासजी ने एक-एक पद मक्खन जैसा बनाया है।

आत्मा तो चेतन है; तो चेतन में राग-द्वेष आयेंगे? व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प आता है, वह चेतन नहीं है। जब जीव का और उसका (ही) जातिभेद है तो अन्य कार्यों का कर्त्ता तो आत्मा कैसे हो सकता है? निहालचन्द भाई सोगानी की पुस्तक (द्रव्यदृष्टि प्रकाश) में लिखा

www.vitragvani.com

है कि पंगु समझकर शरीर को टिकाने के लिए दो समय आहार दो। मैं तो पंगु हूँ' स्वयं का कलकत्ता में कपड़े का व्यापार चलता था, तो भी ऐसा कहते हैं।

'अमिल मिलाप ज्यौं नितंब जुरै कान सौं' –जैसे कान का और मोतियों का मिलाप नहीं होता; उसीप्रकार चेतन और अचेतन का मिलाप नहीं होता। जड़ और चैतन्य के जातिभेद होने से वे कभी एक नहीं होते। ऐसी वस्तुस्थिति है। भाई! इसकी समझ कर! इसका ज्ञान कर! इसका ध्यान कर! अन्य सब क्रियाकांड हों; परन्तु आत्मा उसका कर्त्ता नहीं है।

जिसके हृदय में ऐसा सुविवेक प्रकट हुआ है कि चैतन्यस्वभाव और राग के मेल नहीं है, अमेल है; दोनों में जातिभेद है- ऐसा जाननेवाले ज्ञानी की दृष्टि में राग नहीं आता। जैसे सूर्योदय हो, वहाँ अंधकार नहीं रहता; वैसे ही स्वभाव की दृष्टि हो, वहाँ राग की दृष्टि नहीं ठहर सकती। उसकी दृष्टि में राग आता ही नहीं, भिन्न पड़ जाता है। विकल्प मेरा है और मेरा कर्त्तव्य है –ऐसा भ्रम छूट जाता है। बाहर में तो ऐसा दिखता है कि यह (ज्ञानी) खाता है, पीता है, सोता है.. परन्तु बापू! अन्दर में इसे भेद पड़ गया है। समझ में आता है न..

सम्यग्दृष्टि जीवड़ा करे, कुटुंब प्रतिपाल ।
अन्तर से न्यारा रहे, ज्यों धाय खिलाये बाल ।।

सम्यग्दृष्टि परिवार का पालन भलीभाँति करता है, परन्तु अन्दर से प्रीति टूट गई है; कोई भी अपना भासित नहीं होता है। जैसे धाय माता बालक को दूध पिलाती है, परन्तु उसको अपना नहीं मानती; उसीप्रकार ज्ञानी परिवार आदि को संभालता है, परन्तु अपना नहीं मानता। बाहर से ज्ञानी-अज्ञानी की क्रिया समान दिखने पर भी अन्दर में बहुत फेर पड़ गया है।

अरे! धर्मी पूर्व पुण्योदय से राजपाट आदि की महान प्रवृत्ति में खड़ा दिखे, परन्तु उससे न्यारा है और अज्ञानी निवृत्ति लेकर नग्न मुनि हो गया हो तो भी (पर के साथ) एकता टूटी नहीं है। जिसने राग को और आत्मा को एक माना है, उसकी धर्म के लिए की हुई प्रवृत्ति भी अंधकारमय ही है और जिसके अन्दर से राग छूटा है वह छह खण्ड के राज्य में दिखने पर भी उसमें उसकी एकता नहीं होती है।

'अकरता कह्यो है सुद्धता के परमान सौं' ज्ञानी की दृष्टि राग-द्वेषादि से रहित शुद्ध होने से उसको आगम में अकर्त्ता कहा है। जहाँ ज्ञाता-दृष्टा की शुद्धता की ज्योति प्रकट हुई है, वहाँ वह राग-द्वेष का कर्त्ता नहीं दिखता। राग-द्वेष करने पर भी कर्त्ता नहीं दिखता है –ऐसा नहीं,

www.vitragvani.com

किन्तु अज्ञानी को कर्त्ता दिखता है; क्योंकि अज्ञानी की पकड़ में अन्तर है। जैसे बिल्ली अपने बच्चे को ढीले मुँह से पकड़ती है और चूहे को भींचकर पकड़ती है; इसीप्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की पकड़ में अन्तर होता है।

धर्मी की दृष्टि में अपने शुद्धात्मा की पकड़ होने से वह राग को नहीं पकड़ता है। राग होता है, उसको जानता है। वहाँ अज्ञानी को ऐसा दिखता है कि ज्ञानी राग को करता है; परन्तु वस्तुत: ज्ञानी राग का कर्त्ता नहीं होने से अकर्त्ता है -ऐसा आगम में कहा है। भगवान ने ज्ञानी को राग का अकर्त्ता देखा है और कहा है।

आगे इस नाटक समयसार शास्त्र में कर्त्ता-कर्म-क्रिया द्वार के पाँचवें श्लोक का छठवाँ पद है। इसमें जीव और पुद्गल के भिन्न-भिन्न स्वभाव बताये हैं।

जीव और पुद्गल के जुदे-जुदे स्वभाव

जीव ग्यानगुन सहित, आपगुन-परगुन-ज्ञायक।
आपा परगुन लखै, नांहि पुग्गल इहि लायक।।
जीवदरव चिद्रूप सहज, पुदगल अचेत जड़।
जीव अमूरति मूरतीक, पुदगल अंतर बड़ ।।
जब लग न होइ अनुभौ प्रगट,
तब लग मिथ्यामति लसै।
करतार जीव जड़ करमकौ,
सुबुधि विकास यहु भ्रम नसै ।।6।।

अर्थ:- जीव में ज्ञान गुण है, वह अपने और अन्य द्रव्यों के गुणों का ज्ञाता है। पुद्गल इस योग्य नहीं है और न उसमें अपने वा अन्य द्रव्यों के गुण जानने की शक्ति है। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अरूपी है और पुद्गल रूपी, इस प्रकार दोनों में बड़ा अंतर है। जब तक भेदविज्ञान नहीं होता तब तक मिथ्यामति रहती है और जीव अपने को कर्म का कर्त्ता मानता है परन्तु सुबुद्धि का उजेला होने पर यह भ्रान्ति मिट जाती है।।6।।

काव्य - 6 पर प्रवचन

मूल श्लोक में 'स्व-पर परिणति' शब्द का प्रयोग किया है। उसका अर्थ द्रव्य-गुण-पर्याय और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय का आत्मा जाननेवाला है ऐसा करना। परिणति का अर्थ केवल

www.vitragvani.com

पर्याय मात्र ही यहाँ नहीं लेना। जीव ज्ञान गुण सहित है, अतः अपने और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को जान सकता है, परन्तु पुद्गल में ज्ञान गुण नहीं है, इसलिए वह अपने द्रव्य-गुण-पर्याय अथवा पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को नहीं जानता। पुद्गल में स्व-पर को जानने की योग्यता नहीं है।

'जीवदरव चिद्रूप सहज' -जीवद्रव्य स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप चेतन है और पुद्गल अचेतन है। जीवद्रव्य अरूपी है और पुद्गल द्रव्य रूपी है, इसप्रकार दोनों में महान अन्तर है। इसीप्रकार जीव और राग में भी बहुत अन्तर है -ऐसा यहाँ समझ लेना।

जबतक जीव इन दोनों के बीच में भेदविज्ञान नहीं करता, वहाँतक अज्ञान रहता है। मैं चैतन्य हूँ और यह शरीर, कर्म, रागादि मेरे से भिन्न है ऐसा जानकर अनुभव नहीं करता, वहाँतक वह मिथ्यादृष्टि-मिथ्याबुद्धि को धारण करता है। इसकारण राग मेरा है और मैं उसका कर्त्ता हूँ ऐसा मिथ्या-अभिप्राय रहा करता है। वस्तु के स्वभाव में राग नहीं है; परन्तु जहाँतक राग, शरीर और कर्म से भिन्न आत्मा का अनुभव नहीं करता, वहाँतक वह मिथ्यामति जीव राग का कर्त्ता हुए बिना नहीं रहता। उसका कारण यह है कि जिसको अपने से एक रूप माने, उसका कर्त्ता वह होता ही है। अपने से रागादि को भिन्न जाने तो उसका कर्त्ता नहीं होता है।

'करतार जीव जड़ करम कौ, सुबुद्धिविकास यहु भ्रम नसै' -ज्ञान का विकास होने पर 'राग मेरा कार्य और मैं उसका कर्त्ता' ऐसा भ्रम नष्ट हो जाता है। जहाँतक राग और आत्मा की एकता मानता है, वहाँतक ही कर्त्ता होता है। दोनों की भिन्नता जानने पर कर्त्ताबुद्धि छूट जाती है। भगवान आत्मा तो ज्ञायक है। अमूर्तिक चैतन्य प्रकाशमय है और शरीर-कर्मादि तो अचेतन-जड़ है। पुण्य-पाप के विकल्प में चेतना नहीं है, इसलिए वह भी अचेतन है। जबतक उनमें इसकी दृष्टि पड़ी है कि 'यह मेरा अस्तित्व है', इनसे भिन्न अपने अस्तित्व का भान नहीं है, वहाँतक वह (अज्ञानी) अपने को विकार का कर्त्ता मानता है।

यह सिद्धान्त ही है कि जीव जिसको अपना मानता है, उसका कर्त्ता हुए बिना नहीं रहता है। इसकारण वह जहाँतक विकार को और पर को अपना मानता है वहाँतक उनका कर्त्ता हुए बिना नहीं रहता है। जहाँतक प्रकट आत्मा का अनुभव करके अपने को सबसे भिन्न नहीं जानता, वहाँतक मिथ्याबुद्धि रहती ही है कि मैं पर और राग का कर्त्ता हूँ; तथापि जीव पर के कार्य तो कर ही नहीं सकता; राग का कर्त्ता होता है।

तू कहाँ है? तू जहाँ है, उसका तू कर्त्ता है। यदि तू ज्ञान में है तो ज्ञान का कर्त्ता है और राग

www.vitragvani.com

में है तो राग का कर्त्ता है। तू कौन है? कहाँ है? कैसे है?- ऐसा अपने को पूछने पर मैं राग में हूँ, रागी हूँ, शरीरवाला हूँ, धनवाला हूँ ऐसा जवाब आता हो तो उनका ही कर्त्ता होगा; क्योंकि तेरी बुद्धि मिथ्या है। अब यदि सुख बुद्धि का विलास होने पर विकार और शरीरादि तो मेरे से भिन्न है- ऐसा भासित हो, मैं तो ज्ञायकस्वरूप हूँ, विकार मेरा स्वरूप नहीं है- ऐसा (विकारादि से) भिन्न पड़े तो स्वयं अपने से भिन्नस्वरूप का कर्त्ता नहीं होता। राग-द्वेष तो मेल है और मैं तो निर्मलस्वभावी हूँ- ऐसा जाने तो मेल का कर्त्ता नहीं होता।

आत्मा अपने जानने-देखने के परिणाम को करता है। यह भी भेद पाड़कर उपचार से कहा जाता है, परन्तु जहाँतक पर्यायबुद्धि है, पुण्य-पाप और रागादि भावों में मेरेपने की बुद्धि है, वहाँतक उसको कर्त्ताबुद्धि भी पड़ी है। जहाँ इसकी दृष्टि विभाव से हटकर स्वभाव में जाती है, वहाँ विभाव से भिन्न पड़ गया हुआ वह जीव विभाव का कर्त्ता नहीं होता, मात्र उस राग को जानता है। उन जानने के परिणाम का कर्त्ता स्वयं और वह ज्ञान परिणाम इसका कार्य है- ऐसा उपचार लागू पड़ता है। अभेद में भेद पाड़कर विचारे तो आत्मा के इस ज्ञान परिणाम का कर्त्तापना है; परन्तु आत्मा पर का कर्त्ता तो उपचार से भी नहीं है।

सुबुद्धि का विकास होने पर -चैतन्य स्वभाव का भान होने पर, राग से पृथक् पड़ा हुआ ज्ञान 'राग मेरा कार्य है और मैं उसका कर्त्ता हूँ'- ऐसा नहीं मानता है। राग सम्बन्धी अपना ज्ञान यह मेरा कार्य है और मैं इसका कर्त्ता हूँ- ऐसा भेद उपचार से किया जाता है। मैं राग का कर्त्ता हूँ और राग मेरा कार्य है- ऐसा तो उपचार से भी नहीं है। सम्यग्ज्ञान का प्रकाश होने पर वह रागरूपी अंधकार का कर्त्ता नहीं होता है।

मैं पर की दया पाल सकता हूँ- ऐसी मान्यता तो मिथ्यादृष्टि की होती है; क्योंकि उसको 'मैं पर के कार्यों का अधिकारी हूँ'- ऐसा मानकर दया का भाव आया है। इसकारण वह परजीव और अपने को एक मानता है। जो दया के विकल्प को अपना मानता है, वह जीव विकार का कर्त्ता होता है और विकार मेरा कार्य है- ऐसा मानता है। परजीव को मारने का भाव आवे या बचाने का भाव आवे वे दोनों विकल्प हैं। जो उनको अपना स्वरूप मानता है, उसका वह कर्त्ता होता है; परन्तु जिसको राग से भिन्न अपने स्वरूप का भान हुआ है, वह राग का कर्त्ता नहीं होता; क्योंकि वह राग को अपने तत्त्व से भिन्न तत्त्व (आस्रव) जानता है। इसकारण वह भिन्न तत्त्व का कर्त्ता नहीं होता है।

मुमुक्षुः- यह बात अभी बराबर बैठती नहीं है?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री:- बात बैठती नहीं तो फिर से लेते हैं। आत्मा ज्ञानस्वभावी है। इसकारण राग आता है, उसीसमय उस राग के साथ सम्बन्ध नहीं करके अपने ज्ञान में रहकर राग को मात्र जानता है। सेठियों को पैसे की व्यवस्था का राग आता है न! पाँच लाख मकान में डालना, दस लाख व्यापार में डालना इत्यादि... तो यह राग आता है, उससमय ज्ञान तो उस राग को जानता है। ज्ञान राग को करता नहीं है। ज्ञान राग को जानता है यह भी उपचार से है। ज्ञान का तो स्व-परप्रकाशक स्वभाव है। इसकारण सहज स्व-पर का जानना होता है। उसमें आत्मा ने पर को जाना अथवा राग को जाना ऐसा भेद पड़ता होने से वह भी व्यवहार है। मैं ज्ञायक हूँ और यह मेरे परिणाम हैं- ऐसा भेद पड़ा, इसलिए वह व्यवहार है अर्थात् उपचार है। 'आत्मा जानता है' बस, यह अभेद है!

आत्मा जाननेवाला होने से स्व-पर की परिणति को जानता है- ऐसा पाठ में कहा है। अत: इसका अर्थ यह है कि आत्मा अपने द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है और पर के द्रव्य-गुण-पर्याय को जानता है। पुद्गल अपने को अथवा पर को नहीं जानता; क्योंकि उसमें जानने का गुण नहीं है। राग भी अपने को अथवा आत्मा को नहीं जानता, इसलिए वह भी अचेतन है।

जगत के जीवों की मान्यता में और इस सत्य तत्त्वस्वरूप में जमीन-आकाश जितना अन्तर है। लोग तो दया पालना, दान करना, व्रत पालना, मन्दिर बनाना आदि में धर्म मानते हैं। जबकि यहाँ कहते हैं कि इन सब विकल्पों का कर्त्ता होनेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। जो जाननेवाला है, वह ज्ञानी है।

विभाव परिणति से स्वभाव परिणति भिन्न है। विभाव परिणति आस्रव तत्त्व है और आत्मा तो ज्ञायक तत्त्व है। इन दोनों को एक मानता है, वहाँ तक वह अज्ञानी है और वह अज्ञान से आस्रव का कर्त्ता होता है; परन्तु जब सुबुद्धि प्रकट होती है, तब मैं कर्त्ता और राग मेरा कार्य ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती। लोग तो पालीताना में शत्रुंजय की प्रदक्षिणा कर आने को धर्म मानते हैं और उसका लाभ लेने के लिए दही-पराँठे (थेपला) श्रीखण्ड-शाकर का पानी आदि तैयार रखते हैं; परन्तु भाई! इसमें तुझे अथवा यात्रा करनेवाले को कोई धर्म होनेवाला नहीं है। इसमें जो शुभ विकल्प आया, उसका जो कर्त्ता होता है, वह भी राग और आत्मा को एक मानता होने से अज्ञानी है। जो जड़ के कार्यों को मैं करता हूँ- ऐसा मानता है, वह तो मूढ़ मिथ्यादृष्टि है ही; परन्तु तदुपरांत राग के कार्य को अपना माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है- ऐसा यहाँ कहना है।

अहो! ऐस मनुष्यदेह अनन्तकाल में मिला है। भाई! आँख बंद होते ही तेरा पता नहीं लगेगा। इस भव में 'आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, राग से भिन्न है'- ऐसा यदि निर्णय नहीं किया तो कहाँ चला जायेगा भाई? चौरासी के अवतार में तेरा कहीं पता नहीं लगेगा। वहाँ कोई

www.vitragvani.com

तुझको मदद करने नहीं आयेगा। तू अपनी उलटी दशा के परिणाम का कर्त्ता होता हैं, वहाँ तुझे सुलटा कौन करावे ?

शरीरादि की क्रिया तो मेरी नहीं; परन्तु राग की क्रिया भी मेरी नहीं है- ऐसा समझने पर भ्रम मिटने योग्य हैं; परन्तु जीवों को मिथ्यात्व के पाप का पता ही नहीं है। मिथ्यात्व ही महापाप है। सूक्ष्म मिथ्यात्व भी कषाय खाने खोलने की अपेक्षा अनन्तगुना पाप है- यह इसको पता नहीं है। लोगों को यह बात तो रुचती नहीं है और बाहर में हो..हा और प्रदर्शन करते हैं।

इसप्रकार पाँच श्लोक (6 पद) हुए। अब छठवा श्लोक और उसका पद लेते हैं।

यः परिणमति स कर्त्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नें न वस्तुतया ।।

इस कलश में कर्त्ता-कर्म और क्रिया का स्वरूप कहा है। इस पर बनारसीदास जी द्वारा रचित पद इसप्रकार है:-

कर्त्ता, कर्म और क्रिया का स्वरूप

करता परिनामी दरव, करम रूप परिनाम।
किरिया परजयकी फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम ।।7।।

अर्थ:- अवस्थाएँ पलटनेवाला द्रव्य कर्त्ता है, उसकी अवस्था कर्म है और अवस्था से अवस्थान्तर होना क्रिया है; इसप्रकार वस्तु के तीन नाम हैं।

विशेष:- यहाँ अभेदविवक्षा से कथन है, द्रव्य अपने परिणामों को करनेवाला स्वयं है इसलिये वह उनका कर्त्ता है, वे परिणाम द्रव्य के हैं और उससे अभिन्न हैं इसलिये द्रव्य ही कर्म है, द्रव्य अवस्था से अवस्थान्तर होता है और वह अपनी सब अवस्थाओं से अभिन्न रहता है इसलिये द्रव्य ही क्रिया है। भाव यह है कि द्रव्य ही कर्त्ता है, द्रव्य ही कर्म है और द्रव्य ही क्रिया है; बात एक ही है नाम तीन हैं ।।7।।

काव्य - 7 पर प्रवचन

जो कार्य करे, वह कर्त्ता है; जो कार्य हुआ, वह कर्म है और पर्याय का रूपान्तर होना, वह क्रिया है। जैसे कि कुम्हार कर्त्ता है, घड़ा उसका कार्य है और मिट्टी के पिंड की पर्याय बदलकर घटरूप हुई, वह क्रिया है; परन्तु यह भेदअपेक्षा से व्यवहार कथन है। अभेदअपेक्षा से मिट्टी

www.vitragvani.com

ही कर्त्ता है, मिट्टी ही घटरूप होने से कर्म है और मिट्टी की ही अवस्था पलटकर घटरूप हुई, इसलिए मिट्टी ही क्रिया है। इसीप्रकार जहाँतक जीव में अज्ञानभाव हैं, वहाँ तक वह शुभाशुभभाव का कर्त्ता है, वह भाव उसका कार्य है और उसकी ही क्रिया है और जो ज्ञानी होता है, वह राग का कर्त्ता नहीं है; परन्तु राग सम्बन्धी अपने ज्ञान का कर्त्ता है, ज्ञान उसका कार्य है और ज्ञान की क्रिया वह ज्ञान की है। धर्मी शरीरादि परद्रव्यों अथवा राग का कर्त्ता नहीं है। धर्मी तो अपने धर्म परिणाम का -निर्मल पर्याय का कर्त्ता है और वह पर्याय उसका कार्य तथा क्रिया है।

ज्ञानी की दृष्टि राग से हट गई है और ज्ञायक पर स्थापित हो गई है, इसकारण वह ज्ञायक भाव के परिणाम का कर्त्ता होता है। वह पुण्य-पाप के परिणाम का कर्त्ता नहीं है; परन्तु जो होते हैं; उन्हें जानता है- इसकारण वह ज्ञान ज्ञानी का कार्य है और ज्ञानी की ही वह क्रिया है। संक्षिप्त में- जो द्रव्य की अवस्था होती है, वह द्रव्य उसका कर्त्ता है और अवस्था उसका कार्य है। मिट्टी कर्त्ता है और घड़ा कार्य है। अज्ञानी जीव कर्त्ता और पुण्य-पाप के भाव उसका कार्य है। ज्ञानी जीव कर्त्ता है और ज्ञानभाव उसका कार्य है।

यहाँ कहते हैं कि जहाँतक तेरी दृष्टि पुण्य-पाप के राग पर है, वहाँतक तुझको अपने स्वभाव का अनादर है। जहाँ ज्ञायक भाव का आदर होगा, वहाँ राग होगा; परन्तु उसका आदर नहीं रहेगा। विचारे लोगों को यह अन्तरतत्त्व का मार्ग सुनने को नहीं मिलता है और जिन्दगी व्यर्थ चली जाती है। जिसको पुण्य-पाप के भाव की मिठास है, उसको तो ज्ञायकस्वभाव का अनादर है; परन्तु जिसको ज्ञायकभाव का आदर आया है- चैतन्य की दृष्टि हुई है, उसको पाप-पुण्यभाव का आदर नहीं रहता।

यह यात्रा करने से, तपस्या करने से, व्रत पालने से, दान देने से कुछ धर्म तो होता है न! ऐसा माननेवाले अंधे हैं और ऐसा मनवानेवाले भी अंधे हैं। बापू! तेरे घर में ज्ञानस्वभाव है, तेरे घर में राग नहीं है; इसलिए राग से धर्म नहीं होता है।

ज्ञानी ज्ञान का कर्त्ता है और अज्ञानी राग का कर्त्ता है। अशुभराग मिटकर शुभराग हो या शुभराग मिटकर अशुभराग हो, वह उसकी क्रिया है और ज्ञानी को ज्ञान-आनन्द की दशा थी, वह पलटकर विशेष ज्ञान-आनन्द की दशा होती है, वह ज्ञानी की क्रिया है। एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप होने का नाम क्रिया है। इसप्रकार कर्त्ता-कर्म और क्रिया तीनों नाम एक ही वस्तु के हैं।

विशेष:- यहाँ अभेद विवक्षा से कथन है। द्रव्य स्वयं अपने परिणामों को करनेवाला है।

www.vitragvani.com

इसकारण वह उनका कर्त्ता है। वे परिणाम द्रव्य के हैं और उससे अभिन्न है- इसकारण द्रव्य ही कर्म है। जैसे कि मिट्टी के परिणाम घटरूप हुए, वे मिट्टी से अभिन्न हैं, इसलिए मिट्टी कर्त्ता है और मिट्टी ही कर्म है। उसीप्रकार आत्मा में अज्ञानभाव से शुभाशुभभाव हुए, उनमें आत्मा ही परिणमा है, इसलिए आत्मा ही विकारी भावरूप कर्म है। अज्ञानी उन परिणामों को अपने से अभिन्न मानता है, इसलिए विकारी भाव ही आत्मा है, और ज्ञानी के जानने-देखने के परिणाम होते हैं, उनसे वह अभिन्न है; इसलिए ज्ञानी ही ज्ञानरूप परिणमता होने से ज्ञान ही कर्म है। कर्त्ता और कर्म एक ही द्रव्य में है, अभिन्न है; इसलिए वह द्रव्य ही कर्त्ता है और द्रव्य ही कर्म है।

भाई! यह सब धीरज से समझने योग्य बात है। द्रव्य एक अवस्था से दूसरी अवस्थारूप होता है और अपनी समस्त अवस्थाओं से अभिन्न रहता है, इसलिए द्रव्य ही क्रिया है। भगवान आत्मा शरीर की अवस्थारूप नहीं होता। शरीर की प्रत्येक अवस्था में उसके परमाणु परिणम रहे हैं, इसलिए परमाणु ही क्रिया है और आत्मा की प्रत्येक अवस्था में आत्मा परिणम रहा है; इसलिए वह अवस्था आत्मा ही है। आनन्द की अवस्था में- क्रिया में आत्मा परिणमता है; इसलिये आनन्द, वह आत्मा है; और विशेष आनन्दरूप से परिणमता है, वह भी आत्मा की क्रिया होने से आत्मा ही है।

ऐसी बात कभी सुनी थी भाई ?

भाई:- कहाँ से सुनी हो साहब!

अरे! जीवों को सत्य बात सुनने को भी नहीं मिली है- इसकारण वे विपरीत मार्ग में चले जा रहे हैं और धर्म हुआ मानते हैं। उनका भव का किनारा किस दिन आयेगा? वीतराग मार्ग की बातें सूक्ष्म हैं भाई! दुनिया के साथ उसका कहीं मेल खाये ऐसा नहीं है।

संक्षिप्त में भाव यह है कि द्रव्य ही कर्त्ता है, द्रव्य ही कर्म है और द्रव्य ही क्रिया है। वस्तु एक ही है, नाम तीन हैं। शरीर की अवस्था शरीर के परमाणुओं से होती है, आत्मा उसका बिलकुल कर्त्ता नहीं है। इसीप्रकार अज्ञानभाव से राग होता है, उसका कर्त्ता वह अज्ञानी आत्मा ही है, रागरूप होने की क्रिया भी आत्मा की होने से आत्मा ही है। एक पर्याय पलट कर दूसरी पर्याय हुई, इसलिए कोई द्रव्य नहीं पलट गया है -ऐसा कहना है। आत्मा सम्यदर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणामरूप परिणमता है, इसलिए वह आत्मा ही है, अन्य द्रव्य नहीं।

www.vitragvani.com

पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव होना, वह कोई तेरा स्वरूप नहीं है; परन्तु तू उत्साह से उस भाव का कर्त्ता होकर अपना कर्म मानता है, उसमें तेरे स्वरूप का अनादर होता है; चैतन्यमूर्ति भगवान परमानन्द परमात्मा का अनादर होता है।

'वस्तु एक त्रय नाम'- करनेवाला वह 'कर्त्ता', कार्य वह 'कर्म' और अवस्था का पलटना, वह 'क्रिया'- ऐसे नाम तो तीन पड़े हैं, परन्तु वस्तु तीन नहीं है। एक ही वस्तु के तीन नाम हैं।

इसप्रकार यह छठवें कलश (7वें पद) का अर्थ हुआ। अब सातवाँ कलश (8वाँ पद)-

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमण्येकमेव यतः।।

इस कलश में कर्त्ता, कर्म और क्रिया का एकत्व बताते हैं-

कर्त्ता, कर्म और क्रिया का एकत्व

करता करम क्रिया करै, क्रिया करम करतार ।
नाम-भेद बहु विधि भयौ, वस्तु एक निरधार ।।8।।

अर्थः- कर्त्ता, कर्म और क्रिया का करने वाला है, कर्म भी क्रिया और कर्त्तारूप है, सो नाम के भेद से एक ही वस्तु कई रूप होती है ।।8।। पुनः

काव्य - 8 पर प्रवचन

कर्म और क्रिया का करनेवाला कर्त्ता है और कर्म भी कर्त्ता और क्रियारूप है। इसकारण नामभेद से एक ही वस्तु कितने ही रूप होती है। एक द्रव्य के कार्य का कर्त्ता अन्य नहीं है। घड़े का कर्त्ता कुम्हार नहीं है। घड़ा होने के काल में मिट्टी ही स्वयं घटरूप परिणमति है, तब कुम्हार तो मात्र निमित्त है। दाल, भात, सब्जी, रोटी उन परमाणुओं से स्वयं होती है, उनका कर्त्ता बाई अथवा अग्नि आदि नहीं है। एक-एक रजकण स्वयं बफकर तैयार होता है, उसमें पानी या अग्नि कारण नहीं है।

प्रवचनसार के ज्ञान अधिकार की 'स्वयंभू' की गाथा (16 वीं गाथा) में बहुत स्पष्ट किया है कि जो-जो परिणाम होते हैं, उन-उनरुप वस्तु स्वयं परिणमति है। इसलिए आत्मा के प्रत्येक परिणाम का कर्त्ता आत्मा होने से आत्मा ही कर्म और क्रिया है।

www.vitragvani.com

एक करम करतव्यता, करै न करता दोई।
दुधा दरव सत्ता सधी, एक भाव क्यौं होइ ।।9।।

अर्थः- एक कर्म की एक ही क्रिया व एक ही कर्त्ता होता है दो नहीं होते, सो जीव पुद्गल की जब जुदी जुदी सत्ता है तब एक स्वभाव कैसे हो सकता है?

भावार्थः- अचेतन कर्म का कर्त्ता वा क्रिया अचेतन ही होना चाहिये। चैतन्य आत्मा जड़ कर्म का कर्त्ता नहीं हो सकता ।।9।।

काव्य - 9 पर प्रवचन

जड़ और चेतन भिन्न-भिन्न द्रव्य है तो उनके वर्तमान कार्य का कर्त्ता वह-वह द्रव्य ही है। जीव का कार्य जड़ नहीं करता और जड़ का कार्य जीव नहीं करता। किसी भी एक कर्त्तव्य के कर्त्ता दो द्रव्य नहीं हो सकते। जैसे कि आत्मा में वर्तमान में राग-द्वेष का कार्य होता है, उसका कर्त्ता अज्ञानी जीव है, कर्म उसका कर्त्ता नहीं है। जीव भी राग को करे और कर्म भी राग को करे -ऐसा नहीं होता है। दो द्रव्य साथ मिलकर एक द्रव्य के कार्य को करे-ऐसा हो ही नहीं सकता।

आत्मा में ज्ञान की हीनता हो रही है, उस कार्य को जीव करता है, कर्म नहीं करता है। जीव भी ज्ञान की हीनता को करता है और कर्म भी कराता है- ऐसा नहीं होता। समयसार आदि में दृष्टान्त दिया है कि 'जैसे हल्दी और फिटकरी मिलने से लाल रंग होता है, माता और पिता दोनों के द्वारा (संयोग से) बालक होता है, एक द्रव्य से कार्य (विकार) नहीं होता, एक कार्य के कर्त्ता दो द्रव्य हैं।'- यह कथन निमित्त बतलाने के लिए है; अन्यथा कार्य तो एक द्रव्य से ही होता है। विकार को जीव भी करे और कर्म भी करावे- ऐसा नहीं होता। अज्ञानी जीव स्वयं अकेला ही विकार को करता है, कर्म उसको विकार नहीं करता।

जीव दूसरों की दया पालता है -ऐसा कहा जाता है, उसमें जीव तो मात्र दया के भाव करता है। सामनेवाले जीव की दया तो उसके अपने से पलती है अर्थात् उसकी आयु अवशेष होवे तो वह बचता है। आयु अवशेष न हो तो अन्य जीव के दया के भाव होने पर भी वह नहीं बचता है। इसप्रकार जीव एक अपने ही कार्य का कर्त्ता है।

श्रोताः- इसमें भागीदारी में काम नहीं होता?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री:- नहीं, भागीदारी से काम होता ही नहीं। जीव तो अज्ञान दशा में मात्र राग करता है; परन्तु वह अन्य के कार्य नहीं कर सकता। एक कार्य के कर्त्ता दो द्रव्य हो ही नहीं सकते हैं। अन्य को रुपये देते हो, उसमें रुपये एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने का कार्य रुपयों के परमाणुओं से होता है, तुम उसके कर्त्ता नहीं हो। तुम तो मात्र रुपये देने के भाव के कर्त्ता हो।

इसलिए यहाँ कहा है कि जड़ और चेतन की सत्ता भिन्न है। जब दोनों द्रव्य भिन्न है तो उनका स्वभाव एक कैसे हो सकता है? दोनों की सत्ता भिन्न है तो एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की क्रिया को कैसे कर सकता है?

ये सब श्लोक कर्त्ता-कर्म अधिकार की 86वीं गाथा के हैं।

सामनेवाला (अन्य) जीव दु:खी है, इसलिए दया के भाव हुए- इसकारण यह जीव और वह जीव दोनों उस दया के कर्त्ता हैं- ऐसा नहीं है। यह रूपये अन्य के पास जाते हैं, वह परमाणुओं का कार्य है और हाथ का भी कार्य है- ऐसा नहीं है। हाथ तो मात्र निमित्त है, वे परमाणु स्वयं वहाँ जाते हैं।

परमाणु में अथवा आत्मा में जिस समय जो दशा होती है, वह उसका कार्य अथवा कर्म कहलाता है। दोनों भागीदारी में एक कार्य नहीं कर सकते। परमाणु और आत्मा में प्रत्येक समय अवस्था पलटती है, वह उनकी अपनी-अपनी क्रिया है। एक समय में जो क्रिया थी, वह पलटकर दूसरे समय में दूसरी क्रिया होती है, उसका कर्त्ता उसका द्रव्य है। मूल पाठ में देखो न..! **'नोमौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयो प्रजायेत।'** अर्थात् यह सिद्धान्त है कि एक ही क्रिया और कर्म के कर्त्ता दो द्रव्य नहीं हो सकते। इसके लिए दृष्टान्त दें तो समझ में आ सकता है। भगवान की प्रतिमा की स्थापना का कार्य होता है वह परमाणुओं ने भी किया और भक्तों ने भी किया- ऐसा नहीं है। जो द्रव्य परिणमता है, वही उस क्रिया का कर्त्ता है; इसलिए परमाणु उसका कर्त्ता है। परमाणु और आत्मा दो भिन्न द्रव्य हैं। आत्मा परमाणु के कार्य को नहीं करता। आत्मा में विकल्प होता है, इसलिये परमाणुओं का कार्य होता है- ऐसा भी नहीं है।

जिसका होनापना-सत्ता ही भिन्न है, उसकी क्रिया का कर्त्ता अन्य द्रव्य हो ही नहीं सकता। आत्मा राग भी करे और व्यापार भी करे- ऐसा नहीं हो सकता। व्यापार तो नहीं करे, परन्तु दो घंटे दुकान में जाकर बैठे और ध्यान रखे तो अन्तर तो पड़ता है या नहीं है? अन्तर पड़ता दिखता भी है, परन्तु उसका कर्त्ता जीव नहीं है। सेठ का भाव सेठ के पास रहता है और जड़ का भाव

www.vitragvani.com

जड़ के पास रहता है। एक-दूसरे के भाव को परस्पर में करें- ऐसा तीन काल-तीन लोक में भी नहीं हो सकता।

दया से मेघकुमार के संसार का अभाव हुआ -ऐसी बात अन्य में (श्वेताम्बर में) आती है, वह मात्र कल्पित है। राग से संसार का अभाव कैसे हो सकता है? राग से संसार का अभाव होता है- यह जैन सिद्धांत ही नहीं है। पर की दया से भव घटते भी नहीं हैं। सम्मेद शिखर की एकबार वंदना करनेवाले को नरक-पशुगति नहीं होती है- यह बात भी परमार्थ नहीं है। क्या सम्मेदशिखर जीव के भाव को कर सकता है? भगवान की प्रतिमा से जीव शुभभाव को करता है- ऐसा नहीं है। जीव स्वयं शुभभाव को करता है, जीव के परिणाम को प्रतिमा नहीं करती है। दो द्रव्यों की क्रिया को एक द्रव्य कर ही नहीं सकता। प्रतिमा अपनी अवस्था को करती है, अन्य जीव की अवस्था को नहीं करती।

अचेतन कर्म अथवा क्रिया का कर्त्ता अचेतन ही होता है और चेतन की क्रिया अथवा कर्म का कर्त्ता चेतन ही होता है। जिसको यह बात मान्य नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में रहकर भी कोई एक कार्य का कर्त्ता दो द्रव्यों को मानता है तो वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। कोई तो ऐसा कहते हैं कि 'जो यह मानते हैं कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का नहीं करता, वह दिगम्बर जैन नहीं है।' जब कि यहाँ (शास्त्र में) तो कहते हैं कि 'जो यह मानता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य करता है, वह दिगम्बर जैन नहीं है।' अब दसवें पद्य में कर्त्ता-कर्म-क्रिया पर विचार करते हैं।।9।।

कर्त्ता, कर्म और क्रियापर विचार

एक परिनामके न करता दरव दोइ,
दोइ परिनाम एक दर्व न धरतु है।
एक करतूति दोइ दर्व कबहूं न करै,
दोइ करतूति एक दर्व न करतु है ।।
जीव पुद्गल एक खेत-अवगाही दोउ,
अपनें अपनें रूप कोउ न टरतु है।
जड़ परनामनिकौ करता है पुदगल,
चिदानंद चेतन सुभाउ आचरतु है ।।10।।

www.vitragvani.com

अर्थः- एक परिणाम के कर्ता दो द्रव्य नहीं होते, दो परिणामों को एक द्रव्य नहीं करता, एक क्रिया को दो द्रव्य कभी नहीं करते, दो क्रियाओं को भी एक द्रव्य नहीं करता। जीव और पुद्गल यद्यपि एक क्षेत्रावगाह स्थित हैं तो भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते। पुद्गल जड़ है इसलिये अचेतन परिणामों का कर्त्ता है और चिदानंद आत्मा चैतन्यभाव का कर्त्ता है।।10।।

काव्य - 10 पर प्रवचन

देखो, क्या कहते हैं? एक परिणाम के कर्त्ता दो द्रव्य नहीं होते। ज्ञानावरणादिक कर्म बँधते हैं उनके बँधने की क्रिया का कर्त्ता कर्म है। छह प्रकार के कारणों से ज्ञानावरणी कर्म को बाँधता है- ऐसा कहा है, इसलिए वे छह प्रकार के भाव कर्म को बांधने की क्रिया करते हैं- ऐसा नहीं है। आत्मा ज्ञानावरणी कर्म को बाँधता है- यह बात तो अत्यन्त झूठ है। जब कर्म बँधते हैं तब जीव के भाव निमित्तरूप होते हैं, इसलिये जीव ने कर्म बांधा- ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। तत्त्वार्थसूत्र में यह सब आता है कि छह कारण से ज्ञानावरणी बँधता है, अन्य छह कारण से दर्शनावरणी बँधता है। इसप्रकार प्रत्येक कर्म बँधने में जीव के जो-जो भाव निमित्त हैं, वह वहाँ बताया है। आत्मा ज्ञान की आशातना के परिणाम करता है, परन्तु कर्म बाँधने का कार्य आत्मा का नहीं है। कर्म के परिणाम को कर्म ही करता है, जीव कर्म के परिणाम को नहीं करता है।

निमित्त आवे तो उपादान में कार्य होता है- यह बात अत्यन्त झूठ है। उपादान स्वयं ही अपनी उस-उस समय की क्रिया का कर्त्ता है। उपादान और निमित्त दोनों मिलकर एक कार्य को करते हैं- ऐसा नहीं है, दोनों अपने-अपने कार्य को करते हैं। 'वोरा ब्रदर्स'-'कोठारी ब्रदर्श' -ऐसे एक नाम से बहुत भाई मिलकर कार्य करते हैं- ऐसा नहीं है। दीपक हवा से बुझता है -ऐसा नहीं है। दीपक और पवन दो मिलकर बुझने के कार्य को करते हैं- ऐसा नहीं हो सकता। दीपक स्वयं बुझता है। पवन तो पवन का कार्य करता है। यह सब 'एक परिणाम के कर्त्ता दो द्रव्य नहीं होते' -इस सिद्धांत की बात हुई।

अब कहते हैं कि 'दो द्रव्यों के परिणाम को एक द्रव्य नहीं करता, निमित्त का कार्य निमित्त करता है और उपादान, उपादान का कार्य करता है। अग्नि पानी को गर्म नहीं कर सकती। अग्नि तो अग्निरूप परिणमने का कार्य करती है और पानी स्वयं अपनी उष्ण पर्याय को करता है। इसका कारण यह है कि अग्नि और पानी दोनो भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। दोनों की सत्ता अलग है, इसलिए एक सत्ता दो कार्यो को नहीं कर सकती। यह बात समझकर अन्दर में बैठाये बिना भव

www.vitragvani.com

का अन्त नहीं आयेगा; क्योंकि वस्तु की मर्यादा ही ऐसी है, इसलिए पर को समझाने की बात नहीं है, स्वयं समझकर श्रद्धा में बैठाना चाहिए।

पानी स्वयं अपनी शीतअवस्था पलटकर उष्णअवस्था धारण करता है। उस पर्याय को अन्य द्रव्य धारण नहीं करता। दो द्रव्य एक परिणाम को धार ही नहीं सकते और दो परिणाम को एक द्रव्य नहीं धार सकता; परन्तु अभी यह बात कहीं नहीं रही है। अन्य का भला करो, शरीर की क्रिया करो तो तुम्हारा भला होगा- ऐसी ही बातें सब जगह चलती हैं; परन्तु विचार तो करो कि तत्त्व अनन्त हैं, तो दो तत्व मिलकर एक क्रिया करेंगे तो अनन्त तत्त्व भिन्न किस प्रकार रहेंगे? दो पर्यायों को एक द्रव्य करता है -ऐसा हो ही नहीं सकता। अग्नि अपनी पर्याय को करे और पानी की गर्म पर्याय को भी करे- ऐसा हो ही नहीं सकता। अग्नि अपनी पर्याय को करती है और पानी, पानी की गर्म पर्याय को करता है।

जिसकी सत्ता भिन्न है, उसके परिणाम को अन्य सत्ता करे -ऐसा तीन काल में कभी बन ही नहीं सकता। जगत का कर्त्ता ईश्वर तो है ही नहीं, परन्तु एक तत्त्व भी दूसरे तत्त्व की पर्याय को नहीं कर सकता- ऐसी वस्तु की मर्यादा है, तथापि जो अपने को अन्य द्रव्यों का कर्त्ता मानता है, वह सम्पूर्ण जगत का कर्त्ता होने जाता है। जैसे जो अनीति से एक पैसा भी लेने को तैयार होता है, वह अनुकूल योग होगा तो इसप्रकार सम्पूर्ण जगत की सम्पत्ति लेने को तैयार हो जायेगा। उसके भीतर सम्पूर्ण दुनिया का राज लेने की ममता पड़ी है। उसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि जो एक द्रव्य का कर्त्ता अन्य द्रव्य को मानता है, वह अज्ञानी सम्पूर्ण दुनिया की पर्याय का कर्त्ता अपने को मानता है। जब प्रत्येक द्रव्य की सत्ता ही भिन्न-भिन्न है तो एक के कार्य को दूसरे की सत्ता कैसे कर सकती है? दूसरे की सत्ता का अभाव हो तो इस सत्ता में मिलकर उसका कार्य करे; परन्तु सत्ता का अभाव तो कभी होता ही नहीं।

जैनप्रकाश में हजरत अली की बात आई थी कि वह ऐसा न्याय-नीतिवाला था कि राज्य के कार्य के लिए राज्य की चिमनी जलाता था; परन्तु यदि कोई घर का काम करे तो राज्य की चिमनी (मोमबत्ती) बंद करके घर की चिमनी जलाता था। इतना अधिक प्रमाणिक; इसलिए लोगो में प्रसिद्ध हो गया। जहाँ लौकिक में ऐसी न्याय-नीति होती है तो इस अलौकिक मार्ग में आनेवाले को ऐसी न्याय-नीति तो पहले ही होती है तो ही यह धर्म समझ में आता है। जिसको लौकिक न्याय-नीति का ठिकाना न हो, उसको यह धर्म तीन काल में समझ में नहीं आ सकता; क्योंकि यह तो लोकोत्तर नीति है। इसमें आनेवाले को लौकिक नीति तो होनी ही चाहिए।

www.vitragvani.com

'एक करतूति दोइ दर्व कबहूँ न करै'- जड़ का अथवा चेतन का एक कर्त्तव्य दो द्रव्य मिलकर कभी नहीं कर सकते। तो प्रश्न होता है कि एक विशाल (वजनी) वस्तु एक व्यक्ति से नहीं उठती हो, परन्तु दस मनुष्य मिलकर उस वस्तु को उठावें तो उठती है तो क्या दस ने मिलकर एक कार्य किया नहीं कहलायेगा? नहीं, क्योंकि दसों में से प्रत्येक से अकेले से तो यह कार्य हो ही नहीं सका है और दस व्यक्ति शामिल हुए तो कोई एक तो हो नहीं गये हैं; इसलिए वह कार्य किसी से नहीं हुआ है। तीन काल में एक कर्त्तव्य (कार्य) के कर्त्ता दो द्रव्य हों -ऐसा कभी हो ही नहीं सकता।

बालक को बड़ा करने का कार्य तो माता-पिता ने किया या नहीं? नहीं, माता-पिता ने राग का कार्य किया है; परन्तु माता-पिता बालक को बड़ा करने का कार्य नहीं कर सकते। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। कोई किसी का कार्य नहीं कर सकता। प्रत्येक जीव अपने परिणाम को करता है। कोई किसी का पिता अथवा पुत्र नहीं है। किसी के परिणाम से किसी को लाभ या नुकसान नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अपना अस्तित्त्व रखता है और अपना कार्य करता है। किसी एक का अस्तित्त्व नष्ट होवे तो उसके कार्य को कोई दूसरा करे; परन्तु किसी के अस्तित्त्व का नाश तीन काल में कभी नहीं होता।

यह अँगुली हिलती है, वह अँगुली के परमाणुओं का कार्य है; यह जीव की इच्छा का कार्य नहीं है। जीव इच्छा का कार्य करता है; परन्तु अँगुली हिलाने का कार्य जीव नहीं कर सकता।

यह जगत से उलटी ही बात है। जगत उलटा है, उसमें करना क्या? कि करने योग्य है, वह करना। आत्मा का ज्ञान-दर्शन और आनन्द करने योग्य है,

'दोई करतूति एक द्रव्य न करतु है'- एक द्रव्य दो द्रव्यों का कार्य कभी नहीं करता। द्रव्य अपना कार्य करे और पर का कार्य भी करे -ऐसा तीन काल में नहीं होता है।

श्रोता:- आत्मा विकार करता है और कर्म भी बाँधता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री:- आत्मा विकार के कार्य को करता है; परन्तु कर्म बाँधने का कार्य आत्मा का नहीं है। कर्म स्वयं कर्म के परमाणुओं से बँधते हैं और जब आत्मा अपने आश्रय से संवर-निर्जरारूप धर्म का कार्य करता है, तब कर्म स्वयं नष्ट हो जाते हैं -कर्म अकर्मरूप हो जाते हैं; उन्हें जीव नहीं करता है। कर्म का अभाव हुआ, इसलिए धर्म हुआ -ऐसा भी नहीं हैं। कर्म का कार्य कर्म में होता है और आत्मा का कार्य आत्मा में होता है। दो कार्यों को एक द्रव्य नहीं करता अथवा एक कार्य को दो द्रव्य मिलकर नहीं करते।

www.vitragvani.com

अज्ञानी राग का कर्त्ता होकर खाने की इच्छा करता है; परन्तु खाने की क्रिया को अज्ञानी नहीं कर सकता। कारीगर मकान नहीं बना सकता। सुनार गहने नहीं बना सकता। इसप्रकार सर्वत्र समझ लेना।

श्रोता:- आपने तो यह नया पंथ निकाला है?

पूज्य गुरुदेवश्री:- यह नया पंथ नहीं है। यह तो अनादि का मार्ग है। यह तो वीतराग सर्वज्ञदेव द्वारा कथित सनातन मार्ग है। इसकी न्याय से तुलना करके देखो न! एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को करे तो दो तत्त्व भिन्न नहीं रह सकते; परन्तु कोई तत्त्व अपनी सत्ता को छोड़कर अन्य की सत्ता में जाता ही नहीं है। यह बोलने की क्रिया होती है उसको आत्मा भी करता है और जड़ भी करता है- ऐसा नहीं होता। बोलने की क्रिया भाषा-वर्गणा करती है, जीव नहीं करता।

कोई ऐसा कहता है कि अपने को जीवों को मारना या बचाना नहीं -ऐसा कुछ नहीं करना; परन्तु जीवों को उपदेश देना कि 'किसी प्राणी को दु:ख मत दो' -ऐसा उपदेश देने से अपने को धर्म का लाभ होगा। वह ऐसा नहीं विचारता कि बोलने की क्रिया तो जड़ की है और उपदेश का विकल्प उत्पन्न हुआ, वह राग है। राग से धर्म की क्रिया कैसे होगी? जो राग से धर्म मानता है, वह तो मूढ़ है।

भाई! वीतराग के मार्ग को जगत के साथ मत मिलाना।

ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ है। उस तरफ दृष्टि झुका और वहीं ठहर जा तो तेरा कार्य सफल हो जायेगा। अन्य को उपदेश देकर धर्म प्राप्त कराने जायेगा उसमें कुछ भी सफलता नहीं मिलेगी। आज तक तो किसी ने किसी को तिराया नहीं है। तो भगवान को तरण-तारण कहा है, उसका क्या अर्थ है? यह तो निमित्त से कथन है। जो कोई तिरे हैं; वे अपनी योग्यता से तिरे हैं; उसमें भगवान को निमित्त कहा जाता है। यदि भगवान ही तिरा देते हों तब तो सबको भगवान सिद्ध बना दें..तब तो संसार रहे ही नहीं, परन्तु संसार तो अनादि का है, इसका कभी नाश नहीं होता।

जीव और पुद्गल एक क्षेत्र में रहते हैं; परन्तु कोई अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता अपनी सत्ता को कोई द्रव्य नहीं छोड़ता। अच्छा-अच्छा भोजन करने से शरीर अच्छा रहता है -ऐसा नहीं होता है। आत्मा खाने की क्रिया करता ही नहीं। अधिक से अधिक अज्ञानदशा में आत्मा राग करता है; परन्तु वह खाने की क्रिया नहीं कर सकता।

www.vitragvani.com

भाई! यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग का मार्ग है। जिन्होंने तीन काल-तीन लोक में स्थित पदार्थों की भिन्न-भिन्न सत्ता को जाना है। उस प्रत्येक पदार्थ के द्रव्य-गुण-पर्याय का होनापना उसकी अपनी सत्ता से है। पर के कारण उसके द्रव्य-गुण-पर्याय का अस्तित्व नहीं है। इसलिए भाई! मेरे से ये अन्य के कार्य होते हैं -ऐसा अभिमान करना रहने देना। साधु नाम धराकर भी बहुत से ऐसे मिथ्यामान का सेवन करते हैं कि हमारे पास पैसा नहीं है; परन्तु हम उपदेश देकर लोगों के पास से दान में पैसा खींच लेते हैं। लोग पाँच-पाँच, दस-दस लाख दान में दे देते हैं। बहिनों को उपदेश देते हैं कि क्या तुमको पैसा देने का अधिकार नहीं है! अरे! घर में काम करनेवाली रखते हो, उसे भी कितना वेतन देते हो तो तुम तो इस घर में पचास-पचास वर्षों से काम करती हो, तो तुम्हारे कितने पैसे इकट्ठे हुए। बहिनों के पास पैसे नहीं हों तो गहने दान में दे दो -इसप्रकार अलग-अलग उपदेश देकर हम दान कराते हैं- ऐसा अभिमान करता है। उसको पता नहीं है कि वाणी का कार्य मेरा नहीं है और पैसे इकट्ठे करने का कार्य भी मेरा नहीं है। व्यर्थ ही मिथ्यात्व का सेवन करता है।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा पर का कार्य तो करता ही नहीं; परन्तु राग का कर्त्ता होता है, वह भी मूढ़ है। आत्मा को विकारी माननेवाला अज्ञानी अविकारी स्वभाव का अनादर करनेवाला है।

यह तो जिसको आत्महित करना हो, उसके लिए बात है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। भगवान ने कहा इसलिए है -ऐसा नहीं। भगवान ने तो जैसा है, वैसा देखा है- जाना है और वैसा ही कहा है।

बहुत से सेठ ऐसा कहते हैं कि हम कोई व्यापार के लिए यह सब नहीं करते। हम तो आठ-दस मनुष्यों को रोजगार देने के लिए ये कारखाने इत्यादि चलाते हैं। उन्हें पता नहीं है कि कारखाना तो क्या, परन्तु विकल्प भी तेरे में उत्पन्न हो, उसका कर्त्ता होने जायेगा तो निर्विकल्प तत्त्व भूल जायेगा; तो इसमें तेरा क्या हित होगा? तेरे विकल्प से दूसरों को पैसा मिलने अथवा रोजगार मिलने का काम हो यह बात हराम है, अत्यन्त झूठ है। भाई! तुझको सत् के स्वरूप का पता नहीं है।

तो प्रौषध और प्रतिक्रमण करने से तो मुझको धर्म होगा न? ऐसा मानना भी मिथ्या है। जितनी राग की मंदता होगी, उतना पुण्य बँधेगा; परन्तु धर्म नहीं होगा। साधु लोग जाते हैं, तब लोगों से अमुक त्याग की प्रतिज्ञा कराते हैं; परन्तु सामनेवाले जीव के राग की मंदता से तुझे लाभ होना है? एक राग की क्रिया के दो कर्त्ता नहीं होते हैं।

www.vitragvani.com

ऐसा मार्ग वीतराग का, कहा श्री भगवान ।
समवसरण के मध्य में, श्री सीमंधर भगवान ।।

श्री सीमंधर त्रिलोकनाथ परमात्मा ने समवसरण में यह फरमाया है कि एक द्रव्य दो द्रव्यों के कार्य को नहीं करता और दो द्रव्य मिलकर एक के कार्य को नहीं करते- ऐसा है बापू! यह बात तुझे रुचे या नहीं रुचे, उसके लिए तू स्वतंत्र है।

कर्म जीव को चार गतियों में परिभ्रमण नहीं कराता। जीव स्वयं अपनी भूल से चार गतियों में भ्रमण करता है और स्वयं ही भूल मिटाकर भगवान हो सकता है। ज्ञानानन्दी भगवान आत्मा अज्ञानपने राग को आचरता है और ज्ञानपने आनन्द को आचरता है- ऐसा ही इसका स्वभाव है। **'चिदानन्द चेतन सुभाउ आचरतु है'** -ऐसा इसका अनादि-अनन्त स्वभाव है।

वीतराग कथित यह एक ही मार्ग सत्य है, अन्य कोई मार्ग सत्य नहीं है।

भाई! यह सूक्ष्म बात है।

अब इस श्लोक (पद) में मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं:-

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का स्वरूप

महा धीठ दुखकौ वसीठ परदर्वरूप,
अंधकूप काहूपै निवान्यौ नहि गयौ है।
ऐसौ मिथ्याभाव लग्यौ जीवकौं अनादिहीकौ,
याहि अहंबुद्धि लिए नानाभांति भयौ है ।।
काहू समै काहूकौ मिथ्यात अंधकार भेदि,
ममता उछेदि सुद्ध भाव परिनयौ है।
तिनही विवेक धारि बंधकौ विलास डारि,
आतम सकतिसौं जगत जीत लयौ है।।11।।

अर्थ:- जो अत्यन्त कठोर है, दु:खों का दूत है, परद्रव्य जनित है, अंधकूप के समान है, किसी से हटाया नहीं जा सकता ऐसा मिथ्यात्वभाव जीव को अनादि काल से लग रहा है। और इसी कारण जीव, परद्रव्य में अहंबुद्धि करके अनेक अवस्थाएँ धारण करता है। यदि कोई जीव किसी समय मिथ्यात्व का अहंकार नष्ट करे और परद्रव्य से ममत्वभाव हटाकर शुद्धभावरूप परिणाम करे तो वह भेदविज्ञान धारण करके बंध के कारणों को हटाकर, अपनी आत्मशक्ति से संसार को जीत लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ।।11।।

www.vitragvani.com

काव्य - 11 पर प्रवचन

यह श्री नाटक समयसार का कर्त्ता-कर्म-क्रिया का अधिकार चल रहा है। अब इसमें दसवें श्लोक का ग्यारहवाँ पद चलता है।

आत्मा कर्त्ता और 'कर्म' उसका कार्य -ऐसा कभी नहीं हो सकता; परन्तु अज्ञानी को आत्मा 'ज्ञायक' है ऐसा भान नहीं होने से वह अपने को पर के कार्यों का कर्त्ता मानता है। मैं शरीर की क्रिया करता हूँ, मैं पर की सहायता करता हूँ, मुझे पर से लाभ-नुकसान होता है, मैं मनुष्य हूँ अथवा मैं देव, नारकी या तिर्यंच हूँ। इसप्रकार अनेकप्रकार से पर में अहंकार और ममकार करके अज्ञानी मिथ्यात्व भाव का सेवन करता है।

मिथ्यात्वभाव महाधीठ है, अत्यन्त कठोर है, दु:खों का दूत है, परद्रव्यजनित है, अंधकूप के समान है तथा किसी से हटाया नहीं जा सकता।

भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। जानन-देखन स्वभाव वाला है। उसे भूलकर शरीरादि संयोगी वस्तु को अपनी मानता है। मैं पर की मदद करता हूँ और परद्रव्य मुझे मदद करते हैं- ऐसी मान्यतावाला मिथ्यात्वभाव महाधीठ है। मैं पंच महाव्रतादि अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करता हूँ- इसप्रकार राग और शरीर की क्रिया को अपनी क्रिया माननेवाला मिथ्यात्वभाव महाधीठ है।

आत्मा की एक समय की पर्याय पर दृष्टि पड़ी है, वह भी मिथ्यात्वभाव है। भगवान आत्मा तो सिद्धस्वरूपी चैतन्यघन विज्ञानघन अरूपी है। ऐसे अपने स्वरूप को भूलकर, मैं परद्रव्य के कार्य करता हूँ -विभाव के कार्य मेरे हैं और विभाव को जाननेवाली वर्तमान ज्ञान की पर्याय जितना ही मैं हूँ, सम्पूर्ण आत्मा हूँ- ऐसा मिथ्यादृष्टि का मिथ्या अहंकार महा दु:खरूप है।

मिथ्यात्व अंधकूप के समान है। चैतन्य ज्ञानज्योति को भूलकर अपने को पर का कर्त्ता मानना महा मिथ्यात्व है। पर की दया का भाव हो, वह तो एक विकल्प है; परन्तु मैं पर की दया कर सकता हूँ; दया ही मेरा कर्तव्य है- ऐसा जो मिथ्यात्वभाव है, वह दु:ख का दूत है। मिथ्यात्वभाव जीव का स्वभाव नहीं है, इसलिए वह परद्रव्य स्वरूप है। परद्रव्य तो पर है ही; परन्तु राग-द्वेष भाव भी जीव का स्वभाव नहीं होने के परद्रव्यरूप है। वस्तुत: तो एक अंश है वह भी लक्ष्य करने के लिए परद्रव्य स्वरूप है। अबंधस्वरूप प्रभु तो आनंदघन है। ऐसे आत्मा की दृष्टि हो तो राग-द्वेष-अज्ञान की दृष्टि नष्ट हो जाती है और दु:ख दूर होकर आनन्द की प्राप्ति होती है।

www.vitragvani.com

अभी तो ऐसी बात सुनने को मिलना भी कठिन है। अच्छे काल में (चौथे काल में) आत्मा के अनुभवी और मुनि तो आत्मा के आनन्द में झूले झूलते हैं, क्षण में आत्मा में लीन हो जाते हैं। मुनि स्थविरकल्पी हो या जिनकल्पी (एकलविहारी) हो- दोनों प्रकार के मुनि नग्न होते हैं, जंगलवासी होते हैं और अपने आत्मा के आनन्द का झूला झूलनेवाले होते हैं। दोनों निर्ग्रन्थ होते है। अन्तर मात्र इतना है कि-

'जो मुनि संगति में रहे, स्थविरकल्पी सो जान।
एकाकी जाकी दशा, सो जिनकल्पी बखान ।।

जिनकल्पी मुनि अकेले विचरण करते हैं और स्थविरकल्पी मुनि संघ में रहते हैं। इतना ही दोनों में अन्तर है। वैसे तो दोनों समान निर्ग्रन्थ दिगम्बर जंगलवासी मुनि हैं। उनके शरीर पर एक वस्त्र का धागा भी नहीं होता। जो वस्त्र रखकर मुनिपना मानता है, वह मिथ्यादृष्टि निगोद में जाता है।

भगवान आत्मा अकेली ज्ञान की क्रिया करनेवाला है। आत्मा को राग की क्रिया वाला माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। ऐसा मिथ्यात्व छूटे बिना समकित नहीं होता और समकित होने के पश्चात् विशेष आनन्द की लहर आये बिना अव्रतीपना नहीं छूटता।

'एसौ मिथ्याभाव लग्यो जीव कौ अनादि कौ'- निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक तक के जीवों के अनादि से मिथ्यात्वभाव लगा है। नौवें ग्रैवेयक तो जीव कब जाता है कि जब उसने नग्न दिगम्बर मुनिपना पालन किया हो; परन्तु देह की क्रिया मैं करता हूँ, महाव्रत के विकल्प मेरे हैं और उनसे मुझे धर्म होता है -ऐसा मिथ्यात्वभाव उसने छोड़ा न हो। वस्त्र धारण करके मुनिपना माननेवाला तो द्रव्यलिंगी मुनि भी नहीं है, कुलिंगी है। वह तो नौवें ग्रैवेयक तक जा ही नहीं सकता; परन्तु जो द्रव्यलिंगी है, अट्ठाईस मूलगुण बराबर पालता है वह नौवें ग्रैवेयक में जाता है; परन्तु उसने पंच महाव्रतादि के परिणाम में ही धर्म मानकर मिथ्यात्व को ही पुष्ट किया है। विकल्प तो आस्रव है। उसमें धर्म मानकर मिथ्यादर्शन शल्य को पुष्ट किया है।

'याही अहंबुद्धि लिए नानाभाति भयो है'- अपने त्रिकाल ज्ञायकस्वभाव को भूलकर अज्ञानी ने अंश में, विभाव में, पर में -इसप्रकार अनेक जगह अपनापन मानकर अनेक अवस्थायें धारण की हैं। मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं पुण्य करनेवाला हूँ, मैं दया पालनेवाला हूँ -ऐसे अनेकप्रकार के मिथ्यात्वभाव का सेवन करते हुए अनेक अवस्थाओं को धारण करता है।

www.vitragvani.com

'काहू समै काहू कौ मिथ्यात अंधकार भेदि, ममता उछेदि सुद्धभाव परिनयौ है'- किसी समय कोई जीव पर में, राग में और एक अंश में अहंबुद्धि छोड़ दे कि परद्रव्य तो पर है, मैं उसके कार्य का कर्त्ता नहीं हूँ, राग भी मेरा स्वरूप नहीं है और एक समय की पर्याय तो अंश है, उसमें मैं सम्पूर्ण नहीं आता -ऐसा समझकर, परद्रव्य आदि में से ममत्वभाव हटाकर शुद्धभावरूप परिणमन करे तो वह भेदविज्ञान धारण करके बंध के कारणों को दूर करके, अपनी आत्माशक्ति से संसार जीत लेता है। अर्थात् मुक्त हो जाता है।

लोगों को अभी मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का ही पता नहीं है, वहाँ चारित्र तो दूर ही रह जाता है। चारित्रवंत को तो गणधरदेव भी नमस्कार करते हैं। 'णमो लोए सव्व साहूणं' में समस्त चारित्रवंत मुनिराजों को नमस्कार आ जाता है।

यहाँ कहते हैं कि जब कोई जीव पर में से अंहबुद्धि छोड़े.. अरे! मैं पर में नहीं हूँ, पर का कार्य मेरा नहीं है; दया, दान, व्रत का विकल्प मेरा नहीं है। मैं तो सत् चिदानन्द ध्रुव भगवान हूँ। सिद्ध भगवान की जो पर्याय है, वैसी अनन्त पर्यायों का पिण्ड मैं हूँ। मेरे आत्मा में अपरिमित-अमर्यादित अनन्त-अनन्त ज्ञान-दर्शन, आनंदादि शक्तियाँ पड़ी हैं। शरीर, वाणी, मन, स्त्री, पुत्र, परिवार, देव, गुरु, शास्त्र- ये सब परद्रव्य हैं, मेरी वस्तु नहीं। मेरे अन्दर में पुण्य-पाप का विभाव उत्पन्न होता है, वह भी मेरा नहीं है; वह तो आस्रवतत्त्व है, बंध का कारण है, वह मैं नहीं हूँ। मेरे में ज्ञानादि के अल्प क्षयोपशमवाली पर्याय है, उतना भी मैं नहीं हूँ। मैं तो अनन्त गुणमय वस्तु हूँ -ऐसा जब अनुभव करता है, तब उसके मिथ्यात्वअंधकार का नाश होकर शुद्धभाव का प्रकाश होता है।

एक ज्ञानगुण में अनंती ज्ञानगुण की पर्यायें पड़ी हैं, एक श्रद्धागुण में अनंत श्रद्धा पर्यायें पड़ी हैं, एक चारित्रगुण में अनंत चारित्र पर्यायें पड़ी हैं, एक आनंदगुण में अनंत आनंद पड़ा है। एक समय में ऐसे अनन्तगुणों का स्वामी मैं 'आत्मा' एक समय की पर्याय जितना नहीं अथवा एक गुण जितना भी मैं नहीं हूँ।

'ममता उछेदि सुद्धभाव परिनयौ है' -इसमें बहुत सार भर दिया है। अनन्त गुणरूप एक वस्तु में दृष्टि जाने से अन्य सब ममत्व छूट जाता है। निमित्त मैं हूँ, राग मैं हूँ- ऐसी समस्त मिथ्याबुद्धि का अभाव हो जाता है। पुण्य-पाप विकल्प तो अशुद्धभाव है। भगवान आत्मा की दृष्टि होने पर ये अशुद्धभाव छूटकर आत्मा में शुद्धभाव की दशा उत्पन्न होती है। यह शुद्धभाव की दशा धर्म है।

www.vitragvani.com

बापू! यह तेरे घर की अलौकिक बात है। तू आजतक कभी निजघर में नहीं आया। अब 'निजघर' में आ जा! तूने पर घर में अहंबुद्धि धारण करके तो अनेक अवस्थाये धारण की है **'पर घर फिरत बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये... हम तो कबहू न निज घर आये...**। मैं दया का पालनेवाला, मैं भक्ति करनेवाला, मैं परिवार को पालनेवाला, मैं देश की सेवा करनेवाला- इसप्रकार जीवों ने अनेक प्रकार के मिथ्यात्वभाव का सेवन करके अनेक पर्यायें धारण की हैं- **'नानाभाँति भयो है।'**

'तिनहीं विवेक धारि बंध को विलास डारि, -जिसने राग और विकल्प से भिन्न पड़कर तथा अल्पज्ञपने का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वरूप को दृष्टि में लेकर विवेक अर्थात् भेदज्ञान किया है, उसने बंध का विलास अर्थात् बंध के कारणों को दूर किया है। मिथ्यात्व परिणाम, अव्रत परिणाम, व्रत के विकल्प, कषाय भाव, प्रमादभाव- ये सब बंध के कारण हैं, ये कोई मेरे स्वरूप में नहीं हैं। इसप्रकार इनसे भिन्न हो जाता है। मैं तो अबंधस्वभावी हूँ- ऐसी दृष्टि और अनुभव होने पर सम्यग्दृष्टि को भान हो जाता है कि मेरी वस्तु में कोई बंधभाव नहीं है।

सम्यग्दर्शन होने पर, अबंधस्वभावी आत्मा का भान होने पर जीव मुक्त हो गया। चारित्र में मुक्ति बाकी रही; परन्तु श्रद्धा में तो अबंधस्वभाव का अनुभव हुआ, उसने बंध के विलास को दूर करके आत्मशक्ति से जगत को जीत लिया है। मैं विकल्प से लेकर सम्पूर्ण दुनिया से भिन्न, आनंदकंद आत्मा हूँ। ज्ञानी ने आनन्दकंद भगवान आत्मा का आश्रय लेकर, शक्ति का सहारा लेकर जगत को जीत लिया है। विकल्प से लेकर सम्पूर्ण दुनिया को जीत लिया है। मैं तो ज्ञान और आनन्द का कंद आत्मा हूँ। ज्ञान, आनन्द आदि अनन्त शक्ति के पिंडरूप द्रव्य दृष्टि का जोर आने पर द्रव्य में से आनंद की धारा बहती है, वह दु:ख को जीत लेती है। देखो! यह चौथे गुणस्थान की बात है, साधु की बात तो क्या कहना?

मानुष होना मुश्किल है तो, साधु कहाँ से होय।
साधु हुआ सो सिद्ध हुआ, कहना रहा न कोय।।

साधु ने तो मोक्षतत्त्व में प्रवेश कर लिया है; परन्तु जो सम्यग्दृष्टि होता है उसको भी अपना अखण्ड-अभेद पूर्ण स्वभावी भगवान आत्मा अनुभव में और प्रतीति में आने लगता है, इसकारण बंध का विलास दूर होने लगता है। मैं बंध से बँधा नहीं हूँ, मैं तो अबंधस्वभावी हूँ- ऐसी दृष्टि हो गई- इतनी मुक्ति सम्यग्दर्शन में ही हो जाती है। 'आत्म शक्ति' कहकर एक शक्ति नहीं, परन्तु अनन्त शक्तिवंत सम्पूर्ण आत्मा दृष्टि में लिया, उसने सम्पूर्ण जगत को जीत लिया है।

www.vitragvani.com

दुनिया की कोई वस्तु तो मेरी है ही नहीं; परन्तु यह रागादिभाव भी मेरा नहीं है- ऐसा विवेक जागृत हो गया। मिथ्यात्व का नाश हुआ, बंध दूर हुआ और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हुआ, समकित की प्राप्ति हुई। बंध के जो कोई और जितने विकल्प आते है वे मैं नहीं और वे मेरे नहीं; मैं तो उनका जाननेवाला हूँ।

मैं तो अनादि-अनन्त अबंधस्वभावी हूँ। मेरे में बंध है ही नहीं। बंध को 'मेरा' मानना ही मिथ्यात्व है। अज्ञानी को, अपना प्रभु कितना महान है, कैसा है- इसका पता नहीं है और धर्म करना है; परन्तु धर्म का करनेवाला धर्मी कितना महान है, कैसा है इसके परिज्ञान बिना धर्म कहाँ से होगा ? हम अणुव्रत पालते हैं, महाव्रत पालते हैं इसमें धर्म मानता है, वह तो मिथ्यात्व पालता है, धर्म नहीं पालता। कारण कि आत्मा आस्रव और बंध तत्त्व से तो भिन्न है। आत्मा को आस्रव-बंध से सहित मानना तो मिथ्यात्व है।

आत्मशक्ति अर्थात् अनन्त शक्ति के पिंडरूप आत्मा का जिसने सहारा लिया, उसको बंध का विलास छूट जाता है। अस्थिरता का राग है, उतना बंध है; उसे ज्ञान में जानता है; परन्तु ज्ञानी उसको 'मेरा है' ऐसा नहीं मानता। मैं तो अबंधस्वभावी हूँ, मेरे में बंध है ही नहीं- ऐसी दृष्टि होने पर अबंध में रहे हुए आनन्द का अनुभव हुए बिना नहीं रहता। दु:ख मिटकर आनन्द का वेदन होता है।।

इसप्रकार यह 10 वाँ कलश (11 वाँ पद) हुआ। अब 11 वें कलश का 12 वाँ पद कहते हैं।

जैसा कर्म वैसा कर्त्ता :-

सुद्धभाव चेतन असुद्धभाव चेतन,
दुहूंकौ करतार जीव और नहि मानिये।
कर्मपिंडकौ विलास वर्न रस गंध फास,
करता दुहूंकौ पुदगल परवानिये ।।
तातै वरनादि गुन ग्यानावरनादि कर्म,
नाना परकार पुदगलरूप जानिये।
समल विमल परिनाम जे जे चेतन के,
ते ते सब अलख पुरुष यौं बखानिये।।12।।

अर्थ:- शुद्ध चैतन्यभाव और अशुद्ध चैतन्यभाव दोनों भावों का कर्त्ता जीव है, दूसरा नहीं है। द्रव्यकर्म-परणति और वर्ण, रस, गंध, स्पर्श इन दोनों का कर्त्ता पुद्गल है; इससे वर्ण रसादि

www.vitragvani.com

गुण सहित शरीर और ज्ञानावरणादि कर्म-स्कंध इन्हें अनेक प्रकार की पुद्गल पर्यायें जानना चाहिये। आत्मा के शुद्ध और अशुद्ध जो जो परिणाम हैं वे सब अमूर्तीक आत्मा के हैं, ऐसा परमेश्वर ने कहा है।।12।।

काव्य - 12 पर प्रवचन

सम्यग्दर्शन ज्ञानभाव का कर्त्ता जीव है और अज्ञानदशा में पुण्य-पाप रागादि करता है, उनका कर्त्ता भी जीव है। कर्म कभी भी जीव के परिणामों को नहीं करता। शुद्धभाव हो अथवा अशुद्धभाव हो, इन दोनों भावों का कर्त्ता जीव है। अज्ञानदशा में जीव अशुद्धभाव को करता है; परन्तु जीव परद्रव्य के भाव को तो करता ही नहीं है। इसकारण कर्म के परिणाम को, उपदेश को अथवा अन्य के लाभ -नुकसान के परिणाम को जीव नहीं कर सकता। मैं उपदेश देकर दूसरों का भला करता हूँ- यह तो मिथ्यात्व है। मैं उपदेश देकर दूसरों को सुधार दूँ -ऐसा माननेवाला मूढ़ मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है और कर्म आत्मा के विकार का कर्त्ता नहीं है। जीव में कर्म का संग करने से अशुद्धभाव होता है; परन्तु उसका कर्त्ता कर्म नहीं है, जीव स्वयं ही अशुद्धभाव करता है। अशुद्धभाव होने में कर्म का निमित्त है; परन्तु कर्त्ता जीव स्वयं है। इसीलिए 'पंचास्तिकाय' में जीव को 'प्रभु' कहा है; क्योंकि उसको अपने विकारी अथवा अविकारी परिणाम करने में किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है, इसलिए आत्मा प्रभु है; तथापि अशुद्धभाव में कर्म का और शुद्धभाव में कर्म के अभाव का निमित्त होने से दोनों भावों को इस अपेक्षा से कर्म जनित भी कहते हैं; परन्तु वास्तविक दृष्टि से विकार करने में, अविकारी होने मे जीव स्वयं ही स्वतन्त्र रूप से कर्त्ता है, उसको अन्य किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव भी अपनी मर्यादा छोड़कर पर में तो कुछ कर सकता ही नहीं है। जीव अपने द्रव्य-गुण-पर्याय से बाहर जा ही नहीं सकता, तो जीव बाहर में क्या कर सकता है? सामायिक करे, प्रोषध करे, श्रावक-श्राविका बनावे, साधु-साध्वियों के समूह बनावे यह सब मैं करता हूँ- ऐसा अज्ञान से मानता और मनाता है; परन्तु जीव अपनी मर्यादा से बाहर निकलकर पर का कुछ नहीं करता।

अहा..! यह तो दुनिया से अलगप्रकार की बात है। दुनिया को जीतने का यह एक ही उपाय है। अज्ञानपने से दुनिया को नहीं जीता जा सकता। (संसार का अभाव नहीं किया जा सकता।) अज्ञानी अज्ञानपने राग और विकार का कर्त्ता होता है; परन्तु जीव पर का कार्य तो अज्ञानपने भी

www.vitragvani.com

नहीं कर सकता। दया, दान, व्रत, तपादि शुभभाव हैं वे भी अशुद्धभाव हैं। उसको अज्ञानी करता है; परन्तु ज्ञानी तो अशुद्धभाव को नहीं करता। ज्ञानी तो अपने ज्ञानभाव का ही कर्त्ता होता है।

अपनी पर्याय की मर्यादा छोड़कर पर का कार्य करे -ऐसा किसी भी द्रव्य की सत्ता का स्वभाव नहीं है। कोई ऐसा अभिमान करता है कि मेरे पास पैसा नहीं है, परन्तु मैं उपदेश ऐसा देता हूँ कि करोड़ों रुपये का दान इकट्ठा हो जाता है, तो ऐसा अभिमान करनेवाला मूढ़ है। जीव जड़ की क्रिया का कर्त्ता अपने को मानता है, वह अपनी आत्मा पर छुरी चलाता है। आत्मा तो 'ज्ञाता' है, उसके बदले ज्ञाता नहीं रहकर विकल्प करता है; परन्तु जड़ की क्रिया को तो आत्मा करता ही नहीं।

लोगों को ऐसा लगता है कि यह बात सोनगढ़ की नई निकली है; परन्तु यह तो वस्तु के स्वरूप की शास्त्र कथित बात है। सोनगढ़ का पंथ निराला है; परन्तु घर का निकाला हुआ पंथ नहीं है। यह तो सर्वज्ञ-वीतराग के घर का निराला पंथ है।

जीव जीव की पर्याय को करता है, वैसे ही पुद्गल पुद्गल की पर्याय को करता है। कर्म की अवस्था को पुद्गल करता है और वर्ण, रस, गंध स्पर्श की अवस्था को भी पुद्गल करता है। यह शरीर के बोलने-चलने इत्यादि की क्रिया होती है, उसको शरीर करता है, जीव नहीं करता। आत्मा अज्ञानभाव से भी उसको नहीं करता। ज्ञानावरणादि कर्म की और शरीर की अनेक अवस्थाओं को पुद्गल करता है। आत्मा पुद्गल की क्रिया को बिलकुल नहीं करता।

'समल-विमल परिनाम जे जे चेतन के' -समल अर्थात् राग-द्वेषादि मलिन परिणाम और विमल अर्थात् निर्मल परिणाम इन दोनों का कर्त्ता जीव स्वयं है। स्वभाव का आश्रय ले तो निर्मल परिणाम करता है, वह भी आत्मा ही करता है। इसके अतिरिक्त आत्मा अन्य द्रव्य के परिणाम को अज्ञान में भी नहीं करता। यह वस्तु-मर्यादा है।

अब कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि भेदज्ञान का रहस्य नहीं जानता। यह बात समझने के लिये दृष्टान्त देते हैं-

भेदज्ञान का मर्म मिथ्यादृष्टि नहीं जानता, इस पर दृष्टान्तः-

जैसैं गजराज नाज घासके गरास करि,
भच्छत सुभाय नहि भिन्न रस लीयौ है।
जैसैं मतवारौ नहि जानै सिखरनि स्वाद,

www.vitragvani.com

जुंगमें मगन कहै गऊ दूध पीयौ है ।।
तैसैं मिथ्यादृष्टि जीव ग्यानरूपो है सदीव,
पग्यौ पाप पुन्नसौं सहज सुन्न हीयौ है।
चेतन अचेतन दुंहूकौ मिश्र पिंड लखि,
एकमेक मानै न विवेक कछु कीयौ है ।।13।।

अर्थः- जैसे हाथी अनाज और घास का मिला हुआ ग्रास खाता है, पर खाने ही का स्वभाव होने से जुदा जुदा स्वाद नहीं लेता; अथवा जिस प्रकार मद्य से मतवाले को श्रीखण्ड खिलाया जावे, तो वह नशे में उसका स्वाद न पहिचानकर कहता है कि इसका स्वाद गौदुग्ध के समान है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव यद्यपि सदा ज्ञानमूर्ति है, तो भी पुण्य-पाप में लीन होने के कारण उसका हृदय आत्मज्ञान से शून्य रहता है, इसके चेतन-अचेतन दोनों के मिले हुए पिण्ड को देखकर एक ही मानता है और कुछ विचार नहीं करता।

भावार्थः- मिथ्यादृष्टि जीव स्व-पर विवेक के अभाव में पुद्गल के मिलाप से जीव को कर्म का कर्त्ता मानता है ।।13।।

काव्य - 13 पर प्रवचन

आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, सत्चिदानन्द प्रभु ज्ञान और आनन्द का समुद्र है, शाश्वत है और पुण्य-पाप के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे तो दुःखरूप हैं-राग है-विकार है; परन्तु अज्ञानी अनादि से आत्मा और राग के भेद को जानता ही नहीं, वह तो दोनों को एक ही समझता है।

जैसे राज्य के लोग हाथी को खाने के लिए चूरमा देते हैं तो वह तो उसे घास में मिलाकर खा जाता है। उसको घास और चूरमा के भेद का पता नहीं है- इसकारण उसको घास और चूरमा का भिन्न स्वाद नहीं आता है। इसीप्रकार शराब पीकर मस्त बने हुए को श्रीखण्ड खिलाया जाये तो वह नशे में उसका स्वाद नहीं जानता है। नशे के जोर में मग्न बने हुए व्यक्ति को श्रीखण्ड का खट्टा-मीठा स्वाद ख्याल में नहीं आता है, उसे तो मैं गाय का दूध पीता हूँ ऐसा लगता है।

यह तो दो दृष्टान्त कहे। इसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव चूरमा के समान सदा ज्ञायकमूर्ति अपना आत्मा और घास के समान पुण्य-पाप के विकल्प को भिन्न नहीं जानता होने से पुण्य-पाप में ही लीन होने के कारण उसका हृदय आत्मज्ञान से शून्य रहता है। इसकारण वह चेतन-अचेतन दोनों के मिले हुए पिण्ड को देखकर एक ही मानता है।

www.vitragvani.com

आत्मा तो ज्ञानमूर्ति आनन्दमय चैतन्यमूर्ति है और पुण्य-पाप तो दु:खरूप है, आकुलतामय है, जहर है। आत्मा तो त्रिकाल ज्ञानघन है; परन्तु अज्ञानी ने आत्मा के स्वरूप को जाना नहीं है और अनादि से पुण्य-पाप के भाव को ही अपना स्वरूप माना है। इसकारण अज्ञानी उनमें ही लीन हो रहा है। जैसे शराबी मनुष्य नशे में लीन है; वैसे ही यह पुण्य-पाप में लीन है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि पाप परिणाम और अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि पुण्य परिणाम को अपना स्वरूप मानकर सेवन करता है। भले ही वह साधु हुआ हो, बाहर से त्यागी हुआ हो; परन्तु यह शुभराग आत्मा का स्वभाव नहीं है, जहर है, राग है ऐसा वह नहीं मानता। उसकी दृष्टि अपने ज्ञानानन्दस्वभाव पर तो गई नहीं और पुण्य-पाप परिणाम में ही लीन है, वह वास्तव में अजीव में लीन है, जीव में लीन नहीं है।

'पग्यौ पाप पुन्न सौं सहज सुन्न हीयौ है' -अव्रत के भाव पापविकार हैं और व्रत के भाव पुण्यविकार हैं। अज्ञानी इन दोनों विकारों में ही लीन है। उसको ज्ञान और आनन्द स्वरूप जीव का तो पता ही नहीं है। इसकारण उसका हृदय आत्मज्ञान से शून्य है। उसको ज्ञान के आनन्द का पता ही नहीं है। पुण्य-पाप ही मेरा जीवन है, पुण्य-पाप की क्रिया ही मेरी क्रिया है और पुण्य-पाप का स्वाद ही मेरा स्वाद है- ऐसा वह मानता है।

आत्मा अनादि-अनन्त सहज ज्ञानानन्द की मूर्ति है। जिसको उसका भान नहीं है और विपरीत दृष्टि है, उसको जैसे शराबी को शराब के नशे में श्रीखण्ड का स्वाद नहीं आता, उसको तो मैं दूध पीता हूँ -ऐसा लगता है; उसीप्रकार यह अनादि अज्ञानी भले ही वह त्यागी हो या भोगी ; परन्तु वह 'मैं अनादि-अनन्त सत्चिदानन्द मूर्ति हूँ' ऐसा आनन्द का स्वाद नहीं लेता, अपितु मैं पुण्य-पापरूप हूँ ऐसी मिथ्या दृष्टि का स्वाद लेता है, उसका हृदय अपने स्वभाव से शून्य है। इसलिए वास्तव में वह मुर्दा है। शुभाशुभभाव- क्रिया का भाव तो विकारी वृत्ति है, राग है; उसका स्वाद वह कोई आत्मा का स्वाद नहीं है। जो इस राग की क्रिया का कर्त्ता और भोक्ता होता है, वह अपने आनन्द के स्वाद के शून्य है। उसकी दृष्टि मिथ्या है और उसका ज्ञान भी अज्ञान है। 'यह ज्ञान है और यह राग है' इसप्रकार वह दोनों के स्वाद को भिन्न नहीं कर सकता।

लोगों को ऐसे स्वरूप का पता नहीं है और मानते हैं कि हम हमारे कल्याण के लिए व्रत करते हैं, तप करते हैं, महीने-महीने के उपवास करते हैं; परन्तु भाई ! तुझे अपने स्वरूप का तो पता ही नहीं है। अपने स्वभाव का अनादर करके राग की क्रिया का आदर करता है, वह तो शराबी श्रीखण्ड के स्वाद को दूध का स्वाद मानकर पीता है, उसके जैसा है। आत्मा तो वर्ण,

www.vitragvani.com

गंध, स्पर्श, रस से रहित है, उसको भोजन के स्वाद का अथवा शरीर के स्पर्शादि का अनुभव नहीं होता है; क्योंकि वे सब तो जड़ हैं और अपने ज्ञानानन्दस्वभाव का तो अज्ञानी को पता ही नहीं है, इसलिए उसको उसका स्वाद भी नहीं आता है। उसको तो शुभाशुभ राग में अपनापना है- इसकारण यह मेरी क्रिया है और मैं इसका करनेवाला हूँ- ऐसे मिथ्यात्व को ही वह वेदता है।

अज्ञानी को अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव का भान नहीं होने से उसकी दृष्टि पुण्य-पाप में लग रही है। पुण्य-पाप के फल में संसार मिलता है वह तो दूर रहा; परन्तु पुण्य-पाप में एकता पड़ी है, वह अधर्म है। आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति भगवान है- ऐसे ज्ञान और आनन्द का अज्ञानी को भान नहीं होने से उसको धर्म नहीं होता है।

देखो! यह जीव और अजीव को बँटवारा (भेद) चल रहा है। जीव तो ज्ञाता-दृष्टा स्वभावी है। वह कोई शरीर अथवा रागादि क्रिया का कर्त्ता नहीं है। वह तो चैतन्यचक्षु है। जगत दृश्य है और मैं दृष्टा हूँ, जगत ज्ञेय है और मैं ज्ञाता हूँ - ऐसा नहीं मानकर अज्ञानी जगत अर्थात् पुण्य-पाप के विकल्प से लेकर समस्त वस्तुयें मेरी है और मैं उनका कर्त्ता हूँ, मैं दया की क्रिया करता हूँ, दान की क्रिया करता हूँ, तपस्या करता हूँ इसप्रकार शुभ-अशुभ क्रिया और विकल्प का कर्त्ता मैं हूँ- ऐसा मानता है। यह कर्त्ता-कर्म-क्रियाद्वार है न! अतः अज्ञानी कहाँ भूल करता है यह बताया है। विकार तो राग की क्रिया है, आत्मा की क्रिया नहीं है। आत्मा की क्रिया उससे भिन्न है; परन्तु अज्ञानी इस भेदज्ञान के मर्म को नहीं जानता है।

गजराज और शराबी की तरह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को वस्तु के स्वरूप का भान नहीं है। उसकी दृष्टि पर्याय पर पड़ी है। पुण्य-पाप की क्रिया मेरी है और मैं उसका कर्त्ता हूँ- ऐसा मानता हुआ वह चैतन्य के स्वाद से शून्य है। वह विभाव के स्वाद में ऐसा लीन है कि उसको स्वभाव के स्वाद का पता ही नहीं है। इसलिए उसको जीवतत्त्व का ही पता नहीं है।

'चेतन अचेतन दुहू कौ मिश्र पिंड लखि'- चेतन तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है और पुण्य-पाप के विकल्प अचेतन हैं, आत्मा का स्वभाव नहीं है। लोगों को यह एकान्त जैसा लगता है; परन्तु एकान्त कहते किसे हैं- यही पता नहीं है। आत्मा एक अतीन्द्रिय आनन्द के स्वभाववाला ही है, पुण्य-पाप उसका स्वभाव नहीं है; तो भी पुण्य-पाप को निज मानकर उनकी क्रिया में लीन रहता है, वह अनेकांत को माननेवाला नहीं, बल्कि मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पाप के भाव में आनन्द तो नहीं, किन्तु अकेला दुःख है और वे अचेतन हैं, उनमें ज्ञान नहीं है।

www.vitragvani.com

महीनों-महीनों के उपवास करे अथवा मास खमण करे; परन्तु वह कोई आत्मा की क्रिया नहीं है। सौ बार उठ-बैठकर भगवान की खम्मा-खम्मा करे, वह भी जड़ की क्रिया है और साथ में राग की मंदता है, वह पुण्य बंध का कारण है। अज्ञानी उसे ही धर्म की क्रिया मानता है और वह आत्मा व राग के भेदज्ञान के मर्म को नहीं जानता है। जिसप्रकार हाथी चूरमा के स्वाद को नहीं जानता है, जिसप्रकार शराबी मनुष्य श्रीखण्ड के स्वाद को नहीं जानता है; उसीप्रकार अज्ञानी आत्मा के अतीन्द्रिय स्वाद को नहीं जानता है।

अज्ञानी ने कभी भी स्वसन्मुख होकर स्वभाव को नहीं देखा है और उसकी दृष्टि परसन्मुख ही है। इसकारण दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोधादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, उन्हें ही अपना मानता है। 'यह मेरा कर्तव्य है- ऐसा मानकर उनका सेवन करता है। उसको ऐसा लगता है कि श्रावक के भी छह आवश्यक कहे हैं न! भाई! ये छह तो विकल्प हैं। मूल आवश्यक तो राग से भिन्न अपने स्वभाव की दृष्टि, ज्ञान और रमणता करना-यह निश्चय आवश्यक है।

नियमसार में भी कहा है कि पुण्य-पाप से भिन्न अपने शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन की दृष्टि, ज्ञान और रमणता करना, यह निश्चय से कर्तव्य है। आत्मा का ज्ञान होने के पश्चात् छह आवश्यक की क्रियाओं का विकल्प आता है, उसका तो मात्र ज्ञान कराया है। यह भी कहा है कि शुभभाव के वश होता है, वह अनावश्यक है।

अहो! ऐसा कौन मान सकता है। राग, पुण्य-पाप, दया, दान के विकल्प को दु:खरूप कौन मान सकता है? कि जिसको अन्दर में अपने अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन हुआ हो, आनन्दस्वरूप चैतन्य का भान हुआ हो, वह अपने आनन्द के साथ इस राग को मिलाता है -तुलना करता है तो ख्याल में आता है कि राग तो आत्मा की जाति नहीं है, राग तो दु:खरूप है -ऐसा उसको भासित होता है। तत्पश्चात् जैसे-जैसे आनन्द की उग्रता होती जाती है, वैसे-वैसे राग छूटता जाता है। चारित्रदशा में अन्तर की उग्रता बढ़ जाती है और वस्त्र-पात्र रखने का विकल्प भी नहीं आता -ऐसी वस्तु की मर्यादा है। वस्त्र-पात्र रखकर मुनिपना मनवाना मिथ्या है।

न्याय समझे बिना अनेकांत...अनेकांत करने से अनेकांत सत्य नहीं हो जाता। माता को माता भी कहना और स्त्री (पत्नी) भी कहना -ऐसा अनेकांत नहीं होता है। परन्तु..यह मार्ग ऐसा है कि साधारण प्राणी को समझना कठिन पड़ता है।

www.vitragvani.com

जीव को कर्म का कर्त्ता मानना मिथ्यात्व है, इसपर दृष्टान्त :-

जैसैं महा धूपकी तपतिमैं तियासौ मृग,
भरमसौं मिथ्याजल पीवनकौं धायौ है।
जैसैं अंधकार मांहि जेवरी निरखि नर,
भरमसौं डरपि सरप मानि आयौ है ।।
अपनैं सुभाव जैसैं सागर सुथिर सदा,
पवन-संजोगसौं उछरि अकुलायौ है।
तैसै जीव जड़सौं अव्यापक सहज रूप,
भरमसौं करमकौ करता कहायौ है ।।14।।

अर्थ:- जिस प्रकार अत्यन्त तेज धूप में प्यास का सताया हुआ हिरण भूल से मृगजल पीने को दौड़ता है, अथवा जैसे कोई मनुष्य अंधेरे में रस्सी को देख उसे सर्प जान भयभीत होकर भागता है, और जिस प्रकार समुद्र अपने स्वभाव से सदैव स्थिर है तथापि हवा के झकोरों से लहराता है; उसी प्रकार जीव स्वभावत: जड़ पदार्थों से भिन्न है, परन्तु मिथ्यात्वी जीव भूल से अपने को कर्म का कर्त्ता मानता है।।14।।

काव्य - 14 पर प्रवचन

जिसको ज्ञानस्वरूप आत्मा का तो भान नहीं है और जबरदस्ती विकल्प का कर्ता होने जाता है, वह मूढ़ है। उसके लिए दृष्टान्त दिया है कि 'जैसे प्यास से पीड़ित हिरण रेतीली जमीन में सूर्य की किरणों के पड़ने से दिखनेवाली चमक को पानी है' ऐसा मानकर पानी पीने दौड़ता है; परन्तु वहाँ पानी नहीं है। उसी प्रकार अज्ञानी अपने स्वभाव से अनजान है, इस कारण भ्रम से कर्म का कर्ता होता है।

जैसे अंधकार में डोरी पड़ी हो, वह सर्प जैसी लगने से भय के कारण मनुष्य भागता है और जिसप्रकार समुद्र अपने स्वभाव से तो स्थिर है, तथापि पवन के साथ उछलता है। उसीप्रकार जीव स्वभाव से तो कर्म का कर्ता नहीं है तो भी अज्ञानी कर्ता होता है। ऐसी अज्ञानी की दशा है। उसमें से उसको स्वाभाविक दशा में जाने में कितना धीरज चाहिए?

पुण्य-पाप तो आत्मा से भिन्न है, तो भी अज्ञानी उनको ही अपना स्वरूप मानकर पीता है और अपने आनन्द को पीना छोड़ देता है। जो जीव राग को अपना मानकर सेवन करते हैं- ऐसे

www.vitragvani.com

जीवों के लिए कहते हैं कि जिनको हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदि पापभाव की मिठास है, वे जीव मूढ़ हैं। उनको जीव की श्रद्धा नही हैं, उन्हें आत्मा के आनन्द की रुचि नहीं है। जिनको अहिंसा, सत्य, शील आदि शुभराग की रुचि है उन्हें भी आत्मा का आनन्द नहीं आता। भगवान की भक्ति आदि का शुभराग आता है वह अलग बात है; परन्तु उसकी रुचिवाले को आत्मा के आनन्द का पता नहीं है। वह शुभराग में ही लीन होने से अपने स्वरूप को नहीं जानता। शुभराग आता है, उससे इन्कार नहीं है; परन्तु उसमें लीन हो जाता है वह अज्ञानी-मूढ़ है।

कोई ऐसा मानता है कि राग से भी धर्म होता है और आत्मा से भी धर्म होता है- ऐसा अनेकांत है; तो उसकी यह मान्यता झूठी है। धर्म आत्मा से ही होता है और राग से नहीं होता यह अनेकांत है। भाई! यह तो शान्ति से समझने योग्य बात है। वाद-विवाद करने से यह बात समझ में आवे, ऐसी नहीं है।

जो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द को छोड़कर दया, दान, व्रत, भक्ति अथवा अशुभराग में आनन्द लेने जाता है, वह तो मृगजल में प्यास मिटाने जाने वाले हिरण के समान है। वर्षीयतप करने से धर्म होगा- ऐसा मानकर वर्षीयतप करनेवाला अज्ञानी है। यदि उसमें उसको मंद कषाय रहा हो तो पुण्य बँधता है और यदि किसी संयोग की अथवा कीर्ति की आशा करता हो, तब तो पुण्य भी नहीं बँधता, पाप बँधता है; धर्म तो होता ही नहीं। पुण्य-पाप के विकल्प से भिन्न आनन्दस्वरूप आत्मा की दृष्टि करके अनुभव करना धर्म है, परन्तु इस बात के परिज्ञान बिना अज्ञानी राग की क्रिया में धर्म मानकर ठगाये जाते हैं, आत्मा को खो बैठते हैं।

जैसे पीपल के वृक्ष में लाख होती है, वह पीपल के वृक्ष का नाश कर देती है; उसीप्रकार पुण्य-पाप का प्रेम आत्मा की शान्ति का नाश कर देता है। हमने एक जगह इसीप्रकार लाख से पीपल के पेड़ का नाश होते देखा था। ऐसा ही पीपल का दृष्टान्त कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार की 74 वीं गाथा में दिया है।

जिसको अपनी वस्तु की महिमा नहीं आती और बाहर की महिमा आती है, उसके अपना आत्मा हाथ से गया, शून्य हो गया। इसको भरे बर्तन तो खाते नहीं आया और जूठन चाटने गया। घर में पद्मिनी जैसी स्त्री होने पर भी जो कुल्टा अथवा वेश्या के यहाँ जाता है, उसको पिता समझाते हैं कि भाई! तू भरे बर्तन जूठन चाटने जाये यह शोभास्पद नहीं है। उसीप्रकार इस भगवान आत्मा को धर्म पिता समझाते हैं कि भाई! तू आनन्द के नाथ को छोड़कर पुण्य-पाप

www.vitragvani.com

का स्वाद लेने जाता है, यह तेरी मूढ़ जैसी दशा है। तेरा स्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है, उसमें आनन्द नहीं मानकर तू पुण्य-पाप में आनन्द लेने जाता है यह तो व्यभिचार है। यह तुझे शोभा नहीं देता भाई!

जो आत्मा के भान बिना महाव्रतादि का पालन करके धर्म मानता है वह वर्तमान में भी दु:खी है और भविष्य में भी दु:खी होगा। भाई! तुझको अपनी दया नहीं आती? यह बात तुझे कठोर लगती हो; परन्तु तेरे अतीन्द्रिय आनंदस्वरूप भगवान को छोड़कर तू राग के प्रेम में पड़ा है इस कारण संतों को तेरी दया आती है।

आनंदघनजी लिखते हैं कि-

दोड़त दोड़त दोड़ियो, जेती मन की दौड़।
प्रेम प्रतीत विचारो हुकड़ी गुरुगम लीजो जोड़।
जेम-जेम बहुश्रुत बहुजन सम्मत, बहु शिष्ये परिवरियो।
तेम-तेम जैनशासन नो वैरी, जो नवि निश्चय दरियो रे जिनजी।।

जिसको बहुत शास्त्रज्ञान है, बहुत जीव जिसको मानते है, बहुत शिष्य है; परन्तु राग से भिन्न आत्मा का ज्ञान नहीं हैं वह जिनशासन का शत्रु है। कारण कि जैनशासन तो वीतरागभाव है। वह वीतरागभाव तो आत्मा के आश्रय से प्रकट होता है। उसका पता नहीं और राग की क्रिया में धर्म मानता है और ऐसी ही प्ररूपणा लाखों जीवों के सामने करता है, लाखों शिष्य रखता है, वह रागी वीतरागशासन का शत्रु है।

आत्मा तो राग की क्रिया से भिन्न तत्त्व है। राग की अपेक्षा से आत्मा निष्क्रिय है, राग का कर्ता नहीं है, शुद्ध परिणति का कर्ता है। राग तो आत्मा से भिन्न आस्रव तत्त्व है, कर्म और शरीर अजीव तत्त्व है। जो उनका (अजीव और आस्रव का) कर्ता होने जाता है वह मूढ़ है। जैसे अंधकार में डोरी बल खाकर पड़ी हो वह सर्प जैसी लगती है- इसकारण उसका भय लगता है; उसीप्रकार जिसने पुण्य-पाप में ही अपनापना मान लिया है, उसको भगवान आत्मा का डर लगता है।

जैसे समुद्र स्वभाव से तो स्थिर है; परन्तु पवन के झकोरों से लहराता है; उसीप्रकार भगवान आत्मा एकरूप ज्ञान का समुद्र है; परन्तु उसको छोड़कर पुण्य-पाप के संयोग में डाँवाडोल हो रहा है।

www.vitragvani.com

"जीव जड़ सौ अव्यापक सहजरूप भरम सौं करम कौ करता कहायौ है।"

भगवान आत्मा कर्म और विकार से अव्यापक है- भिन्न है; परन्तु अज्ञान से भ्रम के कारण मैंने जड़ कर्म किया, मैंने राग किया- ऐसा अज्ञानी मानता है। जड़ कर्म के उदय के जोर से अपने को कर्म का कर्ता मानता है-ऐसा नहीं कहा है; परन्तु मिथ्यात्वी अज्ञानी जीव अपनी भूल से अपने को कर्म, शरीर और रागादि का कर्ता मानता है। जीव स्वयं ही भूल करता है, कर्म तो जड़ हैं, वे कोई जीव को भूल नहीं कराते हैं। जीव कर्म के निमित्त के संग में जाकर पुण्य-पाप को करता है, वह स्वयं का अपराध है। स्वयं ही अज्ञानभाव में भ्रम से भूल करता है।

जब इसको भान होता है कि मैं शरीर, कर्म से भिन्न हूँ, राग भी मेरा स्वरूप नहीं है, वह मेरा कर्तव्य नहीं है। मेरे अस्तित्व में तो ज्ञान और आनन्द है, राग अथवा विकल्प मेरे अस्तित्व में नहीं है- ऐसा जानता है, तब वह उनका कर्ता नहीं होता; परन्तु जहाँतक शरीर, कर्म और राग-द्वेषादि से भिन्न अपने स्वरूप को नहीं जानता, वहाँतक अज्ञान से अपने को शरीर, कर्मादि का कर्ता मानता है।

इन दो काव्यों में सरल-सरल दृष्टान्तों से मूल बात समझा दी है। अज्ञानी को इन सुकृत-दुष्कृत को आत्मा कर रहा है- ऐसा प्रत्यक्ष दिखता है -ऐसा लगता है; परन्तु भाई! यह तेरी मूढ़ता है।

श्रोता:- यह दुकान का व्यापार छोड़कर व्रत, तप करता है, अहिंसा का पालन करता है वह सुकृत नहीं है?

पूज्य गुरुदेव श्री:- नहीं, अहिंसा पालने का भाव राग है। राग में आत्मा की हिंसा होती है, इसलिए वह सुकृत नहीं है। मैं अन्य की दया पाल सकता हूँ- ऐसे राग में स्वरूप की हिंसा होती है। अज्ञानी अपने को राग का कर्ता मानकर चैतन्य को भूल जाता है।

मैं तो चैतन्य हूँ, मेरे अस्तित्व में पुण्य-पाप भाव नहीं है ऐसी भिन्नता के भान के अभाव में अज्ञानी अपने से भिन्न भाव का कर्ता होता है और जीव के भाव को खो बैठता है। इस भूल को मिटाकर अपने आत्मा का ज्ञान करना ही धर्म है।

अब दृष्टान्त से इस बात को समझाते हैं कि भेदविज्ञानी जीव कर्म का कर्त्ता नहीं, मात्र दर्शक है।

www.vitragvani.com

भेदविज्ञानी जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है, मात्र दर्शक है:-

जैसैं राजहंसके बदनके सपरसत,
देखिये प्रगट न्यारौ छीर न्यारौ नीर है।
तैसैं समकितीकी सुदृष्टिमैं सहज रूप,
न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही सरीर है।।
जब सुद्ध चेतनकौ अनुभौ अभ्यासै तब,
भासै आपु अचल न दूजौ और सीर है।
पूरव करम उदै आइकै दिखाई देइ,
करता न होय तिन्हकौ तमासगीर है ।।15।।

अर्थ:- जिस प्रकार हंस के मुख का स्पर्श होने से दूध और पानी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवों की सुदृष्टि में स्वभावत: जीव, कर्म और शरीर भिन्न भिन्न भासते हैं। जब शुद्ध चैतन्य के अनुभव का अभ्यास होता है तब अपना अचल आत्मद्रव्य प्रतिभासित होता है, उसका किसी दूसरे से मिलाप नहीं दिखता। हां, पूर्वबद्ध कर्म उदय में आये हुए दिखते हैं पर अहंबुद्धि अभाव में उनका कर्त्ता नहीं होता, मात्र दर्शक रहता है ।।15।।

काव्य - 15 पर प्रवचन

सूक्ष्म बात है भाई! ध्यान से सुनना।

जैसे राजहंस के मुँह में ऐसी चोंच है कि मुँह में दूध का स्पर्श होते ही दूध और पानी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीवों की सुदृष्टि में सहजरूप से ही जीव, कर्म और शरीर भिन्न-भिन्न भासित होते हैं। सम्यग्दृष्टि अपने को ज्ञानरूप जीव जानता है और राग-द्वेष के परिणाम कर्म तथा शरीर को अपने से भिन्न जानता है। इसीकारण सम्यग्दृष्टि को भेदविज्ञानी कहा जाता है।

अज्ञानी जीव को अपने ज्ञान और आनन्दमय स्वरूप का पता नहीं है। इसलिए वह अपने स्वरूप से विरूद्ध ऐसे शुभाशुभ विकल्प ही मेरे हैं और शरीर भी मेरा है- ऐसा मानकर उनका कर्त्ता होता है। तथा विकारी परिणाम और शरीर की- मन, वचन, काय की चेष्टा मेरी है ऐसा मानता है। यह मेरा कार्य है ऐसा मानता है।

धर्मी तो उसको कहते हैं कि जो अपने चैतन्यस्वरूप को जानता है और शरीर, कर्म तथा

www.vitragvani.com

शुभाशुभराग को अपने स्वरूप से भिन्न जानता है। पर के शरीर और कर्म तो मुझसे भिन्न हैं ही; परन्तु यह शरीर कि जो मेरे साथ एक क्षेत्रावगाहरूप से रहा हुआ है, वह भी मेरे से भिन्न है और अन्दर में उत्पन्न होनेवाले शुभाशुभ विकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं होने से मुझसे भिन्न हैं- ऐसा धर्मी जानता है।

समकिती की सुदृष्टि में सहजरूप ऐसा शब्द प्रयोग किया है न! अर्थात् समकिती की दृष्टि सहज ध्रुवरूप ज्ञायक पर होने से वर्तमान उत्पाद-व्ययरूप परिणामों पर उसकी दृष्टि नहीं है। ध्रुव तो वर्तमान परिणाम से भी भिन्न है।

यहाँ तो मात्र शरीर और कर्म की भिन्नता ली है; परन्तु इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान आत्मा नित्यानंद ध्रुवरूप है। जहाँ ऐसी दृष्टि हुई, वहाँ रागादि परिणाम भी मेरे नहीं हैं तो मेरा कर्तव्य भी नहीं है यह बात भी साथ ही आ जाती है।

अज्ञानी को तो मेरा क्या है और मेरा कर्तव्य क्या है इसका भी पता नहीं है और अन्य के काम करने निकल पड़ा है। दूसरों का भला करो, दूसरों की सहायता करो; परन्तु भाई! दूसरों अर्थात् जो तेरे से भिन्न द्रव्य हैं उनका काम तू किसप्रकार कर सकता है? तू और वे दोनो एक हो जायें, तब वह कार्य हो सकता है; परन्तु ऐसा तो हो नहीं सकता। जिसको यह भान नहीं है कि शरीर भिन्न द्रव्य है, वह अपने को शरीर की क्रिया का कर्त्ता मानता है। पुण्य-पाप का विकल्प भी मेरे स्वरूप से भिन्न है ऐसा भान नहीं होने से अज्ञानी पुण्य-पाप के भाव का कर्त्ता होता है।

भाई! यह तो वीतराग का धर्म है। जिसमें से वीतरागभाव उत्पन्न हो, वह धर्म है। राग भाव उत्पन्न हो, वह धर्म नहीं है।

'न्यारौ जीव न्यारौ कर्म न्यारौ ही शरीर है' मैं जानने-देखने के स्वभाववाला जीव हूँ। मैं जड़ कर्म और शरीर से भिन्न हूँ। मैं तो कर्म बाँधता भी नहीं और छोड़ता भी नहीं; क्योंकि जो मेरे से भिन्न हैं, उनको मैं कैसे बाँधू अथवा छोड़? मेरी पर्याय में पुण्य-पाप के विकल्प होते हैं; परन्तु वे आस्रव तत्त्व हैं। वे जीवतत्व से भिन्न हैं। इसलिये राग की क्रिया, कर्म की क्रिया और शरीर ये सब मुझसे से भिन्न हैं, मैं उनसे भिन्न हूँ।

जब शुद्ध चेतन को अनुभौ अभ्यासै तब। भासे आपु अचल न दूजो और सीर है। जब जीव अन्तर्मुख होकर अपना अनुभव करता है कि 'मैं तो ज्ञायक ही हूँ' 'आनन्दमूर्ति हूँ- ऐसे अनुभव का अभ्यास होता है, तब अपना अचल आत्मद्रव्य ही प्रतिभासित होता है। मैं

www.vitragvani.com

ज्ञानानन्दमूर्ति हूँ, मेरे ऊपर दूसरा कोई सीर अर्थात् साथी अथवा मालिक नहीं है। मूल में कर्म और शरीर से ही भिन्नता कही है; परन्तु अनुभव कहा है इसकारण वहाँ तो रागादिक से भी भिन्नता भासती है। मेरे चैतन्यस्वभाव के साथ दया, दान, भक्ति आदि के विकल्प का भी मिलान नहीं हो सकता। जब राग से भिन्न आत्मा का अनुभव किया जाता है, तभी धर्म का प्रारम्भ होता है।

'मैं शुद्ध चैतन्य धातु हूँ' -ऐसा विकल्प नहीं, राग नहीं; परन्तु ऐसा अनुभव होता है। मैं शुद्ध आनन्दघन हूँ ऐसा अन्तरसन्मुख होकर अनुभव का अभ्यास वह अभ्यास है। शास्त्र का अभ्यास या व्रत का अभ्यास अथवा कषाय की मंदता करने का अभ्यास करने को नहीं कहा है; क्योंकि जीव यह अभ्यास तो मिथ्यात्वदशा में अनन्तबार कर चुका है, इससे धर्म का प्रारम्भ नहीं होता।

अज्ञानी ने मान रखा है कि मैं पुण्य-पाप का कर्त्ता हूँ, मैं दूसरों की दया पाल सकता हूँ इत्यादि.... ऐसा अज्ञानी भले ही माने; परन्तु राग और आत्मा कभी एक नहीं होते हैं। दूसरों की मदद करना, दान देना, सबको लाभ हो वैसा करना- ऐसा कहे; परन्तु कौन किसका कार्य कर सकता है? भाई! इस शरीर की अँगुली को हिलाना भी तेरा कार्य नहीं है तो दूसरे अन्य द्रव्यों के कार्य तू किसप्रकार कर सकेगा?

'पूरव करम उदै आइके दिखाई देइ' -'दिखते हैं' -ऐसा कहा है अर्थात् पूर्व कर्म का उदय आता है, तब उसके वश होकर जीव राग-द्वेष करता दिखता है; परन्तु ज्ञानी उनके (राग-द्वेष के) कर्ता नहीं हैं। ज्ञानी को शुद्ध चैतन्य की दृष्टि हुई है- इसकारण वे शुद्ध चैतन्य के साथ राग को नहीं मिलाते। ज्ञानी राग की क्रिया के कर्ता नहीं और न राग के स्वामी ही होते हैं, मात्र जाननेवाले रहते हैं।

जिस भाव से एक जीव का हित होता है, उसी भाव से समस्त जीवों का हित होता है। इसलिए धर्म तो जिससे एक को होता है, उससे ही सम्पूर्ण समाज को होता है। सबके लिए धर्म का मार्ग एक ही है। प्रत्येक जीव के पुण्य-पाप के उदय में अन्तर होता है, राग में अन्तर होता है, विकल्प में अन्तर होता है; परन्तु जानते हैं कि वह मेरी सत्ता की चीज नहीं है। राग की सत्ता में मैं नहीं हूँ और मेरी सत्ता में राग नहीं है। राग मेरा कार्य नहीं है।

श्रोता:- ज्ञानी को मात्र जानना ही होता है न?

www.vitragvani.com

पूज्य गुरुदेवश्री:- मात्र जानना अर्थात्? ज्ञान और आनन्द में रहकर राग का जानना होता है। आत्मा राग से खाली है; परन्तु ज्ञान से खाली नहीं है। ज्ञान और आनन्द से भरपूर भरा है। उसमें रहकर रागादि को मात्र जानता है। ज्ञानी को भक्ति का भाव आवे, पूजा का भाव आवे; दया, दान का विकल्प आवे तो भले ही आवे; परन्तु वह मेरा कर्तव्य नहीं है; क्योंकि मेरी वस्तु से वह भिन्न वस्तु है।

'करता न होय तिन्ह कौ तमासगीर है' -ज्ञानी राग में आकर राग के कर्ता नहीं होते, मात्र उसके दर्शक हैं, जानने-देखनेवाले हैं। श्रावक को भी छह आवश्यक- देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान आदि अनेकप्रकार के शुभ विकल्प आते है; परन्तु वे उनके कर्ता नहीं होते, जाननेवाले रहते हैं। मैं तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। विभाव-विकल्प की वृत्तियाँ आती हैं, वे भले ही 'हों'; परन्तु वे मेरा स्वरूप नहीं हैं।

धर्मी की दृष्टि शुद्ध चैतन्य पर पड़ी है- इसकारण वह राग से तो भिन्न ही पड़ गया है। ज्ञानी सर्व भावों के मात्र दर्शक-देखनेवाले हैं, कर्ता नहीं; क्योंकि ज्ञानी को उनमें अहंबुद्धि नहीं है। धर्म की शुरुआत में भी ऐसी दशा होती है। अज्ञानी जीव ने अनन्तकाल में व्रत-तप आदि कर-करके अनन्तबार शरीर को सुखा दिया है; परन्तु अज्ञान को नहीं छोड़ा है। इसकारण यहाँ उसको जीव और पुद्गल की भिन्न-भिन्न पहचान कैसे करना है? यह आगे के कलश (पद) में बताते हैं।

मिले हुए जीव और पुद्गल की पृथक्- पृथक् परख:-

जैसैं उसनोदकमैं उदक-सुभाव सीरौ,
आगकी उसनता फरस ग्यान लखियै।
जैसैं स्वाद व्यंजनमैं दीसत विविधरूप,
लौनकौ सुवाद खारौ जीभ-ग्यान चखियै।।
तैसैं घट पिंडमैं विभावता अग्यानरूप,
ग्यानरूप जीव भेद-ग्यानसौं परखियै।
भरमसौं करमकौ करता है चिदानंद,
दरब विचार करतार भाव नखियै ।।16।।

अर्थ:- जिस प्रकार स्पर्शज्ञान से शीत स्वभाववाले गरम जल की अग्निजनित उष्णता

www.vitragvani.com

पहिचानी जाती है, अथवा जिसप्रकार जिह्वा इन्द्रिय से अनेक स्वादवाली तरकारी में का नमक जुदा चख लिया जाता है, उसीप्रकार भेदविज्ञान से घटपिंड में का अज्ञानरूप विकार और ज्ञानमूर्ति जीव परख लिया जाता है, आत्मा को कर्म का कर्त्ता मानना मिथ्यात्व है, द्रव्यदृष्टि से 'आत्मा कर्म का कर्त्ता है' ऐसा भाव ही नहीं होना चाहिये ।।16।।

काव्य - 16 पर प्रवचन

क्या कहते हैं? देखो!

जैसे पानी गर्म है उससमय भी उसका स्वभाव तो शीतल ही है। पानी में उष्णता है, वह तो अग्निजनित है। स्पर्शज्ञान से वह उष्णता पहचानी जा सकती है। 'कलश टीका' में तो कहा है कि 'स्वभावग्राही ज्ञान' से जाना जा सकता है कि उष्णता अग्नि की है और पानी का स्वभाव तो शीतल है। जिसको अपने स्वभाव का ज्ञान हुआ, उसको पर के स्वभाव का भी यथार्थ ज्ञान होता है। जिसको शरीर और राग से भिन्न निज आत्मा का ज्ञान नहीं है, उसको पर का भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। कलश टीका में 60 वें कलश के अर्थ में 'ज्ञानादेव' का इसप्रकार अर्थ किया है। मेरा आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है और शरीर तथा रागादि विकल्पों से भिन्न है -ऐसा भेदविज्ञान जिसने किया है, वह पानी का स्वभाव शीतल है और उष्णता अग्नि की है- ऐसा भेदविज्ञान यथार्थरूप से कर सकता है।

ऐसा स्वरूप है भाई! लोग तो बाहर में ऐसा करना और वैसा करना इसी में पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं। उनको शरीर के छूटने पर कोई शरण नहीं दिखता। अपने साथ तो एक टुकड़ा भी आनेवाला नहीं है, वहाँ अन्य कौन शरण? अन्दर में अपना शरण है, वह तो लिया नहीं, उसका क्या हो?

द्रव्यदृष्टि से आत्मा कर्म का कर्ता है यह भाव ही नहीं होना चाहिए। जहाँ द्रव्यदृष्टि होती है, वहाँ वह राग का कर्ता नहीं, राग का भोक्ता नहीं और राग को ज्ञेय करना पड़ता है- ऐसा नहीं है। मैं भगवान ज्ञायकभाव हूँ- ऐसी दृष्टि होने पर उसको राग ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है। तीन लोक के नाथ वीतराग परमात्मा इन्द्रों और गणधर संतों की उपस्थिति में ऐसा फरमाते थे। स्वर्ग के अर्द्धलोक का स्वामी शकेन्द्र, अर्द्धलोक का स्वामी ईशान इन्द्र और मनुष्यों के छह खण्ड के स्वामी चक्रवर्ती इत्यादि इन्द्र और गणधरों, मुनियों और श्रावकों इत्यादि की उपस्थिति में भगवान की वाणी-दिव्यध्वनि में ऐसा आता था।

www.vitragvani.com

भगवान! तेरा ज्ञान यथार्थ हो तो तू जल का स्वभाव शीतल है, यह गर्म पानी के समय भी बराबर जान सकेगा। यदि तेरा ज्ञान राग से भिन्न पड़ा है तो वह पानी को उष्णपने से भिन्न जान लेगा। उष्णपना पानी का विभाव है और राग है, वह जीव का विभाव है। 'ज्ञानात्+एव' यह शब्द मूल कलश में तीनों ही पंक्तियों में लिया है। ज्ञान से ही स्वभाव का और विभाव का भेदज्ञान होता है। मेरा स्वभाव ज्ञान है, राग मेरा स्वभाव नहीं है- ऐसा भेदज्ञान करना ही प्रयोजनभूत है।

जैसे उष्णता के समय भी पानी का स्वभाव उष्ण नहीं है, पानी का स्वभाव तो शीतल है; उसीप्रकार क्रोध के समय भी जीव का स्वभाव क्रोधी नहीं है, जीव का स्वभाव तो ज्ञान है- ऐसे भेदज्ञान से ज्ञानमूर्ति जीव और अज्ञानरूप विकार को भिन्न पहचाना जा सकता है। जिसको निजस्वरूप का बोध होता है, उसको ही क्रोधादि भाव मेरा स्वभाव नहीं है- ऐसा ज्ञान होता है। 'कलश टीका' में पण्डित राजमलजी ने उसको 'स्वरूपग्राहीज्ञान' कहा है। जिसको स्वभाव का 'स्वरूपग्राहीज्ञान' हुआ है उसको ही 'क्रोधादि विकार मेरे स्वभाव से भिन्न हैं' -ऐसा ज्ञान होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो जिसको होता है, समान ही होता है। सिंह का सम्यग्दर्शन हो, केवली का हो अथवा चौथे गुणस्थानवर्ती तिर्यंच का हो, सम्यग्दर्शन में कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक का ज्ञान भी समान है। किसी को कम और किसी को ज्यादा ज्ञान होता है; परन्तु प्रतीति की अपेक्षा तो सबको समान श्रद्धा है।

पानी के दृष्टान्त की तरह जीव का स्वभाव पानी के शीतल स्वभाव की भाँति अतीन्द्रिय आनन्दमय शान्त स्वभाव है और राग-द्वेषादि भाव पानी में विद्यमान उष्णता जैसे विभाव हैं। मेरा स्वभाव तो ज्ञानानन्दमय शान्त-शीतल स्वभाव है और क्रोधादिभाव तो अग्नि की उष्णतावत गर्म हैं -ऐसा विवेक जिसको प्रकट हुआ है वह व्यवहार में भी विवेक करता है। गर्म पानी होने पर भी वह उसके शीतल स्वभाव को जान लेता है।

व्रत करे, तप करे अथवा उपवास करे इससे धर्म नहीं होता है। मैं आहार ले सकता हूँ अथवा छोड़ सकता हूँ- ऐसा माननेवाला तो जड़ का स्वामी होकर मिथ्यात्वभाव का पोषण करता है। मार्ग तो ऐसा है भाई! इस मार्ग की रुचि होने वाले की सम्पूर्ण लाइन ही बदल जाती है, और जिसकी दिशा बदलती है, उसकी दशा बदल जाती है।

जैसे स्वाद व्यजंन में, दीसत विविधरूप ।लौन को सुवाद खारौ, जीभ-ग्यान चखिये। लौकी, किंडोरा, परवल, तिरोई आदि सभी सब्जियों का स्वाद तो अलग-अलग

www.vitragvani.com

होता है; परन्तु प्रत्येक में डाले हुए नमक का स्वाद तो खारा ही है। उस खारेपन के द्वारा सब्जी में नमक भिन्न चख लिया जाता है। जिह्वा इन्द्रिय के निमित्त से ज्ञान सब्जी और नमक के भिन्न-भिन्न स्वभाव को जान लेता है। ऐसा बोध किसको होता है? कि जिसने राग के खारे स्वभाव को और चैतन्य के मधुर स्वाद को भिन्न जान लिया है। जिसने स्वभाव और विभाव का भेदज्ञान किया है, उसको ही वास्तविकरूप से ज्ञान होता है कि नमक का खारा स्वाद सब्जी से भिन्न है। जिसको खाने में गृद्धि हो, उसको यथार्थ ज्ञान नहीं होता; उसको तो सब्जी ही खारी हो गई है- ऐसा भासित होता है।

एकबार श्रीमद्राजचन्द्र राजपुर आये थे वहाँ उनको थाली में लौकी की सब्जी रखी गई तो वे तुरंत बोले कि इस सब्जी में नमक ज्यादा है। लौकी के रेशे भिन्न पड़े हुए देखकर चखे बिना ही नमक की अधिकता ख्याल में आ गई। देखो, यह ज्ञान की क्रिया! जिसको सब्जी आदि परद्रव्य में गृद्धि है, उसको ऐसा ज्ञान नहीं होता है। जिसने स्वभाव और विभाव तथा शरीरादि से भेदज्ञान किया है, उसको ही परज्ञेय का भी यथार्थ ज्ञान होता है।

तैसे घटपिण्ड में विभावता अग्यानरूप। ज्ञानरूप जीव भेद-ग्यान सौं परखिये।

आत्मा का स्वभाव तो ज्ञानानन्दरूप है और पुण्य-पापादि का विकल्प तो अज्ञानरूप है, विभावरूप है; क्योंकि उनमें ज्ञान नहीं है और ज्ञानरूप चैतन्य तो चैतन्य..चैतन्य..जानन..जाननस्वभावी जीव तो स्वरस से विकसती चैतन्यधातु है। चैतन्यधातु तो नित्य है; परन्तु भेदज्ञान से उसको विभाव से भिन्न पहचान लेनेवाले को स्वरस का विकास होता जाता है।

'स्वरस विकसित नित्य चैतन्यधातु' -चैतन्यधातु का लक्ष्य होने पर विभाव से तो भेदज्ञान होता है और प्रतिक्षण पर्याय में ज्ञान विकास पाता जाता है। यही ज्ञान राग और अपने स्वभाव को भिन्न जानता है।

देखो! व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प भी अज्ञान (ज्ञान के अभावरूप अज्ञान) है। परद्रव्य अनुसारी विभाव अज्ञान है। लोग जिनको पंच महाव्रत कहते हैं, उनको यहाँ भगवान विभाव-अज्ञान कहते हैं। दुनिया का भगवान के साथ झगड़ा है। लोगों को ज्ञानानन्द चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा का भान नहीं है। अत: वे अपने को ज्ञानानन्द से विमुख ऐसे पुण्य-पाप के भावों का कर्ता मानते हैं। राग में तो अंधकार है। राग में चैतन्य की जागृत दशा का प्रकाश कहाँ से हो सकता है? राग तो अंधकूप है। इसी अधिकार के 11वें पद में जीव को अनादिकाल से लगे हुए मिथ्यात्व को अंधकूप कहा है।

www.vitragvani.com

इस नाटक समयसार ग्रन्थ के पन्ने अच्छे हैं, अक्षर भी बड़े हैं और भाव भी गंभीर है इसकारण मोटे ग्रन्थ जैसा लगता है। अन्दर सिद्धान्त में अलौकिक भाव भरे हैं।

जैसे पानी में उष्णता है वह अग्नि की है, पानी का स्वभाव तो शीतल है। उसीप्रकार आत्मा में पुण्य-पाप होते हैं, वे विभाव-अज्ञान हैं, जीव का स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है।

भाई! यदि तुझे यह बात एकान्त जैसी लगती हो तो भगवान से जाकर कह! यह कोई लौकिक कथा की और अकेली क्रिया की बात नहीं है। भगवान जो तीन काल-तीन लोक में रहे हुए पदार्थों के ज्ञान उपजाने की विधि बताते हैं- ऐसी विधि अन्यत्र कहीं नहीं है। वीतराग परमेश्वर की बात ही कोई अलौकिक है। ऐसा स्वरूप सम्प्रदाय में भी कहीं नहीं है तो अन्यमत में तो हो ही कहाँ से?

भेदज्ञान से अज्ञानरूप विकार और ज्ञानमूर्ति जीव भिन्न पहचाने जा सकते हैं। जैसे सब्जी में नमक का स्वाद भिन्न है और सब्जी का स्वाद भिन्न है; उसीप्रकार भगवान आत्मा के निजरस का स्वाद आनन्दमय है और विभाव का स्वाद दु:खरूप और आकुलतामय कहा है। व्रतादि के शुभराग में भी आकुलता है। यदि व्रतादि के शुभराग में आकुलता न होकर शान्ति हो, तब तो सिद्ध के भी व्रतादि होने चाहिए; परन्तु सिद्ध के व्रतादि नहीं होते। इसका कारण यह है कि व्रतादि का राग विकल्प है, वृत्ति का उत्थान है, उसमें आकुलता ही है, सुख नहीं है। इसीलिए सिद्ध को आदर्श बनाकर लक्ष्य में लो कि सिद्ध में जो है, वह मेरे स्वभाव में है और सिद्ध में जो नहीं है वह मेरे स्वभाव में भी नहीं है।

विभाव अज्ञानरूप है और जीव ज्ञानरूप है यह भेदविज्ञान से पहचाना जा सकता है। राग के विकल्प से भिन्न पढ़कर आत्मा का भान हो, वहाँ दोनों की परीक्षा हो जाती है।

'भरमसौं करम कौ करता है चिदानन्द' -भगवान चिदानन्द को जहाँ तक अपने स्वभाव का भान नहीं है, वहाँ तक वह भ्रम के कारण कर्म का कर्ता होता है। भ्रम से ही पुण्य-पाप के विकल्प का भी कर्ता होता है। इसलिए आत्मा को राग और कर्म का कर्ता मानना मिथ्यात्व है।

लोग इस बात को नहीं समझते, इसलिए ऐसा कहते हैं कि ये लोग (सोनगढ़वाले) मन्दिर बनाते हैं, पूजा करते हैं, भक्ति करते हैं, दया-दानादि सब करते हैं; परन्तु प्ररूपण ऐसा करते है कि पुण्य हेय है। वास्तव में उन लोगों को पता नहीं है कि ऐसे समस्त राग के प्रकार आये बिना नहीं रहते हैं। उनको हम करते नहीं, परन्तु वे आते हैं, वे जानने लायक हैं, आदरणीय नहीं। जहाँ तक पूर्ण वीतरागता न हो वहाँ तक शुभराग आाता है, होता है; परन्तु वह जीव का स्वरूप नहीं है।

www.vitragvani.com

'दरव विचार करतारभाव नखिये' -द्रव्यदृष्टि से विचारे तो 'आत्मा रागादि विकार का कर्ता है, कर्म का कर्ता है, शरीर की क्रिया का कर्ता है' -ऐसा भाव छोड़ देना चाहिए। जो द्रव्यस्वभाव की दृष्टिपूर्वक विभाव के कर्तापने की बुद्धि छोड़ दे, उसके ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते है।

अब कहते हैं कि पदार्थ अपने स्वभाव का ही कर्ता है।

पदार्थ अपने स्वभाव कर्त्ता है

ग्यान-भाव ग्यानी करै, अग्यानी अग्यान।
दर्वकर्म पुदगल करै, यह निहचै परवान ।।17।।

अर्थः- ज्ञानभाव का कर्त्ता ज्ञानी है, अज्ञान का कर्त्ता अज्ञानी है और द्रव्यकर्म का कर्त्ता पुद्गल है ऐसा निश्चयनय से जानो ।।17।।

काव्य - 17 पर प्रवचन

देखो! जीव कर्म का कर्ता नहीं है यह बात तो पहले सिद्ध की है। कर्म जड़ की पर्याय है, इसलिए उसका कर्ता जड़-पुद्गल द्रव्य है, जीव उसका कर्ता नहीं है। जब जीव अज्ञानभाव से अज्ञान को करता है, तब कर्म स्वयं आकर बँध जाते हैं। 'मोक्षशास्त्र' में ज्ञान की आशातना के छह बोलों में आता है कि जीव ज्ञान की आशातना-विराधना के ऐसे परिणामों से ज्ञानावरणी कर्म बाँधता है, उन परिणामों का कर्ता जीव है यह सत्य है; परन्तु जड़कर्म का कर्ता जीव नहीं है।

ज्ञानी जीव तो अज्ञान को भी नहीं करता है। वह तो अपने निर्मल ज्ञानभाव को कर्ता है ; क्योंकि ज्ञानी तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है और उसकी दृष्टि भी स्वभाव पर है इसकारण ज्ञानी विकार का कर्ता नहीं होता और इसीलिए ज्ञानी जड़कर्म के बंधन में निमित्त भी नहीं होता। अज्ञानी की दृष्टि पुण्य-पाप पर होने से वह उनका कर्ता होता है और जड़कर्म के बंधन में निमित्त होता है। कर्मो का वास्तविक कर्ता तो पुद्गल स्वयं ही है।

इसप्रकार तीन बोल हुए-

(1) धर्मी जीव ज्ञान-आनन्द आदि निर्मल परिणाम को करते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टि में निर्मल ध्रुव चैतन्य है। धर्मी जीव विकार परिणाम को नहीं करता है। धर्मी व्यवहार रत्नत्रय को भी नहीं करता है।

www.vitragvani.com

(2) अज्ञानी पुण्य-पाप, शुभाशुभ परिणाम को करता है, जड़ के कार्यों को तो अज्ञानी भी नहीं करता। तो प्रश्न हो सकता है कि- यह सब कारखाना आदि जड़ के कार्य का कर्त्ता होता दिखता है न? नहीं भाई! अज्ञानी के कार्य की मर्यादा भी अपने विकारी परिणाम तक ही है। अज्ञानी अपने स्वभाव को भूलकर अज्ञान से पुण्य-पाप विकार को करता है; परन्तु जड़ के कार्य तो अज्ञानी जीव भी नहीं कर सकता है। जिसमें चैतन्यस्वभाव का अंश भी नहीं है -ऐसे दया, दान, व्रत, भक्ति आदि शुभपरिणाम और हिंसा, झूठ आदि अशुभपरिणामों को अज्ञानी जीव करता है; क्योंकि उसकी दृष्टि ही पुण्य-पाप पर है। मेरा स्वभाव क्या है इसका तो अज्ञानी को पता ही नहीं है। इसलिए वह धर्म भी नहीं कर सकता और जड़ के कार्यों को तो जीव कर ही नहीं सकता- इसकारण जड़ को भी नहीं करता। वह तो 'मात्र मैं यह कार्य करता हूँ और ये सब मेरे हैं' -ऐसे अनेकप्रकार के भ्रम करता है।

यह देखो न! लड़का परदेश में और तुम यहाँ अकेले हो न! दो द्रव्य ही भिन्न है। यहाँ अकेले रोटी खाते हो- ऐसा भी नहीं है। अज्ञानी भी रोटी खाने की क्रिया को नहीं कर सकता, वह मात्र राग-द्वेष करता है; परन्तु रोटी खाने की क्रिया को आत्मा तीनकाल में नहीं कर सकता है।

श्रोता:- कारखाने इत्यादि चलते हों उनका क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री:- कारखाना कोई परद्रव्य के आधार से नहीं चलता। वह भी सत्तावाला पदार्थ है, इसलिए उसका धारावाही परिणमन जिस समय जैसा होने योग्य है, वैसा होता ही है।

(3) द्रव्यकर्म का कर्त्ता पुद्गल है। इसीप्रकार जगत के प्रत्येक पदार्थ के परिणमन का कर्त्ता वह द्रव्य है, परद्रव्य उसका कर्त्ता नहीं है।

पहले बोल में 'ज्ञानी ज्ञानभाव का कर्त्ता है' -ऐसा कहा, उसका क्या अर्थ है? कि चैतन्यवस्तु ध्रुव स्थिर बिम्ब जैसी है, वैसी जिसने जानी है, वह ज्ञानी हो गया है। वह अब जैसी अपनी चैतन्य शक्ति है, वैसी पर्याय को करता है। इसलिए वह ज्ञान परिणाम का कर्त्ता है।

श्रोता:- साहब! हमको तो जीव व्यापार-धंधा, खातों का ऑडिट आदि करता दिखता है, तथापि आप जैसा कहते हो, वैसा हम मानते हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री:- तुम स्वयं निर्णय करो न! परद्रव्य (कोई भी द्रव्य) एक समय भी अपने परिणाम को किये बिना नहीं रहता। तो जो स्वयं परिणमता है, उसको दूसरा क्या

www.vitragvani.com

परिणमायेगा ? सभी द्रव्य अपनी-अपनी क्रिया किये बिना रहते ही नहीं। तुम अपने परिणाम की क्रिया को करते हो और परद्रव्य उसकी अपनी क्रिया को करता है। कोई भी एक-दूसरे की क्रिया को नहीं कर सकता है।

जिसको शुद्ध चैतन्य ज्ञायकभाव अपने रूप से ज्ञात हुआ है -ऐसा धर्मी, भले ही वह चक्रवर्ती होवे तो राज्य में पड़ा दिखे, छियानवें हजार स्त्रियों के समूह में दिखे; तथापि वह पर की क्रिया को बिलकुल नहीं करता। उसको रानी आदि के संयोग के प्रति लक्ष्य जाने से विकल्प होता है; परन्तु वह विकल्प का कर्त्ता या भोक्ता नहीं है।

जीव शरीर, स्त्री, मकान, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा आदि को न तो करता है और न भोगता है। अज्ञानी जीव ऐसा मानता हैं कि मैं कर्त्ता हूँ और भोक्ता हूँ; परन्तु वस्तुतः वह भी परद्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता नहीं हो सकता है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में पागल का दृष्टान्त दिया है न! नदी के किनारे पागल बैठा था। वहाँ स्वयमेव राजा ने पड़ाव डाला; अतः मनुष्य, हाथी, घोड़े, पालकी इत्यादि आने लगे तो उस पागल को ऐसा लगा कि यह सब मेरे लिए आया है। वहाँ थोड़ी देर ठहरकर भोजनादि कार्यों से निवृत्त होकर सब चलने लगे तो पागल कहता है कि बिना मुझसे पूछे सब कैसे जाते हो ?..अरे..! हम तो अपने कारण आये हैं और अपने कारण जाते हैं। वहाँ तू क्यों मालिक बनने आया है? पागल है!

दृष्टान्त में पागल की तरह यह जीव भी स्त्री आवे, पुत्र आवे, पैसा आवे- इत्यादि सब अपने कारण से आते हैं, वहाँ यह मानता है कि ये सब मेरा है। इनका अच्छी तरह ध्यान रखता है; परन्तु भाई! ये तेरे कारण नहीं आये हैं। ये तो इनका काल पूरा होते ही चले जाने वाले हैं। तू व्यर्थ ही ममता करके भ्रम में भूल रहा है।

श्रोताः- बहुत भूला यह तो....!

पूज्य गुरुदेवश्रीः- अरे! ऐसा भूला कि भींत (दीवार) में से बाहर निकलना चाहता है। दरवाजे में से निकलने के बदले बाहर निकलने के लिए दीवार में सिर पछाड़ने जैसी मूर्खता कर रहा है।

यहाँ तो आचार्य महाराज अत्यन्त ही संक्षिप्त भाषा में ज्ञानी और अज्ञानी के कार्य को कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान को करता है और अज्ञानी अज्ञान को करता है। जड़ के कार्य को तो ज्ञानी या अज्ञानी कोई नहीं करता। जड़ कर्म को पुद्गल करता है। ये तीन महासिद्धांत एक पद में आ गये है।

www.vitragvani.com

जिसने पुण्य-पाप रहित आत्मा को जाना है वही वास्तव में आत्मा हुआ है। वह आत्मा अपने निर्मल श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रादि निर्मल परिणामों को करता है। वैसे तो 'आत्मा और उसके निर्मल परिणाम'- ऐसा भेद पड़ता होने से उनका कर्त्ता आत्मा को कहना भी उपचार है; परन्तु यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि आत्मा पर का कर्त्ता नहीं है; इसलिए ज्ञानी को ज्ञान का कर्त्ता कहा है।

अज्ञानी अज्ञान का कर्त्ता है। अज्ञान अर्थात् अन्दर में पुण्य-पाप का विकल्प उत्पन्न होता है, उसमें ज्ञान का अंश नहीं है; इसलिए वह विकारी परिणाम है; उसको अज्ञानी करता है। अज्ञानी अपने निर्मल स्वभाव को तो भूल गया है, इसलिए वह पुण्य-पाप के परिणाम को ही निज मानकर करता है।

द्रव्यकर्म का कर्त्ता पुद्गल है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय आदि द्रव्यकर्मों का कर्त्ता वे कर्म के परमाणु स्वयं ही हैं। कर्म के परमाणु दर्शनावरणी आदि भिन्न-भिन्न प्रकृतिरूप परिणमते हैं। ज्ञानी अथवा अज्ञानी कोई जीव कर्म के परिणाम को नहीं करता है।

अब 17वाँ कलश कहते हैं। यह कलश समस्त बालकों को कक्षा में पढ़ाते समय भी सिखाया जाता है। उसमें कहते हैं कि ज्ञान का कर्त्ता जीव ही है, अन्य नहीं-

आत्मा ज्ञान स्वयं ज्ञान ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।17।

ज्ञानरूप आत्मा ही ज्ञान का कर्त्ता है, अन्य नहीं। द्रव्यकर्म को जीव करता है यह व्यवहार कथन है।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा को परभाव का कर्त्ता मानना यह मिथ्यादृष्टि का अज्ञान है। अब इसमें पुत्री को अच्छी जगह विवाहना, निरोगी पैसेवाला दामाद, खोजना प्रतिष्ठा बढ़ाना -ऐसे सब कार्य चतुर व्यक्ति कर सकता है यह बात कहाँ रही ? परन्तु ये चार-चार लड़कियाँ जवान हो गई हैं, इनका विवाह कर दूँ; फिर धर्म के लिए कुछ निवृत्ति मिलेगी; लड़के का विवाह ऐसी जगह किया है कि वहाँ से सहायता मिल सकती है और उनके एक ही लड़की है, इसलिए वारिसपना भी मेरे पुत्र को ही मिलेगा। जिनके पुत्र नहीं होते वे अन्य को गोद लेते हैं, ऐसे सब अनेक प्रकार के मोहवाले जीव होते हैं, वे सब महामूर्ख हैं। मैंने परद्रव्य की क्रिया व्यवस्थित कर दी- ऐसी तेरी मान्यता ही महामूर्खता पूर्ण है।

'मोहोऽयं व्यवहारिणाम्' का अर्थ कलशटीका में 'मिथ्यादृष्टि का अज्ञान है' -ऐसा किया

www.vitragvani.com

है, वह सत्य है। मिथ्यादृष्टि की ऐसी मिथ्यामान्यता है। आत्मा परभाव को नहीं कर सकता है यह वस्तुस्थिति है; इसका बहाना बनाकर दूसरों के रुपये देने होने पर भी ऐसा कहता है कि मैं पैसा दे नहीं सकता, इसलिए नहीं देता -ऐसी खोटी बात नहीं चलती। जीव अपने परिणाम तो कर सकता हैं। पर की क्रिया नहीं कर सकता; स्वयं के भाव ही पैसे देने के नहीं है, उसका क्या ?।

ज्ञान का कर्त्ता जीव ही है, अन्य नहीं है

ग्यान सरूपी आतमा, करै ग्यान नहि और।
दरब करम चेतन करै यह विवहारी दौर ।।18।।

अर्थः- ज्ञानरूप आत्मा ही ज्ञान का कर्त्ता है दूसरा नहीं है। द्रव्यकर्म को जीव करता है यह व्यवहार-वचन है ।।18।।

काव्य - 18 पर प्रवचन

ज्ञानस्वरूपी आत्मा ज्ञान ही करता है, अन्य कुछ नहीं करता। द्रव्यकर्म का कर्त्ता जीव है- ऐसा कहलाता है, वह तो व्यवहार वचन है।

तो **प्रश्न** होता है कि श्रावक छह आवश्यक कार्य तो करे या नहीं करे? 1. देवपूजा 2.गुरु उपासना 3. स्वाध्याय 4. संयम 5. तप और 6. दान- ये छह तो श्रावक के नित्य कर्तव्य हैं- ऐसा शास्त्र में भी कहा है?

समाधानः- भाई! यह तो श्रावक की भूमिका में वैसे परिणाम आते हैं, उनका शास्त्र में ज्ञान कराया है। 'श्रावक को छह आवश्यक निरंतर करना' अर्थात् श्रावक को स्वयं को वैसे परिणाम आते हैं, उन्हें जानना ऐसा भाव है। शास्त्र के भाव को समझना बहुत कठिन है। नियम से करने योग्य तो 'मैं शुद्ध चैतन्य द्रव्य हूँ'- ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता ही कर्तव्य है।

निहालभाई से (सोगानीजी से) किसी ने प्रश्न पूछा होगा कि स्थिरता क्यों नहीं होती? तो उन्होंने कहा- स्थिर- ऐसी वस्तु को नहीं पकड़ा, इसलिए स्थिरता नहीं होती। अस्थिररूप राग परिणाम और एक समय की पर्याय को पकड़ा है, वह तो अस्थिर है, इसलिए अस्थिर ही रहेगा। परिणाम को पकड़नेवाला स्थिर नहीं हो सकता। नित्यानन्द प्रभु आत्मा स्थिर है, उसको पकड़ने पर परिणाम वहाँ स्थिर हो जाता है।

यह परिणाम का कर्त्ता आत्मा है -ऐसे भेद से कथन होता है, इसलिए कहा न! ज्ञानस्वरूपी

www.vitragvani.com

आत्मा ज्ञान को ही करता है, अन्य कुछ नहीं करता। जीव द्रव्यकर्मो को करता है- यह तो मूढ़ जीवों का व्यवहार वचन है। 'सज्जायमाला' में सब ऐसे ही कथन है कि आत्मा कर्म को करता है, कर्म को बाँधता है और कर्म को भोगता है। अनाथी मुनि का एक दृष्टान्त आता है -

मैं रे अनाथी निर्ग्रन्थ श्रेणिक राय!
मैं छोड़यो सकल यह संग रे श्रेणिक राय! मैं अनाथी निर्ग्रन्थ।।

राजा श्रेणिक हाथी पर बैठकर घूमने जा रहे थे कि रास्ते में बबूल के वृक्ष के नीचे एक मुनि को बैठे देखा। हाथी से नीचे उतरकर वंदन करके राजा कहता है महाराज! आप तो राज्य में रहने योग्य हो और ऐसी अनाथ दशा में किसलिए? मेरे साथ राज्य में चलो। तब मुनिराज ने कहा राजन्! मैं अनाथ था, इसलिए यहाँ आत्मा की शरण लेने आया हूँ, अनाथ तो अभी तुम हो। साहेब! आपने मुझे पहचाना नहीं, मेरे तो बड़ा राज्य है, रानियाँ है, धन-वैभव है; मैं अनाथ नहीं हूँ। मुनिराज बोले तुम राजा हो- यह पहिचानकर ही कहता हूँ कि तुम अनाथ हो श्रेणिक! श्रेणिक बोले -मैं अनाथ की व्याख्या समझा नहीं, साहब! अरे! चैतन्य भगवान शरण है, तू उसकी शरण में नहीं गया और रागादिक की शरण में पड़ा है; इसलिए तू अनाथ है। तेरी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है। तू भिखारी है। यह धूलरूप राज्य अथवा धन-वैभव कोई शरणरूप नहीं होनेवाले हैं; इसलिए तुझे पहचानकर ही अनाथ कहता हूँ।

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी जीव भी जड़कर्म का कर्त्ता नहीं है। वह अज्ञान को करता है; परन्तु जड़कर्म का कार्य उसका नहीं है। अज्ञानी का अज्ञान तो ऐसा जोरदार है कि कामकाज सब लड़के करें, परन्तु डोर अपने हाथ में रखता है। घर बैठकर भी सारा हिसाब माँगता है। यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि भ्रम से भूला हुआ अज्ञानी अधिक से अधिक राग-द्वेष और संकल्प-विकल्प करता है; परन्तु वह परद्रव्य में कुछ भी फेरफार नहीं कर सकता। आँख की एक पलक झपकाने की भी उसमें ताकत नहीं है। (वह तो जड़ का कार्य है।)

देखो! कर्म का बंधन तो ऐसा है कि जीव जैसे मलिन परिणाम करता है, ऐसे ही कर्म बंधते हैं; तो भी उनका कर्त्ता अपने को मानता है वह मूढ़ है। तब बाहर में व्यापार-धंधा, मकान आदि कार्य तो जीव के भाव के अनुसार होते ही नहीं; तथापि जो उनका कर्त्ता अपने को मानता है, वह इसकी कितनी मूढ़ता है! जीव जड़ के कार्य किसप्रकार कर सकता है? मात्र अज्ञान करता है।

www.vitragvani.com

यह 17वाँ श्लोक (18 वाँ काव्य) सुनकर शिष्य को शंका होती है कि जीव मात्र भाव को ही करता है, कर्म को नहीं करता- ऐसा आप कहते हो- यह हमको कुछ समझ में नहीं आता। इस विषय में वह प्रश्न करता है-

इस विषय में शिष्य की शंका

पुग्गलकर्म करै नहि जीव,
कही तुम मैं समुझी नहि तैसी।
कौन करै यह रूप कहौ अब,
को करता करनी कहु कैसी ।।
आपुही आपु मिलै बिछुरै जड़,
क्यौं करि मो मन संसय ऐसी?
सिष्य संदेह निवारन कारन,
बात कहैं गुरु है कछु जैसी ।।19।।

अर्थ:- पुद्गल कर्म को जीव नहीं करता है, ऐसा आपने कहा सो मेरी समझ में नहीं आता। कर्म का कर्त्ता कौन है और उसकी कैसी क्रिया है? ये अचेतन कर्म अपने आप जीव से कैसे बँधते-छूटते हैं? मुझे यह सन्देह है। शिष्य की इस शंका का निर्णय करने के लिये श्रीगुरु यथार्थ बात कहते हैं।।19।।

काव्य - 19 पर प्रवचन

जीव पुद्गल कर्म को नहीं करता -ऐसा आपने कहा, वह मेरी समझ में नहीं आता। कर्म का कर्त्ता कौन है और उसकी कैसी क्रिया है? यह अचेतन कर्म अपने आप जीव के साथ किसप्रकार बँधता है और छूटता है? मुझे यह शंका है। शिष्य की इस शंका का निवारण करने के लिए श्रीगुरु पुद्गल कर्म का स्वरूप जैसे है, वैसे समझाते हैं।

वर्तमान में बहुत लोगों को ऐसा ही प्रश्न उत्पन्न होता है कि आचार्य उमास्वामी ने 'मोक्षशास्त्र' के सूत्र में कहा है कि ज्ञान की आशातना के छह प्रकार के परिणामों से ज्ञानावरणी कर्म बँधता है। इसीप्रकार आठों ही कर्म कैसे-कैसे परिणामों से बँधते हैं -यह बताया है और आप कहते हो कि जीव कर्म को नहीं करता है तो हमें क्या समझना चाहिए? क्या ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय आदि जड़ कर्म स्वयं अपने आप ही बँधते हैं और छूटते हैं? जीव विकार करता है, तभी तो कर्म बँधते हैं न? इतनी अपेक्षा तो कर्म के बँधने में आती है न?

www.vitragvani.com

भाई! सुन, कर्मरूप से बँधे -ऐसी योग्यतावाले रजकण जीव के समीप में पड़े ही हैं, वे अपनी योग्यता से ही बँधते और छूटते हैं। वे जीव के विकार से नहीं बँधते।

शिष्य के समाधान के लिए 20 वें पद में गुरु समझाते हैं-

ऊपर की हुई शंका का समाधान

पुद्गल परिनामी दरब, सदा परिनवै सोई।
यातैं पुदगल करमकौ, पुदगल करता होई ।।20।।

अर्थः- पुद्गल द्रव्य परिणामी है, वह सदैव परिणमन किया करता है, इससे पुद्गल कर्म का पुद्गल ही कर्त्ता है ।।20।।

काव्य - 20 पर प्रवचन

पुद्गल परमाणुओं का स्वभाव कूटस्थ रहने का नहीं है। वे सदा परिणमा करते हैं। जिसकी जो शक्ति होती है, उसको अन्य की अपेक्षा नहीं होती। पुद्गल स्वयं परिणमनस्वभावी होने से उसको जीव की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं परिणमता है। जिसमें जो शक्ति नहीं होती, उसे अन्य द्रव्य नहीं दे सकता। पुद्गल में कर्मरूप परिणमने की शक्ति न हो तो जीव की सामर्थ्य नहीं है कि उसको परिणमा सके? अतः जीव विकार करता है, इसलिए पुद्गल कर्मरूप परिणमते हैं -ऐसा नहीं है। पुद्गल कार्माणवर्गणा अपनी योग्यता से ही कर्मरूप परिणमती है।

अन्यमती ईश्वर को कर्त्ता माने और जैन कर्म को कर्त्ता माने -ये दोनों ही बातें मिथ्या हैं। सभी द्रव्य अपने -अपने परिणाम के ही कर्त्ता हैं -ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

अज्ञानी कहता है कि जीव विकार करे तो कर्म बँधते हैं और धर्म करे तो कर्म छूट जाते हैं -ऐसा कहो तो यह बात हमको जँचती है; परन्तु कर्म स्वयं छूटते हैं- यह बात हमको नहीं जँचती। शास्त्र में व्यवहारनय के कथन आते हैं, जीव उनको पकड़ लेता है और उसके पीछे मूल निश्चय कहना है, उसको ग्रहण नहीं करता है। इसकारण विवाद उत्पन्न होता है तथा ऐसा कहता है कि समयसार में से यह बात निकाल दूँ कि व्यवहार की क्रिया से धर्म होता है और जीव पर का कार्य कर सकता है इत्यादि...। भाई! हम किसी के साथ चर्चा नहीं करते। तुम इतना बड़ा नाम धराते हो और चर्चा करने से इन्कार करते हो तो लोग आपके लिए क्या विचारेंगे? लोग चाहे जो विचारें हमको भानरहित विचारें तो भी वे स्वतंत्र हैं। इसमें हमको कुछ हानि नहीं है। 'चश्मा होवे तो ज्ञान होता है और चश्मा नहीं होवे तो ज्ञान नहीं होता' -ऐसी शल्य जिसको पड़ी

www.vitragvani.com

है, उसको किसप्रकार समझाना? ज्ञान जाननहार (आत्मा) से होता है, ज्ञेय से अथवा निमित्त से नहीं होता। जाननेवाले के बिना जाने कौन? पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन-ये उपयोग के बारह प्रकार हैं। इन बारह ही प्रकार के उपयोग का परिणमन जिससमय जैसा होने योग्य होता है, वैसा अपने द्रव्य को अनुसरकर होता है, निमित्त को अनुसरकर नहीं होता।

कोई तर्क करता है कि चश्मा उतार दो तो ज्ञान होगा? भाई! ज्ञान न हो, वह भी ज्ञान की ऐसी योग्यता के कारण नहीं होता। चश्मा नहीं है, इसलिए ज्ञान नहीं हुआ -ऐसा नहीं है। आत्मा में परद्रव्य के कारण कुछ फेरफार होता ही नहीं। जानना होता है, वह भी अपने से होता है और अमुक जानना नहीं होता वह भी अपनी योग्यता से ही ऐसा होता है।

अज्ञानी का भ्रम भी ऐसा होता है कि उसको कोई समझा नहीं सकता। साधु नाम धराने पर भी दृष्टि विपरीत होती है।

यहाँ कहते हैं कि पुद्गल द्रव्य सदा परिणामी है। उसमें निरंतर-धारावाही परिणमन अनादि से चालू ही है। उसमें कर्म होने योग्य उसका परिणमन हो, तब वह स्वयं कर्मरूप परिणमता है, जीव उसको नहीं परिणमाता। पुद्गल कर्मरूप कैसे परिणमा? कि उसका परिणमना स्वभाव है, इसलिए कर्मरूप परिणमा है। कर्म छूट क्यों गया? कि उसका बदलने का स्वभाव है इसलिए कर्म अवस्था बदलकर अकर्मरूप हुई है। जीव ने धर्म किया इसलिए कर्म छूट गये ऐसा नहीं है।

(भाई!) वस्तु के ऐसे स्वभाव के भान बिना सामायिक और प्रोषध आदि करना भी सब 'रण में पीठ दिखाना' जैसा होता है।

ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय, अन्तराय, आयु, नाम, वेदनीय और गोत्र आदि रूप से कर्म अपने परिणमन स्वभाव से परिणमता है। जीव ने विकार किया, इसलिए पुद्गल को कर्मरूप परिणमना पड़ा -ऐसा नहीं है। जैसे तराजू के एक पलड़े में एक किलोग्राम का बाँट रखा तो सामने इतने ही वजनवाली वस्तु रखो तो तराजू का काँटा मध्य में आता है, तो क्या यह वस्तु काँटे को बीच में ले आई है या तराजू के कांटे का ऐसा स्वभाव है, इसलिए आया? कांटा अपने परिणमन की योग्यता से ऐसा परिणमता है। अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं है कि उसे परिणमा सके।

यह पुद्गल के परिणमन की बात है। बापू! इसीप्रकार तेरी पर्याय भी तेरे स्वभाव से

www.vitragvani.com

परिणमती है। कोई अन्य द्रव्य उसको नहीं परिणमा सकता- ऐसी वस्तु का स्वभाव है। इससे विपरीत माननेवाले को मिथ्यात्वशल्य लगती है। वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा समझना चाहिए। इसप्रकार पुद्गल की बात करके अब जीव की बात कहेंगे।

जीव चेतना संजुगत, सदा पूरण सब ठौर।
तातैं चेतन भावकौ, करता जीव न और ।।21।।

अर्थः- जीव चेतना संयुक्त है, सब जगह सदा पूर्ण है, इस कारण चेतनभावों का कर्त्ता जीव ही है और कोई नहीं है ।।21।।

काव्य - 21 पर प्रवचन

यहाँ विकार परिणाम को सिद्ध करना है। जीव कर्मचेतनारूप परिणमता है; वह भी अपने से ही परिणमता है। कर्म का उदय आया, इसलिए कर्मचेतनारूप होता है -ऐसा नहीं है। जीव रागरूप, द्वेषरूप, वासनारूप -ऐसे अनेकप्रकार से कर्म चेतनारूप परिणमता है, वह अपने पर्यायस्वभाव के कारण परिणमता है। कर्म का उदय जीव को विकाररूप नहीं परिणमा सकता। विकाररूप परिणमने का जीव का अपना (विभाव) स्वभाव है, वह अन्य द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखता। द्रव्य को परिणमना न हो और दूसरा द्रव्य परिणमा दे -ऐसा कभी हो ही नहीं सकता।

जितना ज्ञानावरणी का उघाड़ होता है, उतना ही (ज्ञान का) क्षयोपशम जीव को होता है और ज्ञानावरणी का जितना उदय होता है, उतना जीव का ज्ञान विघ्न पाता है -ऐसी एकान्त मान्यता का यहाँ निषेध करते हैं। जीव स्वयं चेतना संयुक्त है और वह सदा सब जगह पूर्ण है अर्थात् स्वतंत्र है। जब जैसे भावरूप से परिणमने की योग्यता होती है, उन-उन भावरूप जीव स्वयं परिणमता है। वर्तमान पर्याय कर्म के कारण अथवा पूर्व पर्याय के कारण नहीं होती है।

संवत् 1995 के साल में राजकोट में प्रश्न हुआ था कि जब कर्म का तीव्र उदय होता है, तब तो जीव को तीव्र विकाररूप परिणमना ही पड़ता है न? (भाई!) यह बात सत्य नहीं है। जीव को कर्म के उदय के अनुसार परिणमना ही पड़ता है -ऐसा नहीं है और जीव के परिणाम के अनुसार कर्म को परिणमना ही पड़ता है -ऐसा भी नहीं है। वे दोनों अपनी-अपनी योग्यता से परिणमते हैं। '**चेतनभाव को करता जीव न और।**'

नदी में पानी का जोर हो तो मनुष्य वह जाता है -ऐसा कहा जाता है और ऐसा होता दिखता है। उमराला में एक ब्राह्मण के यहाँ ऐसा प्रसंग बना; परन्तु यहाँ कहते हैं कि उन परमाणुओं की और

www.vitragvani.com

उस जीव की उससमय वैसी ही परिणमने की योग्यता होती है, इसलिए वे वैसे परिणमते हैं।

लोग तो ऐसा ही कहते हैं कि 'कर्म उदय बलवान है, नहिं पुरुष बलवान' -परन्तु भाई! ऐसा नहीं है। तेरे परिणाम ढीले हों, तभी उदय को बलवान कहा जाता है; परन्तु उदय के कारण तेरे परिणाम ढीले हैं- ऐसा नहीं है।

अहा..! अभी जिसको नवतत्त्वों की अवस्था की स्वतंत्रता का ही पता नहीं है, उसको अकेले ज्ञायक मूर्ति आत्मा के आश्रय से ही धर्म होता है, इसकी गंध भी नहीं आती।

अपनी विकारी पर्याय जितने प्रमाण में करे, उसका कर्त्ता जीव है, कर्म का उदय उसको नहीं परिणमाता है। द्रव्य की परिणमन की शक्ति है इसकारण वह परिणमता है ऐसा वस्तु का स्वतंत्र स्वरूप है- ऐसा जानने पर इसकी पराधीन दृष्टि छूटकर स्वाधीन होता है कि यदि मैं स्वभाव पर दृष्टि करके विकार नहीं करूँ तो नहीं होता है यह मेर अधिकार की बात है।

अब शिष्य फिर प्रश्न करता है-

शिष्य का पुनः प्रश्न

ग्यानवंतकौ भोग निरजरा-हेतु है।
अज्ञानीकौ भोग बंध फल देतु है।।
यह अचरज की बात हिये नहि आवही।
पूछै कोऊ सिष्य गुरु समझावही ।।22।।

अर्थः- कोई शिष्य प्रश्न करता है, कि हे गुरुजी! ज्ञानी के भोग निर्जरा के लिये हैं और अज्ञानी के भोगों का फल बंध है, यह अचरज भरी हुई बात मेरे चित्त पर नहीं जमती? इसको श्रीगुरु समझाते हैं ।।22।।

काव्य - 22 पर प्रवचन

शिष्य गुरु से पूछता है कि आपने कहा कि 'ज्ञानी के पूर्व कर्म का विपाक खिर जाता है और अज्ञानी के तो पूर्वकर्म का उदय आता है और उससमय नया बंध भी होता है।' हमको तो इस बात का अचरज आता है- यह बात जमती नहीं है। ऐसी आशंका शिष्य को होने पर गुरु उसका समाधान करते हैं।

समाधानरूप पद निम्नानुसार है-

www.vitragvani.com

ऊपर की हुई शंका का समाधान

दया-दान-पूजादिक विषय-कषायादिक,
दोऊ कर्मबंध पै दुहूकौ एक खेतु है।
ग्यानी मूढ़ करम करत दीसैं एकसे पै,
परिनामभेद न्यारौ न्यारौ फल देतु है ।।
ग्यानवंत करनी करै पै उदासीन रूप,
ममता न धरै तातैं निर्जराकौ हेतु है।
वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप,
अंध भयौ ममतासौं बंध-फल लेतु है ।।23।।

अर्थः- दया, दान, पूजादि पुण्य व विषय-कषाय आदि पाप दोनों कर्मबंध हैं और दोनों का उत्पत्तिस्थान एक ही है। इन दोनों प्रकार के कर्मों के करने में सम्यग्ज्ञानी और मिथ्यात्वी एक से दिखते हैं, परन्तु उनके भावों में अन्तर होने से फल भी भिन्न-भिन्न होता है। ज्ञानी की क्रिया विरक्तभाव सहित और अंहबुद्धि रहित होती है, इसलिये निर्जरा का कारण है, और वही क्रिया मिथ्यात्वी जीव विवेक रहित तल्लीन होकर अहंबुद्धि सहित करता है, इसलिये बन्ध और उसके फल को प्राप्त होता है ।।23।।

काव्य - 23 पर प्रवचन

देखो! इसमें कुछ समझ में आता है?

धर्मी उसको कहते हैं कि जिसको शुभाशुभराग आता है; परन्तु उसका स्वामी नहीं होता। अपने स्वभावभाव के रूप में उनको नहीं गिनता। इसका कारण यह है कि ज्ञानी को अपने ज्ञानानन्दस्वरूप का अनुभव हुआ है इसकारण पुण्य-पापभाव आने पर भी ज्ञानी उनसे विरक्त है, ज्ञानी की दृष्टि उनमें नहीं है, ज्ञानी को उनमें अहंबुद्धि नहीं है; वह तो उनसे न्यारा का न्यारा ही रहता है। उसको राग आता है, परन्तु वह जहरतुल्य लगता है। राग में अहंपना नहीं होता।

जिसको शरीर, कर्म और राग से भिन्न तथा ज्ञानानन्द के भण्डार से परिपूर्ण आत्मा का भान होता है, उसको अपने स्वभाव में ही अहंपना होता है, परन्तु विभाव परिणाम में अहंपना अथवा एकत्वपना नहीं रहता। चाहे तो दया, दान, पूजादि के शुभभाव हो अथवा विषय-कषायादि के अशुभभाव हों; दोनों बंध के कारण हैं। मैं तो इन दोनों प्रकार के भावों से रहित हूँ और

www.vitragvani.com

ज्ञानानन्द से सहित हूँ। इसप्रकार ज्ञानी ने अपना- स्वभाव का अनुभव किया है। ज्ञानानन्दस्वरूप को ज्ञेयरूप से जाना है और श्रद्धा में लिया है कि मैं तो पुण्य-पाप से रहित ज्ञानस्वरूपी वस्तु हूँ। ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव होने के कारण धर्मी पुण्य-पाप में वर्तते दिखने पर भी उनसे विरक्त हैं, उन भावों में धर्मी को अहम्पना नहीं है।

अज्ञानी को भी ऐसे ही पुण्य-पाप भाव होते हैं; परन्तु उसको परिणाम में एकत्वपना है- इसकारण वे परिणाम अज्ञानी को नवीन बंध के कारण होते हैं और ज्ञानी को उन परिणामों में एकत्वपना नहीं है, इसलिए नया बंध नहीं होता है। ज्ञानी के भोग निर्जरा के कारण हैं ऐसा कहा है इसकारण भोगने का भाव निर्जरा का कारण नहीं है; परन्तु वह भाव फ़ल दिये बिना खिर जाता है।

जहाँ चैतन्य भगवान अनन्त आनन्द और ज्ञानरस से भरपूर हैं, उस परिपूर्ण भण्डार पर धर्मी की दृष्टि है- इसकारण उसको पुण्य-पाप के विकल्प में एकता नहीं होती। अत: अहंपना भी नहीं होता -इसकारण उन परिणामों के निर्मल होने से वे भाव (विकारी भाव) खिर जाते हैं। जो आत्मा के भाव नहीं हैं, वे खिर जाते हैं- ऐसा सिद्ध करना है।

'ग्यानवंत करनी करै पै उदासीनरूप'- ज्ञानवंत ज्ञानी को अपनी कमजोरीवश विषय-कषायादि अशुभभाव और दया, दान, पूजादि के शुभभाव होते हैं; परन्तु उनमें रस नहीं होता है, उदासीनता है। अर्थात् उसको शुभ-अशुभभाव जहरतुल्य लगते हैं -इसकारण वह उनको अपने स्वभाव से एकमेक नहीं करता है। उसकी दृष्टि और ज्ञान तो वहाँ से हट गये हैं; परन्तु भूमिकानुसार जुड़ता है, उसमें उदासीनता वर्तती है।

राग की तीव्रता होवे, अनीति के तीव्र भाव होवें और कोई निर्विकल्प अनुभव करना चाहे तो नहीं हो सकता। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' में कहा है कि अभी तो श्रद्धा में पर की ममता के भाव पड़े हैं और निर्विकल्प होना चाहता है तो वह निर्विकल्प कहाँ से होगा? नहीं होगा। अभी तो पात्रता का भी ठिकाना न हो और ऐसा माने कि 'भोग तो निर्जरा का हेतु हैं'- तो वह स्वच्छन्दी है, मर जायेगा। अर्थात् उसके भोग तीव्र बंध के कारण होंगे, निर्जरा के नहीं।

यहाँ तो जिसको राग और निमित्त से हटकर स्वभाव का अनुभव हुआ है, उसको स्वभाव के अनुभव के परिणाम में राग की एकता नहीं रहती, विरक्ति रहती है, इतना स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ हुआ है; उसकी बात है। उसको राग आकर छूट जाता है, स्वभाव में एकरूप नहीं होता। ध्रुवस्वभाव की दृष्टि के जोर में राग टिक नहीं सकता। 'समयसार' की 11वीं गाथा में कहा है कि शुद्धनय के अनुसार ज्ञान होने मात्र से 'मैं यह आत्मा हूँ, राग में नहीं हूँ'- ऐसा भेदज्ञान

www.vitragvani.com

हो जाता है। शुद्धनय का विषय ध्रुव है, इसलिए मैं शुद्धस्वरूप हूँ ऐसा (अनुभव में) लेते ही रागादिक से भेदज्ञान हो जाता है।

भाई! वीतराग का मार्ग बहुत सूक्ष्म है।

ज्ञानी के भोग निर्जरा के हेतु हैं, कारण कि ज्ञानी के परिणाम ज्ञानमय हैं। ज्ञान और आनन्द के परिणाम उत्पन्न होते हैं, उनके साथ विकल्प-रागादि परिणाम भी उत्पन्न होते हैं; परन्तु ज्ञानी को उनमें एकता नहीं है, अहम् नहीं है इसकारण वे छूट जाते हैं।

नोआखली में बना था, उसप्रकार माँ और पुत्र को इकट्ठा करे तो उनको ऐसा लगता है कि जमीन फट जाये तो उसमें समा जायें; परन्तु यह दशा हमको न हो। उसीप्रकार धर्मी को रागादि परिणाम के साथ एकत्व करना चाहे तो कभी नहीं होता। भले ही पूजा के परिणाम हों या भक्ति के हों; परन्तु जिनमें से एकता टूट गई उनमें कभी अहम् -मेरापना नहीं होता। धर्मी का अहम्पना तो ज्ञानानन्द स्वभाव में है।

यह कोरी बात नहीं है। यह तो भाव की बात है। ज्ञानी के तो सम्पूर्ण भाव ही बदल गये हैं। 'अहो! मैं तो आनन्द का सागर हूँ, मैं विकार सागर नहीं हूँ, न मैं विकार के पीछे हूँ।' ज्ञानी राग की समीपता छोड़कर आनन्द की समीपता में आ गये हैं। ऐसी दशा को धर्म कहा जाता है। बापू! यह कोई बात करने अथवा बोलने की चीज नहीं है, यह तो अन्दर में उतारने की चीज है।

सामने इन्द्राणी आकर खड़ी होवे और इन्द्र को किंचित् विकल्प उत्पन्न हो कि 'यह ठीक है' वह विकल्प उसको विषतुल्य लगता है और इसी जगह अज्ञानी होवे तो उसके इस विकल्प में मिठास लगती है। इतना ज्ञानी और अज्ञानी में अंतर है।

'जहाँ मैं हूँ, वहाँ राग नहीं है और जहाँ राग है, वहाँ मैं नहीं हूँ' -ऐसे भेदज्ञान के परिणाम के कारण ज्ञानी को कर्म भिन्नरूप से उदय में आता है और भिन्नरूप से (ही) खिर जाता है। वे कर्म के परमाणु और विकल्प आदि आते हैं, उनमें 'मैंपना' नहीं होता -इस कारण वे खिर जाते हैं। 'यह राग ही मैं हूँ' ऐसा नहीं होने से और 'यह ज्ञान और आनंद ही मैं हूँ' -ऐसा (विवेक) रहने से ज्ञानी को पूर्व कर्म का उदय आकर खिर जाता है।

'वहै करतूति मूढ़ करै पै मगनरूप।' -वही भगवान की पूजा, व्रत, तप, दया, दान आदि शुभपरिणाम और हिंसा, झूठ, चोरी आदि अशुभ परिणाम अज्ञानी को आते हैं, उनमें वह तन्मय हो जाता है, मग्न हो जाता है। इसकारण वह राग में अंध होकर अर्थात् राग में मिठास का

www.vitragvani.com

वेदन करके नये बंध को करता है। राग में मिठास को वेदता हुआ अज्ञानी मिथ्यात्व और अज्ञानादि के बंध और उसके फल को प्राप्त करता है। ज्ञानी को तो राग में एकता नहीं है अहम्पना नहीं है, मिठास नहीं है, इसकारण राग आकर चला जाता है, मिट जाता है और नवीन मिथ्यात्वादि कर्म नहीं बँधते हैं, ऐसा कहना है।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' में तो स्पष्ट स्पष्टीकरण किया है कि ज्ञानी के भोग निर्जरा के कारण हैं, इससे कोई भोग का भाव निर्जरा का कारण नहीं है, वह तो बंध का कारण है; परन्तु ज्ञानी को अबंध स्वभाव की दृष्टि और ज्ञान के कारण शुद्धता बढ़ती है और अशुद्धता घटती है इसकारण निर्जरा कही गई है। अत: ज्ञानी की दृष्टि और ज्ञान का बल निर्जरा का कारण है, राग निर्जरा का कारण नहीं है। ज्ञानी के राग में एकता अथवा ममत्व नहीं होने से उसका अभाव हो जाता है।

मिथ्यादृष्टि जीव तो विवेकरहित, तल्लीन होकर, अहंबुद्धि सहित शुभाशुभभाव करता है। इसकारण वह दोनों भाव में बंध और उसके फल को प्राप्त करता है। विषय-कषाय से पाप बंध होता है और पूजा, दया, दान आदि के शुभभाव से पुण्य बंध होता है; परन्तु दोनों कर्म बंध के कारण हैं और दोनों का उत्पत्ति स्थान एक ही है। शुभभाव आत्मा के आश्रय से होता है और अशुभभाव पर के आश्रय से होता है -ऐसा नहीं है। दोनों ही प्रकार के भाव निमित्त के लक्ष्य से पर को अनुसरकर ही उत्पन्न होते हैं; इसलिए दोनों बंध के कारण हैं।

बाहर से तो ज्ञानी-अज्ञानी की शुभ-अशुभ दोनों क्रिया समान दिखती हैं; परन्तु उनके भावों में (अभिप्राय में) अन्तर होने से फल भी भिन्न-भिन्न होता है। ज्ञानी की क्रिया विरक्तभाव सहित और अंहबुद्धि रहित होती है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि में शुभभाव रूप व्यवहार से भी धर्मी मुक्त होता है, उसमें रक्त नहीं है; इसलिए वह धर्मी को निर्जरा का कारण है। मिथ्यादृष्टि तो दोनों प्रकार की राग की क्रिया में तल्लीन है, उनको अपना स्वरूप मानता है, उनसे अपने को लाभ मानता है हितकर मानता है। इसकारण उसमें उन भावों से भिन्न रहने की सामर्थ्य नहीं है। अत: वह कर्म से बँधता है और उसके फल को प्राप्त करता है।

कल एक भाई आये थे, (कहते थे) कि-उलझन होती है, कुछ सुध नहीं पड़ती, क्या करना? भाई! निज स्थिर बिम्ब ज्ञानानन्द स्वभाव में दृष्टि स्थापित करना और ज्ञान को उसमें रोकना ही करने योग्य है, इसमें उलझन तो कहीं है ही नहीं। यह तो उलझन मिटाने का उपाय है।

कल लड़के प्रश्न लाये थे कि सिद्ध भी श्रद्धा के बल से संसार में वापिस नहीं आते, अत: श्रद्धा का बल ही मुख्य है न? हाँ, श्रद्धा के बल से इन्कार नहीं है; परन्तु उस श्रद्धा को जाना

www.vitragvani.com

किसने? श्रद्धा को तो उसके विषय का पता नहीं है, उसे जाननेवाला तो ज्ञान है; इसलिए ज्ञान का भी उतना ही बल है, श्रद्धा और ज्ञान दोनों का जोर साथ ही है।

समयसार की 11वीं गाथा तो जैनदर्शन का प्राण है। उसमें कहा है कि शुद्धनय के अनुसार बोध होने मात्र से श्रद्धा होती है, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। शुद्धनय स्वयं तो ज्ञान है और उसका विषय त्रिकाल ध्रुव आत्मा है। उसकी प्रतीति सम्यग्दर्शन है।

देखो! यह जैन दर्शन का प्राण अर्थात् वस्तु दर्शन का प्राण! ऐसी गाथा में ज्ञान का जोर बताया है। अत: श्रद्धा का अथवा ज्ञान का अथवा ऐसे किसी भी एक विचार को प्रिय करके खेंचना नहीं चाहिए। जो ऐसा खिंचाव (पक्षपात) करता है, वह तो स्वच्छन्द हो जाता है और स्वच्छन्द होने से एकान्त हो जाता है। थोड़े से अन्तर में बहुत अन्तर पड़ जाता है, इसका उसको पता नहीं चलता। सिद्ध को श्रद्धा के जोर से ही संसार की उत्पत्ति नहीं होती; परन्तु वह श्रद्धा किसके बल से हुई -यह भी उसमें समाहित करना चाहिए। ज्ञान का बोध होने मात्र से श्रद्धा होती है ऐसा कहा है। इसीप्रकार-

'निश्चय नयाश्रित मुनिवरों, प्राप्ति करे निर्वाण की' -इसका अर्थ करो। नय अर्थात् ज्ञान और उसका विषय अभेद आत्मा है। उसके आश्रय से निर्वाण की प्राप्ति होती है। इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों ही उसके (अभेद आत्मा के) आश्रय से होते हैं। अरे! अनन्त ही गुणों की पर्यायें उसके आश्रय से होती हैं। एक पर्याय स्वसन्मुख झुकती है; तब अनन्त पर्याये स्वसन्मुख झुकती है। सभी गुण एक साथ ही हैं। व्याख्या करने में किसी जगह श्रद्धा की मुख्यता से तो किसी जगह ज्ञान की मुख्यता से कथन आता है; परन्तु उसमें खींचतान नहीं होती। जो दृष्टि का विषय है वही शुद्धनय का विषय है और उस विषय को ही शुद्धनय (निश्चयनय) कहा है।

इसप्रकार एक बात की खींचतान करने से तो टुकड़े होते जाते हैं और स्वच्छन्द बढ़ता जाता है- ऐसा नहीं होना चाहिए। जहाँ जो योग्य हो वैसा समझना चाहिए। श्रद्धा का बल है; परन्तु श्रद्धा स्वयं कौन है और उसका विषय क्या है?- यह श्रद्धा को पता नहीं है। श्रद्धा तो अंधी है। जाननेवाला तो ज्ञान है। ज्ञान के अतिरिक्त कोई गुण स्व अथवा पर को नहीं जानता। इसी कारण तो सभी गुणों को निर्विकल्प और ज्ञान को सविकल्प कहा गया है। ज्ञान की पर्याय सबको जानने का कार्य करती है; परन्तु उसको आश्रय तो ध्रुव का है- ऐसी बात है। जिससे यह तत्व मिला

www.vitragvani.com

है; वह क्या कहना चाहता है, वह समझना चाहिए। समझे बिना कोई बात नहीं होती; परन्तु जीवों को अनादि से अटकने के कारणों का पार नहीं है।

आज तक जो कोई सिद्ध हुए हैं और जो कोई सिद्ध होंगे, वे भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और होंगे- ऐसा कहा है। श्रद्धा से सिद्ध हुए हैं- ऐसा नहीं कहा है।

श्रोता:- अन्य जगह समकित को भी सिद्ध होने का कारण कहा है?

पूज्य गुरुदेवश्री:- ये सभी गुण साथ ही हैं; परन्तु सबको जाननेवाला तो ज्ञान है। ज्ञान के अलावा जानेगा कौन? श्रद्धा विपरीत हो या सम्यक हो, उसको जाननेवाला तो ज्ञान है न! इसीलिए 'पंचाध्यायी' में तो कहा है कि किसी भी गुण की व्याख्या उसके ज्ञान के बिना नहीं हो सकती है; इसलिये ज्ञान प्रधान है।

लोगों को अभिमान हो जाता है कि हम तो श्रद्धा के जोरवाले हैं, ज्ञान के जोरवाले तो शिथिल हैं। 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' में ज्ञान को शिथिल कहा हैं, वह तो द्रव्य-गुण-पर्याय के भेदवाले ज्ञान की बात है। शुद्धनय का विषय तो अभेद आत्मा है। निश्चय नयाश्रित मुनिवर ही निर्वाण की प्राप्ति करते हैं।

'समयसार' गाथा 17-18 में भी जाने हुए की ही श्रद्धा होती है-ऐसा कहा है। ज्ञानरहित श्रद्धा तो गधे के सींग के समान है।

श्रीमद्राजचन्द्रजी भी कहते हैं कि- दर्शनमोह को नष्ट करने वाला ज्ञान है। चारित्रमोह को वीतरागता नष्ट करती है। दर्शन-ज्ञान की तुलना में चारित्र में अनन्तगुना पुरुषार्थ चाहिए है; परन्तु उस चारित्र अथवा ज्ञानादि की पर्याय का लक्ष्य करने से चारित्र प्रकट नहीं होता, द्रव्य का लक्ष्य करने करने से चारित्र प्रकट होता है। पुरुषार्थ तो सब पर्याय में होता है; परन्तु पुरुषार्थ होता कब है?- कि अखण्ड द्रव्यस्वभाव का लक्ष्य करे, तब पुरुषार्थ प्रगट होता है।

यहाँ कहते हैं कि अज्ञानी को राग में एकता है। 'समयसार' की दूसरी गाथा में कहा है न..। 'जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में अर्थात् आत्मा में स्थित है वह 'स्वसमय' है और जो राग तथा पुद्गल कर्म में स्थित है उसको 'परसमय' जानो।' चैतन्यस्वरूप के भान रहित होने से अज्ञानी राग में अंधा हो गया है। दया, दान, व्रत, तपादि के विकल्प मेरे हैं और उनकी क्रिया से मेरा कल्याण है- इसप्रकार (मान कर) अज्ञानी राग में अंधा हो गया है। इसकारण वह बंध और उसके फल को प्राप्त करता है।

www.vitragvani.com

अब मिथ्यात्वी के कर्त्तापने की सिद्धि के लिए कुम्हार का दृष्टान्त दिया है। 'ज्ञानी के सभी परिणाम ज्ञानमय है' इसका अर्थ कलश टीका में ऐसा किया है कि (देखो! 26 वें कलश के अर्थ में) सम्यग्दृष्टि का द्रव्य शुद्धस्वरूप परिणमा है इसकारण जो कोई परिणाम बुद्धि पूर्वक अनुभवरूप है अथवा विचाररूप है अथवा व्रत-क्रियारूप है अथवा चारित्रमोह के उदय से क्रोध, माना, माया, लोभरूप है, वह समस्त परिणाम ज्ञान जाति के घटित होते हैं..। भाषा देखो! परिणाम ज्ञान जाति के हैं, उसका ज्ञान होता है, वह ज्ञान अपना है। रागादि विकल्प आते हैं उसीसमय उन सम्बन्धी ज्ञान होता है, वह राग की जाति का नहीं है; किन्तु ज्ञान की अपनी जाति का है और वह ज्ञान राग से भी नहीं, बल्कि अपने से हुआ है। इसीलिए कहा है कि ज्ञानी के जो कोई परिणाम हैं, वे संवर-निर्जरा का कारण हैं और अज्ञानी के समस्त भाव में राग में एकत्व बुद्धि होने के कारण अज्ञानजनित परिणाम हैं इसकारण वे बंध के कारण होते हैं।

राग से हटकर आत्मा की ध्रुवता का भान हुआ उस ज्ञान के काल में ज्ञानी को जो कोई रागादि परिणाम होते हैं; उनका ज्ञान है, वे परिणाम ज्ञान की जाति के हैं, अज्ञान की जाति के नहीं। इसलिए वे परिणाम संवर-निर्जरा के कारण हैं। राग होता है, वह ज्ञान जाति का नहीं है; परन्तु उसका ज्ञान होता है वह अपने से हुआ है, इसलिए वह ज्ञान जाति का है और अज्ञानी की तो दृष्टि ही राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि पर पड़ी है। इसकारण उसके परिणाम अज्ञान जाति के हैं, आत्मा की ज्ञान जाति के नहीं। अज्ञान छोड़कर ज्ञानमय परिणाम करने में पुरुषार्थ अपेक्षित है, यों ही हो जाये वैसा नहीं है।

अब 23 वें कलश के 24 वे पद में दृष्टान्त देते हैं।

मिथ्यात्वी के कर्त्तापने की सिद्धि पर कुंभकार का दृष्टान्त

ज्यौं माटीमैं कलस होनकी, सकति रहे ध्रुव।
दंड चक्र चीवर कुलाल, बाहजि निमित्त हुव।।
त्यौं पुदगल परवांनु, पुंज वरगना भेस धरि।
ग्यानावरनादिक स्वरूप, विचरंत विविध परि ।।
बाहजि निमित्त बहिरातमा,
गहि संसै अग्यानमति।
जगमांहि अहंकृत भावसौं,
करमरूप ह्वै परिनमति ।।24।।

Shree Kundkund-Kahan Parmarthik Trust, Mumbai.

www.vitragvani.com

अर्थः- जिस प्रकार मिट्टी में घट रूप होने की शक्ति सदा मौजूद रहती है और दंड, चाक, धागा, कुंभकार आदि बाह्य निमित्त हैं, उसी प्रकार लोक में पुद्गलपरमाणुओं के दल कर्मवर्गणारूप होकर ज्ञानावरणीय आदि भांति भांति की अवस्थाओं में भ्रमण करते हैं, उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव बाह्य निमित्त है। जो संशय आदि से अज्ञानी होता है सो शरीर आदि में अंहकार होने से वे पुद्गलपिंड कर्मरूप हो जाते हैं ।।24।।

काव्य - 24 पर प्रवचन

जिसप्रकार मिट्टी में घटरूप होने की शक्ति सदा मौजूद रहती है। जिससमय घड़ा होता है उससमय मिट्टी में घड़ा होने की योग्यता निश्चय से होती है। जब मिट्टी में से घड़ा होने का निश्चय काल होता है, तब दंड, चक्र, डोरी, कुम्हार, इत्यादि निमित्त उपस्थित होते हैं। इसीप्रकार लोक में पुद्गल परमाणुओं के दल कर्मवर्गणारूप होकर ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी आदि विविध जाति की अवस्थाओं में भ्रमण करते हैं, उनको बाह्य निमित्तरूप अज्ञानी जीव होते हैं। कर्म तो स्वयं बँधते हैं, परन्तु उसमें अज्ञानी-जीव निमित्त बनता है, ज्ञानी पुरुष कर्म बंधन में निमित्त नहीं होते।

'यह राग मैं हूँ, मैं पुण्य-पाप हूँ '-ऐसा जिसको संशय, विमोह और विभ्रमरूप भाव है, स्वरूप का भान नहीं है- ऐसे अज्ञानी जीवों को शरीरादि में अहंबुद्धि होने से उसका निमित्त पाकर कर्म स्वयं बँध जाते हैं। परमाणुओं में तो ऐसे कर्मरूप होने की योग्यता है और उनका निश्चय काल आ गया है, इस कारण कर्मरूप परिणमते हैं; परन्तु उसमें अज्ञानी जीवों के परिणाम निमित्तरूप कारण होते हैं। ज्ञानी को कर्म बंध नहीं है और न ज्ञानी उसके निमित्त हैं।

अब 24 वें कलश के 25 वें पद में पण्डित बनारसीदासजी जीव को अकर्त्ता मानकर आत्मध्यान करने की महिमा समझाते हैं।

जीव को अकर्त्ता मानकर आत्म-ध्यान करने की महिमा

जे न करैं नयपच्छ विवाद,
धरैं न विखाद अलीक न भाखैं।
जे उदवेग तजैं घट अंतर,
सीतल भाव निरंतर राखैं ।।
जे न गुनी-गुन-भेद विचारत,

www.vitragvani.com

आकुलता मनकी सब नाखैं।
ते जगमैं धरि आतम ध्यान,
अखंडित ग्यान-सुधारस चाखैं ।।25।।

अर्थः- जो नयवाद के झगड़े से रहित हैं, असत्य, खेद, चिन्ता, आकुलता आदि को हृदय से हटा देते हैं और हमेशा शांतभाव रखते हैं, गुण-गुणी के भेदविकल्प भी नहीं करते, वे संसार में आत्मध्यान धारण करके पूर्ण ज्ञानामृत का स्वाद लेते हैं ।।25।।

काव्य - 25 पर प्रवचन

'**जे न करे नयपच्छ विवाद**'- निश्चय से आत्मा शुद्ध है, आनन्द का सागर है और अबंधस्वरूप है तथा व्यवहार से आत्मा को बंध है, कर्म के सम्बन्ध की अपेक्षा से आत्मा के बंध कहा जाता है- इसप्रकार दोनों नयों द्वारा ज्ञानी वस्तु के स्वरूप को भलीभाँति जानता है और उन दोनों नयों सम्बन्धी विकल्प भी उसको आते हैं कि मैं अबंध हूँ; परन्तु बाह्य में व्यवहार से कर्म का बंध है, इत्यादि परलक्ष्यवाले विकल्प आते हैं; परन्तु विवाद नहीं होता - झगड़ा उत्पन्न नहीं होता। जैसा सर्वज्ञ ने कहा है, वैसा ही आत्मा को जानते हैं।

'**करै न विखाद**'- ज्ञानी ऐसा खेद नहीं करते कि अरे! मैं तो दु:खी हो गया, मुझे चार गतियों में परिभ्रमण करना पड़ा; अब मेरा क्या होगा? ऐसा खेद नहीं करते। '**अलीक न भाखे**'- भगवान ने जैसा सत्य स्वरूप कहा है, वैसा स्वयं जानते हैं और वैसा ही अन्य से कहते हैं; झूठ नहीं बोलते हैं।

'**जे उदवेग तजै घट अंतर**'- हिंसा, झूठ, परिग्रह आदि तो दु:खरूप है; परन्तु व्रत, भक्ति, पूजादि का शुभराग भी दु:खरूप लगता है। धर्मी को तो 'मैं शुद्ध हूँ'- ऐसे विकल्प भी नहीं पोसाते हैं। मैं नरक-निगोद के संयोगिक दु:ख से दु:खी हुआ- ऐसा नहीं; परन्तु धर्मी को वृत्ति का उफान ही दु:खरूप लगता है- इसकारण वह उसको तजता है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा मैं वैसा शुद्ध-बुद्ध चैतन्यघन हूँ- ऐसी राग की वृत्ति उत्पन्न होती है, वह भी खेदरूप है- उद्वेगरूप है। इसकारण धर्मी असत्य, खेद, चिन्ता और आकुलता आदि को हृदय से दूर करता है।

बहुत धीरज का कार्य है। जिसको धर्म करना हो, अपना हित करना हो, उसको धीरज से इस मार्ग में आना पड़ेगा। धर्म कोई बाहर से नहीं होता। अनन्तकाल से चारगति में आकुलता

www.vitragvani.com

के दु:ख भोगे हैं, उस आकुलता को तो छोड़ो, परन्तु वस्तुस्वरूप के दो पक्ष सम्बन्धी विकल्प को भी छोड़े, तब निर्विकल्प अनुभव होता है। वस्तु अबद्ध है और निमित्त की अपेक्षा से बद्ध भी है; परन्तु ऐसे विकल्प से सिद्धि नहीं है। विकल्प तो आकुलता है। मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ-ऐसा मन के निमित्त से विकल्प उत्पन्न होता है वह राग है। इसलिये आकुलता है। जो इस राग को ही अपना कर्तव्य मानता है वहाँ तक शान्ति नहीं होती।

चौरासी के अवतार में भले ही वह स्वर्ग हो या नरक हो, मनुष्य हो या पशु हो; परन्तु ये सब दु:ख की दशायें है। बाहर से अनन्त अनुकूलता हो या अनन्त प्रतिकूलता हो; परन्तु इन सब वस्तुओं पर लक्ष्य जाने से आकुलता ही होती है।

यहाँ तो अन्तर में उतरने की बात करते हैं कि सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित नयचक्र के विकल्प भी छोड़ने योग्य हैं। सर्वज्ञ वीतराग कथित वस्तु का अनुभव करने योग्य है।

'शीतल भाव निरंतर राखै'- चैतन्य का अनुभव करनेवाले को निरंतर शीत-शीतल भाव रहते हैं। **'जे न गुनी-गुन भेद विचारत'**-ज्ञान आनन्द आदि गुण और उनका धारक गुणी-आत्मा है- ऐसा विचार भी भेद का विकल्प है।

भाई! मार्ग तो ऐसा है। सर्वप्रथम उसकी समझ करनी चाहिए। अनादि से (जीव) जन्म-मरणादि आकुलता के दु:खों को भोगता आया हैं; परन्तु इसको भान नहीं है।

यहाँ तो वहाँ तक कहते हैं कि वस्तुस्वरूप के विचार, वस्तु के गुण और उनका आधार गुणी, उसके विचार में भी राग है, विकल्प है; इसलिये उसमें भी आकुलता है। तूने अनन्तबार शास्त्र पठन किया; दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा भी अनन्तबार की है; परन्तु तूने कभी अपने शान्त वस्तुस्वरूप (आत्मा) का अनुभव नहीं किया है। उत्पन्न होने वाली राग की वृत्ति उसके समक्ष अग्नि के समान है, शुभराग भी भट्टी है?...हाँ, जिसके पीछे दु:ख है वह भाव भी भयंकर दु:खरूप है। भव का करनेवाला होने के कारण भयंकर भाव है। (आत्मा) अकषाय स्वभाव है, उसमें विकल्प उत्पन्न हों वे अशान्ति हैं, दु:ख है, जहर है। 'मोक्ष अधिकार' (समयसार) में तो शुभभाव को भी विषकुम्भ कहा है।

जिसको आत्मा की शान्ति चाहिए हो, उसको पुण्य की रुचि छोड़नी पड़ेगी। अरे! गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी छोड़ना पड़ेगा। जिसने कभी यह बात सुनी ही नहीं हो और पहली ही बार सुने तो उसको यही लगता है कि यह कैसा मार्ग है! वीतराग का मार्ग ऐसा होता

www.vitragvani.com

है? हाँ, वीतराग का और तेरा मार्ग ऐसा है बापू! वीतरागी को जो वीतरागता प्रकट हुई है वह कहीं बाहर से नहीं आती है; अन्तर में थी वही प्रकट हुई है। उसीप्रकार तेरा स्वरूप भी शांत..शांत...वीतराग स्वरूप है, अनाकुल आनन्द का धाम है, शीतलता की शिला है। बरफ की शिला तो रूपी और जड़ है, जबकि आत्मा तो अरूपी और चैतन्यमय शान्तरस की शिला है।

परन्तु अरे! इसको इस राग रहित साक्षात विद्यमान तत्त्व का विश्वास नहीं है। जिससे सिद्धपद प्राप्त होता है और अनन्तकाल रहता है- अनन्त दु:ख का अभाव होता है- ऐसी वस्तु और उसकी प्राप्ति का मार्ग तो कोई अलौकिक ही होगा न भाई! जिसको इस मार्ग की बात सुनने को भी नहीं मिले वह निर्णय और रुचि कैसे कर सकेगा? बापू! त्रिलोकनाथ परमात्मा तेरी आत्म शान्ति को याद करने और अशान्ति को भूलने के लिए कहते हैं।

बाहर से विशाल गजरथ निकाले, 'झंडा ऊँचा रहे हमारा' यह सब गायें, दस-बीस हजार लोग इकट्ठे हुए हों... यह कोई धर्म नहीं है। अन्दर में आत्मा का झंडा हमेशा ऊँचा रहे, इसका नाम धर्म है। बाहर की क्रिया तो तेरी नहीं, परन्तु जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह भी तू नहीं है। बापू! तुझे अपनी हयाती-अस्तित्व-सत्ता का पता ही नहीं है। दया, दानादि के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे तो रागचिंगारिया हैं, वे आत्मा नहीं हैं। समवसरण के मध्य में, लाखों-करोड़ो देवों की उपस्थिति में, अर्द्धलोक के स्वामी ऐसे इन्द्र की उपस्थिति में भगवान ऐसा कहते थे और वर्तमान में भी सीमंधरादि तीर्थंकर कह रहे हैं कि रागादिभाव तू नहीं है, तू उनका स्वामी नहीं है, तू है वहाँ रागादि नहीं हैं और रागादि है वहाँ तू नहीं है।

भगवान आत्मा को 'भगवान' कहकर सम्बोधते हैं कि तू अपनी महिमावंत वस्तु का विश्वास ला! जिसने अपनी आत्मा का अनुभव किया है-ऐसे धर्मी हमेशा शीतलभावपने रहते हैं। मैं गुणी हूँ और मेरे में अनन्त गुण है-ऐसा विकल्प भी धर्मी नहीं करते हैं। कारण कि गुण और गुणी के भेद को लक्ष्य में लेने से भी राग की चिंगारिया उत्पन्न होती है। भाई! तू तो शीतल स्वभावी भगवान है।

रोटी बनने में बाई निमित्त होती है, घड़ा बनने में कुम्हार, कपड़े सिलने में टेलर, कपड़ा बनाने में जुलाहा-बुनकर निमित्त होते हैं। ऐसे एक ही समय में होते निमित्त-नैमित्तिक के विकल्प तो दूर रहे; परन्तु यहाँ तो मैं अपरिमित्त आनन्द स्वभावी हूँ- ऐसा गुण-गुणी भेद का विकल्प उत्पन्न होता है उसको भी राग की चिंगारी है- ऐसा कहते हैं। गुणी में गुण रहते है;

www.vitragvani.com

परन्तु राग की चिंगारी गुणी में नहीं है। साधारण जीवों को यह बात कठिन लगती है। श्रीमद् कहते हैं न-

'वचनामृत वीतराग के, परम शान्तरस मूल ।
औषध जो भवरोग के कायर को प्रतिकूल।।

वीतराग की वाणी विकल्प को भी छुड़ाकर शान्तरस में डालनेवाली है। यही भवरोग की औषधि भी है। जीव को अनादि से भ्रम का रोग लगा हुआ है, उसको वीतराग की वाणी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं मिटा सकता। छह महीने तक 99 डिग्री बुखार रह जावे तो तुरंत शंका होती हैं कि इसे तो टी.वी हुआ लगता है तो उसे टी.वी अस्पताल में दवा कराने आना पड़ता है न! तब तुझको यह भ्रम रोग तो अनादि से लगा हुआ है, यदि इसे मिटाना हो तो यह वीतराग की वाणी सुन!

'आत्मभ्रान्ति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान ।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार-ध्यान।।

आत्मा स्वयं अपने को नहीं पहिचानता और पुण्य-पाप भाव 'वह मैं' और शरीर 'मेरा'- ऐसी भ्रान्ति में पड़ा है, इसके समान अन्य कोई महान रोग नहीं है। इस सुन्दर दिखनेवाले शरीर में 5, 68, 99, 584(पांच करोड़, अड़सठ लाख, निन्यानवैं हजार, पांच सौ चौरासी) रोग भरे है- ऐसा भगवान कहते हैं। आत्मभ्रान्ति का रोग तो इससे भी कोई अलग और महान है।

श्रोता:- शरीर के रोग तो शक्तिरूप पड़े होंगे न?

पूज्य गुरुदेवश्री:- कितने ही तो व्यक्तरूप भी होते हैं; परन्तु दिखते नहीं है। एक रोम जितने भाग में 96-96 रोग होते हैं। शरीर रोग की मूर्ति है और आत्मा अनन्त गुणों की निरोगता वाला है। लोगरस में आरोग्यबोधि लाभ की बात आती है न! इस आरोग्य का अर्थ यह है कि- हे परमात्मा! यह शुभाशुभराग रोग है और उन्हें अपना मानना यह भ्रान्ति का महारोग है, उससे रहित मेरा स्वरूप निरोग है। वह निरोगता प्रगट करना मेरा आरोग्य है और उसकी श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता करना बोधि है। इस आरोग्य तथा बोधि का लाभ होने में मेरा लाभ है।

भगवान आत्मा के अमृत स्वरूप में जाने पर उसको अनन्त-अनन्त अमृत का स्वाद आता है, उसमें उसकी सारी आकुलता का अभाव हो जाता है। गुण-गुणी के भेद का विचार भी छूट जाता है। अन्तर स्वरूप स्थिरता करने पर कोई दु:ख, आकुलता अथवा विकल्प आदि नहीं रहते हैं।

www.vitragvani.com

'ते जग में धरि आतमध्यान, अखंडित ज्ञान सुधारस चाखें'-देखो! इसमें किसी तीर्थ का ध्यान, देव-शास्त्र-गुरु का ध्यान अथवा पंचपरमेष्ठी का ध्यान करने को नहीं कहकर अपने आत्मा का ध्यान करने को कहा है। अपने गुण और गुणी का विचार भी छोड़ देना है। मैं शुद्ध हूँ और अबद्ध हूँ- ऐसा विकल्प भी राग है। यह विकल्प मेरा कार्य है और मैं इसका कर्त्ता हूँ-ऐसा राग है वहाँ तक आकुलता है। जो उसको छोड़कर आत्मा का ध्यान करता है वह अखंडित ज्ञानसुधा रस को चखता है- वह अमृत का प्याला पीता है, उसको अनादि से पिये जहर का प्याला पीना बंद हो जाता है।

अहो! जहाँ गुण-गुणी के भेद का विकल्प भी दु:खरूप है वहाँ अब अन्य कौनसा विकल्प सुखरूप होगा? प्रभु! तेरा यह मार्ग ऐसा है। यह तो धीर-वीरों का मार्ग है, कायरों का मार्ग नहीं है।

(कहते हैं कि) अखंडित ज्ञानसुधा रस चखता है। आत्मा श्रीखण्ड का अथवा पुरी का स्वाद नहीं चखता है। श्रीखण्ड और रस पुरी आदि तो शरीर में जाते हैं, आत्मा को उनके स्वाद का ज्ञान होता है और राग भी है- इसकारण ऐसा लगता है कि मैं श्रीखण्ड आदि को खाता हूँ; परन्तु आत्मा जड़ को भोग नहीं सकता है। आत्मा तो मात्र राग को भोगता है। आत्मा श्रीखण्ड को नहीं भोग सकता है। आत्मा तो अपने अखण्ड ज्ञान के स्वाद को भोगता है तभी उसको आत्मा का अनुभव हुआ कहलाता है। अन्यथा दान करने से, चंदा करा देने से अथवा ऐसी किसी भी शुभ क्रिया के कर देने से आत्मा को धर्म नहीं होता है।

यहाँ तो कहते हैं कि खण्ड ज्ञान का विचार करने में भी विकल्प की चिंगारिया उत्पन्न होती है। जो आत्मा का निर्विकल्प ध्यान करता है वही अखंडित ज्ञान के सुधारस को चखता है। ज्ञानामृत है वही सुधारस है। जड़ में कोई रस नहीं है। आम को अमृत कहने से वह कोई अमृत नहीं हो जाता। आम कितना ही महंगा हो, कितनी ही उच्च क्वालिटी का क्यों न हो; परन्तु वह जड़, मिट्टी-धूल है। जीव को उसका स्वाद नहीं आता है। उसको देखकर राग होता है उस राग का स्वाद जीव को आता है और तू मानता है कि मुझे आम का स्वाद आया, मुझे अनुकूलता का स्वाद आया-यह सब राग का स्वाद आत्मा चखता ही नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि अखण्ड ज्ञान में खण्ड का विचार करना भी तेरी वस्तु नहीं है। इसमें तो राग की होली जलती है ये उसकी चिंगारियां हैं। इसलिये परमेश्वर ऐसा कहते हैं कि 'मैं अखण्डज्ञान-स्वभावी हूँ' प्रथम ऐसा निर्णय तो कर! इसमें शान्ति है; अन्यत्र सब जगह अशान्ति हैं।

www.vitragvani.com

अब 25 वें श्लोक का (26वां पद) कहते हैं कि जीव निश्चय से अकर्त्ता और व्यवहार से कर्त्ता है।

जीव निश्चयनय से अकर्त्ता और व्यवहारनय से कर्त्ता है

विवहार-दृष्टिसौं विलोकत बंध्यौसौ दीसै,
निहचै निहारत न बांध्यौ यह किनिहीं।
एक पच्छ बंध्यौ एक पच्छसौं अबंध सदा,
दोउ पच्छ अपनैं अनादि धरे इनिहीं ।।
कोऊ कहै समल विमलरूप कोऊ कहै,
चिदानंद तैसौई बखान्यौ जैसौ जिनिहीं।
बंध्यौ मानै खुल्यौ मानै दोऊ नैकौ भेद जानै,
सोई ग्यानवंत जीव तत्त्व पायौ तिनिहीं ।।26।।

अर्थः- व्यवहारनय से देखो तो आत्मा बंधा हुआ दिखता है, निश्चय दृष्टि से देखो तो यह किसी से बंधा हुआ नहीं है। एक नय से बंधा हुआ और एक नय से सदा अबंध-खुला हुआ है, ऐसे ये अपने दोनों पक्ष अनादि काल से धारण किये हुए है। एक नय कर्मसहित और एक नय कर्मरहित कहता है, सो जिस नय से जैसा कहा है, वैसा है। जो बंधा हुआ तथा खुला हुआ दोनों ही बातों को मानता है, और दोनों का अभिप्राय समझता है, वही सम्यग्ज्ञानी जीव का स्वरूप जानता है ।।26।।

काव्य - 26 पर प्रवचन

जैसे कमल को जल के सम्बन्ध से देखो तो वह पानी में डूबा हुआ दिखता है; परन्तु कमल के निर्लेप स्वभाव से देखो तो कमल पानी को छूता ही नहीं हैं। उसीप्रकार वर्तमान ज्ञान के लक्ष से कर्म सम्बन्ध से देखो तो आत्मा कर्म से बंधा हुआ दिखता है; परन्तु आत्मा को उसके स्वभाव से देखो तो, उस अबंध स्वभावी को कौन बाँध सकता है? वह तो मुक्त ही है। तुमने एक पेटी में डिब्बी में पांच लाख का रत्न रखा हो और वह तुम्हें चाहिए हो तो बंधन में है- ऐसा लगता है; परन्तु तुम्हारे ज्ञान में लेना होवे तो पेटी अथवा डिब्बी कोई आड़े आयेगी? सीधे ज्ञान में ज्ञात होगा और रत्न को स्वयं की अपेक्षा से देखो तो वह भी बंधन से रहित है। रत्न है उसमें कोई बंधन आ नहीं गया है।

www.vitragvani.com

रत्न की भांति, व्यवहारनय से आत्मा शरीर, कर्म और राग से बँधा हुआ ज्ञात होता है, उसी समय निश्चयनय से देखो तो आत्मा तो इन सबसे मुक्त ही है। ज्ञानमूर्ति भगवान आत्मा सदा अबद्धस्पष्ट है। परन्तु जहाँ तक राग से ऐसा विचारता है-घोलन करता हैं कि 'मैं अबद्ध हूँ-यह भी निश्चयनय का एक पक्ष है-अनुभव नहीं। इसीलिये कहा है कि निश्चयनय के विकल्प तक आया तो भी उससे क्या ? मैं शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, निर्मल हूँ- ऐसी विचार की भूमिका में-राग में आया तो भी उससे क्या ? कारण कि ऐसे विचारमात्र से वस्तु की श्रद्धा अथवा वस्तु की प्राप्ति नहीं हो जाती।

जिसने व्रत पालना, तप करना, ब्रह्मचर्य पालन करना, कंदमूल नहीं खाना, छह पर्वों में हरितकाय नहीं खाना इत्यादि में ही धर्म मान लिया है, उसको यह वीतराग की बात कहाँ से बैठे ? मैं पर का त्याग करता हूँ और ग्रहण करता हूँ- ऐसी तेरी दृष्टि ही मिथ्या है। अबद्धस्वरूप आत्मा में पर का ग्रहण-त्याग है ही नहीं। जब मैं (कानजीस्वामी) सम्प्रदाय में था तब कहा था कि जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है वह भाव धर्म नहीं है, पंचमहाव्रत पालन का भाव धर्म नहीं है, शुभराग है।

यह बात सुनकर अन्य साधु कुसुर-फुसुर करने लगे। अर्थात् छोड़ दो ऐसी बातें छोड़ दो-ऐसा कहकर उठकर चले गये; परन्तु सभा तो सुनने में लीन थी।

किसी बड़े सेठ को कोई व्यक्ति निर्धन कहे तो क्या वह निर्धन हो जाता है ? क्या वह अपने को निर्धन मानने लगता है ? सेठ तो कहता है तुम्हारे निर्धन कहने से मैं कोई निर्धन हो जाने वाला नहीं हूँ, मेरे आंगन में लिख जाओ तो भी मैं निर्धन हो जाने वाला नहीं हूँ। उसीप्रकार कोई इस अनाकुल आनन्द के नाथ आत्मा को गरीब समझकर रागवाला कहे, इससे वह रागी नहीं हो जाता। वह तो साक्षात् भगवान है। भगवान जैसी अनन्त पर्यायों को लेकर बैठा है।

अब कोई मैं बंधवाला हूँ, रागी हूँ-ऐसे विचार तो नहीं करे, परन्तु मैं अबद्ध हूँ- ऐसा विचार करे; तो भी वह विकल्प है और उसके पक्ष में वह (विचार करने वाला) खड़ा है। अभी उसको आत्मा का अनुभव नहीं है। भाई ! यह तो चौरासी के अवतार का अभाव होकर मुक्त होने की बात है। यह कोई रंक (भिखारियों) का मार्ग नहीं है।

'कोई कहे समल-विमलरूप'-कोई कहता है कि आत्मा में-पर्याय में तो मेल भरा है और कोई कहता है आत्मा निर्मल है। भाई ! त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वरदेव ने जैसा कहा है वैसा

www.vitragvani.com

आत्मा है। वस्तु स्वभाव से आत्मा आनन्दकंद चिदानन्द है और पर्याय में राग है-इस कारण आत्मा को रागवाला भी कहा जाता है। अत: त्रिकाल शुद्धतत्व की अपेक्षा से मैं अबद्ध हूँ और निमित्त की अपेक्षा से पर्याय में बंध और रागादि है-ऐसा भेद है, उसको ठीक प्रकार से जानकर पश्चात् तत्सम्बन्धी विकल्प छोड़कर जो आत्मा का अनुभव करता है वह आत्मा को प्राप्त करता है।

आतम भावना भाते-भाते जीव केवल ज्ञान को प्राप्त करता है; परन्तु इस धुन को रटते-रटते केवलज्ञान नहीं होता है। भावना अर्थात् जिसमें मैं अबद्ध हूँ- ऐसा विकल्प भी खटकता है। जो इस विकल्प की तोड़कर निजस्वरूप का अनुभव करता है वह आत्मा को प्राप्त करता है और वह ज्ञानवंत जीव केवलज्ञान और मुक्ति को प्राप्त करता है। मात्र विकल्प किया करने वाला आत्मा को प्राप्त नहीं करता है।

नोट:- 26 से 44 तक के श्लोक विविध नयपक्षों के बारे में लिखे गये हैं जिनका पद्यानुवाद नाटक समयसार में अनुपलब्ध है।

अब 45 वे श्लोक का 27वां काव्य कहते हैं-

नयज्ञान द्वारा वस्तुस्वरूप जानकर समरस भाव में रहनेवालों की प्रशंसा

प्रथम नियत नय दूजी विवहार नय,
दुहूकौं फलावत अनंत भेद फले हैं।
ज्यौं ज्यौं नय फलैं त्यौं त्यौं मन के कल्लोल फलैं,
चंचल सुभाव लोकालोकलौं उछले हैं ।।
ऐसी नयकक्ष ताकौ पक्ष तजि ग्यानी जीव,
समरसी भए एकतासौं नहि टले हैं।
महामोह नासि सुद्ध-अनुभौ अभ्यासि निज,
बल परगासि सुखरासि मांहि रले हैं ।।27।।

अर्थ:- पहला निश्चय और दूसरा व्यवहार नय है, इनका प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्यायों के साथ विस्तार किया जाय तो अनंत भेद हो जाते हैं। जैसे जैसे नय के भेद बढ़ते हैं वैसे वैसे चंचल स्वभावी चित्त में तरगें भी उपजती हैं, जो लोक और अलोक के प्रदेशों के बराबर हैं। जो ज्ञानी जीव ऐसी नय कोटि का पक्ष छोड़कर समता-रस ग्रहण करके आत्मस्वरूप की एकता को नहीं छोड़ते, वे महामोह को नष्ट करके, अनुभव के अभ्यास से निजात्म बल प्रगट करके, पूर्ण आनंद में लीन होते हैं ।।27।।

www.vitragvani.com

काव्य - 27 पर प्रवचन

देखो, पंडित बनारसीदासजी क्या कहते हैं? वे नयज्ञान द्वारा वस्तुरूप जानकर समरसभाव में रहने वाले को प्रशंसा इस काव्य में करते है-यह कहते हैं कि जिसको सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म की प्राप्ति होती है उसको क्या होता है।

यह तो कर्त्ता-कर्म का अधिकार है न! प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र पदार्थ है। प्रत्येक परमाणु भी स्वतंत्र पदार्थ है। इसलिये एक आत्मा दूसरे आत्मा का अथवा परमाणु का कुछ कार्य नहीं कर सकता। जीव के साथ जड़ कर्मों का बंधन होता है वह भी वास्तव में जीव का कार्य नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। कर्म बंधन पुद्गल की स्वतंत्र पर्याय है।

जिसको सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर देव द्वारा कथित आत्मतत्त्व का भान नहीं है वह जीव अपने को पुण्य-पाप के भाव जितना मानता है-ऐसा मिथ्यादृष्टि-बहिरात्मा जड़कर्मों को बाँधता है, उसको जैन दर्शन का पता ही नहीं है, वह जैन नहीं है। वस्तुत: जीव तो कर्म बाँध नहीं सकता; परन्तु उसके परिणाम कर्म बंधन में निमित्त होते है।

अरे! जो एक विकल्प को भी अपना मानता है और विकल्प का कर्त्ता होता है वह भी मिथ्यादृष्टि है। मैं अनादि-अनंत, नित्य, ध्रुव, शुद्ध परिपूर्ण हूँ-ऐसा जो निश्चयनय का मन के संग से उत्पन्न हुआ विकल्प है वह मेरा है और मैं उसका कर्त्ता हूँ-ऐसी मान्यतावाला भी मिथ्यादृष्टि है।

पहला निश्चय और दूसरा व्यवहारनय है। इनका प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्यायों के साथ विस्तार किया जावे तो अनन्त भेद हो जाते हैं। जैसे-जैसे नय के भेद बढ़ते हैं वैसे-वैसे चंचल स्वभावी चित्त में तरंगे भी उपजती हैं। जो लोक और अलोक के प्रदेशों के बराबर है। जो ज्ञानीजीव ऐसी नय कक्षा को छोड़कर समतारस ग्रहण करके आत्मस्वरूप की एकता नहीं छोड़ते वे महामोह का नाश करके अनुभव के अभ्यास के निजात्मबल प्रगट करके पूर्ण आनंद में लीन होते हैं।

जितने नय हैं उतने भेद वस्तु में पड़ते हैं। जैसे-जैसे इन भेदों का विचार करते हैं वैसे-वैसे मन के संग से विकल्प की तरंगे उत्पन्न होती है। उनका भी पक्ष छोड़कर अन्तर में जाया जा सकता है क्योंकि आत्मा तो निर्विकल्प चीज है, विकल्प की जाल तो दु:खरूप है।

भगवान सर्वज्ञदेव ने जो अनन्तज्ञान, अनन्त आनंद आदि गुण प्रगट किये हैं; वे अन्दर में

www.vitragvani.com

है उनमें से आये हैं। इसीप्रकार प्रत्येक आत्मा में ऐसे गुण विद्यमान है; परन्तु मात्र उनका विचार करते रहना ही कोई स्वरूप नहीं है, वह तो विषमभाव है। राग की वृत्ति उत्पन्न होती है वह दु:खरूप है-विषमभाव है। अन्दर में जाकर अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करने पर समरसीभाव प्रकट होता है, वहाँ रागरूप विषमभाव का अभाव होता है तब उसको सम्यग्दर्शन होता है। पहले विकल्प में स्वभाव का निर्णय करके, उस विकल्प को छोड़कर समभाव द्वारा आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद ले वहाँ विकल्प का नाश हो जाता है अर्थात् विकल्प छूट जाता है।

धर्म का मुँह बड़ा है भाई! वह कोई क्रियाकाण्ड से प्रगट नहीं होता। विकल्प द्वारा भी धर्म का ग्रहण नहीं होता है। योग या उपयोग भी विषमभाव है। एक वीतरागभाव ही समरसीभाव है। उसके द्वारा आत्मा का आनन्द प्रगट होता है; कारण कि आत्मा वीतराग स्वरूप है, उसके अन्तर सन्मुख जाने से अन्दर से वीतराग समरसी भाव झरता है। इस अनुभव की एकता में विकल्प का दोपना नहीं आता। अन्दर की एकाग्रता में इस विकल्प को नहीं आने देता।

यह तो वीतराग भगवान के पास से आई हुई वाणी को संत आड़तिया होकर जगत में प्रसिद्ध करते हैं।

अपने को राग की क्रिया का कर्त्ता मानना तो महामिथ्यात्व है। इस देह और विकल्प के पीछे चैतन्य समुद्र विद्यमान हैं। जैसे स्वयंभूरमण समुद्र असंख्य योजन में व्यापक है और उसमें असंख्यात रत्न है; उसी प्रकार इस चैतन्य समुद्र मे तो अनन्त चैतन्य रत्न है। अनन्तज्ञान, अनन्त आनंद, अनन्त वीर्य इत्यादि अनंत रत्न विद्यमान है; परन्तु अज्ञानी उन्हें अन्यत्र खोजने जाता है।

मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, एक हूँ- ऐसे जो समस्त विकल्प हैं वे अशुद्ध हैं। जो उनकी दृष्टि छोड़कर शुद्ध स्वरूप का अनुभव करता है वह अनुभव के अभ्यास से निजात्मबल प्रगट करके पूर्ण आनन्द में लीन होता है। वीर्य (पुरुषार्थ) को स्वभाव सन्मुख झुकाकर आत्मधर्म का प्रकाश करता है। वह अपने स्वभाव के बल से होता है। राग का बल तो नपुंसकता है, वह आत्मबल नहीं है।

आत्मा में एक नहीं, बल्कि अनंत गुण हैं और एक-एक गुण में अनन्त पर्यायें प्रकट करने की सामर्थ्य हैं। ऐसी अनन्त शक्तिमय वस्तु का अनुभव करने में निज का बल चाहिये। जो पुण्य-पाप का बल है वह निज बल-वीर्य नहीं था, वह तो नपुंसकता है। व्यापार करने का विकल्प, पैसे रखने का विकल्प, भोगने का विकल्प-यह सब नपुंसकता है, दु:खरूपभाव है।

www.vitragvani.com

शुभरागरूप विकल्प भी नपुंसकता है; परन्तु इससे अधिक इस भाव को अपना मानना महा नपुंसकता है।

अरे! जब सत्य बात इसके कान में ही नहीं पड़ती तो यह कब तो समझे और कब धर्म करे? कंदमूल न खाये, रात्रि भोजन न करे, दया पाले, दान करे, भक्ति इत्यादि समस्त देह की और राग की क्रिया करे; परन्तु उससे क्या? इससे धर्म की दशा प्रकट नहीं होती। तो धर्म की दशा किस प्रकार प्रकट होती है?- कि-'**महामोह नासि, शुद्ध अनुभव अभ्यासि, निज बल परगासि**'.... परद्रव्य में सुख मानता था, पुण्य-पाप के विकल्प को अपना मानता था वह महामोह था। जब उसका नाश करके अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करता है तब उसको समरस अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रकट होता है, तब उसको यह चौथा गुणस्थान प्रकट होता है। यह धर्म की प्रथम दशा है।

....'**सुखशशि मांहे ग्ले हैं।**' भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दकंद है। उसमें एकाग्र होने पर सुखसागर का अनुभव होता है उसमें उसको समरस में सम्यग्दर्शन प्रकट होता है।

जैसे बरण्डी में चिरायता भरा हो और ऊपर 'मिश्री' लिख देवे तो कोई चिरायता मिश्री हो जाता है? नहीं होता। उसी प्रकार अन्दर में कुछ आनन्द का अनुभव नहीं हो और हमको क्षायिक हो गया है ऐसा कहे, इसमें क्या क्षायिक हो जाता है? (नहीं हो जाता।)।

अब श्लोक 46 के 28 वे पद में कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान से आत्मस्वरूप की पहिचान होती है।

सम्यग्ज्ञान से आत्मस्वरूप की पहिचान होती है

जैसैं काहू बाजीगर चौहटै बजाइ ढोल,
नानारूप धरिकैं भगल-विद्या ठानी है।
तैसैं मैं अनादिकौ मिथ्यातकी तरंगनिसौं,
भरममैं धाइ बहु काय निज मानी है ।।
अब ग्यानकला जागी भरमकी दृष्टि भागी,
अपनी पराई सब सौंज पहिचानी है।
जाकै उदै होत परवांन ऐसी भांति भई,
निहचै हमारी जोति सोई हम जानी है।।28।।

www.vitragvani.com

अर्थ:- जैसे कोई तमासगीर चौराहे पर ढोल बजावे और अनेक स्वांग बनाके ठगविद्या से लोगों को भ्रम में डाल देवे, उसी प्रकार मैं अनादिकाल से मिथ्यात्व के झकोरों से भ्रम में भूला रहा और अनेक शरीरों को अपनाया। अब ज्ञानज्योति का उदय हुआ जिससे मिथ्यादृष्टि हट गई, सब स्व-पर वस्तु की पहिचान हुई और उस ज्ञानकला के प्रगट होते ही ऐसी अवस्था प्राप्त हुई कि हमने अपनी असली आत्मज्योति पहिचान ली ।।28।।

काव्य - 28 पर प्रवचन

जैसे कोई तमाशगीर (बहुरूपिया) अनेक प्रकार के वेष धारकर ठग विद्या से लोगों को ठगता है; उसीप्रकार अनादि से जीव मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता द्वारा स्वयं अपने को भ्रम में भूल रहा है। मैं शरीर की क्रिया कर सकता हूँ, दया-दानादि के भाव होते हैं वे मेरा धर्म है- ऐसे मिथ्या भ्रम में मैंने ठग विद्या साधकर अपने आप को ही ठगा है और अनेक शरीर प्राप्त हुए उन्हें मैंने निजरूप से अपनाया है यह भी मेरा मिथ्या भ्रम ही था।

मैं तो त्रिकाल वीतराग स्वभावी हूँ और मेरे में से वीतरागता ही आती है- ऐसे भान के बिना (अज्ञानी ने) मैं रागी हूँ और अनेक प्रकार का राग होता है वह मेरा कार्य है- ऐसी भ्रमणा का सेवन किया है। ये स्त्री-पुत्रादिक मेरे हैं और मैं इनका हूँ, विकल्प मेरा है और मैं उसका हूँ। इसप्रकार परद्रव्य और परभाव में ही एकत्व माना है। इसकारण 'दोड़त-दोड़त, दौड़ियो जेती मन की दौड़'-कभी तीर्थ में दौड़ा, मानों कि सम्मेदशिखर की यात्रा से मेरा कल्याण हो जायेगा; परन्तु (अन्तर में) कल्याण का नाथ विराजमान है, उसकी सन्मुख तो देखा ही नहीं। छह-छह महीने के उपवास किये, भगवान के सामने सौ-सौ बार नमस्कार किया- ऐसी अनेक क्रियायें की; वे सब मजदूरी है-जड़ की क्रिया है। आत्मा की क्रिया नहीं। तथा राग की मंदता से धर्म माना है; परन्तु राग तो परभाव है, उससे धर्म कैसे होगा ? तो भी जीव ने पूर्व में मिथ्यात्व की शल्य में ऐसे अनेक प्रकार के भाव किये हैं।

अब जहाँ ज्ञानज्योति का उदय हुआ-मैं भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ-ऐसी एकाग्रता से भणकार आया वहाँ मिथ्याबुद्धि मिट जाती है। अरे! मैं तो एक विकल्प से लेकर सम्पूर्ण जगत से उस पार (भिन्न) हूँ। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, इसके अतिरिक्त कोई भी परभाव मेरे नहीं है।

जैसे नारद द्वारा ललचाया हुआ राजा द्रोपदी का अपहरण करके धातकीखण्ड द्वीप में ले

www.vitragvani.com

गया था, यह पता पड़ते ही पांडव और श्रीकृष्ण उसको लाने के लिये धातकीखण्ड द्वीप में जाते हैं और वहाँ शंखध्वनि करते हैं जिससे वहाँ के राजा की सेना भगने लगती है। उसी प्रकार भगवान आत्मा के दर्शन और ज्ञान होने पर मोह की सेना भगने लगती है। राजा स्वयं स्त्री के वस्त्र पहिनकर श्रीकृष्ण के चरणों में जाता है; उसी प्रकार समस्त विकार शिथिल पड़ जाते हैं। (अज्ञानी जन द्रोपदी के पाँच पति होना बतलाते हैं; परन्तु उसका पति तो एकमात्र अर्जुन ही था। वह तो सती थी। उसके लिये अर्जुन के अतिरिक्त समस्त पुरुष पिता अथवा पुत्र समान थे।)

सम्यग्दर्शन होने पर विकल्प की राख हो जाती है और सम्यग्दर्शन के बिना तो सब एक बिना की शून्य है, उससे कोई विकल्प का अभाव नहीं होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होने पर किसी विकल्प की ताकत नहीं रहती।

नवतत्व की श्रद्धा सम्यग्दर्शन नहीं है, देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा सम्यग्दर्शन नहीं है। अखण्डानंद प्रभु आत्मा का अनुभव करके प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप भी एक रहित शून्य के समान है। जहाँ ज्ञानकला जागती है वहाँ समस्त रागादि विकल्प जाल के समान लगते हैं। भले ही वे नय के विकल्प हों तो भी वे आत्मा के अमृत की जाति नहीं है, जहर की जाति है।

नये लोगों को ऐसा लगता है कि हमने तो ऐसी बात कहीं सुनी ही नही। भाई! परमेश्वरदेव ने यह तेरे ही घर की बात कही है। परन्तु अरे! यह बात इसको सुनने को भी नहीं मिली तो यह कब समझे और अनुभव करे? क्या हो... ? जगत लुटता है और वह भी प्रसन्नता पूर्वक लुटता है-उत्साह से लुटता है और यह बात तो बी.ए. अथवा एल.एल.बी. की बात है-ऐसा कहकर छोड़ देता है; परन्तु भाई! यह तो पहली इकाई की बात है।

ज्ञानकला जागने पर भ्रमदृष्टि भग जाती है और स्व तथा पर का स्वरूप जैसा है वैसा ज्ञात होता है। मैं आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ और विकल्पादि सब पर है-इसप्रकार स्व-पर दोनों का सच्चा ज्ञान हो जाता है। मैं तो आनन्द का सागर हूँ और रागादि विकार तो दु:ख के सागर हैं और शरीरादि परद्रव्य तो जड़ हैं।

पूर्व में आ गया है कि मैं तो चैतन्यरूप, अनूप और अमूर्त्त हूँ, मेरा स्वरूप तो सदा सिद्धसमान है।

www.vitragvani.com

'चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्ध समान सदा पर मेरौ,
मोह महातम आतम अंग कियो परसंग महातम घेरौ,
ज्ञानकला उपजी अब मोहि कहौं गुन नाटक आगम केरौ
जागु प्रसाद सधै सिवमारग बैगि मिटे भववास वसेरौ।।

इस अमृतस्वरूप भगवान आत्मा को शरीर और राग में रहना कलंक है। किन्तु इसको अपनी महानता का पता नहीं है, इसकारण पामर होकर परिभ्रमण करता है। परन्तु यदि यही आत्मा जग जाये तो (मोहरूपी) शत्रु की सेना भग जाती है। जैसे युद्ध के लिये तत्पर राजपूत छिपता नहीं है; उसी प्रकार ज्ञानकला से जागृत आत्मा छिपा नहीं रहता है। आत्मा के जगने का नाम ही धर्म है। हमारी चैतन्यज्योत जागृत हुई अब राग-द्वेष कोई हमारे नहीं हैं- ऐसे अनुभव का नाम सम्यग्दर्शन है।

अब 29वें काव्य में पण्डित बनारसीदासजी यह बताते हैं कि ज्ञानी को आत्मानुभव में कैसा विचार होता है।

ज्ञानी का आत्मानुभव में विचार

जैसैं महा रतनकी ज्योतिमैं लहरि उठै,
जल की तरंग जैसैं लीन होय जल मैं।
तैसैं सुद्ध आतम दरब परजाय करि,
उपजै बिनसै थिर रहै निज थल मैं ।।
ऐसै अविकल्पी अजलपी अनंदरूपी,
अनादि अनंत गहि लीजै एक पलमैं।
ताकौ अनुभव कीजै परम पीयूष पीजै,
बंधकौ विलास डारि दीजै पुद्गलमैं ।।29।।

अर्थ:- जिस प्रकार उत्तम रत्न की ज्योति में चमक उठती है, अथवा जल में तरंग उठती है और उसी में समा जाती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा, पर्यायापेक्षा उपजता और नष्ट होता है, तथा द्रव्यापेक्षा अपने स्वरूप में स्थिर-अवस्थित रहता है। ऐसे निर्विकल्प, नित्य, आनंदरूप, अनादि, अनंत, शुद्ध आत्मा को तत्काल ग्रहण कीजिये। उसी का अनुभव करके परम अमृत-रस पीजिये और कर्मबंध के विस्तार को पुद्गल में छोड़ दीजिये ।।29।।

www.vitragvani.com

काव्य - 29 पर प्रवचन

भगवान आत्मा अखण्डानंद ध्रुव चैतन्यस्वरूप है। उसके सन्मुख होकर और रागादि विकल्पों से विमुख होकर वस्तु के स्वभाव का अनुभव करने पर धर्म होता है और तभी उसकी मुक्ति के उपाय का प्रारम्भ होता है।

जैसे किसी महारत्न में चमक उठती है और उसी में समा जाती है, चमक उठे और समा जाए--इसप्रकार रत्न में ही चमक का उठना और समाना होता है। तथा जिस प्रकार समुद्र में तरंग उठती है और उसी में समा जाती है। पानी तो कायम है और उसमें प्रतिक्षण तरंग उठती है व उसी में समा जाती है। उसी प्रकार शुद्धात्म द्रव्य में पर्यायें उत्पन्न होती है और विनष्ट होती है; परन्तु ज्ञायक भाव तो सदा ऐसा एकरूप रहता है।

धर्मी धर्म करने के काल में ऐसा विचार करता है और पश्चात् अनुभवता है कि मैं शुद्ध ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण ज्ञायकभाव हूँ। मैं वस्तुरूप से तो त्रिकाल एकरूप ध्रुव हूँ और मेरी पर्याय में उपजना-विनशना होता है। पानी की तरंग उत्पन्न होती है और उसी में समा जाती है तथा पानीपना कायम रहता है। उसी प्रकार ज्ञायकभाव ऐसा का ऐसा रहता है। जैसे रत्न की चमक-झगमगाहट होती है और उसी में समाती है तथा रत्न ऐसा का ऐसा रहता है; उसी प्रकार यह निर्मलानन्द चैतन्यरत्न अत्यन्त शुद्ध है और इसमें वर्तमान निर्मलदशा उत्पन्न होती है और विलय पाती है, उत्पन्न होती है और विलय पाती है- ऐसा मेरा स्वरूप है। राग उत्पन्न होता है और विलय पाता है वह मेरी चीज में नहीं है। जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-शान्ति की पर्याय प्रगट होती है वह दूसरे समय अन्दर में समा जाती है-यह सब उपजना-विनशना अपने स्वक्षेत्र में ही होता है, पर के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प हैं; परन्तु वे आत्मा नहीं है, न आत्मा की अनुभूति के साधन हैं; वे तो विभावभाव हैं।

मूलवस्तु क्या है-इस बात का पता नहीं होने से धर्म नहीं होता है। सब्जी लेने जाए तो वहाँ यह तो पता होना चाहिये न कि कौनसी सब्जी लेनी है? ज्येष्ठ का महीना है, आम का मौसम है तो रस के साथ करेला चलेंगे-ऐसा पता होवे तो करेले की सब्जी लेकर आवे। कपड़ा खरीदने जाते हैं तो वहाँ किसके लिये, किस भाव का, कैसा कपड़ा लेना है-यह सब पता होने पर ही व्यक्ति कपड़ा ला सकता है; उसी प्रकार चैतन्यरस से भरा आत्मा है वही मैं हूँ, यह शरीर-वाणी और मन का परिणमन है वह मेरा नहीं है-जो इस प्रकार समझता हो वह स्वभाव के सन्मुख होकर और राग से विमुख होकर अनुभूति प्राप्त कर सकता है; अन्यथा अभी जिसको

www.vitragvani.com

वस्तु के स्वरूप का ही पता नहीं है वह उसकी अनुभूति नहीं कर सकता। जब दुनिया के काम में मूर्खता नहीं चलती तो आत्मा के काम में मूर्खता कैसे चलेगी? वस्तु के स्वरूप का पता न हो और मुझ को धर्म करना है..ऐसे धर्म नहीं होता भाई!

(वस्तु) 'उत्पाद-व्यय-ध्रोव्य युक्तम् सत्' है-ऐसे वस्तु के स्वरूप का पता हो वह यह समझ सकता है कि मैं अपने स्वरूप से ध्रुव हूँ और उसकी दृष्टि और उसमें स्थिरता करने पर अन्दर से ज्ञान-आनन्द की दशा प्रगट होती है तथा उसी में समा जाती है-ऐसा मेरा उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप है और मेरी वस्तु में अनन्त शक्तियां विद्यमान है। मैं खाली नहीं हूँ, भरचक भरा हूँ। इस प्रकार जो अपने स्वरूप को समझता है वह उसके सन्मुख होकर ऐसे स्वरूप का अनुभव कर सकता है। ऐसे अनन्त गुण सम्पन्न आत्मा में निर्मल दशा प्रगट हो और उसी में समाये इतना ही आत्मा है। राग उत्पन्न होता है और समाता है यह वस्तु का स्वरूप नहीं है।

आत्मा अकेला ज्ञान का सूर्य है। उसमें एकाग्र होने पर जो निर्मल वीतरागी अवस्था प्रकट होती है वह उसकी अवस्था है। वह अवस्था दूसरे क्षण अन्तर में समा जाती है और नई अवस्था प्रकट होती है-यही आत्मा का कार्य है। रागरूप से परिणमना अथवा पर के कार्य करना आत्मा का कार्य नहीं है। अज्ञानी को ऐसा लगता है कि आत्मा के बिना जड़ के कोई कार्य नहीं हो सकते, आत्मा करे तभी होते हैं; (परन्तु ऐसा नहीं है।)

'धर्म' अर्थात् आत्मा की वीतरागी, निर्मल, निर्दोष दशा। तो इस दशा का धारक आत्मा कैसा है, उसका त्रिकाल स्वरूप क्या है और उत्पन्न-विलय होनापना किसप्रकार है-यह प्रथम ही समझना चाहिये। मूलस्वरूप समझे बिना सामायिक करे, प्रतिक्रमण करे, अथवा प्रौषध करे तो इससे कोई आत्मा का धर्म प्रकट नहीं होता। इस जीव ने बाहर से साधुपना तो अनन्तबार लिया है; परन्तु भव का अभाव कभी नहीं हुआ। अत: निश्चित होता है कि राग भले ही मंद हो, तथापि वह आत्मा की प्राप्ति का साधन नहीं होता। कारण कि राग स्वयं अचेतन है, तो वह चेतन की प्राप्ति में साधन कैसे हो सकता हैं?

हमने एक जगह 8 रति वजन का अस्सी हजार की कीमत का हीरा देखा था। उसकी चमक तो कोई अलग थी ही, उसके रखने की डिब्बी भी अलग ही थी। इसी प्रकार इस चैतन्यरत्न की चमक कोई अलौकिक है। यह रत्न इस शरीररूपी डिब्बी में रहता है; परन्तु यह शरीर से भिन्न वस्तु है। चैतन्य में तो अनन्त-अनन्त आनन्दादि शक्तियाँ भरी हुई हैं। चैतन्य एक असंख्यात प्रदेशी वस्तु है। उसमें अनन्त गुण ध्रुवरूप से है। इसलिये गुण तो कायम रहते हैं और

www.vitragvani.com

उसमें एकाग्र होने पर नई-नई निर्मल पर्यायें उत्पन्न होती है और उसी में समा जाती है। आत्मा में अकेला ज्ञानगुण ही नहीं है; परन्तु ऐसे तो अनन्त गुण हैं। आत्मा को ज्ञानगुण की प्रधानता से ज्ञानस्वरूप कहते है; परन्तु वही आत्मा श्रद्धा, वीर्य आदि अनन्त गुणस्वरुप एक ध्रुव वस्तु है। जैसे मीठापन वह शक्कर-ऐसा कहा जाता है; परन्तु शक्कर में मीठेपन के उपरान्त सफेदी, सुगंधता इत्यादि अनन्त गुण होते हैं।

जो जानता है, निर्णय करता है, स्वतंत्ररूप से देखने-जानने का कार्य करता है-ऐसे आत्मा के नित्यानंद ध्रुवस्वभाव पर नजर करने से निर्मलदशा प्रगट होती है। ऐसे धर्मी को राग होता है उसको भी वह जानता है, राग मेरा है-ऐसा नहीं मानता। जो निर्विकल्प श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरता प्रगट हुई है वही मेरा धर्म है। यह दशा नई उत्पन्न होती है, इसलिये इसको पर्याय कहा जाता है। पर्याय एकसमय रहकर दूसरे समय व्यय होती है; परन्तु व्यय होकर कहीं बाहर नहीं जाती, अंदर में ही जाती है। जैसे समुद्र की लहर उत्पन्न होकर समुद्र में ही समा जाती है; उसी प्रकार द्रव्य की पर्याय उत्पन्न होकर द्रव्य में ही समा जाती है। उसका शरीर, वाणी, मन अथवा पुण्य-पाप के विकल्प के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसकारण धर्मी उसको अपना स्वरूप नहीं मानते।

शुद्धात्मा के आश्रय से शान्ति की, आनन्द की, स्वच्छता की, वीतरागता की, ज्ञान की, श्रद्धा की-इत्यादि जो पर्यायें होती हैं वे सब एक समय होती हैं और दूसरे समय में समा जाती हैं, वहाँ दूसरे समय में दूसरी पर्यायें उत्पन्न होती है-इसप्रकार उत्पाद-व्यय और ध्रुवपना रखती वस्तु स्वयं सदा स्थिर रहती है। जो ऐसा वस्तुस्वरूप समझे बिना ध्यान करने बैठेगा तो ध्यान नहीं कर सकेगा; क्योंकि स्वरूप की समझरूप पात्रता के बिना ध्यान कैसे हो सकता है?

'ऐसे अविकल्पी अजलयी आनन्दरूपी अनादि अनन्त गहि लीजै एक पल में'-

आत्मा कैसा है?-अविकल्पी है। पुण्य-पाप, दया, दान, व्रतादि का विकल्प वह आत्मा का नहीं है, इसलिये आत्मा अविकल्पी है-राग रहित निर्विकल्प वस्तु है। अजल्पी है अर्थात् जल्प रहित स्थिर बिम्ब प्रभु है। जैसे मेरु पर्वत किसी का चलाया चलित नहीं होता-ऐसा स्थिर है; उसी प्रकार आत्मा को शुभाशुभभावों से नुकसान नहीं पहुचें और केवलज्ञान से वृद्धि न हो-ऐसा आत्मा ध्रुव स्थिर-बिम्ब है। शुभभाव हो या अशुभभाव हो, इनसे ध्रुव आत्मतत्व में कुछ बिगाड़ नहीं हो जाता और पर्याय में केवलज्ञान प्रगट हो जाये तो भी ध्रुव में कुछ वृद्धि नहीं हो जाती। आत्मा ऐसा अनादि-अनंत ध्रुव है, अचल और अविचल है।

www.vitragvani.com

तथा आत्मा कैसा है?-'आनन्दरूपी' है। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द स्वरूप है। उसमें पुण्य-पाप के विकल्प नहीं है, इसलिये उसको कोई दु:ख नहीं है। वह तो आनन्द स्वरूप है। अरे! पर ऐसा आत्मा कैसे मिले? हमारी नजर तो आनन्दरूप आत्मा में पहुँचती ही नहीं। भाई! इस नजर पहुँचाने के लिये बहुत पात्रता चाहिये। समझ, विचार, स्वाध्याय, सत्समागम आदि द्वारा पात्रता प्राप्त करके अन्तर में देखे तो यह स्वरूप समझ में आने योग्य है।

आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। जैसे पूरणपोली में जहाँ देखो वहाँ पूरण का माल भरा है; उसीप्रकार सम्पूर्ण आत्मा में आनन्द का माल भरा है। अरुपी, किन्तु वस्तु है न! उसमें अतीन्द्रिय आनन्द का रस विद्यमान है। वह कब से है?-कि अनादि से है और अनंतकाल तक रहने वाला है। वस्तु कोई नई नहीं होती। अनादि से है..है...है..वस्तु नई नहीं होती और नष्ट नहीं होती। अर्थात् अनन्त-अनन्तकाल तक रहनेवाली है। ऐसे अनादि-अनन्त आत्मा को एक पल में ग्रहण कर लो! ऐसा धर्मी का विचार होता है और वह इसी विचार को अन्य को समझाते हैं।

आत्मा को त्रिकाली कहने से उसके तीन भेद नहीं पड़ जाते है। त्रिकाली कहने से उसका आदि-अंत नहीं है। वह सदा है..है..है-ऐसा त्रिकाली स्वरूप है। उसमें भूत-वर्तमान-भविष्य का भेद नहीं है।

अन्तर्मुख होकर ऐसे आत्मा को एक पल में ग्रहण कर ले! यही करने योग्य है। अन्य सब तो चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण के मार्ग है। आत्मा अनादि का ऐसा का ऐसा होने पर भी अपने भान बिना भूत जैसा हो रहा है, भूत की तरह परिभ्रमता है। इसलिये अब जब से यह बात सुनी है तब से तत्काल आत्मा को ग्रहण कर ले-अन्तर में उतर जा! अभी थोड़ा यह दूसरा काम कर लूं, फिर यह करुँगा-ऐसा वायदा रहने दे! तू बाहर में कर-करके क्या कर सकता है? तू एक रजकण के दो टुकड़े भी नहीं कर सकता। मात्र विकल्प कर सकता है।

श्रोता:- रजकण तो अत्यन्त सूक्ष्म होता है, अत: जीव उसका कार्य तो नहीं कर सकता; परन्तु शरीर का कार्य तो कर सकता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री:- आत्मा किसी परद्रव्य का कुछ नहीं कर सकता है। शरीर अजीव है। अजीव भी एक पदार्थ है। अत: उसका समस्त कार्य अजीव द्रव्य स्वयं करता है, आत्मा उसका कार्य नहीं कर सकता; परन्तु इसको अजीव तत्व की भी श्रद्धा नहीं है; अत: इसको प्रश्न उठा ही करते हैं कि जीव हो तभी तो शरीर चलता है। इसमें (शरीर में) रुधिर होता है इत्यादि सब

www.vitragvani.com

जीव के होने से ही होता है न! परन्तु इतना विचार नहीं करता कि आत्मा के होने पर भी शरीर का हलन-चलन क्यों रुक जाता है...रुधिर क्यों नहीं बनता.. ? विचार करे तो ख्याल आवे। जब जड़ और चेतन तत्व ही भिन्न है तो कौन किसका कार्य करे? एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कार्य नहीं करता-यह बात इसको गहराई से जंचती ही नहीं; इसकारण इसको लगता है कि अन्य का करें तो महान कहलायेंगे।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा जड़ का तो कुछ करता ही नहीं; परन्तु जो दया, दान के विकल्प होते हैं उन्हें भी आत्मा नहीं करता-यह बात (यहाँ) सिद्ध करनी है। वस्तु के स्वरूप में विकल्प नहीं है इसलिये धर्मी विकल्प को नहीं पकड़ते, बल्कि एक क्षण में त्रिकाली द्रव्य को पकड़ लेते हैं। निर्विकल्प सत्चिदानन्द प्रभु स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप से ध्रुवस्वरूप विद्यमान है। सबको उसे एक पल में ग्रहण कर लेने योग्य है। श्रीमद्जी भी लिखते है न! 'स्व द्रव्य के ग्राहक शीघ्र होओ! स्वद्रव्य की रक्षा शीघ्र करो! स्वद्रव्य में व्यापक शीघ्र होओ!- क्षण में स्वद्रव्य में पसर जाओ। स्वद्रव्य के धारक शीघ्र होओ। भगवान आत्मा के पूर्णानन्द स्वरूप को श्रद्धा में धारण करो, ज्ञान में धारण करो; रागादि को धारण मत करो। श्रीमद् ने यह बात 17 वर्ष की उम्र में की है; परन्तु 71 वर्ष की उम्र वालों को भी इसका भान नहीं है। भक्ति करते-करते कल्याण हो जायेगा- ऐसा मान लिया है।

स्वद्रव्य के रमक शीघ्र होओ!-अखण्डानंद ध्रुव में रमो, पुण्य-पाप और संकल्प-विकल्प में तो अनादि से रमता आया है। अब उनमें रमना छोड़कर अखण्डानन्द में रमो, उसी के ग्राहक शीघ्रता से होओ...पुण्य-पाप के विकल्पों को पकड़ना छोड़कर वस्तु को पकड़ो।

'ताकौ अनुभव कीजै, परम पीयूष पीजै।'-भगवान आत्मा आनन्द का सरोवर है। उसमें से आनन्दामृत पिया ही करो। बहिने झरने में पानी भरने जाती है न! झरने में पानी आया ही करता है, आया ही करता है। उसी प्रकार आत्मा निर्विकल्प आनन्दरस का झरना है, उसमें से आनन्द पी! विकल्प के वेदन में तो दु:ख है। जैसे अग्नि को नहीं पिया जाता, क्योंकि उससे तो जल जाते हैं; उसीप्रकार पुण्य-पाप के विकल्प तो अग्नि है, उनके पीने से तू जलता है। इसलिये ज्ञानी तुझको रोकते हैं कि तू उन्हें मत पी और आत्मा के आनन्द को पी! अज्ञानी अंध को अग्नि पीने से रोकते है वह कठिन लगता है। भाई! यह तो जहर है, इसका पान करके तू मर गया है, अब अतीन्द्रिय आनन्दामृत का पान करके जीवित हो- आनंदित हो।

www.vitragvani.com

'**बंध को विलास डारि दीजै पुद्गल मैं**'-पुण्य-पाप के भाव बंधरूप है, उन्हें पुद्गल में डाल दे। वे मेरे हैं-ऐसा मत मान।

बहुत से लोगों को ऐसा लगता है कि दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम तो धर्म है और तुम उनको पुण्य कहकर निषेध कर देते हो, इसमें लोगों का कल्याण रुक जाता है। भाई! यहाँ तो जिसको धर्म करना है उसको धर्म का स्वरूप कहा जाता है। किसी के कहने से कोई कुछ छोड़ नहीं देता, इसकी मान्यता में गहराई से राग की ही मिठास पड़ी है, इसलिये यह किया ही करता है। वस्तुत: तेरे स्वभाव में पुण्य-पाप के विकल्प नहीं है; इसलिये उनको पुद्गल के खाते में डाल दे। जिस भाव से तीर्थंकर नामकर्म बँधता है उस शुभभाव को भी आत्मा का स्वरूप मत मान, पुद्गल में डाल दे!

अब आगे आत्मानुभव की प्रशंसा कहने वाला 30 वाँ पद कहते हैं।

आत्मानुभव की प्रशंसा

दरबकी नय परजायनय दोऊ,
श्रुतग्यानरूप श्रुतग्यान तो परोख है।
सुद्ध परमातमाकौ अनुभौ प्रगट तातैं,
अनुभौ विराजमान अनुभौ अदोख है ।।
अनुभौ प्रंवान भगवान पुरुष पुरान,
ग्यान औ विग्यानघन महा सुखपोख है।
परम पवित्र यौं अनंत नाम अनुभौके,
अनुभौ विना न कहूं और ठौर मोख है।।30।।

अर्थ:- द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ये दोनों नय श्रुतज्ञान हैं और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है, पर शुद्ध परमात्मा का अनुभव प्रत्यक्ष प्रमाण है। इससे अनुभव शोभनीय, निर्दोष, प्रमाण, भगवान, पुरुष, पुराण, ज्ञान, विज्ञानघन, परम सुख का पोषक, परम पवित्र ऐसे और भी अनंत नामों का धारक है, अनुभव के सिवाय और कहीं मोक्ष नहीं है ।।30।।

काव्य - 30 पर प्रवचन

त्रिकाल ध्रुव आत्मद्रव्य को जाननेवाले-विकल्पवाले नय को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं और जो एकसमय की अवस्था को जानता है उसको पर्यायार्थिकनय कहते हैं। ये दोनों विकल्पात्मक

www.vitragvani.com

श्रुतज्ञान के अंश हैं। इन भेदों वाला श्रुतज्ञान परोक्ष होने से उसमें आत्मा अनुभव में नहीं आता। वस्तु को द्रव्यस्वभाव से देखो तो ध्रुव है और पर्याय की ओर से देखो तो वह अध्रुव है-उत्पाद, व्यय वाली है। इसप्रकार विकल्पवाले श्रुतज्ञान से दोनों नयों के विषय को जानने पर भी वह परोक्ष समकित है; परन्तु जहाँ शुद्ध परमात्मा का अनुभव होता है वहाँ तो प्रत्यक्ष अनुभव है।

देखो! पुण्य-पाप के विकल्प को तो निकाल दिया, परन्तु विकल्पवाले ज्ञान को भी परोक्ष कहकर निकाल दिया है। वस्तु तो विकल्प रहित है। वस्तु तो निर्विकल्प-अविकल्पी आनन्दघन है, उसमें राग नहीं है। पहले विकल्पवाले ज्ञान में निर्णय किया हो कि मैं द्रव्यस्वभाव से ध्रुव और पर्याय से क्षणिक हूँ; परन्तु ऐसे परोक्ष ज्ञान में आत्मा का अनुभव नहीं होता। कोई लाखों शास्त्र पढ़कर अभिमान करता हो उसकी तो बात ही नहीं है-उसको तो अनुभव होता ही नहीं; परन्तु श्रुतज्ञान की विकल्पवाली दशा से भी अनुभव नहीं होता। इसलिये यहाँ उसकी भी गिनती नहीं है। जब द्रव्य-पर्याय के विकल्प भी दु:खरूप है, तब बाहरी क्षयोपशम का अभिमान तो दु:खरूप है ही। ऐसे अभिमानवाले जीव को वस्तुस्वरूप का बहुमान आ ही नहीं सकता। परन्तु यहाँ तो अभिमान रहित, किन्तु विकल्प वाले ज्ञान में अनुभव नहीं होता-ऐसा कहना है। विकल्पात्मक ज्ञान में द्रव्य-पर्याय का स्वरूप विचारता है; परन्तु उसमें प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। इसकारण आत्मा प्रत्यक्ष हुए बिना आनन्द का स्वाद नहीं आता।

'कलश टीका' में इस कलश के भावार्थ में कहा है कि जितने नय हैं वे श्रुतज्ञानरूप हैं। श्रुतज्ञान परोक्ष है, अनुभव प्रत्यक्ष है-इसकारण श्रुतज्ञान बिना जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष अनुभवता है। पूर्व में 19 वें कलश में भी आ गया है कि श्रुतज्ञान से आत्मा का विचार करने पर बहुत विकल्प उठते हैं। एक नय से भेदरूप, एक नय से अभेदरूप-इसप्रकार अनेक नयों से आत्मा को विचारने से स्वरूप का अनुभव नहीं होता।

श्रीमद् में भी आता है कि 'सब शास्त्रन के नय धार हिये...यह साधन बार अनन्त कियो तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो।'

शुद्ध परमात्मा का अनुभव तो प्रत्यक्ष है। राग और मन के अवलम्बन बिना आत्मा अनुभव में आने पर यह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। इस ज्ञान को ही यथार्थ ज्ञान कहा जाता है। कितना ही धारणा ज्ञान हों; परन्तु वह ज्ञान नहीं है। इसी प्रकार श्रुतज्ञान द्वारा किया जाने वाला द्रव्य-पर्याय का विकल्पात्मक ज्ञान भी ज्ञान नहीं है। कारण कि वस्तु सम्पूर्णत: प्रत्यक्ष चीज है, उसको प्रत्यक्ष न करे वहाँ तक उस ज्ञान को ज्ञान कहने में नहीं आता।

www.vitragvani.com

यहाँ शुद्ध परमात्मा कहने से अरहंत और सिद्ध की बात नहीं है; परन्तु शुद्ध और ध्रुव एकरूप ज्ञायकभाव की बात है, जो कि त्रिकाल प्रगट है उसे 'परमात्मा' कहा है। उसका अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान में ही होता है। परमात्मा परोक्ष ज्ञान में अनुभव में नहीं आता। तब राग और विकल्प द्वारा आत्मा अनुभव में आवे यह बात कहाँ रही ? लोगों में झगड़ा पड़ जाए ऐसी बात है। लोगों को ऐसा लगता है कि यह बात कहाँ से निकाली ? परन्तु जो है वह प्रकट होता है, सोनगढ़ में छपता है क्या इसलिये यहाँ का हो गया ?

(भाई !) प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा ही प्रत्यक्ष वस्तु का अनुभव होता है।

क्या कहते हैं ? कि आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वभाव से परिपूर्ण भरी हुई वस्तु है। इस आत्मा को दो नयों के द्वारा पहिचानने में आता है। एक द्रव्यार्थिकनय और दूसरा पर्यायार्थिकनय। द्रव्य ही जिसका प्रयोजन है उस ज्ञान के अंश को द्रव्यार्थिकनय कहते हैं और पर्याय के स्वरूप को जाननेवाले ज्ञान के अंश को पर्यायार्थिकनय कहते हैं। भेद पाड़कर जानने में राग साथ ही है, इस कारण ज्ञान को विकल्पात्मक श्रुतज्ञान कहते हैं, यह वास्तविक तत्व कहते हैं।

जो जीव शरीर, वाणी, मन के विचार में ही रुका हुआ है वह तो आत्मा के अनुभव में आया ही नहीं है; परन्तु पुण्य के विकल्प में रुका हुआ है वह भी राग में खड़ा है। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिये उसमें धर्म नहीं है। जो दो नयों के द्वारा आत्मस्वरूप का रागमिश्रित विचार करताा है वह भी राग मिश्रित श्रुतज्ञान होने से वास्तविक श्रुतज्ञान नहीं है, परोक्ष ज्ञान है। विकल्पात्मक विचार छोड़कर, अखण्ड अभेद चैतन्यस्वभाव का अनुभव तो प्रत्यक्ष है। ज्ञान में आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव होना ही वास्तविक स्वानुभव है। आत्मा व्यवहाररत्नत्रय से अनुभव में नहीं आता।

अखण्ड अभेद आत्मा का अनुभव तो प्रत्यक्ष है। उसमें इसे किसी विकल्प के सहारे की आवश्यकता नहीं है। स्वसंवेदन ज्ञान में-अनुभव में आत्मा विराजमान है; इसलिये अनुभव शोभनीय है।

वस्तु तो त्रिकाल विराजमान है, परन्तु अनुभव की पर्याय द्वारा उसके विराजमानपने का अनुभव होता है। स्व अर्थात् अपने से, सं अर्थात् प्रत्यक्ष, वेदन अर्थात् अनुभव होना, इसका नाम स्वसंवेदन है।

www.vitragvani.com

यह कोई अपने घर की बात नहीं कही जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचन्द द्वारा कथित बात को ही पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं।

अनुभव 'अदोख' है अर्थात् निर्दोष हैं। आत्मा को अनुसरकर आत्मा के आनन्द का वेदन होना ही आत्मा को शोभनीक है। यह अनुभव निर्दोष है। विकल्पमात्र अशोभनीक है-सदोष है। फिर भले ही वह व्यवहार रत्नत्रय का विकल्प हो वह भी अशोभनीय है।

'अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप ।
अनुभव मारग मोक्ष को, अनुभव मोक्षस्वरूप।।

अनुभव होने के पहले और बाद में भी व्रत, भक्ति, दान, तप आदि के शुभभाव होते हैं-आते हैं, परन्तु वे सदोष हैं, निर्दोष तो एक अनुभव ही है।

अनुभव प्रमाण सत्य है। राग मिश्रित विचार से रहित निर्विकल्प अनुभव हो वह प्रमाणज्ञान है, वह ज्ञान सच्चा है। अनुभव तो 'भगवान' है। पुण्य की क्रिया तो रंकाई है-दीनपना है और अनुभव तो भगवान है। यदि जन्म-मरणरूप संसार और आकुलता से छूटना होवे तो यह भगवान ही शरणरूप है, उपादेय है। स्वसन्मुख होकर सत्चिदानन्द प्रभु का अनुभव करना ही भगवान का अनुभव है। पुण्य-पाप तो दोष है। वह कोई वस्तु का स्वभाव नहीं है; इसलिये उसका आश्रय लेना तो दीनता है।

अनुभव 'पुरुष' है, शेष सब भाव नपुंसकता है, आत्मा नहीं। अनुभव 'पुराण' है-बहुत पुरानी अनादि की चीज है। अनन्त-अनन्त संत, ज्ञानी धर्मात्मा अनुभव करके ही मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। इसलिये अनुभव तो पुरानी चीज है। यह अनुभव की बात यहाँ से नई नहीं निकाली; बल्कि पुरानी है। सत्चिदानन्द प्रभु आत्मा का पद सदा सिद्ध समान है, उसको राग से हटकर, स्वसन्मुख होकर अनुभव करना वह 'पुराण' है।

अनुभव ही 'ज्ञान' है। आत्मा विकल्प और राग से रहित आत्मा का अनुभव करे तब उसको 'समकित' नाम दिया जाता है- ऐसा पाठ 144वीं गाथा में है, यह उस गाथा का श्लोक है इसमें कहते हैं कि अनुभव ही 'ज्ञान' है।

यहाँ कायर का काम नहीं है-पुरुषार्थ हीन का काम नहीं है। जो राग में पुरुषार्थ जोड़ता है वह नपुसंक है, पुराण पुरुष नहीं। पुरुष अर्थात् आत्मा, उसका अनुभव वह ज्ञान है। शास्त्र का पठन अथवा अन्य को पढ़ाना वह ज्ञान नहीं है। पाँच-पचास हजार श्लोक कंठस्थ हो जावे तो

www.vitragvani.com

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि मुझको तो समस्त शास्त्र मुखाग्र है; परन्तु वह ज्ञान नहीं है। शुद्ध आनंदकद का अनुभव ही 'ज्ञान' है।

त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव भगवान सर्वज्ञ ने जैसा कहा है वैसा ही कुन्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं और वही अमृतचन्दाचार्यदेव कहते हैं तथा उसी पर (कलशों पर) ही पंडित बनारसीदासजी ने यह पद बनाये हैं। उसमें वे कहते हैं कि ज्ञान तो उसको कहते हैं कि जिसके साथ आनन्द होवे। अतीन्द्रिय आनन्दसहित ज्ञान ही ज्ञान है। अकेले ज्ञान के क्षयोपशम में तो आत्मा नहीं आता। आत्मा अनुभव में आवे तब तो अनन्त गुणों का अभेद स्वाद पर्याय में आना चाहिये; वह तो आता नहीं, इसलिये उघाड़ज्ञान वास्तविक ज्ञान नहीं है।

'अनुभव' विज्ञानघन है। आत्मवस्तु तो त्रिकाल विज्ञानघन है ही, परन्तु जो ज्ञान उसमें स्थिर होता है और विकल्प छूट जाता है उस अनुभव ज्ञान को भी विज्ञानघन कहा है। यह अनुभव परमसुख का पोषक है। जो ज्ञान वस्तु के अनुभव पूर्वक होता है उसमें आनंद का पोषण है। वह ज्ञान आनन्द से युक्त हुआ होता है। अशुभराग तो बंध का कारण है ही, परन्तु शुभराग भी बंध का कारण है और सदोष है। उनसे हटकर भगवान आत्मा का अनुभव करना, वह अनुभव परमसुख का पोषक है, कल्पित सुख का पोषक नहीं। पैसे का सुख तो कल्पित है। उसमें तो विचारे जीव दु:खी होते हैं और आत्मा के अनुभव का सुख तो आनन्दमय और परम पवित्र है।

आत्मा के अनुभव को परम और पवित्र भी कहते हैं। 'अनुभवप्रकाश' ग्रन्थ में पण्डित दीपचंदजी ने 'अनुभव' के बहुत नाम लिये हैं। 'द्रव्य संग्रह' में भी टीका में अनुभव शब्द आता है। आत्मा परम स्वभावी है, इसलिये आत्मराजा की पर्याय को भी 'परम' कहते हैं। 'अनुभव तो आत्मराजा की निर्मल पर्याय है न! इसलिये पवित्र है, शेष शुभाशुभ राग की क्रिया और उनका अनुभव तो अपवित्र है।

इसप्रकार 'अनुभव' के अनन्त नाम हैं। आत्मा में जितने-अनन्त गुण हैं उन सबके नाम अनुभव को लागू पड़ते हैं; कारण कि 'अनुभव' में समस्त गुणों का अंश अनुभव में आता है। 'सर्वगुणांश वह समकित' है इसलिये अनुभव को 'सम्यग्दर्शन' कहो, 'सम्यग्ज्ञान' कहो, 'सम्यक् स्वरूपाचरण चारित्र' कहो, 'अतीन्द्रिय आनन्द' कहो, 'आत्मा का साक्षात्कार' कहो, 'आत्मा से भेंट होना' कहो अथवा भगवान से भेंट होना कहो-यह सब नाम अनुभव के कहे जा सकते हैं।

www.vitragvani.com

अनुभव के सिवाय कहीं मुक्ति नहीं है। अर्थात् अनुभव के अलावा कहीं धर्म नहीं है। (साधकदशा में) भूमिकानुसार व्रत, तप, यात्रा, भक्ति आदि के भाव आते हैं वह तो पुण्य के विकल्प हैं। '**अनुभौ बिना न कहूँ और ठौर मोख है:-**' देखो! अनुभव ही मोक्ष का कारण है- ऐसा कहा, तो क्या इसमें एकान्तवाद नहीं हुआ? नहीं। अनुभव ही मोक्ष का कारण है, व्यवहार मोक्ष का कारण नहीं हैं- ऐसा अनेकान्त इसमे विद्यमान है। व्यवहार को भी मोक्ष का कारण माने वह तो फुदड़ीवाद है। जहाँतक वीतरागता पूर्ण नहीं होती वहाँतक व्रत, तप, जपादिक का शुभभाव आता तो है ही, परन्तु वह मोक्ष का कारण नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द 2000 वर्ष पूर्व हो गये हैं। उन्होंने 'समयसार' की रचना की हैं। उस पर 900 वर्ष पूर्व हो गये आचार्य अमृतचन्द ने टीका लिखी है और कलशों की रचना की है। उन कलशों पर पंडित राजमलजी ने 'कलशटीका' लिखी है, जिसके आधार से पंडित बनारसीदासजी ने इस पदमय नाटक समयसार की रचना की है। अत: मूल में तो यह आत्मज्ञानी, जंगल में बसने वाले निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियों द्वारा रचित शास्त्र है। उसमें यह 30 वां पद पूर्ण हुआ।

बनारसीदासजी युवा अवस्था में तो श्रृंगाररसी थे और श्रृंगाररस पर ग्रन्थ भी लिखते थे। तत्पश्चात् रूपचंदजी आदि साधर्मीजनों का संग प्राप्त होने से स्वयं आत्मज्ञानी हुए तो उस श्रृंगाररस के ग्रंथ को गोमती नदी में बहा दिया। तत्पश्चात् यह भव्य-नाटक समयसार बनाया।

अब 31 वें पद में दृष्टान्त देकर यह समझाते हैं कि अनुभव के अभाव में संसार और सद्भाव में मोक्ष है।

अनुभव के अभाव में संसार और सद्भाव में मोक्ष है, इस पर दृष्टान्त

जैसे एक जल नानारूप-दरबानुजोग,
भयौ बहु भांति पहिचान्यौ न परतु है।
फिरि काल पाइ दरबानुजोग दूरि होत,
अपनै सहज नीचे मारग ढरतु है।
तैसैं यह चेतन पदारथ विभाव तासौं,
गति जोनि भेस भव-भांवरि भरतु है।
सम्यक सुभाइ पाइ अनुभौके पंथ धाइ,
बंध की जुगति भानि मुकति करतु है ।।31।।

www.vitragvani.com

अर्थः- जिस प्रकार जल का एक वर्ण है, परन्तु गेरु, राख, रंग आदि अनेक वस्तुओं का संयोग होने पर अनेक रूप हो जाने से पहचान में नहीं आता, फिर संयोग दूर होने पर स्वभाव में बहने लगता है, उसी प्रकार यह चैतन्यपदार्थ विभाव-अवस्था में गति, योनि, कुलरूप संसार में चक्कर लगाया करता है, पीछे अवसर मिलने पर निजस्वभाव को पाकर अनुभव के मार्ग में लगकर कर्म-बन्धन को नष्ट करता है और मुक्ति को प्राप्त होता है ।।31।।

काव्य - 31 पर प्रवचन

ऐसा नहीं समझना कि मैं बालक हूँ अथवा वृद्ध हूँ, इसलिये मुझे समझ में नहीं आता। आत्मा कोई बालक, युवा अथवा वद्ध नहीं है। मेरी बुद्धि अल्प है इसलिये मुझे समझ में नहीं आता-ऐसा भी नहीं मानना चाहिये। तुम्हारी बुद्धि अल्प नहीं हैं, तुम तो केवलज्ञान के कंद हो। अन्दर में आत्मा की रुचि और दृष्टि का विषय ख्याल में आना चाहिये बस, इतनी बात है। ज्ञान अल्प होने से कोई बाधा नहीं है।

जिसप्रकार पानी अन्य रंग आदि संयोग होने पर अनेक रूप हो जाता है अथवा अनेक वृक्षों में जाने पर पानी का अनेकरूप स्वाद आता है। इसकारण पानी का मूल रंग अथवा स्वाद पहिचानने में नहीं आता। जैसे कि नीम में गया हुआ पानी कड़वा लगता है, द्राक्ष में गया हुआ पानी मीठा लगता है; उसी प्रकार यह चैतन्य पदार्थ विभाव अवस्था में अनेक गति, योनि कुलरूप संसार में चक्कर लगाया करता है। इस कारण शुद्ध जीव का स्वरूप पहिचाननें में नहीं आता।

जिसप्रकार नदी के पानी का प्रवाह चला जा रहा हो उसके खेत में जाने पर मिट्टी के साथ मिल जाने से रंग बदल जाता है; परन्तु उसी पानी का प्रवाह आगे जाकर पुनः नदी में मिलता है तब मिट्टी आदि का संयोग दूर होने से वापस अपने निर्मल स्वभाव में बहने लगता है।

उसीप्रकार यह चैतन्यजल अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु शुभ और अशुभ विभावभाव से अनेक प्रकार की गति, योनियों में परिभ्रमण करता है। चैतन्यस्वरूप को छोड़कर विभाव में गमन करने के कारण संसार में चक्कर मारता है, परन्तु यह कोई जीव का स्वभाव नहीं है। वह अज्ञान से शुभाशुभ भावों में व्याप्त रहा है- इसकारण नरकगति, पशुगति, मनुष्यगति और देवगति को प्राप्त करता है। बाहर का शरीर वह कोई गति नहीं है, अन्दर में जीव की वैसी योग्यता है, वही मैं हूँ- ऐसा यह मानता है। मैं चीटीं, मैं कौआ, मैं बनिया, मैं धनवान- ऐसे अनेक प्रकार के संयोगों में एकत्व करता है। इसकारण इसको अपना वास्तविक स्वरूप ख्याल में नहीं

www.vitragvani.com

आता। 'विभाव है वही मैं हूँ'-ऐसा मानता है। उन विकल्पों के जाल में फंसता हुआ भिन्न-भिन्न अवतार धारण करता दिखता है। वह भव-'सम्यक् सुभाव पाइ अनुभौ के पंथ छाई, बंध की जुगति भानि मुकति करतु है।'

जब जीव को ऐसा लगता है कि अरे! मैं तो चैतन्य आनन्दकंद हूँ, पवित्रता का पुंज हूँ, पुण्य-पाप के विकल्प तो अपवित्र हैं वे कोई मेरा स्वरूप नहीं...ज्ञान, आनन्द, स्वच्छता, वीतरागता यह मेरा स्वभाव है- ऐसा स्वभाव का सम्यक् श्रद्धान करता है तब उसको स्वभाव का सम्यक्भान और वेदन होता है। तत्पश्चात् जो दृष्टान्त में जैसे खेत में चला गया हुआ पानी फिर से अपने मूलप्रवाह में मिलकर ढाल वाले मार्ग से नदी में मिल जाता है; उसीप्रकार चैतन्य देव अनुभव के मार्ग से चलकर अपने पूर्ण स्वभाव को प्राप्त करता है। अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है।

अनादि से पुण्य-पाप के विभावरूप प्रवाह में जीव की भिन्न-भिन्न गति, योनि, कुल आदि अनेकरूप होते थे, वह कोई जीव का असली स्वरूप नहीं था। अपने को मनुष्य के रूप में पहिचानना अथवा दयादिक के विकल्प से पहिचानना अथवा संयोग से पहिचानना वह कोई जीव का स्वरूप नहीं है। वह तो पर घर है-विभाव का घर है-विभाव के भेद हैं- ऐसा जानकर जब जीव का वीर्य अनुभव के पंथ (मार्ग) में दौड़ता है तब अनुभव करते-करते जीव का मोक्ष हो जाता है-यह एक ही करने योग्य है।

जहाँ जीव आनन्दपूर्वक अनुभव के मार्ग में जाता है वहाँ बंध तो नष्ट होता जाता है। (बंध नहीं होता-इस कारण बंध का नाश किया कहा जाता है।) ज्ञानी को अबंध स्वभावी भगवान आत्मा की लगन लगी है-इस कारण अनुभव में से बाहर आना रुचता नहीं है। ऐसे अनुभव के पंथ में लगकर-**बंध की जगति भानि**-ज्ञानी बंध के प्रकार को टाल देते हैं और-**मुकति करतु है।** मुक्ति प्राप्त करते हैं।

(जीव को) अनादि से पुण्य-पाप, दान, व्रतादि का वेदन था वह तो जहर का वेदन था और उससे तो कर्मबंध होता था। अब ज्ञानी उसका अभाव करके कर्मबंधन से मुक्ति का अनुभव करते हैं। जैनदर्शन का और सर्वज्ञ की वाणी का सार में सार यह है कि 'अपने स्वभाव को पहिचानकर उसका अनुभव करना'-यही सार में सार है।

इसप्रकार 49 वें कलश का 31 वां पद हुआ।

www.vitragvani.com

अब 50 वें कलश के 32वें पद में कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव कर्म का कर्त्ता है।

मिथ्यादृष्टि जीव कर्म का कर्त्ता है

निसि दिन मिथ्याभाव बहु, धरै मिथ्याती जीव।
तातैं भावित करमकौ, करता कह्यौ सदीव ।।32।।

अर्थ:- मिथ्यादृष्टि जीव सदैव मिथ्याभाव किया करता है, इससे वह भावकर्मों का कर्त्ता है।

भावार्थ:- मिथ्यात्वी जीव अपनी भूल से परद्रव्यों को अपना मानता है, जिससे मैंने यह किया, यह लिया, यह दिया इत्यादि अनेक प्रकार के रागादिभाव किया करता है, इससे वह भावकर्म का कर्त्ता होता है ।।32।।

काव्य - 32 पर प्रवचन

अहो! अत्यन्त अल्प शब्दों में भण्डार भर दिया है। जिसको दृष्टि अपने आनन्द और ज्ञायक स्वभाव पर नहीं है उसकी दृष्टि पुण्य-पाप के विकल्प और व्यवहार के राग पर है। इस कारण मिथ्यादृष्टि जीव सदैव मिथ्याभाव किया करता है। इसका कारण यह है कि उसकी दृष्टि में आत्मा नहीं आया है और राग पर ही उसकी दृष्टि है-इसकारण वह राग ही किया करता है। विकल्प का कर्त्ता होना ही अज्ञान है। उसका कर्त्ता अज्ञानी ही होता है। कर्म के कारण से विकल्प का कर्त्ता होता है, ऐसा नहीं है। वह अज्ञान से ही विकल्प का कर्त्ता होता है, अन्य कार्य तो वह कर नहीं सकता। व्यर्थ ही ऐसा मानता है कि मैंने पैसे कमाया और मैंने भाग कर दिया, मैंने दान में पैसा दिया-इसप्रकार अपने को अनेक प्रकार से पर के कार्यों का कर्त्ता मानता है; परन्तु यह जीव का कार्य नहीं है। जीव वैसा नहीं कर सकता।

अज्ञानी अनेक प्रकार से अपने को पर के कार्यों का कर्त्ता मानता हैं; परन्तु वह विकल्प से आगे बढ़कर अन्य कोई कार्य नहीं कर सकता-यह निर्णय सर्वप्रथम करना चाहिये।

(1) जीव पर के कार्य नहीं कर सकता।

(2) कर्म जीव को विकार नहीं कराता।

(3) द्रव्यस्वभाव से जीव विकार का कर्त्ता नहीं है; परन्तु अज्ञानभाव से जीव विकार का कर्त्ता होता है।

www.vitragvani.com

अज्ञानी जीव रात-दिन बदल-बदलकर विकल्प को ही किया करता है। विकल्प है वही राग-विकार है। ऐसा करुँ..ऐसा कर दूँ...मैंने यह लिया.. मैंने यह दिया..ऐसे अनेक प्रकार से मूढ़ अज्ञानी जीव राग का कर्त्ता होता है। ज्ञानी तो राग का कर्त्ता होता ही नहीं; कारण कि वह राग को अपने स्वरूप से भिन्न जानता है। अज्ञानी अपने स्वभाव को नहीं जानता और राग को अपना मानता है-इसकारण वह राग का कर्त्ता होता है।

यह नाटक समयसार शास्त्र है। इसके इस काव्य में यह बात सिद्ध की है कि मिथ्यादृष्टि जीव भावकर्म का कर्त्ता होता है। वस्तुत: राग आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिये राग आत्मा से भिन्न है; परन्तु मिथ्यादृष्टि राग को आत्मा से अभेद मानता है। उसको राग में अभेदपने का आग्रह है। इसकारण वह राग का कर्त्ता होता है। अर्थात् मिथ्यात्वभावरूपी विकल्प का कर्त्ता होता है।

जिसकी दृष्टि में अपने स्वभाव के अस्तित्व का अभाव है, वह राग के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मानकर उसका कर्त्ता होता है। उसको निज सत्ता स्वभाव का पता नहीं है, प्रेम नहीं है, उसका आदर नहीं है; परद्रव्य का आदर है-इसकारण पर को अपना मानकर विकल्प का कर्त्ता होता है, पर का तो कर ही नहीं कर सकता। उसको ज्ञानानन्दस्वरूप सत्ता का स्वीकार नहीं है, इसलिये जो व्रत, भक्ति, दान का अथवा जो हिंसादि पाप का विकल्प उत्पन्न होता है उसका वह कर्त्ता होता है।

वस्तुत: आत्मा परपदार्थ से पंगु है; क्योंकि आत्मा परपदार्थ से रहित है। आत्मा तो राग से भी रहित ही है; परन्तु अज्ञानी को अपना स्वरूप क्या है यह पता नहीं है-इस कारण वह राग को ही स्वरूप मानकर विपरीत अभिप्राय करके राग का कर्त्ता होकर राग को ही किया करता है।

अज्ञानी को ऐसा लगता है कि प्रत्यक्ष दिखता है कि मैं पर के कार्य करता हूँ और पर मेरा कार्य करता है...और तुम कहते हो कि आत्मा पर का कार्य नहीं करता... ? भाई ! तेरी नजर आत्मा पर नहीं है; इसलिये आत्मा की सत्ता में क्या हो रहा है, इसका तुझको पता नहीं है और पर की सत्ता में पर का कार्य हो रहा है, मेरे से नहीं इसका भी तुझको पता नहीं है। इस कारण जहाँ तक मैं पर का कर्त्ता हूँ, पर मेरे हैं-ऐसी मान्यता है वहाँ तक उसको विभाव का कर्त्ताकर्मपना नहीं मिटता है।

चैतन्य को चैतन्य का आनन्दरस नहीं है, वह राग के रस में डूब गया है-इस कारण राग

www.vitragvani.com

के रसिया का राग का कर्त्ता-कर्मपना नहीं छूट सकता। '**विकल्पक परे कर्त्ता**'-ऐसा शब्द पाठ में है न! परे अर्थात् वास्तव में। मिथ्यादृष्टि जीव भी पर को तो नहीं करता और यथार्थ ज्ञान भी नहीं करता, वह तो वास्तव में राग का ही कर्त्ता होता है।

कोई कहता है कि 'अपने को पर का कर्त्ता नहीं मानता वह दिगम्बर जैन नहीं है।' भाई! दिगम्बर जैन-यह तो वस्तु का स्वरूप है। उसको राग का वस्त्र भी नहीं होता। राग का कर्त्ता होने वाला भी दिगम्बर जैन नहीं है...ऐसी बात है, वहाँ पर के करने की बात तो दूर ही रह गई। वस्तु तो निजसत्ता-स्वभावरूप है, उसमें राग या पर का कर्तव्य नहीं होता; परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ही राग का कर्त्ता होता है। पर के कार्य करना तो जीव की मर्यादा से बाहर है। मिथ्यादृष्टि की मर्यादा इतनी है कि वह अनेक प्रकार के राग और द्वेष को करता है; परन्तु पर का करना तो उसकी भी मर्यादा से बाहर है और वह स्वभाव के कार्य को तो करता ही नहीं। इसकारण मात्र रागादि विकारीभाव को ही किया करता है- विकल्प ही किया करता है। चौबीसों घन्टें राग करना यह एक ही मिथ्यात्वी का कार्य है, इसके अतिरिक्त वह अन्य कार्य नहीं करता।

मिथ्यादृष्टि जीव अपनी भूल से परद्रव्यों को अपना मानता है। देखो! 'अपनी भूल से' पर को पर नहीं जानकर स्व मानता है; परन्तु पर कभी अपना नहीं होता; व्यर्थ अभिमान करता है। अज्ञानी मानता है कि हमारी होशियारी से यह दुकान व्यवस्थित चलती है। संत कहते हैं कि अरे! तेरे लक्खण (लक्षण) तो देख! ज्ञान को छोड़कर अज्ञान का कर्त्ता होता है। भाई! यह चिदानन्द वस्तुस्वभाव का काम नहीं है। धर्मी विकार का कर्त्ता नहीं होता।

70 वर्ष पहले हम दुकान पर बैठते थे, परन्तु मात्र व्यापार ही नहीं किया करते थे, शास्त्र भी बाँचते थे। उसमें द्रोपदी को विदेह का एक राजा अपहरण करके ले गया, उसे छुड़ाकर लाने के लिये पाँचों पाँडव श्रीकृष्ण के साथ वहाँ पहुँचे, वहाँ कृष्ण की शूरवीरता की परीक्षा नहीं की और वहाँ से आकर पांडवों ने श्रीकृष्ण की परीक्षा करने के लिये नौका नहीं भेजी, तब श्री कृष्ण क्रोधित होते हैं और द्रोपदी उनकी विनय करती है। यह सारा वृतान्त समझाय में बहुत सरस आता है।

प्रभुजी! विनवु गोद बिछाय के रोष निवारिये रे लाल...

प्रभुजी! मोटा होय दातार, बोले मुख मीठा रे लाल....

प्रभुजी! छोरु कुछोरू थाय, मावतर कुमावतरं न थाय...।

www.vitragvani.com

तब श्री कृष्ण द्रोपदी से कहते हैं कि द्रोपदी ! हमारी उठी हुई गदा वापिस नहीं होती। कृष्ण कोई साधारण पुरुष थोड़े ही थे। महापुरुष उल्टे पड़े तो भी शूरवीर और सुल्टे पड़े तो मोक्ष प्राप्त करलें ऐसे होते हैं। कृष्ण भी भविष्य में तीर्थंकर होने वाले हैं। यहाँ महा भगवान आत्मा भी विपरीत चले तो राग को अपना मानकर उसका कर्त्ता होता है और सम्यक् पुरुषार्थ करे तो स्वभावरूप परिणम जाता है, राग का कर्त्ता नहीं होता।

जैसे सट्टे के व्यापार वाले दिया-लिया, दिया-लिया-ऐसे किया करते हैं। उसी प्रकार अज्ञानी राग-द्वेष और राग-द्वेष किया ही करते हैं। मैंने दिया, मैंने लिया, मैंने खाया, मैंने पिया, मैंने इतने-इतने काम किये-ऐसे मिथ्या अभिमान का सेवन किया करते हैं। त्रिलोकनाथ परमात्मा जगत में जाहिर करते हैं कि तूने अज्ञानदशा में अशुद्ध भाव को ही किया है, अशुद्धभाव का ही कर्त्ता हुआ है। शुद्धभाव जो कि त्रिकाल तेरा स्वरूप है उसका तो तुझको पता ही नहीं है और जड़ कर्म तथा शरीरादि का तू कर ही नहीं सकता, इस कारण उनके कार्य भी तूने कभी नहीं किये हैं। तूने तो मात्र पुण्य-पाप विकारी भाव ही किये हैं। अनादि से अज्ञानी जीव ने यह एक ही कार्य किया है।

इस प्रकार यह 50 वें कलश का काव्य (32वों) हुआ। अब 51वें कलश का 33वाँ काव्य कहते हैं।

मिथ्यात्वी जीव कर्म का कर्त्ता और ज्ञानी अकर्त्ता है

करै करम सोई करतारा।
जो जानै सौ जाननहारा।।
जो करता नहि जानै सोई।
जानै सो करता नहि होई ।।33।।

अर्थः- जो कर्म करे वह कर्त्ता है, और जो जाने सो ज्ञाता है, जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं होता और जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं होता।

भावार्थः- मूढ़ और ज्ञानी दोनों देखने में एकसी क्रिया करते हैं, परन्तु दोनों के भावों में बड़ा भेद रहता है। अज्ञानी जीव ममत्वभाव के सद्भाव में बन्धन को प्राप्त होता है और ज्ञानी ममत्व के अभाव में अबंध रहता है ।।33।।

www.vitragvani.com

काव्य - 33 पर प्रवचन

मूल पाठ में यह स्पष्ट कहा है कि 'यः करोति स करोति केवल' जो राग को करता है वह अकेले राग को ही करता है। थोड़ा शुद्धभाव करता है और थोड़ा अशुद्धभाव करता है-ऐसा नहीं होता। भगवान को भूलकर भूल वाला जीव अकेली अशुद्ध परिणति को ही करता है। अज्ञानी परमानन्द को भूला हुआ जीव थोड़ा शुद्धभाव भी करता है और थोड़ा अशुभ राग भी करता है-ऐसा तीनकाल में नहीं होता। वह भले ही मानता है कि मैं शरीरादिक के कार्य करता हूँ; परन्तु जीव परद्रव्य के कार्य तो कर ही नहीं सकता; करे तो राग को करता है, अन्य पर को अथवा अपने शुद्धभाव के कार्य को अज्ञानी नहीं करता।

जिसने चैतन्य के शुद्ध द्रव्यस्वभाव को जाना, देखा और अनुभव नहीं किया है वह करे तो केवल अशुद्ध परिणति को ही करता है; परन्तु शुद्ध परिणति नहीं कर सकता। जिसने चैतन्य के शुद्ध द्रव्यस्वभाव को देखा, जाना और अनुभव किया है वह तो अकेले शुद्ध परिणाम को ही करता है, वह अशुद्ध परिणाम का कर्त्ता नहीं होता। संक्षिप्त में-'जाननेवाला मात्र जानता है और करनेवाला अकेले विकार को करता है।'

शुद्धात्मा को जाननेवाला ज्ञानी तो जानता है कि-'मैं तो सदा ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूँ। 'मेरे अस्तित्व में विकार-मलिनता का त्रिकाल अभाव हैं। मेरे स्वभाव में तो शुद्धता का सद्भाव है।' इस प्रकार जिसने जाना वह तो जाननेवाला ही रहता है, उसको रागादि होते हैं ऐसा कहना वह उपचार हैं। वस्तुतः तो वह जाननहार ही है। जो होता है उसको जाने, जो जाये उसको जाने, उदय को जाने, उदयभाव को जाने, निर्जरा को जाने-सबको जानता है। उसका ही नाम सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी है।

जिसको आत्मा का भान हुआ है वह सम्पूर्ण दुनिया का मात्र साक्षी रहता है। राग से लेकर जगत की समस्त दशाओं का केवल साक्षी है-दृष्टा मात्र है।

भगवान सर्वज्ञ के मुख से आई हुई यह वाणी है कि जो कोई राग का कर्त्ता होता है वह अकेला राग का कर्त्ता ही है, वह जाननहार नहीं रह सकता और जिसको ऐसा भासित हुआ है कि मैं अकेला जानने-देखनेवाला ही हूँ वह तीनकाल-तीनलोक का तथा रागादिक परिणाम का जाननेवाला ही रहता है, कर्त्ता नहीं होता।

कितनी स्पष्ट बात की है कि जो एक छोटे से छोटे राग का कर्त्ता होता है वह कर्त्ता ही है, वह विकार को ही करेगा; धर्म या वीतराग शान्ति को किंचितमात्र भी नहीं कर सकेगा और जो

www.vitragvani.com

स्वभाव के ज्ञान द्वारा ज्ञाता हुआ वह केवल ज्ञाता ही रहता है। वह छोटे-बड़े किसी राग का कर्त्ता नहीं होता।

तब प्रश्न होता है कि यदि ज्ञाता केवल ज्ञाता ही रहता है तो फिर सम्यग्दृष्टि चक्रवर्ती का 96 हजार रानियों से विवाह, तथा वह बड़े-बड़े महलों में रहता है, 16 हजार देव जिसकी सेवा करते हैं, मणि रत्न से जड़े हुए हीरे के सिंहासन पर बैठता है, जिसके मित्र इन्द्र होते हैं-यह सब आडंबर किसका ? ऐसा प्रश्न होता है; परन्तु ज्ञानी वास्तव में ज्ञाता है, उसको यह कोई आडंबर उपादेय नहीं है।

कल गोंडल से आये हुए मेहमानों में दीक्षा ली हुई बहिन भी थी। वे लोग कहते थे कि कुछ सुनाओ, तो कहा कि अन्दर में सम्यग्दर्शन के बिना धर्म की शुरूआत नहीं होती। यह मार्ग कोई अलौकिक ही है बापू ! राग और विकल्प से पार चैतन्य के अनुभव के बिना सम्यक्त्व नहीं होता और सम्यक्त्व के बिना धर्म का प्रारम्भ नहीं होता। यह बात हमने तो ढ़िढोंरा पीट-पीटकर कर की हैं, कोई गुप्त नहीं रखी है। सम्प्रदाय की दृष्टि छोड़कर हम साधु नहीं है-ऐसा कहनेवाले विरले भी कोईक होते हैं। वीतराग का मार्ग कोई जुदा है और लोग दूसरे प्रकार मात्र क्रियाकाण्ड में धर्म मान बैठे हैं।

अहा ! जिसको सम्यग्दर्शन हुआ है वह केवल ज्ञाता-दृष्टा है, उसको अशुद्धि का करना भी बिलकुल नहीं रहा है। जानने-देखने का परिणमन ही उसका है। राग का परिणमन उसका नहीं है। तथा जो केवल अशुद्ध परिणमन का ही कर्त्ता है वह अंश मात्र जाननेवाला नहीं रहता-उसको ज्ञाता की भूमिका प्रगट नहीं होती।

यह तो वीतराग त्रिलोकनाथ का संदेश है, संत तो बीच में आड़तिया होकर संदेश देते हैं। आहा..हा ! भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थंकर त्रिलोकनाथ को एकसमय में तीनकाल-तीनलोक का ज्ञान है, उनकी यह वाणी है। जो कर्म अर्थात् राग को करता है वह कर्त्ता है और जो जानता है वह ज्ञाता है। जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं होता और जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं होता।

जहाँ तक द्रव्य की दृष्टि का परिणमन नहीं था वहाँ तक अशुद्धि का परिणमन स्वभाव में न होने पर भी खड़ा हुआ था। जो उस अशुद्धि का ही कर्त्ता हुआ उसको शुद्धता का कुछ भान नहीं है; परन्तु जहाँ उसे स्वभाव का भान हुआ और शुद्धता का परिणमन हुआ वहाँ वह अशुद्धि को अपनी बिलकुल नहीं मानता। जैसे एक म्यान में दो तलवार नहीं रह सकती; उसीप्रकार राग का कर्त्ता भी हो और जाननेवाला भी रहे-ऐसे दो कार्य एक साथ नहीं हो सकते। राग आ जाने

www.vitragvani.com

पर इसको ऐसा लगता है कि यह राग आया; परन्तु मैं तो जाननेवाला हूँ, तो वह जाननेवाला नहीं है। जिसकाल में राग आया उसी काल में जाननहार नहीं रह सकता वह ज्ञाता नहीं है।

यह तो जीव के अपने घर की बात है। यह बात सुनकर भले ही तुरन्त सच्चा ज्ञान नहीं हो; परन्तु अज्ञानपने भी इसको ख्याल में तो आना चाहिये, अव्यक्तपने भी इसको रस तो आना चाहिये।

जो कर्त्ता होकर परिणमता है वह जाननहाररूप रह ही नहीं सकता-ऐसी बात है। इसको कठिन कहो या सरल कहो, परन्तु सिद्धान्त तो ऐसा है। जो अशुद्ध परिणमन का कर्त्ता होता है वह स्व अथवा पर किसी को नहीं जानता।

जिसकी दृष्टि जानन-देखनहार अस्तित्व में ही पड़ी है वह तो किंचित भी राग का कर्त्ता नहीं होता। वह तो व्यवहाररत्नत्रय के शुभ उपयोग को भी नहीं करता। पंचास्तिकाय में ऐसा आता हैं कि व्यवहाररत्नत्रय साधन है और निश्चयरत्नत्रय साध्य है; परन्तु उसका अर्थ वहाँ नीचे फुटनोट में स्पष्ट कर दिया है।

ज्ञानी 'वेत्ति' अर्थात् जानता है। वह कथंचित् अर्थात् कभी भी राग को करता नहीं है। अरे किन्तु! ज्ञानी को युद्ध का भाव आता है न? आता है; परन्तु वह ज्ञानी का भाव नहीं है। ज्ञानी उसका स्वामी नहीं है। यह वीतराग का मार्ग बाहर से कल्पना करके नहीं समझा जा सकता। वीतराग मार्ग तो कोई अलौकिक है। सौ इन्द्रों से पूजित ऐसे धर्मपिता की प्रणाली कोई अलौकिक है। अकेली वीतरागता खड़ी करते हैं। अस्थिरता का राग आता है धर्मी उसका भी जाननेवाला रहता है। उसके जाननेवाला रहते..रहते वह राग भी मिटकर अकेली वीतरागता-ज्ञानदशा हो जायेगी। इसलिये शास्त्र में कहा है कि जो कोई आत्मा का जाननेवाला होता है वह राग का किंचित भी कर्त्ता नहीं होता।

जो जाननेवाले में रहा है वह अशुद्धरूप नहीं परिणमता और जो अशुद्ध परिणमन में परिणमता है वह ज्ञाता नहीं रह सकता।

भावार्थ यह है कि मूढ़ और ज्ञानी दोनों की क्रिया देखने में एक समान लगती है; परन्तु दोनों के भावों में महान अन्तर है। अज्ञानी जीव ममता भाव के सद्भाव में बंधन पाता है और ज्ञानी ममत्व के अभाव में अबंध रहता है।

www.vitragvani.com

वस्तुत: पकड़ पकड़ में अन्तर होता है। जैसे बिल्ली मुंह से अपने बच्चे को पकड़ती है और चूहे को भी पकड़ती है; परन्तु पकड़ में अन्तर होता है। बच्चे को तो अत्यन्त सावधानी से पकड़ती है जबकि चूहे को तो दबोचकर पकड़ती है। बाहर से तो मात्र पकड़ना दिखता है। इसीप्रकार बाहर से तो ज्ञानी और अज्ञानी को समस्त क्रियायें समान दिखती हैं; परन्तु दोनो के भावों में महान अन्तर होता है। अज्ञानी राग में रचकर काम करता है और ज्ञानी ज्ञाता में रहकर काम करता है।

अज्ञानी को सूक्ष्म विकल्प से लेकर प्रत्येक प्रकार के रागादिक में ममत्व होने से उसको कर्म का बंधन होता है और ज्ञानी को तो देखने-जाननेरूप स्वभाव में अहं और ममत्व होने से वह राग में ममता नहीं करता-इसकारण बँधता नहीं है। वह तो अबंध परिणाम को उत्पन्न करता है।

अब श्लोक 52 वें के पद 34 वें में कहते हैं कि जो ज्ञानी है वह कर्त्ता नहीं है।

जो ज्ञानी है वह कर्त्ता नहीं है

ग्यान मिथ्यात न एक, नहि रागादिक ग्यान महि।
ग्यान करम अतिरेक, ग्याता सो करता नहीं ।।34।।

अर्थ:- ज्ञानभाव और मिथ्यात्वभाव एक नहीं हैं और न ज्ञान में रागादिभाव होते हैं। ज्ञान से कर्म भिन्न है, जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है ।।34।।

काव्य - 34 पर प्रवचन

ज्ञानमात्र भाव और मिथ्यात्वभाव एक नहीं है और न ज्ञान में रागादि भाव होते हैं। ज्ञान से कर्म भिन्न है, जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं है।

स्वभावभाव और विभावभाव भिन्न-भिन्न है। स्वभावभाव में विभावभाव नहीं होता और विभावभाव में स्वभावभाव नहीं होता। ज्ञानभाव और विकल्प को किसी प्रकार से मेल नहीं है।

देखो! स्त्री, पुत्रादि, व्यापार, धनादिक तो स्वभाव से भिन्न ही है; परन्तु ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव में विभाव भी उससे भिन्न है-ऐसा कहा है। जहाँ ज्ञानभाव परिणमा वहाँ रागभाव होता ही नहीं। इसकारण जहाँ ज्ञाता-धर्मी हुआ वहाँ मिथ्यात्वरूप राग का परिणमन होता ही नहीं-ऐसा ही वस्तु का स्वत: स्वभाव है।।34।।

अब 53 वें श्लोक का 35 वां पद कहते हैं।

www.vitragvani.com

जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है

करम पिंड अरु रागभाव, मिलि एक हौंहि नहि।
दोऊ भिन्न-सरूप बसहिं, दोऊ न जीवमहि ।।
कमरपिंड पुग्गल, विभाव रागादि मूढ़ भ्रम।
अलख एक पुग्गल अनंत, किमि धरहि प्रकृति सम ।।
निज निज विलासजुत जगतमहि,
जथा सहज परिनमहि तिम।
करतार जीव जड़ करमकौ,
मोह-विकल जन कहहि इम ।।35।।

अर्थः- ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और राग-द्वेष आदि भावकर्म ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाववाले हैं, मिलकर एक नहीं हो सकते, और न ये जीव के स्वभाव हैं। द्रव्यकर्म पुद्गलरूप हैं और भावकर्म जीव के विभाव हैं। आत्मा एक है और पुद्गलकर्म अनंत हैं, दोनों की एक सी प्रकृति कैसे हो सकती है? क्योंकि संसार में सब द्रव्य अपने अपने स्वभाव में परिणमन करते हैं इसलिये जो मनुष्य जीव को कर्म का कर्त्ता कहते हैं सो केवल मोह की विकलता है।।35।।

काव्य - 35 पर प्रवचन

ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म और राग-द्वेषादि भावकर्म ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं, मिलकर एक नहीं हो सकते और ये जीव के स्वभाव भी नहीं है। द्रव्यकर्म पुद्गलरूप है और भावकर्म जीव का विभाव है। आत्मा एक है और पुद्गलकर्म अनन्त हैं, दोनों की प्रवृत्ति एक समान कैसे हो सकती है? कारण कि संसार में समस्त द्रव्य अपने-अपने स्वभाव में परिणमन करते हैं। इसकारण जो मनुष्य जीव को कर्म का कर्त्ता कहते हैं यह मोह की विकलता है।

इस कलश में 'जीव कर्म का कर्त्ता नहीं है' यह बात समझाई है। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय आदि आठ प्रकार के कर्म हैं उन्हें जीव नहीं करता। जीव ज्ञान की आशातना आदि भाव को करता है; क्योंकि वह भाव तो जीव में रहते हैं और ज्ञानावरणादि कर्म तो पुद्गल की अवस्था है उसे जीव नहीं कर सकता। जीव के भाव-मिथ्यात्व, रागादि का अस्तित्व जीव की दशा में है और कर्म का अस्तित्व पुद्गल की दशा में है; जीव और कर्मपिण्ड मिलकर कभी एक नहीं होते।

जीव अज्ञानदशा में जैसे राग-द्वेष-मोहभाव को करता है, ऐसे ही कर्म, उसीसमय जीव के साथ बँधते हैं; परन्तु जीव के भाव उन कर्मों के कर्त्ता नहीं है। जीव अपने स्वभाव के भान

www.vitragvani.com

बिना मिथ्यात्व-राग-द्वेषादिक भावों को करता है। 'मैं तो ज्ञाता-दृष्टा आनन्दस्वभावी हूँ'- ऐसी स्व-सन्मुखता के भान बिना अनेक प्रकार के विभाव भावों को करता है; परन्तु इनकी और कर्म की जाति अलग हैं। इसकारण विभाव और कर्म जात दोनों मिलकर एक नहीं हो जाते।

'तत्वार्थसूत्र' में तो आता है कि जीव छह कारणों से ज्ञानावरणी कर्म बाँधता है-इत्यादि; परन्तु यह सब निमित्त के कथन है। जीव जैसे अपने भाव को करता है वैसे कर्म के भाव को जीव नहीं करता। कारण कि कर्म तो पुद्गल के रजकणो के पिण्ड की अवस्था है- पुद्गल द्रव्य की पर्याय है और जीव के राग-द्वेष-मोहादि भाव हैं- ये दोनो कभी एकसेफ नहीं होते। जीव अपने से भिन्न द्रव्य की पर्याय को कैसे कर सकता है? जीव विकारभाव को करे और वह विकारभाव कर्म को बांधे- ऐसा नहीं होता और कर्म जीव के विकारभाव को करे- ऐसा नहीं होता; कारण कि कर्म की अवस्था कर्म में है और जीव की अवस्था जीव में है। दोनो की अवस्थायें मिलकर एक नहीं होती। इसलिये न तो जीव कर्म को करता है और न कर्म जीव के भाव को करते हैं।

कर्म और विकार दोनो '**भिन्न सरूप बसहि।**' कर्म रूपीपने रहते हैं और विकार अरूपीपने रहता है। दोनों का स्वरूप ही भिन्न है। विकार जीव की पर्याय में रहता है; परन्तु वह जीव का स्वरूप नहीं है। मूढ़ जीव का भ्रम है। '**अलख एक पुग्गल अनन्त, किमि धरहि प्रकृति सम।** अलख अर्थात् आत्मा तो एक है और पुद्गल तो (कर्म तो) अनन्त हैं, दोनो की जाति ही अलग है। उनका स्वभाव एक कैसे हो सकता है? जीव अपने भाव को करे और अनन्त पुद्गल के भाव को भी करे, तो इसप्रकार अनेक द्रव्यों के परिणाम को एक जीव कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता। जीव जैसे भाव करता है वैसे ही कर्म बँधते है; परन्तु जीव इस कर्म बंध का कर्त्ता नही है। यह बात तो एकदम स्थूल होने पर भी जैनियों को समझ में नहीं आती है।

आत्मा 'एक' है- ऐसा कहा उसमें आत्मा एक द्रव्य है यह कहना है। आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है, रागरूप नहीं यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो आत्मा एक द्रव्य है और कर्म तो अनन्त पुद्गल द्रव्यों का पिंड है, तो एक आत्मा अनन्त पुद्गल द्रव्यों की पर्याय को कैसे कर सकता है? कर ही नहीं सकता- ऐसा समझाना हैं। जीव भाषा की पर्याय को भी नहीं करता; क्योंकि भाषा तो पुद्गल की पर्याय है। 'हाँ' अज्ञानी जीव अपने राग भाव को करता है। ज्ञानी तो राग भाव को भी जानता है, करता नहीं।

www.vitragvani.com

जैसे हाथी चक्कर खावें वहाँ भेड़ तो चक्कर खाती ही है। उसीप्रकार बड़े-बड़े विद्वान कहलानेवाले लोग भी जहाँ चक्कर खाते हैं (वस्तुव्यवस्था को नहीं समझ पाते) वहाँ सामान्यजनों का तो क्या कहना! तो भी समझना चाहे तो समझ में आ सकने योग्य बात है।

यहाँ तो इतना ही कहना है कि जीव का संसारभाव कर्म को नहीं करता और कर्म जीव के संसारभाव को नहीं करते। जीव अपने संसारभाव को भी करे और कर्म को भी करे-इसप्रकार एक जीव दो द्रव्यों के भाव को नहीं कर सकता। **'निज-निज विलासजुत जगतमाहिं।'** परमाणु परमाणु के विलास की अवस्था को करता है और अज्ञानी जीव अपनी भ्रमरूप अवस्था को करता है; परन्तु कर्म की अवस्था को जीव नहीं करता है।

अब इसमें 'पर का कार्य नहीं करे वह दिगम्बर जैन नहीं है'-यह बात कहाँ रही? तुम यह मानते हो कि इस जगत में अनन्त द्रव्य है, तो अनन्त द्रव्य अपनी-अपनी अवस्था को किये बिना नहीं रहते। आत्मा आत्मा के भावरूप से और कर्म कर्म के भावरूप से परिणमते हैं। यहाँ आत्मा के भाव में 'विकार भाव' को लिया है।

'करतार जीव करम कौ, मोह विकलजन कहहि इम।' जीव कर्म को करता है-यह मूर्ख-मिथ्यादृष्टिजनों का भ्रम है-मोह की विकलता अर्थात् पागलपन है। वजन तौलने के काँटे में जितना वजन रखा हो काँटा उस अनुसार वजन बताता है, उसीप्रकार जीव जैसे भाव करता है उसीप्रकार के कर्म बँधते हैं- ऐसा कर्म का अपना स्वभाव है, जीव उसे नहीं करता।

जब जीव कर्म को भी नहीं करता, तो फिर घर का, दुकान का, सगे-सम्बन्धियों का काम जीव करे यह बात ही कहाँ रही? तू ईश्वर को जगत कर्त्ता तो नहीं माने; परन्तु अपने को कर्म का अथवा परद्रव्य का कर्त्ता माने तो दोनों में अन्तर क्या पड़ा? जो वस्तु सत् है उसका कर्त्ता अन्य द्रव्य नहीं हो सकता और जो वस्तु नहीं है, वह तो होती ही नहीं। जो 'है' उसको करे कौन और नहीं हो वह होवे कैसे? जो वस्तु है वह स्वयं ही अपने भाव को करती है।

अरे! जब एक परमाणु दूसरे परमाणु के भाव को नहीं कर सकता, तो जीव तो परमाणु के भाव को कैसे कर सकता है? जगत में अनन्त द्रव्य हैं। वे प्रत्येक अपनी अपनी अवस्था को करते हैं। इसलिये मैं किसी के भाव को नहीं करता; परन्तु सबको जानता हूँ। कारण कि 'जानना' मेरा भाव है।

आत्मा अनन्त द्रव्यों को एक समय में जानता है- यह सिद्धान्त सुनकर किसी को ऐसा प्रश्न उत्पन्न होता है कि ज्ञान में सब ज्ञात हो जाता है तो इन द्रव्यों का अन्त भी आ गया न? जैसे

www.vitragvani.com

कि ज्ञान ने आकाश के सम्पूर्ण क्षेत्र को जाना, तो क्षेत्र का अन्त भी जाना होगा न ?-नहीं भाई ! ऐसा नहीं है। वस्तु जैसी है वैसी ज्ञान में ज्ञात होती है। जब क्षेत्र का अन्त ही नहीं है तो ज्ञान भी ऐसा ही जानता है कि इस क्षेत्र का अन्त नहीं है। आकाश है..है..है-ऐसा ज्ञात होता है।

यही तो इस ज्ञान का रहस्य है कि अनन्त द्रव्यों को जाने, अनादि-अनन्तकाल को जाने, अनन्त क्षेत्र को जाने, द्रव्य में रहने वाले अनन्तगुणों को जाने; परन्तु इससे कोई वस्तु का अन्त नहीं आ जाता। आत्मा में राग का अन्त आकर रागरहितदशा हो जाती है। अनन्त को अनन्तरूप से जानना तो ज्ञान का स्वभाव है। वह भी पर है इसलिए पर को जानता है- ऐसा नहीं है। ज्ञान की अस्ति पर के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अस्ति से नहीं है। ज्ञान स्वयं से अनन्त को अनन्तरूप जानता है- ऐसी ज्ञान की कोई अजब शक्ति है और ऐसी अनन्त शक्तिवाला मेरा तत्व है-ऐसा जिसको अन्तर प्रतीति में आता है उसको राग की एकता का अभाव हुए बिना नहीं रहता और स्वभाव की एकता हुए बिना नहीं रहती।

अहो ! मैं तो सर्वज्ञ स्वभावी-सर्व को जानने के स्वभाववाला हूँ। बेहद तत्व को बेहदरूप से मैं जान सकूँ- ऐसा मेरा स्वभाव है। इसप्रकार जहाँ स्वभाव को मानता है वहाँ (पर व राग से) भिन्न पड़े बिना नहीं रहता। यह बात मात्र धारणा में आनेवाले को 'मैं राग का और कर्म का कर्त्ता नहीं हूँ'-यह बात कहने का अधिकार नहीं है। मैं क्षेत्र से भले ही छोटा (असंख्यात प्रदेशी) होने पर भी अपरिमित्त ज्ञानस्वभावी हूँ- ऐसा जब ज्ञान में भासित होता है तब वह जीव राग का और पर का अकर्त्ता होता है। वह जीव 'मैं राग का और पर का कर्त्ता नहीं हूँ'-यह कहने का अधिकारी होता है।

यहाँ तो कहते हैं कि जीव सहजरूप से अपनी अवस्था काल से परिणमता है तो वह पर की अवस्था को तो कैसे करे ? 'मैं पर का करता हूँ'-यह तो मोही मिथ्यादृष्टि का भ्रमभाव-पागलभाव है। अनादि से घोर मोह निद्रा में सोया हुआ जीव ही 'मैं पर का करता हूँ'-ऐसा मानता है। जीव अपने भाव को करता है यह तो अपना विलास है; परन्तु साथ ही जीव जड़ कर्मों की अवस्था भी करता है- ऐसा कभी नहीं होता है।

इसप्रकार यह काव्य हुआ।

अब 54 वें कलश में (काव्य-36 वें मे) शुद्धात्मानुभव का माहात्म्य बताते हैं। उसमें कहेंगे कि जो कर्म का कर्त्ता नहीं होता वह मिथ्यात्व को भी नहीं करता।

www.vitragvani.com

शुद्ध आत्मानुभव का माहात्म्य

जीव मिथ्यात न करै, भाव नहि धरै भरम मल।
ग्यान ग्यानरस रमै, होइ करमादिक पुदगल ।।
असंख्यात परदेस सकति, जगमगै प्रगट अति।
चिदविलास गंभीर धीर, थिर रहै विमलमति ।।
जब लगि प्रबोध घटमहि उदित,
तब लगि अनय न पेखिये।
जिमि धरम-राज वरतंत पुर,
जहं तहं निति परेखिये ।।36।।

अर्थः- जीव मिथ्याभाव को नहीं करता और न रागादि भावमल का धारक है। कर्म पुद्गल हैं और ज्ञान तो ज्ञानरसही में लीन रहता है, उसकी जीव के असंख्यात प्रदेशों में स्थिर, गंभीर, धीर, निर्मल ज्योति अत्यन्त जगमगाती है, सो जब तक ज्ञान हृदय में प्रकाशित रहता है, तब तक मिथ्यात्व नहीं रहता। जैसे कि नगर में धर्मराज वर्तने से जहां-तहां नीति ही नीति दिखाई देती है, अनीति का लेश भी नहीं रहता ।।36।।

काव्य - 36 पर प्रवचन

भगवान ज्ञानस्वभावी प्रभु भ्रमणा को कैसे करे? जीव को कर्म का कर्त्तापना तो नहीं है; परन्तु भ्रमणा का कर्त्तापना भी अज्ञानी जीव बलजोरी से मानता है; वस्तुतः कर्त्ता नहीं होने पर भी मानता है। ज्ञानी तो जानता है कि 'मैं रागादिभावों का करने वाला नहीं हूँ।' देखो! पर का कर्त्ता होने की बात तो दूर ही रही, आत्मा राग का भी कर्त्ता नहीं है-इस कारण हम राग का कर्त्ता माननेवाले को भी आत्मा नहीं कहते। मूल भगवान को भूलकर बात करनेवाले की बात को ज्ञानी कैसे माने? आत्मा में तो ज्ञान का रस है। आया है न-**'ग्यान ग्यान रस रमे!'**

जहाँ तक बहिर्मुख भाव हैं वहाँ तक अज्ञानी जीव बहिर्मुख भाव को तो करता है; कर्म को नहीं करता और जहाँ अपना स्वरूप समझ में आया तो जाना कि मेरे ज्ञानरस में तो बहिर्मुखभाव का प्रवेश ही नहीं है। मेरा ज्ञानानन्द स्वभावी आत्मा ज्ञान और आनन्द को तो करता है; परन्तु मेरा आत्मा विकल्प को नहीं करता। जिसकी एक-एक शक्ति का माप अनन्त है-ऐसी अनन्त जिसकी श्रद्धा, अनन्त जिसके ज्ञान का माप, अनन्त जिसके आनन्द का माप-ऐसी अनन्त

www.vitragvani.com

अपरिमित शक्तियों वाला तत्व राग को कैसे करे? अनन्त स्वभाव का धारक महाप्रभु विभाव को कैसे करे?

पूर्व काव्य में एक आत्मा अनन्त पुद्गल पिंड-कर्म को कैसे करे?-यह बात आई थी। अब पलटकर इस श्लोक (काव्य) में कहा कि अनन्त-अनन्त शुद्ध स्वभाव का धारक आत्मा रागादि मेल (मलिनता) को कैसे करे? यह संतों का पुकार है। वे ढिंढ़ोरा पीटकर जगत को जाहिर करते हैं कि वस्तुस्वरूप इसप्रकार है। उन्होंने कुछ भी गुप्त नहीं रखा है। बेहद-अपरिमित्त स्वभाव का सागर भगवान आत्मा परिमित अर्थात् एक समय की भूलरूप भ्रमणा को कैसे करे?

आत्मा पर का काम नहीं कर सकता, दवा नहीं ले सकता, इंजेक्शन नहीं ले सकता, बोल नहीं सकता, चल नहीं सकता, खा नहीं सकता -यह सब श्रद्धा में आया हो तो अब कहते हैं कि आगे बढ़! आत्मा अपरिमित ज्ञानस्वभावी है-इसकारण अपरिमित्त क्षेत्र, काल, भाव वाले द्रव्यों को अपरिमित्त ज्ञानस्वभाव से जानता है; परन्तु मिथ्यात्व को नहीं करता। बेहद ज्ञान करनेवाला तत्व विभाव के क्षणिक भाव को कैसे करे? व्रत, तप, दया, दानादि भाव को आत्मा नहीं करता; क्योंकि वह तो अज्ञान भाव है। एक समयवर्ती चेतन का अंश है उसको बेहद स्वभावी आत्मा कैसे करे? जो स्वभाव में नहीं है ऐसे मिथ्याभ्रम और कृत्रिम राग को वह कैसे करे? आत्मा त्रिकाल रहनेवाले भाव को छोड़कर रागादि क्षणिक भाव को नहीं करता।

लोगों को लगता है कि यह तो नये प्रकार का धर्म है; परन्तु (भाई!) आत्मा का धर्म तो अनादि का है, इसको कभी जाना नहीं था, इसलिये नया लगता है। आचार्य अमृतचन्द के समयसार कलशों पर राजमलजी ने टीका लिखी है; उसके आधार से पंडित बनारसीदासजी ने सादी भाषा में पद्यमय नाटक समयसार की रचना की है। इस नाटक की चर्चा तो घर-घर में होने लगती हैं-ऐसा अन्त में प्रशस्ति के पद में आता है।

भारी चीज के ऊपर हल्की चीज रह सकती है, परन्तु हल्की चीज के ऊपर भारी चीज नहीं रह सकती। उसीप्रकार कर्त्ताबुद्धि रहित हल्के आत्मा के ऊपर मिथ्यात्व का भार नहीं रह सकता। शुद्ध चैतन्यघन निर्मल वस्तु मलिनभाव को धारण कैसे करे? श्रीखण्ड खाने वाला मल को कैसे खाये? मोती के दाने-चुगनेवाला हंस ज्वार के दाने नहीं खाता। इसीप्रकार ज्ञानशक्ति तो ज्ञान में रमे, न तो वह विभाव में रमती है और न राग को करती- धरती है। स्वभाव में रमे ऐसा आत्मा का स्वरूप है।

www.vitragvani.com

देखो! राग में रमे-ऐसा नहीं कहा। आत्मा राग को करता भी नहीं और धरता भी नहीं। आत्मा ज्ञानरस में रमता है तो कर्मादिक भी सामान्य पुद्गल रूप हो जाते हैं। ज्ञान प्रकाश होने पर कर्म पुद्गलरूप (अकर्मरूप) हो जाता है। ज्ञान ने अज्ञान का वेष धारण किया था वह छूटने पर पुद्गल ने कर्म का वेष धारण किया था उसे छोड़कर वह पुद्गलरूप-अकर्मरूप हो जाता है।

भगवान आत्मा शरीर प्रमाण (शरीर जितना) अरूपी असंख्यात प्रदेशों का पिण्ड है। अर्थात् आत्मा का क्षेत्र असंख्यात प्रदेशी है उसमें स्वयं रमता है। अनन्त गुणों का धारक असंख्यात प्रदेशी आत्मा का भान होने पर असंख्यात प्रदेशों में ज्ञानज्योति झगमगाने लगती है। जब आत्मा राग का कर्त्ता होता था तब पर्याय में चैतन्य ज्योति ढक जाती थी। (प्रगट नहीं होती थी) अब वह पर्याय में झगमगाने लगी। ब्रह्माण्ड का नाथ, ब्रह्माण्ड को जाननेवाला ब्रह्माण्ड में प्रवेश नहीं करनेवाला ब्रह्मानन्दी आत्मा झगमग होने लगता है।

'अप्पा सो परमप्पा'-आत्मा ही परमात्मा है आत्मा में परमात्मशक्ति है वह प्रकट कर बाहर आती है। जो शक्ति में है वही प्रकट होती है, बाहर से कुछ नहीं आता। दर्शन, ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा आदि शक्तियों की अभिव्यक्ति से आत्मा झगमगाने लगता है-विलास करता है। **'चिद्विलाास गंभीर धीर, थिर रहे विमलगति।'**-जो राग की रमणता छोड़कर ज्ञान में आया उसका ज्ञानविलास ही आत्मा है, वह ज्ञानरस में रमता है, उसका विलास बहुत गहरा और गंभीर है। ज्ञान की दशा में अनंतता आ गई है, तथापि धीर है, शान्त है।

देखो! इस सम्यग्दर्शन में-आत्मा के भान में ऐसी दशा होती है-ऐसा कहते हैं। जहाँ राग से दृष्टि हटकर दृष्टि स्वभाव पर गई वहाँ चैतन्य के असंख्यात प्रदेश झगमगाने लगते हैं। अनन्त गुणों की पर्यायें प्रकट हो गई हैं। ज्ञानपर्याय रूपी 'धी' (बुद्धि) अखण्ड पूर्ण प्रभु को ध्येय बनाकर उसके सन्मुख हुई है, इसलिये वह धीर है और गंभीर है। ज्ञान की दशा में अनंतता आ गई है, तथापि धीर है, शान्त है।

अरे! इसने कभी स्वभाव के गीत भी नहीं सुने हैं। महाव्रत पालो, भक्ति करो, और सिद्धगिरी शत्रुजंय की यात्रा करो इससे तुम्हारा कल्याण हो जायेगा- ऐसी बात सुनी है; परन्तु यह तो शुभराग है। यह भाव होता है; परन्तु इससे कुछ धर्म होता है-ऐसा नहीं है। ज्ञानी को भी शुभभाव तो होता है; परन्तु वह पुण्य बंध का कारण है, संवर-निर्जरा का कारण नहीं है। 'भगवान के दर्शन से आस्त्रव घटता है और संवर बढ़ता है'-यह भगवान के वचन नहीं है। ज्ञानी को अस्थिरता न मिटे वहाँ तक शुभभाव होता है-आता है, हो जाता है; परन्तु उससे संवर नहीं होता।

www.vitragvani.com

उसके अन्तर में चैतन्यज्योति झगमगाती रहती है-स्थिर रहती है वह चिद्विलास है।

'जब लगि प्रबोध घटमाहि उदित।' जहाँ तक अन्दर में ज्ञानस्वरूप का भान वर्तता है वहाँ अन्याय अर्थात् मिथ्यात्व अन्दर में प्रविष्ट नहीं हो सकता। यहाँ मिथ्यात्व को ही अन्याय कहते हैं। जहाँ ज्ञान का प्रकाश हैं वहाँ मिथ्यात्व का अंधकार नहीं होता। जैसे धर्मराज अर्थात् राम के राज्य में कहीं अनीति का नाम नहीं था। जहाँ देखो वहाँ नीति...नीति और नीति ही दिखती है, ऐसा पुरुषोत्तम पुरुष राम का राज्य था। इसी प्रकार इस चैतन्य राजा के राज्य में भ्रम का प्रवेश नहीं हो सकता। जहाँतक प्रबोध अर्थात् सम्यग्ज्ञान रहे वहाँतक मिथ्यात्व नहीं आ सकता। भ्रम की ताकत नहीं है कि ब्रह्म में आ सके।

अनन्त गुणों का धाम प्रभु चैतन्यस्वरूप भगवान जहाँ राग से भिन्न पड़कर अपने भान में आया वहाँ उसको अन्याय और मिथ्यात्व नहीं हो सकता।

इस प्रकार यह काव्य पूर्ण हुआ।

अब इस अधिकार का सार कहेंगे।

तृतीय अधिकार का सार

करना सो क्रिया, किया जाय सो कर्म, जो करे सो कर्त्ता है। अभिप्राय यह है कि जो क्रिया का व्यापार करे अर्थात् काम करने वाले को कर्त्ता कहते हैं, जिसमें क्रिया का फल रहता है अर्थात् किये हुए काम को कर्म कहते हैं, जो (करतूति) कार्रवाई की जावे उसे क्रिया कहते हैं। जैसे कि कुंभकार कर्त्ता है, घट कर्म है और घट बनाने की विधि क्रिया है। अथवा ज्ञानीराम आम तोड़ता है, इस वाक्य में ज्ञानीराम कर्त्ता, आम कर्म और तोड़ना क्रिया है।

स्मरण रहे कि ऊपर के दो दृष्टान्तों से जो स्पष्ट किया है वह भेद-विवक्षा से है, क्योंकि कर्त्ता कुंभकार पृथक् पदार्थ है, कर्म घट पृथक् पदार्थ है, घट सृष्टि की क्रिया पृथक् है। इसी प्रकार दूसरे वाक्य में ज्ञानीराम कर्त्ता पृथक् है, आम कर्म पृथक् है और तोड़ने की क्रिया पृथक् है। जैसे भेद-व्यवहार में कर्त्ता-कर्म-क्रिया भिन्न भिन्न रहते हैं, वैसे अभेद-दृष्टि में नहीं होते-एक पदार्थ में ही कर्त्ता-कर्म-क्रिया तीनों रहते हैं। जैसे कि "चिद्भाव कर्म चिदेश करता चेतना किरिया तहाँ" अर्थात् चिदेश आत्मा कर्त्ता, चैतन्यभाव कर्म और चेतना (जानना) क्रिया है; अथवा मृत्तिका कर्त्ता, घट कर्म और मृत्तिका का पिंडपर्याय से घटपर्यायरूप होना क्रिया है। इस अधिकार में कर्त्ता-कर्म-क्रिया शब्द कहीं भेद-दृष्टि से और कहीं अभेद-दृष्टि से आये हैं, सो खूब गहन विचार पूर्वक समझना चाहिये।

www.vitragvani.com

अज्ञान की दशा में जीव शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ प्रवृत्ति को अपनी मानता है और उनका कर्त्ता आप बनता है, परन्तु खूब ध्यान रहे कि लोक में अनंत पौद्गलिक कार्माण वर्गणाएँ भरी हुई हैं, इन कार्माण वर्गणाओं में ऐसी शक्ति है कि आत्मा के राग-द्वेष का निमित्त पाकर वे कर्मरूप हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानावरणीय आदि कर्म पुद्गलरूप हैं, अचेतन हैं, पुद्गल ही इनका कर्त्ता है-आत्मा नहीं है; हां, राग-द्वेष-मोह आत्मा के विकार हैं। ये आत्म-जनित हैं या पुद्गल-जनित हैं, इसका बृहद्द्रव्यसग्रंह में बड़ा अच्छा समाधान किया है। वह इस प्रकार है कि-जैसे संतान को न तो अकेली माता ही से उत्पन्न कह सकते हैं और न अकेले पिता ही से उत्पन्न कह सकते हैं, किन्तु दोनों के संयोग से संतान की उत्पत्ति है। उसी प्रकार राग-द्वेष-मोह न तो अकेला आत्मा उपजाता है और न अकेला पुद्गल ही उपजाता है, जीव और पुद्गल दोनों के संयोग से राग-द्वेष-मोह भावकर्म की उत्पत्ति है, यदि अकेले पुद्गल से राग-द्वेष-मोह उत्पन्न होते तो कलम, कागज, ईंट, पत्थर आदि में भी राग-द्वेष-मोह पाये जाते; यदि अकेले जीव से उत्पन्न होते तो सिद्ध आत्मा में भी राग-द्वेष-मोह पाये जाते। अधिक लिखने से क्या ? राग-द्वेष-मोह पुद्गल और आत्मा दोनों के संयोग से हाते हैं, जीव-पुद्गल परस्पर एक-दूसरे के लिये निमित्त-नैमित्तिक हैं, परन्तु यह ग्रंथ निश्चयनय का है, सो यहाँ राग-द्वेष-मोह को पुद्गलजनित बतलाया है, ये आत्मा के निजस्वरूप नहीं हैं। इसी प्रकार शुभाशुभ क्रिया पौद्गलिक कर्मों के उदय से जीव में होती है, अत: क्रिया भी पुद्गलजनित है। सारांश यह है कि शुभाशुभ कर्म व शुभाशुभ क्रिया को आत्मा का मानना और उन दोनों का कर्त्ता जीव को ठहराना अज्ञान है। आत्मा तो अपने चिद्भाव कर्म और चैतन्य क्रिया का कर्त्ता है, और पुद्गल कर्मों का कर्त्ता पुद्गल ही है। मिथ्यात्व के उदय से जीव साता-असाता आदि कर्म और दया, दान, पूजा व विषय-कषाय आदि शुभाशुभ क्रिया में अहंबुद्धि करता है कि मेरे कर्म हैं, मेरी क्रिया है, यह मिथ्याभाव है, बंध का कारण है, बंध परम्परा को बढ़ाता है; और शुभाशुभ क्रिया में अहंबुद्धि नहीं करना अर्थात् उन्हें अपनी नहीं मानना, और उनमें तन्मय नहीं होना सम्यक् स्वभाव है-निर्जरा का कारण है।

तृतीय अधिकार के सार पर प्रवचन

अब, तीसरे अधिकार का सार कहते है। उसमें प्रथम क्रिया, कर्म और कर्त्ता की व्याख्या करते हैं।

www.vitragvani.com

करना वह क्रिया, करने में आवे वह कर्म और जो करता है वह कर्त्ता है। अभिप्राय यह है कि जो क्रिया का व्यापार करता है वह कर्त्ता है। अर्थात् कार्य करनेवाले को कर्त्ता कहते हैं। जिसमें क्रिया का फल रहता है, अर्थात् किये गये काम को कर्म कहते हैं। जो काम करने में आता है उसको क्रिया कहते हैं। जैसे कि कुम्भकार कर्ता है, घड़ा कर्म है और घड़ा बनाने की विधि क्रिया है। अथवा ज्ञानीराम आम तोड़ता है, इस वाक्य में ज्ञानीराम कर्त्ता, आम कर्म और तोड़ना क्रिया है।

किसी भी पदार्थ में पलटने की क्रिया करना वह 'क्रिया' है और जो किया जाता है वह 'कर्म' अथवा 'कार्य' कहलाता है। (यहाँ कर्म से जड़कर्म-द्रव्यकर्म नहीं समझना चाहिये) और जो इस पलटने की क्रिया को करता है वह 'कर्त्ता' है। विशेष स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसमें पलटने का फल आता है -कार्य होता है, उस कार्य को कर्म कहते हैं। वह वस्तु चेतन हो या अचेतन हो, परन्तु उसके कार्य को कर्म कहते हैं। यह तो अकेले सिद्धान्त हैं! पूर्व में सातवें काव्य में आ गया है कि कर्त्ता, कर्म और क्रिया तीनों एक ही वस्तु में है, उनके नाम तीन हैं।

कर्त्ता परिणामी द्रव्य, कर्मरूप परिणाम,
क्रिया पर्याय की फेरणी, वस्तु एक त्रय नाम।।

छहों ही द्रव्यों में जो द्रव्य है वह कर्त्ता है, उसके परिणाम अथवा भाव को कर्म कहते हैं और जो किया जाता है उसको क्रिया कहते हैं। ऊपर जो इस कर्त्ता, कर्म, क्रिया का दृष्टान्त समझाया है वह भेदकारक है। अर्थात् कर्त्ता अलग द्रव्य है और कर्म तथा क्रिया अलग द्रव्य में होते हैं। जैसे घड़े के दृष्टान्त में कुम्भकार करनेवाला है इसलिये कर्त्ता है और घड़ा उसका कर्म है। मिट्टी के पिण्ड में से पलटकर घड़ारूप कार्य होता है, उसमें पलटना क्रिया है। इसीप्रकार आम तोड़ने का दृष्टान्त भी भेदविवक्षा का ही है। तोड़नेवाला ज्ञानीराम कर्त्ता है, तोड़ना क्रिया है और तोड़ने के फलस्वरूप आम हाथ में आना ज्ञानीराम का कर्म है।

इस भेद-व्यवहार में जैसे कर्त्ता-कर्म-क्रिया भिन्न-भिन्न द्रव्य में रहते हैं वैसा अभेद दृष्टि में नहीं होता। अभेद-दृष्टि में कर्त्ता-कर्म और क्रिया एक ही द्रव्य में होते हैं। जैसे कि :-

"चिद्भाव कर्म चिदेश कर्त्ता, चेतना किरिया तहाँ।" छहढाला

इसमें, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा 'चिदेश' है वह कर्त्ता है। कर्त्ता क्या करता है? चिदेश कर्त्ता ज्ञानभाव करता है, इसलिये ज्ञानभाव अर्थात् चिद्भाव कर्म है और चेतनेरूप परिणति

www.vitragvani.com

क्रिया है। तात्पर्य यह है कि -ज्ञान का स्वामी आत्मा चिदेश 'कर्ता' है, चैतन्यभाव उसका कार्य अर्थात् 'कर्म' है और जानना उसकी 'क्रिया' है।

वस्तुत: तो परपदार्थ से प्रथक् प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र परिणमन सिद्ध करने के लिए कर्त्ता, कर्म, क्रिया तीनों एक ही वस्तु में है -ऐसा बताया है। वास्तव में आत्मा का ध्रुवस्वभाव चिदेश भगवान आत्मा को शुद्ध परिणाम का कर्त्ता कहना भी व्यवहार है। वस्तुत: तो ध्रुवस्वभाव परिणाम को भी नहीं करता।

चिदेश अर्थात् चिद्+ईश = ज्ञान का ईश्वर भगवान आत्मा कर्त्ता होकर करे तो क्या करे? कि ज्ञान को करे- जानने के कार्य को करे, वह चिदेश का कर्म अर्थात् कार्य है। रागादि करना अथवा जड़ की पर्याय को करना उसका कार्य नहीं है। लड्डू बाँधना, मकान बनाना -इत्यादि किसी भी जड़ के कार्य का कर्त्ता आत्मा नहीं है । आत्मा तो अपनी ज्ञान की क्रिया का करनेवाला कर्त्ता है।

निश्चय से तो अपरिणामी आत्मा में परिणाम की क्रिया ही नहीं है। परिणाम की क्रिया को अपरिणामी आत्मा नहीं करता है। पर से भिन्न करने के लिए परिणाम और परिणामी में कर्त्ता-कर्म संबंध बताया; परन्तु जब परिणाम और परिणामी का भिन्न-भिन्न स्वरूप समझाना हो तब परिणामी भगवान आत्मा परिणाम की क्रिया का कर्त्ता नहीं है। समयसार की गाथा-320 में आ गया है कि मोक्षमार्ग और मोक्ष के परिणाम को भी 'ध्रुव' नहीं करता।

एक द्रव्य कर्त्ता और दूसरे द्रव्य में उसका कर्म कहना तो मात्र निमित्त-नैमित्तिक संबंध बतलाने का व्यवहार मात्र है। यह बात सभी द्रव्यों में लागे पड़ती है; परन्तु अपने को तो मुख्यरूप से आत्मा की बात लेना है। आत्मा को पर के कार्य का कर्त्ता कहना तो मात्र व्यवहार है। आत्मा न तो पर के कार्य का कर्त्ता है और न परद्रव्यरूप कर्त्ता का कार्य ही है। आत्मा तो अपने निर्मल श्रद्धाभाव का, ज्ञानभाव का -ऐसे समस्त निर्मल भावों का कर्त्ता है और निर्मलभाव उसका काम अर्थात् कर्म है और एक भाव से दूसरे भावरूप अवस्था होती है वह उसकी क्रिया है। इसप्रकार पर से भिन्न पाड़कर (करके) आत्मा में अभेद कर्त्ता-कर्म-क्रिया बतलाये। अब, इससे आगे जाना हो तो ध्रुव में परिणाम नहीं है और ध्रुव परिणाम का कर्त्ता नहीं है। सदृशपने एकरूप रहा हुआ त्रिकाली भाव विसदृशरूप परिणाम में नहीं आता।

www.vitragvani.com

उत्पाद-व्यय विसदृश है। होना....जाना, होना...जाना -यह उत्पाद-व्यय का स्वरूप है। ध्रुव तो सदा स्थिर है, इसलिये वह उत्पाद-व्यय में नहीं आता। अनादि से जीव इस उत्पाद-व्ययरूप पर्याय में ही अपना अस्तित्व मानकर बैठा है -पर्याय में ही एकताबुद्धि है। उसे तुड़ाने के लिए यह कहते में आता है कि परिणाम तेरी ध्रुव वस्तु में नहीं है। जीव द्रव्यलिंगी साधु होकर नौवें ग्रैवेयक तक जा आया, तो भी उसको मान्यता में अंश में ही अपनी सत्ता का स्वीकार है। परिणाम उपरांत सम्पूर्ण वस्तु है उसका उसे अन्तर्मुख दृष्टि पूर्वक स्वीकार कभी नहीं आया है। परिणाम की दृष्टि बहिर्मुख दृष्टि है। नियमसार में परिणाम को बहिर्तत्त्व ही कहा है। कारण कि वे अन्त:तत्त्व (भगवान आत्मा) से बहिरंग है। भले ही वह आस्रव तत्त्व हो या संवर तत्त्व हो; परन्तु वह बहिर्तत्त्व है। सदृशरूप से रहा हुआ एकरूप भाव विसदृश परिणाम में नहीं आता। अर्थात् स्थिर रहा हुआ भाव अस्थिर ऐसे परिणाम में नहीं आता ।

जीव ने अनादि से वर्तमान वर्ततीदशा में एकत्व किया है और इसी कारण परिभ्रमण किया है। अत: इस एकत्व से छुड़ाकर उसे ध्रुव में ले जाना है, इसलिये कहते हैं कि जो स्थिर बिम्ब ध्रुव-अचल, अविचल-निश्चल ध्रुव है, वह मोक्ष के परिणाम को या मोक्षमार्ग के परिणाम को भी नहीं करता। वह तो मोक्ष और मोक्षमार्ग के परिणाम से भी रहित है।

इसमें कितना समझना। एक ओर तो कुम्हार घड़े का कर्त्ता है यह बात है और दूसरी ओर द्रव्य अपने परिणाम को भी नहीं करता - इन दोनों मे महान अन्तर है, वह कैसे समझमें आये? -ऐसा अज्ञानी को लगता है। कुम्हार बिना घड़ा होता है? आत्मा बिना राग होता है? हाँ भाई, आत्मा घड़े को तो नहीं करता; परन्तु राग को भी नहीं करता। ध्रुवद्रव्य तो शुद्ध परिणाम को भी नहीं करता।

एक महाप्रभु के दो स्वरूप हैं। एक ध्रुव स्वरूप है और दूसरा पर्यायस्वरूप है। इसप्रकार जब वस्तु को उसके दो स्वरूप में समझना हो तो ध्रुवस्वरूप में परिणाम नहीं है और परिणामस्वरूप में ध्रुव नहीं है; इसलिये ध्रुव परिणम का कर्त्ता नहीं है।

इसप्रकार व्यवहार से कुम्हार को घड़े का कर्त्ता कहना और निश्चय से ध्रुव परिणाम को नहीं करता ऐसा कहना- इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। दोनों कथनों की अपेक्षा अलग-अलग है। चिदेश को चिद्भाव का कर्त्ता कहना भी झूठ नहीं है। परवस्तु से भिन्नपना समझाने के लिए

www.vitragvani.com

आत्मा अपने परिणाम का कर्त्ता है और परिणाम आत्मा का कर्म है -यह बात सिद्ध की है। परन्तु जब एक आत्मा के ही दो स्वरूप (द्रव्य-पर्याय) को समझाना हो और ध्रुव का माहात्म्य कराकर जीव को ध्रुव की दृष्टि कराना हो, तब पर्याय ध्रुव में नही है -ऐसा स्वरूप समझाना चाहिये और समझनेवाले को भी जिस अपेक्षा से जो कथन होता हो उसे उसी अपेक्षा से समझना चाहिये।

दृष्टान्त में अभेद विवक्षा से मिट्टी कर्त्ता है; घड़ा कर्म है और मिट्टी का पिण्डपर्याय में से घटपर्याय रूप होना क्रिया है- ऐसा समझना चाहिये। आत्मा में -आत्मा कर्त्ता है, ज्ञान उसका कर्म है और जानना उसकी क्रिया है -ऐसा सिद्धान्त समझना चाहिये।

इस अधिकार में कर्त्ता-कर्म-क्रिया शब्द कहीं भेददृष्टि से तो कहीं अभेददृष्टि से कहे गये हैं, इसलिये अत्यन्त गहन विचारपूर्वक समझना चाहिये। अज्ञानी अपने को जड़ कर्मों का कर्त्ता मानता है, वहाँ से छुड़ाने के लिये उसे राग का कर्त्तापना ठहराते हैं और राग का कर्त्तापना छुड़ाने के लिये उसको ज्ञान का कर्त्तापना सिद्ध करके समझाया जाता है। इसप्रकार यह सब बातें गहरी -गंभीर हैं, उन्हे जैसा है वैसा यथार्थरूप से समझना चाहिये।

श्रोता:- शास्त्र में ही जीव को कर्म का कर्त्ता तो कहा है?

पूज्य गुरुदेवश्री:- जीव और कर्मबंधन के निमित्त नैमित्तिक संबंध है- यह बतलाने के लिये ऐसा कथन आता है; परन्तु वस्तुत: जीव के और जड़ के कर्त्ता-कर्म संबंध नहीं है। अहो! भगवान आत्मा को उसका स्वरूप माहात्म्य समझाते हुए ऐसा भी कहा जाता है कि जगत में जीव को अपने द्रव्य पर्याय स्वरूप के अतिरिक्त अन्य कोई चीज नहीं है। मेरी अपेक्षा से मैं अकेला ही पूर्ण हूँ। मेरी पूर्णता के लिए जगत की किसी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। मेरे सुख के लिए मेरा आत्मा ही एक साधन है। सुख के लिए अन्य कोई साधन नहीं है। इस अपेक्षा से जगत में अन्य कोई वस्तु है ही नहीं -ऐसा कहा जाता है। मैं एक ही सर्वस्व ध्रुव हूँ। ध्रुव की अपेक्षा से पर्याय भी नहीं है। इसप्रकार अपेक्षा समझकर लिया जा सकता है -ऐसा कहा जा सकता है। ध्रुव की अपेक्षा से 'पर्याय है' -ऐसे विकल्प की भी वहाँ आवश्यकता नहीं है।

मेरी सत्ता की अपेक्षा से अन्य वस्तु असत्ता है; परन्तु परवस्तु है ही नहीं -ऐसा नहीं है। इसी प्रकार ध्रुव में पर्याय नहीं; परन्तु कोई संबंध नहीं ऐसा नहीं है। ध्रुव को पर्याय के साथ व्यवहार संबंध है; परन्तु वास्तविक संबंध नहीं है। ध्रुव को सामान्य कहो या एकरूप सदृशभाव कहो-एक

www.vitragvani.com

ही है। समयसार की 11वीं गाथा में उसको ही भूतार्थ कहा है और छठवीं गाथा में उसको एक ज्ञायकभाव कहा है। ध्रुव में प्रमत्त-अप्रमत्त की पर्याय नहीं है। वह ध्रुवभाव ही महाप्रभु है। इसकी अस्ति में अन्य सबकी नास्ति है। सर्वज्ञस्वभावी महाप्रभु की अपेक्षा से एकसमय की पर्याय की भी उसमें नास्ति है।

भाई! यह तत्त्व समझने में ही तेरी चतुराई है। वकालात करना, दुकान चलाना, पैसा कमाना -इनमें तेरी कोई चतुराई नहीं है।

मेरा होनापना -अस्तित्व तो एक तेरे सर्वज्ञ स्वभाव में ही है।अल्पज्ञ पर्याय में मेरा होनापना नहीं है और केवलज्ञान की पर्याय जितना भी मैं नहीं हूँ। नियमसार में तो यहाँ तक बात आ गई है कि क्षायिकभाव अर्थात् केवलज्ञान की पर्याय भी परद्रव्य परभाव और हेय है। क्यों ? क्योंकि उसके आश्रय से नई निर्मल पर्याय प्रगट नहीं होती। इसलिए आश्रय तो एक त्रिकाली स्वभाव का ही लेना योग्य है।

अज्ञान की दशा में जीव शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ प्रवृत्ति को अपनी मानता है और स्वयं उसका कर्त्ता बनाता है; परन्तु बहुत ध्यान रखों कि लोक में अनंत कार्माणवर्गणायें भरी हैं; इन कार्माणवर्गणाओं में ऐसी शक्ति है कि आत्मा के राग-द्वेष का निमित्त पाकर वे कर्मरूप हो जाती हैं। राग है -इसलिए कर्म बँधते हैं -ऐसा नहीं है। इसलिये 'राग का निमित्त पाकर' -यह शब्द प्रयोग किया है। परमाणुओं का उसकाल में कर्मरूप होने का अपना स्वकाल है, उसमें राग निमित्त है।

थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करे तो समझ में आने योग्य है, उलझन पड़े ऐसा नहीं है। कहीं सुना नहीं है इसलिये सूक्ष्म लगता है।

जीव और पुद्गल दोनों का स्वभाव भिन्न हैं। कोई किसी के परिणाम को नहीं करता। जब पुद्गल की कर्मरूप अवस्था होती है तब जीव के विकारीभाव का निमित्त है; परन्तु विकार कर्म की रचना नहीं कर सकता। विकार और कर्मबंधन में समयभेद नहीं है; किन्तु जिससमय जीव में राग-द्वेषरूप विकार होता है उसी समय जड़वर्गणा कर्मबंधनरूप परिणमति है; परन्तु विकार से कर्म-बंधन नहीं हो सकता। कर्म बँधते है तब अज्ञानी के राग-द्वेष निमित्तरूप अवश्य होते हैं; परन्तु वे कर्त्ता नहीं है। कर्म को भी पता नहीं है कि जीव को रागद्वेष हुए हैं इसलिये मैं कर्मरूप परिणमूँ। सहज ही कर्म की व्यवस्थित व्यवस्था हो जाती है।

www.vitragvani.com

इसलिए स्पष्ट है कि ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गल है, अचेतन है; पुद्गल ही उसका कर्त्ता है, आत्मा नहीं है। हाँ, राग-द्वेष-मोह आत्मा का विकार है वह आत्मजनित है। राग-द्वेष और मोह अर्थात् मिथ्यात्व को कर्म के निमित्त की अपेक्षा नहीं है। अर्थात् कर्मरूप निमित्त के अस्तित्व से राग-द्वेष-मोह होते हैं -ऐसा नहीं है। इसलिए जीव अपने अपराध से राग-द्वेष-मोह करता है, कर्म नहीं कराता -ऐसा समझना चहिये।

वृहद्द्रव्य संग्रह (गाथा-48 की टीका) में राग-द्वेष-मोह जीव जनित है या पुद्गल जनित है- इसका सरस स्पष्टीकरण किया है। वह इस प्रकार है:-

जैसे संतान न तो अकेले माता से होती है और न अकेले पिता से होती है; परन्तु दोनों के संयोग से संतान उत्पन्न होती है; इसी प्रकार राग-द्वेष-मोह को न तो अकेला आत्मा उपजाता है और न (अकेला) पुद्गल उपजाता है। जीव और पुद्गल दोनों के संयोग से राग-द्वेष-मोह भावकर्म की उत्पत्ति होती है। यदि अकेले पुद्गल से राग-द्वेष-मोह हो तो कलम,कागज, ईट, तत्थर आदि को भी राग-द्वेष-मोह होना चाहिये और अकेले आत्मा से राग-द्वेष-मोह होते हों तो सिद्ध को भी होना चाहिये। विशेष क्या ? जीव और पुद्गल दोनों के संयोग से राग-द्वेष-मोह होते हैं।

ऊपर के कथन में प्रमाणज्ञान कराया है; परन्तु वह निश्चय (यथार्थ वस्तुस्थिति) रखकर समझने योग्य है। निश्चय से राग-द्वेष-मोह जीव में ही होते हैं- यह बात नक्की रखकर निमित्त से कथन करने पर उन्हें पुद्गल जनित भी कहते हैं। दृष्टान्त में माता-पिता दोनों निमित्त है और संतान अपने उपादान से होती है; इसी तरह राग-द्वेष-मोह जीव से स्वयं से होते हैं; परन्तु उसमें पुद्गलकर्म का निमित्त होता है। इसकारण प्रमाण से जीव-पुद्गल दोनों से कर्म हुआ कहा जाता है।

पंचास्तिकाय की 62 वीं गाथा में आता है कि विकार जीव से होता है, उसमें उसको किसी पर अथवा निमित्त की अपेक्षा नहीं है।

स्वभाव दृष्टिवंत को स्वभाव का कार्य स्वभावरूप ही होता है, परभावरूप अर्थात् विकाररूप नहीं होता -ऐसी दृष्टि होने से राग होता है उसका वह ज्ञाता होने से राग कर्म का कार्य है यह कहा जाता है।

प्रमाणज्ञान में विकार का निश्चय कर्त्ता जीव है और निमित्तकर्त्ता पुद्गल है। इसलिये दोनों से कार्य हुआ ऐसा उसमें निश्चय का ज्ञान रखकर जानने में आता है। (प्रमाणज्ञान) निश्चय का

www.vitragvani.com

निषेध नहीं करता। निश्चय से राग-द्वेषादि जीव का कार्य है -ऐसा रखकर (स्वीकृत कर) साथ ही कर्म के निमित्त का भी ज्ञान कराकर प्रमाणज्ञान जैसा है वैसा समझाता है। निश्चय का निषेध करे तो ज्ञान प्रमाण नहीं रहता। यहाँ यह ग्रन्थ निश्चय का होने से प्रमाण से बात न करके निश्चय से बात की है।

राग-द्वेष-मोह जीव का निजस्वरूप नहीं है; इसलिये शुद्ध निश्चयनय से उन्हें पुद्गल का कहा है। शुद्ध निश्चय से देखने पर जीव के स्वभाव में राग-द्वेष-मोह नहीं है, इसलिये वे जीव के नहीं है और परमशुद्ध निश्चयनय से तो राग-द्वेष-मोह आत्मजनित भी नहीं है और पुद्गल जनित भी नहीं है। वस्तु ही नहीं है, अवस्तु है।

अब इतनी सब अपेक्षायें समझना तो कठिन पड़ता है। एक ही आत्मा है और उसको ईश्वर ने बनाया है -ऐसा मानने वाले को तो यह विपरीत लगता है; परन्तु ऐसा नहीं चलता। आत्मा है, आत्मा भूला है तो क्यों भूला है, भूल क्या है? भूल नहीं हो तो आनंद का प्रत्यक्ष वेदन होना चाहिये, वह तो नहीं है, इसलिये भूल तो है ही; उसका कारण और निवारण सब खोजना पड़ेगा। आत्मा भूला है; तो भी स्वभाव में भूल नहीं है, इसलिये भूल को मिटाकर भगवान हो सकता है -ऐसा सब निर्णय करना पड़ेगा ।

शुभाशुभभाव और शुभाशुभ क्रिया आत्मा का स्वभाव नहीं है, इसलिये पुद्गल जनित है। इसप्रकार इस पेराग्राफ में बहुत अपेक्षायें समझायी हैं। अब सारांश यह है कि शुभाशुभ कर्म और शुभाशुभ क्रिया को आत्मा का मानना और उन दोनों का कर्त्ता जीव को ठहराना अज्ञान है। शुभाशुभभाव भी जीव का स्वभाव नहीं होने पर भी अपना मानना अज्ञान है। स्वभाव का भान नहीं है इसलिये अज्ञान है। स्वभाव का भान हो तो राग-द्वेष होते ही नहीं, कारण कि वस्तु में राग-द्वेष-मोह नहीं है।

यह मार्ग ऐसा है कि विचार करके समझने के सब पहलू स्पष्ट होना चाहिये। यदि इसमें कही भी भूल रह जाती है तो अन्तर्मुख होने की योग्यता नहीं होती। वास्तविक समझ होने के बाद ही अन्तर में जाया जा सकता है।

भगवान आत्मा तो अपने ज्ञानभाव और चैतन्य क्रिया का कर्त्ता है। त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की परिणमन की क्रिया और उसके फलरूप कार्य का जीव कर्त्ता है, राग का कर्त्ता नहीं, व्यवहार का कर्त्ता नहीं और कर्म का कर्त्ता तो है ही नहीं।

www.vitragvani.com

मिथ्यात्व के उदय से जीव साता-असाता आदि कर्म और दया, दान, पूजादि तथा विषय-कषायादि शुभाशुभ क्रिया में अहंबुद्धि करता है कि यह कर्म मेरे हैं और यह क्रिया मेरी है। -यह मिथ्यात्वभाव ही है, यही बंध का कारण है। तथा शुभाशुभ क्रिया में अहंबुद्धि नहीं करना अर्थात् उसे अपनी नहीं मानना और उसमें तन्मय नहीं होना -यह सम्यक्भाव है और यही निर्जरा का कारण है।

हम पैसे वाले, हम निर्धन, हम होशियार, हम मूर्ख, हम प्रमुख....इस प्रकार अनेक प्रकार साता-असाता कर्म के फल में अहंपना मानना मिथ्यात्वभाव है।

श्रोता:- अपने पुण्य से पैसा मिले उसको भी अपना नहीं मानना ?

पूज्यगुरुदेवश्री:- पुण्य कहाँ तुम्हारा है! पुण्य तो राग है, बंधन है; वह तुम्हारे चैतन्य का स्वरूप नहीं है। उसको अपना मानकर उसके फल में प्राप्त धनादि संयोग को भी निज मानना मिथ्याबुद्धि ही है। निर्धनपना हो तो यह मेरे पापकर्म का फल है, इससे मुझे दु:ख होता है -ऐसा माननेवाला भी मूढ़-मिथ्यादृष्टि है।

अंदर में दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा के भाव आते हैं, वह मेरा कर्त्तव्य है अथवा मैं ही हूँ -ऐसा माननेवाला भी मिथ्यादृष्टि है। शुभ अथवा अशुभभाव मेरे हैं, मेरे कर्म हैं, मेरी क्रिया है. .....यह सब मिथ्याभाव है। मैं एक सत् चिदानंदप्रभु हूँ, अतीन्द्रिय आनंद का नाथ हूँ, पुण्य-पाप के भाव अथवा उनका बंधन और उसका फल वस्तु में नहीं है।

भगवान आत्मा तो चैतन्यस्वरूप है, आनंदस्वरूप है, उसके चैतन्यस्वभाव के सिवाय उससे 'विपरीतभाव' और उससे होने वाला 'कर्मबंध' तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त 'संयोग' -इन तीनों में अहम्पना मिथ्यादर्शन है। शुभ और अशुभभाव तो बंध के कारण हैं, उन्हें अपना माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्व का सेवन कर बंध की परम्परा को बढ़ाता है।

दया, दान, पूजा और विषय-कषायादि शुभ और अशुभ क्रिया मेरा कर्त्तव्य है, इसलिए वह मैं ही हूँ -ऐसा अभिप्राय मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व का सेवन करता हुआ जीव बंध को बढ़ाता जाता है। शुभाशुभक्रिया में अहम्बुद्धि नहीं करना अर्थात् अपनी नहीं मानना और उसमें तन्मय नहीं होना सम्यक्भाव है और वह निर्जरा का कारण है। शुभाशुभभाव, क्रिया और उसके फल में एकता नहीं करके ज्ञानानंदस्वभाव में एकता करनेवाले को निर्जरा होती है- धर्म होता है।

www.vitragvani.com

शुभ और अशुभ दोनों भाव तो एक जाति के हैं। दया, दान के भाव हों या हिंसा, झूठ के भाव हों –वे दोनों आत्मा से विरुद्धभाव हैं।

श्रोता:– तो फिर हमको क्या करना चाहिए.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री:– दोनों प्रकार के भावों से भिन्न पड़कर आत्मा का हित करना चाहिए। शुभ–अशुभभाव तो विकल्प है, वह कोई वस्तु नहीं है। आत्मा तो एक वस्तु है। उसमें एकाग्र होना ही जीव का कर्त्तव्य है। विकल्प में खड़े रहना जीव का कर्त्तव्य नहीं है।

अनादि से जीव की दृष्टि मिथ्या है और उसको कहनेवाले (उपदेशक) भी ऐसे ही मिले हैं। इसलिए अनादि से मिथ्यामार्ग पर चलनेवाले को यह सत्यमार्ग की बात सुनना भी कठिन लगती है। उसका झुकाव मिथ्यामार्ग में ही रहता है; परन्तु शान्ति नहीं मिलती और चिदानंद भगवान आत्मा के सुख की बात सुनी नहीं, इसलिये 'कहाँ जाना' –ऐसा इसको लगता है।